

THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.



जैन धर्म में तप

स्वरूप

और

विश्लेषण

जैन धर्म में तप

स्वरूप और विश्लेषण

मरुधर केसरी, प्रवक्तक, आशूकविरत्न
मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज

मंषादा
श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्रकाशक

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति

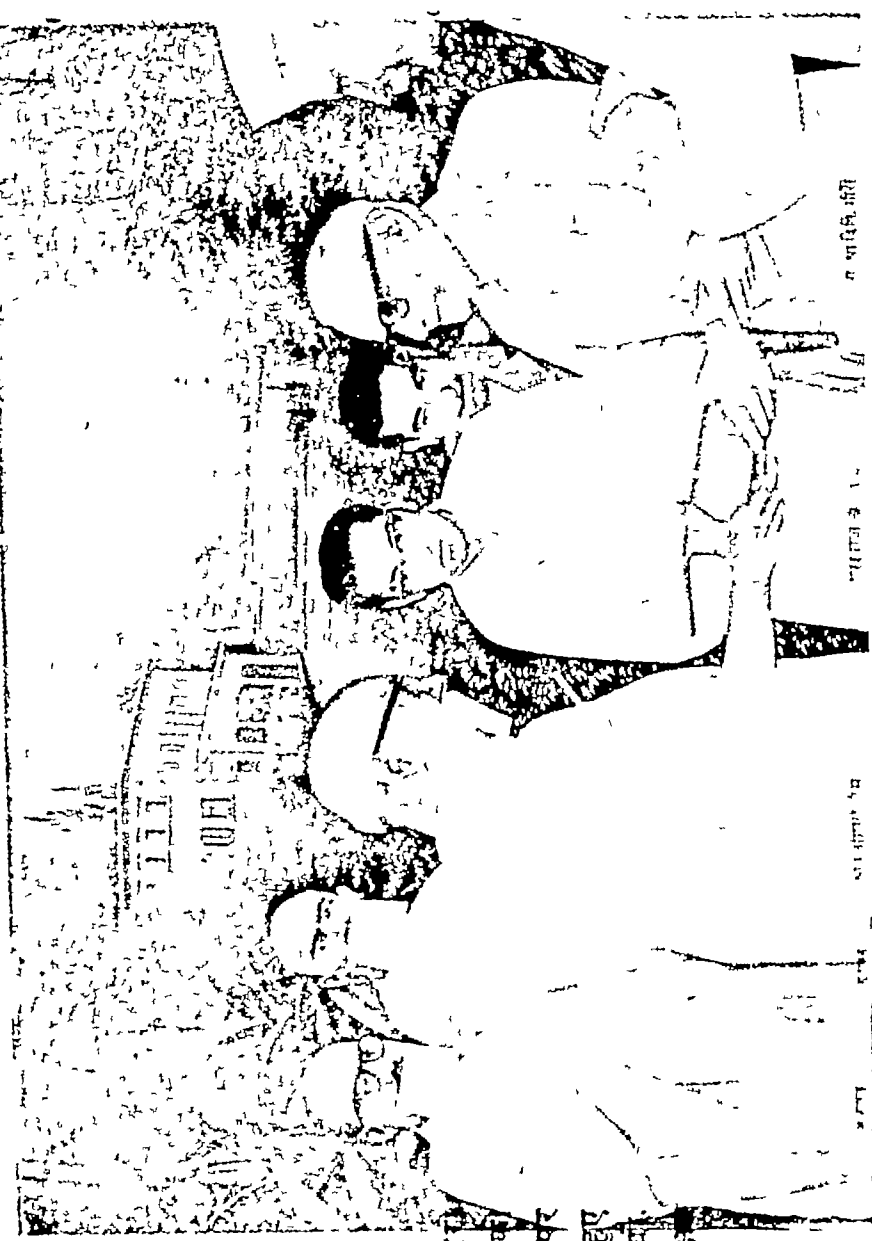
जोधपुर—व्यावर

भगवान महावीर के पच्चीस सौवें निर्वाण महोत्सव समारोह
के उपलक्ष में

प्रकाशक मरुघरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति जोधपुर-व्यावर	संप्रेरक : तपस्वी श्री रजत मुनि विद्याप्रेमी श्री सुकन मुनि
प्रथम प्रकाशन दीपावली वि० सं० २०२६ नवम्बर १९७२	मुद्रणव्यवस्था : सजय साहित्य सगम के लिए— रामनारायन मेढतवाल श्रीविष्णु प्रिंटिंग प्रेस, राजा की मढी, आगरा-२

मूल्य दस रुपये मात्र

श्रद्धास्पद श्री मन्धर केशरी
मिथीमल जी महाराज साहब की
दीक्षास्वर्ण जयंती के अवसर पर
अभिनन्दन ग्रंथ भेंट करते हुए
भारत के राष्ट्रपति श्री वी. पी.
सिरी। वि. स. २०२५ अक्ष
तृतीया (सोजतनगर)।



आत्मशुद्धि

और

आत्मदर्शन

की

दिशा में पयलगील नामको को,

—मुनि मिश्रीनन्द



શ્રદ્ધં ચ શુરહેવ નરધર ળેસરી, પ્રવર્તક
શ્રી સિશ્રીનલ જી નહારાજ

अभिनन्दन



सुगुन सुमन सुवासरस,
रंजित रसिक ललाम ।
भासुक भव्य सुमधुष गहा !
“मिश्रमिल” गुन-धाम ॥

काया से, मन से तथा वचन से, पाते दया की खदा ।
भीगे कष्ट अनेक किन्तु सुख से, मिथ्या न बोले कदा ।
जैसे नीरज नीर दीब रहता - निलेपता को चरे ।
तैसे ही विनलेप “मिश्रमुनि” ये, संसार में संकरे ॥
जो है संयमनिष्ठ इष्ट प्रिय भी, उत्कृष्ट योगी गहा !
पाम्मी ज्ञान गरिष्ठ “राष्ट्रपति” से पाई प्रतिष्ठा गहा ॥
बोले भेद गिरा सर्वत्र सत्य से-मेनिष्ठ बोले नहीं ।
वे श्री “मिश्रमुनीन्द्र” रूप मुनि के जी को पुराया गहा ॥

मरुदेश मराल दुर्दन्त प्रतिभादि
हस्तिनपदहरण हर्यक्ष हैं ।
प्रवर्तक गहा ! भ्रमण संघ के, “एजल”
संयम पथ पबिक सुदृढ़ हैं ॥

प्रकाशकीय

सत्साहित्य मानव जाति की अमरनिधि है। मनुष्य की वह अन्तर-चक्षु है, जिसके द्वारा अतीत और अनागत का दर्शन किया जा सकता है। जीवन के गूढ़तम रहस्यों को जाना जा सकता है। जीवन की निगूढ़ पहचान सुलझाई जा सकती हैं।

जैन-धर्म और जैन परम्परा साहित्य की दृष्टि से नया समृद्ध रही है। सत्साहित्य वहाँ जीवन का अभिन्न अंग बन कर रहा है। सत्साहित्य की सजंजा और उसका स्वाध्याय दोनों ही वहाँ 'तप' माना गया है, अध्यात्म साधना का एक अंग माना गया है।

जिम समाज का साहित्य प्राणवान होता है, प्रेरणाप्रद और जीवन की मुक्त दृष्टि से नग्न होता है वह समाज नर ही अपनी उत्पत्ति एवं गति-प्रगति में बढ़ता रहता है।

कुछ वर्ष पूर्व, जीवन में आध्यात्मिक प्रेरणा जगाने के सत्याग्रह के प्रकाशन हेतु 'श्री मरुधरनेमरी साहित्य प्रकाशन समिति' की स्थापना हुई थी। इस संस्था का मन्थन रहा है—पंच और जीवन निर्माणकारी साहित्य को जन-जन के लिए सुलभ बनाना। जन-जन में ज्ञान का प्रसार करना।

इस संस्था के प्रेरकान्वय रहे हैं—मरुधरनेमरी श्री मिथीमय की महाराज। वे स्वयं से एक जीवी जगती संस्था है। मिथी के प्रचार-व्याप

और सत्साहित्य के निर्माण में एवं प्रसार के लिए उनके हृदय में अपूर्व उत्साह है, अद्भुत प्रेरणा है—और इस दिशा में राजस्थान के अचलो में जो कुछ उन्होंने किया है वह एक बहुत बड़ा कार्य है ।

श्री मरुधर केसरी जी म. की वाणी में ओज है, प्रेरणा है, और मानव मात्र के कल्याण की गूँज है । उनकी लेखनी भी इस दिशा में पीछे नहीं है । कहा जा सकता है, वे वाणी एवं लेखनी के धनी हैं । राजस्थानी भाषा के साहित्य में उनकी कविता एवं काव्य अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं । धार्मिकता के साथ-साथ नैतिकता एवं राष्ट्रीय भावना उनके साहित्य का मूलतत्त्व है ।

कुछ वर्षों से समिति ने श्री मरुधरकेसरी जी म. के पद्य एवं गद्य साहित्य का प्रकाशन प्रारंभ किया है । प्रवचन साहित्य की भी चार पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं । जनता में उनका आदर हुआ है, पाठकों ने हृदय से अपनाया है ।

प्रस्तुत पुस्तक 'जैनधर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण' इसी प्रवचन माला का पाचवाँ पुष्प है । यद्यपि यह पुस्तक अब तक के प्रकाशनों में शैली एवं विषय वस्तु की दृष्टि से अपना विशिष्ट स्थान रखती है । यह पुस्तक श्री मरुधर केसरी जी म. के प्रकाशित एवं अप्रकाशित प्रवचन साहित्य का दोहन है, मथन है । तप के सम्बन्ध में उन्होंने आज तक जो कुछ प्रवचन किये हैं, जो कि लिपिवद्ध हैं, तथा जो काव्य-कविताएँ आदि लिखी हैं उन सब के भावों को, सामग्री को बटोर कर—उसका वर्गीकरण किया गया है, उनके मूल प्रामाणिक स्थलों का अनुसन्धान किया गया है—और उसे आधुनिक-भाव-भाषा के परिवेश में उपस्थित किया गया है । इस दृष्टि से यह पुस्तक महाराज श्री के सीधे प्रवचन नहीं, किंतु उनके प्रवचन साहित्य का दोहन कहा जा सकता है । पाठकों को इसमें बहुत ही उपयोगी व साधना प्रधान सामग्री मिलेगी ।

प्रस्तुत पुस्तक का संपादन श्रीचंद जी सुराना 'सरस' ने किया है । श्री सुराना जी एक विद्वान् हैं, लेखनी के धनी हैं, जैन आगमों के अभ्यासी

है, और साथ ही मनुष्यहृदय एवं मरुत प्रकृति के मञ्जन है। गुरुदेव श्री के प्रति उनकी अनन्यभक्ति है। यही कारण है कि उन्होंने बड़ी निष्ठा और लगन के साथ प्रस्युत पुस्तक का संपादन कर जैनधर्म के तप मन्वन्धी चित्तन प्रवाह को बड़ी स्पष्टता व सरलता के साथ मूर्त रूप दिया है।

गुरुदेवश्री का स्वास्थ्य दुषर में कुछ अत्यन्त गरा और फिर अनेक प्रवृत्तियों में अत्यन्त व्यस्त भी रहे। इसी कारण संपादित सामग्री को पूरी गहनता के साथ नहीं देना पाये। उन्हें विश्वास है कि संपादक बहुत जैनधर्म के भक्त हैं, अब कोई विचार व तथ्य उनके पतिकूल होने का प्रश्न ही नहीं। फिर भी यदि प्रमादवश सैद्धान्तिक दृष्टि से, अथवा प्रस्युत करने की शैली व भाषा की दृष्टि से कोई विचार भ्रुष्टि पूर्ण रहे गया हो, तो वह संपादक की भूल मानकर मनुष्यहृदयता पूर्वक सूचित करने का कष्ट करें।

हमारी प्रार्थना की मान देकर इस पुस्तक की महत्वपूर्ण भूमिका अदा-रूपद व वि श्री धर्मरत्न जो महाराज ने निराने की कृपा की है। स्वयं धर्मरत्न व व्यस्त होत हुए भी उन्होंने हम पर जो अनुग्रह किया है, उसके लिए हम हृदय से आभारी हैं।

इस प्रकाशन की जनता के हाथों में पहुँचाने के लिए जिन उपाय मञ्जनों ने हमें आर्थिक सहयोग प्रदान किया, समिति की ओर से मैं उन सबका हार्दिक आभार मानता हूँ और विश्वास करता हूँ कि भविष्य में भी इसी प्रकार सहयोग का हाथ बढ़ाने रहेंगे। पाठकों को यह पुस्तक अधिक से अधिक उपयोगी व प्रेरणादायी मिले तो इसी शुभ - भाषा के साथ।

पुष्पगज सिरोमिया

१९५३

श्री मण्डर केसरी साहित्य प्रकाशन, समिति

कोलपुर-१९५३

सम्पादकीय

‘तप’ सिर्फ हमारी अध्यात्म साधना का ही नहीं, किंतु संपूर्ण जीव-जगत् का प्राण तत्व है। ‘तप’ के बिना मनुष्य जीवन जीने के योग्य भी नहीं बन सकता। तप जीवन की ऊर्जा है, सृष्टि का मूल चक्र है। सेवा, सहयोग, तितिक्षा, स्वाध्याय, आदान-प्रदान, भोजन-विवेक ये जो तप के अंग हैं क्या वे ही जीवन के अंग नहीं हैं ? उनके बिना जीवन का अस्तित्व ही क्या है ? इसलिए मैं मानता हूँ—तप ही जीवन है। तप से ही मनुष्य, जीवन जीने की क्षमता प्राप्त कर सकता है—यह मेरी तप सम्बन्धी निष्ठा है।

तप की महिमा, भारतीय धर्मों में ही नहीं, किंतु विश्व के प्रत्येक धर्म में, यहां तक कि धर्म को नहीं मानने वाले विद्वानों व विचारकों के शब्दों में, भावनाओं में भी गूँजती रही है। किंतु अधिकांश धर्मप्रवक्ताओं एवं विचारकों ने तप के सम्बन्ध में कोई व्यवस्थित चिन्तन एवं उसकी साधना विधि का वैज्ञानिक निरूपण करने का कष्ट नहीं किया।

जैन धर्म, चूँकि एक वैज्ञानिक धर्म है, एक व्यवस्थित साधनामार्ग है, और चिन्तन-मनन का पक्षपाती है, इसलिए धर्म के प्राण तत्व ‘तप’ के सम्बन्ध में वह मौन रहे, या अव्यवस्थित रहे—यह कैसे संभव था ! यही कारण है कि ‘तप’ को एक जीवनव्यापी, सर्व-ग्राही रूप देकर जैन धर्म ने तप के विषय

में चिंतन किया है, धारणाएँ स्थिर की हैं, मर्मादाएँ बनाई हैं, साधना का मार्ग निश्चित किया है ।

जैन आगमों में, टीका, भाष्य आदि ग्रंथों में, सतों के प्रवचन आदि साहित्य में तप के सम्बन्ध में हजारों विचार विगरे पड़े हैं । इस विषय की सामग्री इतनी विद्याल है कि यदि संपूर्ण रूप से सकलित करने का निश्चय किया जाय तो सिर्फ सकलन में ही कई वर्ष खर्च सकते हैं, और मासिक कई हजार पृष्ठों में भी वह पूरी नहीं हो पायेगी ।

प्रस्तुत पुस्तक में मैंने उन सामग्रियों को मात्र एक संक्षिप्त रूपरेखा की तरह प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है । इसकी प्रेरणा जगो श्रद्धेय श्री मरधर केमरीजी म० के साहित्य का संपादन-प्रकाशन करते समय । उनके प्रवचनों में तप के सम्बन्ध में कई महत्त्वपूर्ण प्रवचन थे, जिन्हें देखकर मेरे मन में कल्पना जगी, "तप सम्बन्धी प्रवचनों का एक रसत्रय संकलन ही बन निदा जाय तो सामग्री काफी उपयोगी व सकलन की दृष्टि से कुछ नवीनता लिए होगी ।" वन, उगी भावना ने इस ओर उन्मुख किया । उनके प्रवचन साहित्य की दृष्टीला, अलग-अलग खण्डों में बाँटा, और उन वर्णन के मूल उद्गम स्थलों का अनुसंधान किया—इस प्रकार यह पुस्तक "जैनधर्म में तप स्वल्प और विस्तरेण" अपने रूप में प्रकट हो गई । इस संपादन में लगभग एक वर्ष से कुछ अधिक ही समय लगा । इस बीच मैं श्रद्धेय मरधरकेमरीजी म० ना० ने अनेक बार मार्गदर्शन भी लेता रहा । साथ ही श्रद्धास्पद उपाध्याय श्री अमरभुनि जी, एवं गिददारन मेमक श्री निरदभुनि जी म० का मार्गदर्शन भी मिला । अनेक प्रश्नों के, जिज्ञासाओं के समाधान के लिए समय-समय पर उन्हें सल्ल भी देता रहा । उन्हीं के अनुग्रह से सम्मति प्राप्त करने में दुर्लभ कार्य भी लेने को मिले । इस सब खलासद सुखना व। आभार स्तोत्र एवं मार्गदर्शन न मिलता तो मासिक यह संपादन इस रूप में प्रकट नहीं बन पाता, मैं तबकी कृपा एवं मोक्ष के आभारी हूँ ।

संपादक श्री मरधर भुनि जी एवं निदा दिवोरी जी सुकन भुनि जी की इस कार्य के लिए सहायक प्रेरणा देते हैं, इसीलिए—आभार के लिए—उन्हीं की

प्रेरणा का ही फल समझना चाहिए । तप सम्बन्धी चित्रों को तैयार कराने में श्री मुकन मुनि जी ने काफी मार्गदर्शन किया है, तप ग्रंथ के अंत में तप से सम्बन्धित सूक्तियों को सकलित कर प्रस्तुत करने का श्रेय—श्री 'रजत' मुनि जी को ही है । इस प्रकार अपने सम्पादन में मैं इन दोनों मुनिवरो को अपना सहयोगी मानकर उनके प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करू तो सम्म्यता की दृष्टि से भी यह उचित ही होगा ।

पुस्तक जैमे-जैसे तैयार होती गई, छपती गई, इस कारण कुछ आवश्यक मदर्थ जो कि विलम्ब से प्राप्त हुए, मूल अध्यायो में नहीं दिए जा सके । उन्हें सक्षिप्त रूप से परिशिष्ट में परिवर्धन शीर्षक से दिए हैं, पाठक उधर भी दृष्टि डालें !

इस पुस्तक में जो कुछ विचारप्रधान, प्रेरणादायी और सार तत्त्व हैं, वह मूलतः गुरुदेव श्री मरुधर केसरी जी म० का ही है । यदि प्रमाद या अज्ञानवश कहीं कोई स्खलना प्रतीत हो तो उसका उत्तरदायी मैं स्वयं को मानता हूँ । सुज्ञान मुझे सूचित कर अनुग्रहीत करेंगे । आशा है मेरा यह प्रयत्न—अपने गुरुजनो के प्रति एक श्रद्धा-पुष्प सिद्ध होगा, तथा पाठको के लिए एक तैयार गुलदस्ता । वे स्वयं इसकी सौरभ लें, दूसरो तक पहुँचाएँ—बस, इसी भावना के साथ—

विजयादशमी

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

आगरा



प्राक्कथन

भारतीय नाथना, सहस्रधारा तीर्थ है। नाथना का जो दिसाट् एव व्यापक रूप यहा मिलता है, वैसा अन्यत्र यहा मिलेगा ? भारतीय जीवन का हर सांत, साधना का साम होता है, हर चरण, नाथना का चरण होता है, हर रूप, साधना का रूप होता है, यही कारण है कि भारत का, चाहे व्यक्तिगत जीवन हो या पारिवारिक जीवन, सामाजिक जीवन हो, या धार्मिक जीवन, सर्वत्र जीवनधारा में नाथना की उमिया सहृदयी है, साधना का स्वर सुनारित होता रहता है, लगता है भारतीय जीवन नाथना के लिए ही अस्तित्व में है।

तप, भारतीय साधना का पाण है। जिस प्रकार मनीर में उष्मा जीवन के क्षणित्य का द्योतक है, उसी प्रकार साधना में तप भी उनके क्षण अस्तित्व का बोध कराता है। यह आध्यात्मिक उष्मा है। तप के बिना धर्म का, अहिंसा का, सत्य का कोई अस्तित्व नहीं है। तप रहित अहिंसा, अहिंसा नहीं है, तप रहित सत्य, सत्य नहीं है। इसीलिए धर्म ही साधना के लिए प्रथमम् आवश्यक है—

‘अहिंसा सत्यो तपो’

अहिंसा, सत्य और तप—यह धर्म की त्रिवेणी है, निराला है। धर्म ही इन त्रिवेणी में तप अंग में है, किन्तु हमारा धर्म यह नहीं है कि यह त्रिवेणी धर्म ही का धर्म है, किन्तु हमसे नहीं निकल जाता है कि तप सजीवित है और

वह अहिमा एव सयम की साधना के लिए भी अपेक्षित है। विना तप के अहिमा व सत्य में गरिमा नहीं आती। इसीलिए मैंने एक जगह लिखा है—

—“तप ज्वाला भी है, ज्योति भी। ज्वाला इस अर्थ में कि मन के चिर सचित्त विकारों को तप जलाकर भस्म कर डालता है और ज्योति इस अर्थ में कि तप अन्तर्मन के सघन अन्धकार को नष्ट कर एक दिव्य प्रकाश जगमगा देता है।

तप निग्रह नहीं, अभिग्रह है। तप दमन नहीं, शमन है। तप भोजन निरोध ही नहीं, वासना निरोध भी है। तप विना जल का अन्तरंग स्नान है, जो जीवन पर से विकारों के मल का कण-कण घोंकर साफ कर देता है।

तप जीवन को सौम्य, स्वच्छ, सात्विक एवं सर्वांगपूर्ण बनाने की दिव्य साधना है। यह एक ऐसी अद्भुत साधना है, जिस पर से आध्यात्मिक परिपूर्णता की सिद्धि मिलती है, और अन्त में साधक जन्म-जरा-मरण के चक्र से विमुक्त होकर परमात्म पद की प्राप्ति करता है।”

जैन धर्म, तप के बीज में से ही अकुरित होने वाला कल्पवृक्ष है। तप के सम्बन्ध में जितना व्यापक, तलस्पर्शी तथा सर्वग्राही चिन्तन जैन परम्परा में हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। अन्य परम्पराओं में प्रायः बाह्य (शरीराश्रित) अनशन आदि तपो का ही उल्लेख मिलता है। और वह एक देहदण्ड की स्थिति में ही अटक कर रह जाता है। देह दण्ड—देह उत्पीड़न कभी भी साधना का अंग नहीं बन पाता। अस्तु।

जैन धर्म ही वह धर्म है, जिसने बाहर में अनगल फैलते और देहोत्पीड़न का रूप लेते बाह्य तप को अन्तरमुख धारा में बदला है, आध्यात्मिकता के अमृत स्रोत की ओर मोड़ा है। उसने आन्तरिक समत्व पर बल दिया है कि—उत्पीड़न यदि अनुभूति में रहता है तो चेतना दुःखाक्रांत रहती है और उस स्थिति में अन्तरवृत्तियों में व्याकुलता छाया रहती है। ऐसी स्थिति में समन्व कैसे रह सकता है, यदि उसे अन्तर चेतना में समाहित न किया जाय ! इसी दृष्टि में जैन धर्म ने तप के दो भेद किये हैं—बाह्य तप और अन्तरंग

तप ! और कहा है कि वास्तव तप अन्तरंग तप के परिवर्तन के लिए ही है, वाचायं समन्तभद्र के शब्दों में—

अध्यात्मिकस्य तपसः परिवर्तनायम्

यदि तप केवल बाहर में ही रहता है और उसका केन्द्र केवल सर्वोपन तक ही सीमित रहता है तो वह जैन दर्शन की भाषा में—‘तनुविशोषण मेव न चाऽपरम्—शरीर शोषण में अधिक कुछ नहीं है। उसमें अन्तरंग जीवन की विवृद्धि—कर्म निर्जन्म तो क्या, पुण्य भी नहीं हो पाता है। और कभी कभी तो वह पाप वध का भी हेतु हो जाता है। अन्तरंग समस्त की चेतना जागृत हुए बिना जो तप किया जाता है, वह बाल तप है, अर्थात् अज्ञान कष्ट है—जिनकी जैन परम्परा ने भर्त्सना की है।

तप का मूल भाव, देह में रहने हुए भी देह-वृद्धि का विमर्जन है। माया देह में रहता है, यह कोई पाप नहीं है, देह में तो देहाभिधेय नीचरूप भी रहे हैं, केवल ज्ञानी भी तथा अन्य माधुर्य भी। अब मूल प्रश्न देह का नहीं, देह-वृद्धि का है। आत्मानुबन्धी साधक के अनग्रन्त आदि बाह्य तप भी अन्तरंग समत्व के निर्मल प्रकाश में होने हैं, इसलिए वे देहवृद्धि से विसर्जन की एक आध्यात्मिक प्रक्रिया के रूप में हमारे जीवन में आने चाहिए। साधक देह में रहकर भी देह में घृण्य अपनी स्वतन्त्र आत्मगता की अनुभूति करना है। भूल नगती है तो वह सोचता है, यह भूल शरीर की है, मुझे नहीं, स्थान शरीर की नहीं है, मुझे नहीं। जीत-उष्ण आदि की पीड़ाएं भी शरीर की हैं, मुझे नहीं। मैं साम्या हूँ, शैतन हूँ। यह शरीर पुद्गल विष्ट है, स्व है। अब यह शरीर न मेरा है और न मैं शरीर का।

बाह्य तप की इन प्रथा-परम्परा में—कार्योन्मूलन की धर्मात्मा देह विमर्जन की लक्ष्य देह भाव में विमर्जन की भूमिका में लक्ष्यता है, कभी जैन दर्शन की दृष्टि में यह तप का अर्थ होता है, अन्यथा नहीं। अब एक नैसर्गिकी के तप का कभी न सर्व स्थावर विमर्जन किया है। आज एक माह्व, एकमात्र सम्पन्न, विपरीत एक दुःखी की आदि भावनाओं में तप के सम्पन्न में दृष्टता

कुछ लिखा गया है कि यदि उसे एक जगह संगृहीत किया जाये तो वह एक विशाल पुस्तकालय का रूप ले सकता है ।

प्रस्तुत पुस्तक

‘जैनधर्म मे तप : स्वरूप और विश्लेषण’ पुस्तक मेरे समक्ष है । अस्वस्थता के कारण मैं इसे पूरा-पूरा तो नहीं पढ पाया हूँ, फिर भी जो कुछ मैंने इधर-उधर, बिखरा-बिखरा देखा है, उसने मुझे प्रभावित किया है, आकर्षित किया है । तप के सम्बन्ध मे दूर-दूर तक बिखरी हुई सामग्री को एकत्र संकलन करना आसान नहीं है । किन्तु मैं देखता हूँ, प्रस्तुत पुस्तक मे उस सामग्री का काफी अच्छा संकलन एवं विवेचन किया गया है । जिज्ञासु साधक को एक ही पुस्तक मे वह सब कुछ मिल जाता है, जो वह ‘तप’ के सम्बन्ध मे जानना चाहता है । और यह केवल संकलन ही नहीं है, बीच-बीच मे तप के सम्बन्ध मे वह बौद्धिक चिन्तन भी है, जो तप सम्बन्धी कितनी ही गूढ़-ग्रन्थियों को खोलता है, और तप के अन्तर मर्म को उद्घाटित करता है, उजागर करता है । प्रस्तुत पुस्तक के द्वारा श्रद्धेय मन्धर केसरी जी म. ने एक बहुत बड़े अभाव की, एक बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति की है, एतदर्थ वे शतश धन्यवाद के पात्र हैं ।

श्रद्धेय मन्धर केसरी जी जैनपरम्परा के एक जाने-माने सुप्रसिद्ध सत हैं । वे वस्तुतः केसरी हैं, वन के नहीं, मन के । उनका अन्तर्मन इतना दीप्तिमान है कि जिनशासन की शोभा एवं सेवा के लिए वह हजार-हजार किरणों के साथ प्रदीप्त रहता है । उनकी वाणी मे वह ओज है, जो श्रोताओं के अन्तर्मन को झकझोर देता है । वे एक महान निर्भीक प्रवक्ता हैं । उन्होंने राजस्थान की मन्धरा मे जिनशासन को गौरवशाली बनाने मे जो महान कार्य किये हैं, और एतदर्थ अनेक संस्थाओं को पालित-पोषित किया है, वे युग-युग तक उनकी गौरव गाथा के प्रतीक रहेंगे ।

जैसा कि सुना है, आज अस्सी वर्ष की दीर्घ आयु मे भी, जबकि मनुष्य का तन ही नहीं, मन भी जर्जर हो जाता है, उत्साह क्षीण हो जाता है, तब भी हम देखते हैं कि श्री मन्धरकेसरी जी अभी युवा हैं, तन बूढ़ा हो चला

है, किन्तु उनके मन को झुटापा नहीं आया है, नगता है, बायेगा भी नहीं ! युवकों जैसी कार्यशक्ति उनमें देखी जाती है, जो हर किसी के लिए प्रीतिमयी प्रेरणा है ।

श्री मदनर फैसरी जी म. ने साहित्य के क्षेत्र में भी काफी कार्य किया है । पद्य व गद्य में उनकी अनेक रचनाएँ प्रकाश में आ चुकी हैं । इन रचनाओं में भी उनका वही जन्मजात बीज मुखरित रहता है । सामाजिक एवं राष्ट्रीय चेतना के स्वर भी उनकी कृतियों में गूँजते हुए सुनाई देते हैं । प्रस्तुत पुस्तक उनकी साहित्य मणिमाला की एक जाज्वल्यमान मणि है । अथ नव प्रकाशित कृतियों में इसका कुछ विशिष्ट स्थान है । उनके जीवन के संवे अनुभवों और विचारों का दिव्य रूप भी उक्त पुस्तक में निमग्न हुआ मिलता है । मैं आशा करता हूँ, और आशा ही नहीं मगलवाचना करता हूँ, कि श्री मदनर फैसरी जी चिन्तित हों, और उनके द्वारा प्रकाशित भविष्य के क्षणों में महान् पूर्ण उपलब्धियों जिन मानव को मिलनी रहें ।

प्रस्तुत पुस्तक के विषय में एक बात और कहना चाहूँगा, इनका गनादन श्री श्रीचन्द्र सुराणा 'मदन' ने किया है । 'मदन' जी परलुप्त मरम हैं, उनके हाथों में जो भी चीज छू जाती है, वह मरम हो जाती है । गनादन काम में तो मुझे कहना चाहिए—ये पारंगत हैं । उनके द्वारा अनेक रचनाएँ मन्थार-परिणाम पा चुकी हैं और वे साहित्य के क्षेत्र में अभिनन्दनीय हैं । श्री 'मदन' जी भरे निरट के सहयोगी हैं, उन्हें मैंने निरट में देखा है । देखा ही नहीं, पन्ना भी है । जैन समाज उनकी सेवाएँ प्राप्त करता रहे और हमारा जैन साहित्य आधुनिक नाज-मन्त्र, मन्त्र-परिणाम के साथ उन मन को प्रमुदित करता रहे—यही मंगल कामना ।

विजयशङ्करजी

जैनमन्त्र, श्रीजी चट्टन

गानग

—उपाध्याय अमरमुनि

शुभ कामना

मनहर कवित्त

विश्व को विकास पुन्य-पुंज को प्रकाश अहा,
पापों के विनाश-हेतु तप ही प्रधान है।
ज्ञान को निवास, सत्य-शील को आवास महा,
दया को उजास खास कहा वर्धमान है।
ताही को स्वरूप अनुरूप मेरे गुरुदेव,
करि के प्रयास उसे रक्खा एक स्थान है।
श्रीचन्द चार चाँद सजाकर लगाय दिये,
पायेंगे सरस यश 'शुकन' महान है ॥१॥

नवंधा

अति उज्ज्वल आत्म की करणी, तप रूप जिनेश्वर ने धरणी,
तरणी-भवसागर नाथ बनी, दिव-लोक-धवा शिव निस्तरणी।
अरनी अघ जाल जरावन को, तप दोष विधी जग-उद्धरणी,
इस पोथिन में सहि राह मिली, जिम बालक को जु मिली जननी ॥२॥

सोन्ठा

आछो ओ आनन्द, मैं पिण पायो मोकलो,
गहो हाथ में ग्रन्थ, तपरो तत्त्वों सुं भर्यो ॥३॥
मरुधर के शिरमोड़, मरुधरकेसरी जाणिये,
ग्रन्थ लिखा अनमोल, जैन-धर्म में तप महा ॥४॥

दीहा

फली शुकन मन भावना, पूर्ण करी गुरुदेव।
शासणपति दीजो सदा, सुगुरु-पद-कज सेव ॥५॥

बगही नगर

जंतसिंह जैनगढ़

२१-१०-७२

—मुलि शुक्ल



जैन धर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण

मनीषी मुनिवरों की दृष्टि में

●
श्रमणमार्ग के द्वितीय पदपर

—आचार्य श्री आनंद ऋषि जी महाराज

●

तप जीवन के अभ्युत्थान का मार्ग है। उससे धार्मिक मिश्रित होती ही है, व्यक्ति का पारिवारिक सामाजिक, एवं राष्ट्रीय जीवन भी समुन्नत एवं सक्रिय बनता है।

तप के विषय पर श्री मरघदसेनरी जी महाराज ने जो सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत किया है, वह देखने में लगता है मानव के मानव बन दिया है।

विज्ञान से के लिए वह पुनः बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगी—ऐसा विचार है।

—मालवकेसरी श्री सौभाग्यमल जी महाराज

‘जैन धर्म में तप स्वरूप और विश्लेषण’ का विहंगावलोकन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें मरुधरकेशरी मिश्री-मलजी महाराज का मौलिक चिन्तन और विचारों के ज्योतिष्कण पद-पद पर बिखरे पड़े हैं। प्रस्तुत पुस्तक ताप-तप्त इस विश्व-मानव को अपने आध्यात्मिक विचारों और क्रान्तिकारी सुझावों से आत्मा पर बैठी अज्ञान की परतों को हटाकर शान्ति, मद्भाव और स्नेह का शीतल अनुलेप प्रदान करने में समर्थ होती है।

प्रस्तुत पुस्तक तप के विशाल विराट् स्वरूप को लेकर लिखी गयी है। इसके प्रत्येक पृष्ठों पर तप का मूल्यांकन आलोचित हो रहा है। तप, त्याग, और सयम प्रधान साहित्य से हमारा जीवन उत्तरोत्तर विकसित होता रहे यही शुभेच्छा।

योगनिष्ठ मुनि श्री फूलचंद जी 'धम्मण'

‘जैन धर्म में तप स्वरूप बीज विस्तरेषण’ पुस्तक देखी, अपूर्ण पुस्तक (छपे हुए ४०० पंज) ने भी मुझे पूर्ण ज्ञान करा दिया अपने स्वरूप का, अपने विषय का, अपनी प्रतिपादन शैली का एवं अपनी विस्तरेषण की सम्भीरता का ।

वाह्य ज्ञान के आधार पर मनुष्य कुछ निश्चय सकता है, परन्तु स्वानुभूति की उर्वराभूमि में रहित होने के कारण वह अभिव्यक्ति के मोष्ठय को प्राप्त नहीं कर सकता । श्री मरघर केमरी श्री मिश्रीमल जी महाराज एक तपस्वी मन्त हैं, जिनके मुख में तप के विषय में जो भी प्रकट होता है वह स्वानुभूति की उर्वराभूमि में उद्भूत होता है, और ऐसा ही हुआ है । तप का सर्वांगीण विस्तरेषण हममें है ।

लेखन में सम्भीरता आ जाती है, यह नैयमित्त नियम है, परन्तु भाषण में अभिव्यक्ति सरलता को अपनावेती है । श्री मरघरकेमरी जी महाराज के भाषणों के रूप में जो विस्तरेषण मिलता है, वह सरल नहीं, सरलतम है और उसमें तप के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने की एक विशेष शक्ति है ।

तीन सप्ताह २४ अध्यायों में तप के सामान्य रूप को प्रस्तुत करने वाला यह “तपः सूत्र” सामग्रीय आध्यात्मिक साहित्यकोष में उद्भूत तप के रूप में समझना और शरीर विद्यायोग में समझना को भी आनंदित करेगा, यह मेरा हृदय विश्वास है, भला नहीं विश्वास दान दायस्वरूप प्रमाण और प्रमाण की गाम्भीर्य तथा श्री मरघरकेमरी जी के इसी प्रमाण की अद्वैत दृष्टिकोणों की प्रशंसा करता हूँ ।

बहुश्रुत विद्वान्, मधुर वक्ता
श्री मधुकर मुनि जी महाराज

जैन धर्म की साधना का प्राणतत्त्व 'तप' है । जैसे पुष्प की कली-कली में सौरभ समाया हुआ है, ईख के पौर-पौर में माधुर्य परिव्याप्त है और तिल के कण-कण में स्नेह संचरित है, वैसे ही जैन धर्म के प्रत्येक चिन्तन में तप परिव्याप्त है ।

जैन आगमों में तथा प्रकीर्ण ग्रन्थों—निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि एवं टीका आदि में तप का बहुविध विवेचन किया गया है । वह विवेचन-चिन्तन है तो बहुत ही सूक्ष्म एवं उपयोगी, किन्तु बिखरा हुआ होने से पाठक उससे उपयुक्त लाभ नहीं उठा पाते । ऐसे एक ग्रन्थ की बहुत बड़ी कमी थी जो उस समग्र विवेचन को सरल, सुबोध एवं सरस शैली के साथ पाठकों को उपलब्ध करा सके ।

श्रद्धेय श्री मरुधरकेसरी जी महाराज ने उस अभाव की पूर्ति कर एक महनीय कार्य संपन्न किया है । तप के विषय में इतना विशाल, प्रामाणिक तथा हृदयग्राही विवेचन अपनी समग्रता के साथ शायद पहली बार हिन्दी भाषा में प्राप्त हुआ है । प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश आदि भाषाओं में भी इस शैली का यथेष्ट देखने में नहीं आया ।

ग्रन्थकार मुनि श्री जी कोटिण धन्यवादाहं है, साथ ही सपादक श्री 'सरस' जी भी इस सत्प्रयत्न एवं कुशल मपादन के लिए बधाई के पात्र हैं ।

विश्व धर्म सम्मेलन के प्रवर्तक मुनि श्री सुशीलकुमार जी महाराज

विश्व के धितिर पर छाये सर्वनाश के नकेल एव मानव जीवन पर भय एव शोभ के पुनः-पुनः कर आवे हुयी की क्षणमात्र में नष्ट कर देने की शक्ति केवल तप में ही है ।

जैन वाङ्मय तप का विज्ञान है, प्रभु महावीर का जीवन तप का साक्षात् जीवन रूप है, प्रकृति विजय एव आत्मदर्शन की कुञ्जी भी तप ही है ।

अनन्तसामर्थ्य तथा शक्ति के अक्षयशाली तप के विषय में श्रद्धालु श्री मण्डर केसरी जी महाराज ने विचरकर जगत् पर अनन्त स्तुति किया है ।

मेरे मन में अनेकी बार धर्म साहित्य में तप विषयक बिणी सामग्री को संकलित कर संकलन सम्पादन करने का विचार आता रहा है । भारतीय साहित्य तथा विविध तरह जैन साहित्य में तप सम्बन्धी विस्तृत सामग्री को व्यवस्थित रूप देने की इच्छा थी । किन्तु यह अदृष्ट समारोह हुआ कि मण्डरकेसरी जी महाराज ने तप विषयक ग्रन्थ का प्रारम्भ कर पूरा बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति कर दी ।

आज आवश्यकता है तप के विषय की ऐसी जैन साधक, समार की अनुभव पूर्ण जानकारी है, जिनमें मानव जाति मन तप से विमुक्त हो सके । इस क्षेत्र में मण्डर केसरी जी महाराज ने पहल की है, मैं उनके श्रुत प्रमाण की सहायता चाहता हूँ । मार्ग में साहित्य के विद्यमान जैन साधक की सीढ़ी भी उज्ज्वल हो सकेगी, इसके लिए हम सभी का सहयोग प्रयत्न करना है ।

आगम अनुयोग विगारद.
मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'



अखिल विश्व की अनन्त आत्माओं का यदि वर्गीकरण किया जाय तो केवल दो वर्ग बनते हैं ।

पहला वर्ग कर्ममल से लिप्त आत्माओं का और दूसरा वर्ग कर्ममल से मुक्त आत्माओं का है । पहले वर्ग की आत्माओं को "सामारिक" और दूसरे वर्ग की आत्माओं को "सिद्ध" कहा गया है ।

सासारिक आत्माओं की बाह्याभ्यन्तर शुद्धि के लिये तपश्चर्या एक वैज्ञानिक साधना है । विधिपूर्वक की हुई तपश्चर्या से ही साधक की आत्मशुद्धि होती है यह एक तथ्य है ।

अनेक जिज्ञामु बहुत लम्बे समय से एक ऐसी पुस्तक की आवश्यकता अनुभव कर रहे थे—जिसमें जैन, वैदिक और बौद्ध-ग्रन्थों में प्रतिपादित तपश्चर्या का वैज्ञानिक रूप, तपश्चर्या के विविध प्रकार और तपश्चर्या के विधि विधानों का सक्षिप्त एवं सारगर्भित मकलन हो ।

परम श्रद्धेय प्रवर्तक श्री मरुधर केशरी जी महाराज के तत्वावधान में श्री "सरम" जी द्वारा संपादित "जैन धर्म में तप" नामक इस ग्रन्थ से अनेक साधकों की जिज्ञामा परिपूर्ण होगी । इसमें प्रवर्तक श्री जी की विद्याल ज्ञानराशि का दोहन, अनेक ग्रन्थों का मन्थन और तपश्चर्या के अनेक अनुभवों का चिन्तन मनन ऐसी सरल एवं सरल भाषा में दिया गया है - कि सभी स्तर के साधक इस ग्रन्थ के स्वाध्याय से लाभान्वित होंगे ।

इस ग्रन्थ की प्रभावना करने वाले श्रद्धालु मद्गुहस्य भी अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग एवं पुण्योपाजन कर्त्तव्य वशास्वी करेंगे ।

सुप्रसिद्ध विचारक एवं अनेक ग्रन्थों के लेखक श्री विजय मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न



तप एक अध्यात्म शक्ति है। जीवन की ऊर्जा जो अधोऽ-हिनी हो रही है, उसे ऊर्ध्ववाहिनी करना ही तप का एक माय लक्ष्य है। मन की वृत्तियों को बदलना ही, तप का उद्देश्य नहीं है, तप का उद्देश्य है समग्र जीवन का भ्रमोन्मूलन ! तप जीवन को मण्डित होने से बचाता है, और उसे अखण्ड एवं नम्र रंगों की जो कुछ साधना है, वह है तप !

तीर्थाङ्कुरों ने एवं गणेशों ने तप की साधना में जो कुछ उपलब्ध किया वस्तुतः यही चोतगमदर्शन है। चोतरागता प्राप्ति का अनन्य साधन तप ही है। जैन परम्परा का तप रचना व्यापक और इतना विशाल है कि उनमें जीवन को उत्तमोत्तम शिखर पर पहुँचाने के सभी साधनों का समावेश हो जाता है।

जैन आगमों में तप के बारह भेद विवेचने हैं। अनन्त में तेजस् ध्यान और व्युत्क्रम में तप का जो विभाजन किया गया है उसमें परिमिश्रित होता है कि साधक की चाल में भीतर की ओर जाना है, सूक्ष्म में सूक्ष्म में प्रवेश करना है।

तप के सम्बन्ध में आज तक जो कुछ किया गया वह अति मरिचका हुआ है। यद्यपि ज्ञानियों ने सत्यतः तप के अनेक दर्शन उपलब्ध हैं, किन्तु तप के सम्बन्ध में सर्वांगीण दृष्टिकोण में आज तक विचारने का प्रयत्न नहीं हुआ, और इस में वन द्वितीय भाषा में भी सब बातें पूरी सुस्पष्ट प्रकट नहीं की।

“तैत्तिरीय में उप : उपसर्ग और विशोऽपस” सुम्भर सम्प्रदाय के तैत्तिरीय का एक प्रतिनिधि वाक्य कहा जा सकता है।

इसमें तप के समस्त अंगों का विशद विवेचन शास्त्रीय आधार पर किया गया है। फिर भी शैली काफी सरल, सरस और रुचिवर्धक है। श्री मरुधर केसरी जी महाराज ने इस महान ग्रन्थ का प्रणयन कर जिज्ञासु साधको के लिए बहुत बड़ा उपकार किया है, वे कोटिशः धन्यवादाहं हैं।

जैसा कि मुझे मालूम हुआ है—प्रस्तुत ग्रन्थ श्री मरुधर केसरी जी महाराज के प्रवचन साहित्य के दोहन का परिणाम है, इसका सम्पादन श्री श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' ने किया है। ग्रन्थ में सम्पादक की प्रबुद्धता, व्यापक अध्ययन और गहरी विद्वत्ता की छाप भी परिलक्षित होती है। इसमें आगमों के साथ-साथ व्यावहारिक ज्ञान का भी पूरा-पूरा उपयोग एवं प्रयोग कर ग्रन्थ को सर्वग्राही लोग भोग्य एवं साथ ही विद्वद्भोग्य बनाने का सफल प्रयास किया है। लेखक महोदय के साथ-साथ मैं सम्पादक वन्धु के प्रयास की भी प्रशंसा करता हूँ और हार्दिक भाव से अभिनन्दता।

★

प्रसिद्धवक्ता श्री ज्ञान मुनि जी



हमारे श्रद्धास्पद प्रवक्तव्य, मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमल जी महाराज बड़े दूरदर्शी, गम्भीर विचारक, आदर्श संयमी, प्रखर व्याख्याता और जैन जगत के जाने-माने तेजस्वी मुनिराज हैं। मोहाद और सौजन्य तो इनकी जन्ममिद्ध पावन सम्पदा है। इनकी वाणी में ओज, और माधुर्य का विलक्षण संगम मिलता है। इनमें "यद्यानाम तथा गुण" के अनुसार जहा वास्त

विकृता के दर्शन होते हैं, वहाँ आकृति और प्रकृति में भी पूर्ण सामंजस्य उपलब्ध होता है। धर्म प्रचार, नास्तिक्य सेवा, समा-जीत्यान की सेवा का सहानुभूति इनके जीवन की सर्व प्रधान मङ्गलमयी साधना है।

परम श्रद्धा मरुधर केमरी जी द्वारा निमित्त "जैन धर्म में तप - स्वरूप और विमलेषण" नामक ग्रन्थरत्न का परिशीलन किया। प्रकाशन तो बहुत देरने में आए परन्तु नपोंदेवता के पावन चरणों में व्यापक रूप में, घुने दिन के नाच इतनी अधिक मात्रा में श्रद्धालुमनों का समर्पण जीवन में पहली बार देखा है। तप के सम्बन्ध में जितने दृष्टिकोण उपलब्ध हो सकते हैं, इतने उन सबको ध्यान में रखा गया है। अन्य तथा ? मानो तप सम्बन्धी मायताओं और आवश्यक साधन तपों का ब्रह्म भण्डार है। जैन-जैनतर शारंगी तथा महापुरुषों के चर-तप पावन वचनों का उपन्यास करने तो मोने में सुगम नैना काम कर दिया है। कहीं-कहीं तो तेजस्वी की भावनाएँ इतनी मान्य होनी सिगार्ड देनी है कि वे हृदय पर स्थायी प्रभाव डाले बिना नहीं रहती। पाठक का मस्तिष्क समस्त तेजस्वी के चरणों में बिना ही डूबा है। अण्डित राज इस तप और भक्त प्रकाशन में भी तो इतना गहिरा और प्रभावित हुए हैं कि ज्ञान के आसन पर यदि बैठा होता तो वेदा मुनिपद की भी० एत०भी० की प्रतिष्ठापर उपरि में उपरि सम्मानित करता।

मास्तिष्कमयी श्रीवन्द की मुद्राएँ परम न इस छन्द ।। सम्पादन करके इसकी प्रकाश दक्षिण । प्रकाश की दशा परम रूप दिया है कि कुछ बचने नहीं रहता ।

पं० श्री मोहनलाल जी गोटेचा, साहित्याचार्य

एम ए एच-पी. ए , स्वर्णपदक प्राप्त

वरिष्ठ अनुसंधान अधिकारी

क्षेत्रीय अनुसंधान संस्थान, (आयुर्वेद)

जयपुर (राजस्थान)



प्रस्तुत ग्रंथ एक उत्कृष्ट एव परम उपादेय रचना है । इससे मानव को सही मार्गदर्शन प्राप्त हो सकेगा । जीवन को किस प्रकार सयम तप की साधना में सलग्न किया जाय— इसका अनुभूतिपूर्ण मार्ग-अवबोध-प्रस्तुत ग्रन्थ रत्न से प्राप्त किया जा सकता है ।

श्रद्धास्पद श्री मरुवर केसरी मिश्रीमल जी महाराज एक त्यागी, तपस्वी, विद्वान एव प्रखर प्रवक्ता योगी हैं, साधक हैं । उनका जीवन सचमुच में पारस है, जो इसका स्पर्श करता है, वह स्वर्णत्व को अवश्य प्राप्त होगा ।

समस्त ग्रन्थ का अनुशीलन करने के बाद यह धारणा पुष्ट होती है, कि प्रस्तुत ग्रन्थ 'जैन धर्म में तप . स्वरूप और विश्लेषण' वास्तव में ही तप का सर्वाङ्गीण स्वरूप व्यक्त करने में सक्षम है । इसके अध्ययन अनुशीलन से पाठकों को अण्ड-आत्म-आनन्द की प्राप्ति होगी ।



अनुक्रमिका

प्रथम खण्ड :

तप एक विस्लेषण :

१ हमारा लक्ष्य	१-१५०
२ लक्ष्य साधना	५
३ तप की परिभाषा	१६
४ तप की महिमा (जैनेतर ग्रन्थों में)	३१
५ जैनधर्म में तप का महत्त्व	३७
६ तप का उद्देश्य और लाभ	४६
७ तप और समाधियाँ	५६
८ सत्या प्रयोग , निषेध और अनुमति	६३
९ तप (मोक्षमार्ग) का दैनिकपु निदान	१०३
१० शान-भुक्त तप का फल	११७
११ तप का परीक्षण	१२०
११ तपमित्रों की ऊच्च परम्परा	१४६

द्वितीय खण्ड :

वाह्य तप का स्वरूप .	१५१-३८२
१ अनशन तप	१५७
२ ऊनोदरी तप	२०६
३ भिक्षाचरी तप	२३०
४ रसपरित्याग तप	२६५
५ कायक्लेश तप	२८२
६ प्रतिसलीनता तप	३०३



तृतीय खण्ड :

आभ्यन्तर तप का स्वरूप	३८३-५२४
१ प्रायश्चित्त तप	३८७
२ विनय तप	४२२
३ वैयावृत्य तप	४४०
४ स्वाध्याय तप	४५५
५ ध्यान तप	४६७
६ व्युत्सर्ग तप	५०५



परिशिष्ट :

परिशिष्ट :	५२५-५८४
♦ तप-चित्र	५२७
♦ तप-सूक्त	५३४
♦ ग्रन्थ सूची	५५८
♦ परिवर्धन	५६१
♦ सहयोगी परिचय	५७५



जैन धर्म में तप

स्वरूप

और

विश्लेषण

भव कोडिय संचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ ।

—उत्तराव्ययन सूत्र ३०।६

करोडो जन्मो के संचित कर्म तप से नष्ट हो जाते हैं ।



तपो ब्रह्मेति ।

—तेत्तिरीय आरण्यक ६।२

तप स्वय ही भगवान है ।

तप : एक विश्लेषण

१

१. हमारा तप

तप क्या है ?

बार ही मजिद, बार ही मुनाजिर !

जगत्त मुलमल हव

मोक्ष की परिभाषा तू य करव

२. सदा साधना

मोक्ष ते दो मार्ग — एक और जिया

और मार्ग

बार मार्ग

मिदिय क्षोण्डा

मदद हव

३. तप की परिभाषा

तप की परिभाषा यद्वारा

इच्छा-निरोधस्तप

सयम भी तप है

४ तप की महिमा (जैनतर ग्रन्थो मे)

सिद्धियो का मूल—तप

सृष्टि-रचना का मूल—तप

वैदिक ग्रन्थो मे तप की गरिमा

बौद्ध-धर्म मे तप का स्थान

५ जैनधर्म मे तप का महत्व

तप का प्रतीक श्रमण

महानता का मार्ग . तप

तप से तीर्थकरत्व

तप से चक्रवर्तित्व

तपस्वी को देवता भी चाहते है

शुभकार्य की आदि मे तप

६ तप का उद्देश्य और लाभ

तप का फल निर्जरा

कामना युक्त तप, तप क्यों नहीं ?

सुख-दुख का मूल कर्म

तप से लाभ

७ तप और लब्धियाँ

अणु से आत्मा की शक्ति महान है

लब्धि क्या है ?

लब्धियो के भेद

अठाईस लब्धियाँ

अन्य लब्धियाँ

८ लघुप्रयोग नियेध जीर अनुमति

नन्वि वा प्रयोग कयो ?

नन्वि कोरना प्रमाद है

नमत्तान नही, नशानान का मत्तान

अनुमति काय ?

न मत्तावीर न सीतलनेश्या कयो

फोटी ?

९ तप (मोक्षमार्ग) का पतिसधु : निदान

निदान क्या है ?

निदान-मल्ल

निदान करने वाला पट्टाणा है

निदान का लघु - तीव्र साधना

क्या साधना के लिए निदान रीति

है ?

१० ज्ञान-युक्त तप का फल

साधना का पूर - विद्वान

साधन-नय क्या है ?

साधन-नायको के विनिमय रूप

साधन-नय का अन्तर्गत

केवल सतीत का लक्ष्य क्या है

मत्ता-नय का मत्ता-नय है

११ तप का वर्गीकरण

तपि जीर निदि

तप के दो भेद - ज्ञान और ज्ञान-नय

विनिमय विनिमय है

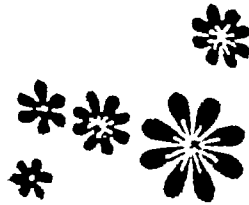
ज्ञान-नय का मत्ता-नय

तप की मर्यादा
वाह्यतप के छह भेद
आभ्यन्तर तप के छह भेद
तप के अनेक रूप
बौद्ध परम्परा में तप
आजीविकी के चार तप
गीता में तप का स्वरूप

१२ तपस्वियों की अमर परम्परा

भ ऋषभदेव से गौतम
तपस्विनी श्रमणिया
अर्वाचीन युग में

महानतपोधन आचार्य श्री रघुनाथजी



हमारा लक्ष्य

मिनी मार्ग पर एक गली चल रहा था। उसे देखने में लगता था, बहुत दूर में चला आ रहा है। धीरे-धीरे गलन चल रही है। उसके पीछे वह पमारट थी, गारमोथ वगैरह ने बना संक्षिप्त ! मुन्ना ! बोली ने जगमे पूछा—“कहाँ ने चला आ रहे हो मार्ग !”

मार्ग ने उत्तर दिया—“बहुत दूर में !”

“कहाँ चला है ?” — दूसरा प्रश्न हुआ।

मार्ग दिलाकर उस लोको के पीछे की ओर देखने लगा, जो एक प्रश्न का उत्तर देने के लिए थी, वह मित्रमार्ग का कुछ देर देखा था। लोको ने फिर पूछा—“कहाँ चला है ?”

मार्ग ने—“एक ही जगह मरि ! हम, यह जान है, तथा यह प्रश्न प्रश्न है।” — ऐसा जवाब।

मार्ग उस प्रश्न का जवाब नहीं दे पाया। वह भी उसे प्रश्न ! वह एक लोको है, यह था कहा है और कहा जाता है, वह है क्या है वह प्रश्न, जो भी मरि ! मरि है या प्रश्न ! प्रश्न !

बन्धुओ ! आप भी ऐसे यात्री को सच्चा यात्री नहीं कहेंगे न ? यात्री होता तो उसे अपने लक्ष्य का, अपनी मजिल का अवश्य ही पता रहता । आप गाड़ी में बैठे हो, और किस स्टेशन पर उतरना है यह पता ही न हो, तो क्या वह यात्रा कभी पूरी हो सकेगी ?

एक यात्री स्टेशन पर टिकट लेने गया । बाबू से टिकट मागी । बाबू ने पूछा—“कहा जाना है ?”

“ससुराल ।”

“कहा है ससुराल ?”—बाबू ने पूछा ।

“जहा गाटी जाती है ।”—उस यात्री ने उत्तर दिया ।

तो उस यात्री को कहा का टिकट दिया जाय ?

जिसे अपनी ससुराल का पता भी नहीं मालूम, गांव भी नहीं मालूम, वह ससुराल कैसे पहुंचेगा ? और कौन बाबू उसे कहा का टिकट देगा ?

बन्धुओ ! दुनिया देखकर हँसिए मत । सोचिए, क्या इस स्थिति में आज आप, या आपके समाज का बहुत-सा वर्ग नहीं गुजर रहा है ? जीवन एक यात्रा है, इस यात्रा पर हजारों-लाखों-करोड़ों लोग चल रहे हैं, कोई दस वर्ष से, कोई बीस वर्ष से, और कोई पचास-साठ वर्ष से भी । चलते-चलते कमर टूटी हो गई, घुटने कमजोर पड़ गये, पिंडलियां पणिहारी गाने लग गई, पर अभी तक मजिल का कुछ पता नहीं है । आपसे कोई पूछे अरे, मैं ही पूछ लेता हूँ, “भाई, आपकी इस लम्बी यात्रा का लक्ष्य क्या है ? आपको कौन से गांव पहुंचना है ? मजिल का नाम क्या है, किधर है वह ?” क्या आप इस प्रश्न पर मकपकाकर मेरा मुँह ताकने नहीं लगेंगे ? ‘महाराज ! यह तो पता नहीं ?’ अरे ! भोले यात्री ! पता नहीं तो चला कहा जा रहा है ? पहले मजिल तय कर, फिर चल ।” आप कहेंगे—“आप ही बता दीजिये ।” यह भी क्या खूब है ! जाना आपको, और मजिल में बताऊँ ।

तोई आपने पूछे—“भाई साब, नाम क्या है ?

आप बोलें—“आप ही बता दीजिये ?”

जैना मजेदार उत्तर है यह । पर, नचमुच आज की स्थिति ऐसी ही है,

आपका नाम, आपके बाप का नाम भी पृष्ठने वाले को ही बताना पड़ेगा, क्योंकि आपको वो कुछ मालूम ही नहीं है।

हा, तो मैं तब रहा था—आप यात्री हैं, पणित हैं, आपकी अपने व्यवस्था का क्या हो तो क्या बीजिये, यदि बिना पने के निषाये हो तो आरम्भ में पान—मैं क्या दिये देता हूँ, आपको अपनी मजिद के बारे में बताता हूँ।

हम सब यात्री हैं, हम यात्री का बाहर में अवग-अवग रूप है, कोई स्पन्दन है, कोई कर्मवन्द है और कोई कर्मवन्द है। किन्तु भीतर में सब यात्रियों का एक ही रूप है, एक ही नाम है—“आत्माराग”। आत्माराग दिन मार्ग पर चल रहा है, जिस रूप में मुद्रित रहा है—हम सब का नाम है ‘समार पद’। जैसे किसी का ‘जनपद’ है, वैसे ही आत्माराग की यात्रा का राजमार्ग समार पद है। हम समार पद की आत्माराग विविध रूप, विविध जन्म और विविध देह धारण करने के पार पार रहा है, कोई पशु देह धारण, कोई देव, मरक या कोई मानव देह धारण। आप और हम मानव देह धारण कर हम समार पद पर चल रहे हैं, हमारा हम अपनी ही बात करने में “पर भी छोड़ कर भी मुनिप्रेत”—“पान माना बाप का भी भी माना मामा का”—यह होता-बाप नहीं, हमारा बाप हम दूसरे सब देहधारियों की पक्षा छोड़कर, सिर्फ मानव की ही पक्षा करते हैं।

मानव देहधारी हम यात्री हम समार पद पर चल रहे हैं और बहुत समय में बहुत वर्षों में पाने का रहे हैं, सीमा-सीमा नहीं है, पृथ्वी और तभी के निवासियों में भी उपास लेज। पर किन्तु ? क्या पाने देना पना है। निषा का उपास देना ही उपास देनी सीमा है। सीमा सीमा धारणी को, हम कोई पशु यात्रा, मानव यात्रा यात्रा की कोई भी पक्ष पर पाना, पर पर समर्पित है रहा है, देना पना है।

आप ही मजिद : आप ही मुताजिर

आपको मैं बताता हूँ कि जो सीमा मुद्रित हो रही है, वह है—आपका नाम पना है। आपका व्यवस्था को पाना पना है। ये आत्माराग का स्पन्दन है, पाने पना पना है। हम सब यात्री हैं, हम सब यात्री हैं, हम सब यात्री हैं। हम सब यात्री हैं, हम सब यात्री हैं, हम सब यात्री हैं।

ही उसका स्वस्थान है, उसी का नाम किसी ने 'भोक्ष' रखा है, किसी ने 'मिद्धि' और किसी ने 'परमपद' या 'निर्वाण'।

अनादिकाल से आत्माराम ससार पथ की भूल-भुलैया में भटक रहा है। इसे अभी तक अपना असली स्वरूप, अपना असली स्थान मिला नहीं है। यह चल रहा है, किन्तु कभी सौ योजन पूरव में चलता है, तो फिर कभी वापिस नीटकर दो सौ योजन पश्चिम में आ जाता है। कभी उत्तर की यात्रा पर चलता है, सौ-दो-सौ योजन पार करता है तो फिर दक्षिण की तरफ मुँहकर लेता है, फल यह होता है कि जिन्दगी बीत गई, एक नहीं, कई जिन्दगियाँ बीत गईं फिर भी रहा वही का वही— "ज्यो तेली के घँल को घर ही कोस पचास" वस, यह यात्री तेली के घँल की तरह ही चक्कर काटता रहा है।

एक बार कुछ यात्री हरिद्वार में गंगा के किनारे गये, सध्या का समय था, धूमते-धूमते एक तट पर लगी नौका के पास पहुँचे। सब ने निश्चय किया, चलो नौका में बैठकर अमुक गाँव चलें, रात भर चलते रहेंगे तो सुबह अपनी मजिल पर पहुँच जायेंगे। सब यात्री नौका में बैठ गये, और चार जवान आकर डटे डांड हिलाने। रात भर डांड हिलाते रहे, खूब ताकत लगा कर, मस्तूल भी हवा में हिलता रहा, सुबह जब मुँह उजाला होने लगा और यात्रियों ने आँख खोलकर देखा कि सामने एक सुन्दर नगर है, बड़ा सुहावना घाट है और लोग घाट पर नहाने को आ रहे हैं, उनकी नौका भी घाट के पास खड़ी है तो खुशी से नाच उठे। लोगों से पूछा— यह कौन सा गाँव है भाई !" लोगो ने कहा—'हरिद्वार !' यात्री चौंके—"हैं ? हरिद्वार से तो हम रात को चले ही थे, रात भर नौका चलाकर क्या अभी तक हरिद्वार ही पहुँचे हैं।" सब यात्री एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। तभी घाट पर खड़े एक स्नानार्थी ने कहा—"मूर्खों ! नौका तो अभी नगर में बधी है, चले गए तुम्हारा मिर" ...।"

यात्री चौंके—'ओ हो ! यही तो भूल रह गई ! नगर तो मोना ही नहीं, मोना गया चलेगी' और वहाँ पहुँचेगी " ?

मनुष्य की जीवन नीति भी इसी प्रकार अज्ञान और मोह के लग्न में

बधी है, जीवन भर हाथ-पैर मारकर भी वह वही का वही रहता है, जहां पहुँचे था ।

तो इस दुनिया में यह आत्मानाम गृहत्राण की तरह हमसे ऊपर चमक रहा नहीं है । इसे समझाना है कि नंगी मज्जिन केरा स्वभाव ही है, अर्थात् तू जो मुसाफिर है, वही तू अपनी मज्जिन है । तू के लिये श्वाभाव में वही बात गती है—

दृष्टता फिन्ता है ऐ 'इणवात' अपने-आपको,

आप ही गोया मुसाफिर, आप ही मज्जिन तू में ।

आज गांधी को अपने इस भाष्य को समझाना है कि जो भाष्य नेना है, वही स्वभाव भगवान का है, आत्मा जो परमात्मा में गया जाता है ।

सिद्धा जेमा जीव है, जीव मोही सिद्ध होय,

परमं मैत्र का आनरा, वृत्ते विरला शोय ।

मैत्रांशुन मे अर्थात्-मत्वासे आचार्य कु एण्ड ने भी वही बात गती है—

अपों विष परमण्यो वम्मविभुषणो होइ य दूर ।^१

आत्मा जब परमंय में मुक्त हो जाता है तो वही परमात्मा बन जाता है ।

यह बात समझा कि परमात्मा कोई दूसरी दुनिया में जाता है । जिस दुनिया में जाता है उसी दुनिया में परमात्मा है, सब बात ही यह है कि यह चमकता आत्मानाम आत्मा है, जो- अपनी मज्जिन का पूरा पूरा आभास ही परमात्मा है । इन्सान और पुरुष, मैन और गोड (Man & God) भग- जोन भगवान् नर- जो- नागवान्, जो- जोन जिस रूप में जो- जिस में कोई भगवान् भगवान् गती है, केवल एक चिन्त के दो भाग है, एक भाग- आत्मा है सब कुछ आत्मा । एक दूसरी चिन्त काया है—

हम हैं पुरु- पुरुष, न भी हम में बुद्धा,

जो जगें बुद्धा सो न पारें बुद्धा ।

यह पुरु ही पुरु है बुद्धा पुरु में बुद्धा गती है, इसी बुद्ध में पुरुष (पुरुष) पुरु ही बुद्ध सो पुरु ही बुद्ध पुरु पुरु । यह है—

शक्ले-इन्ता मे खुदा था, मुझे मालूम न था,
चांद बादल मे छिपा था, मुझे मालूम न था ।

मैं यही बता रहा था कि हमारा स्वरूप क्या है ? वह कहा है ? हमारा स्वरूप है परम विशुद्ध, निर्मल कर्म मुक्त दशा । शंकराचार्य के शब्दों में कहें तो—

जाति-नीति-कुल-गोत्र दूरग
नाम रूप-गुण-दोष-वर्जितम् ।

देशकाल-विषयातिवर्ति यद्
ब्रह्मतत्त्वमसि भावयमात्मनि ।^१

जो जाति, नीति, कुल और गोत्र के झमेलों से दूर है, रूप, गुण और दोष से रहित हैं, देशकाल और विषय से भी पृथक् है, उनका भी जिम पर कोई प्रभाव नहीं होता, तुम वही ब्रह्म हो, अपने अन्तःकरण में ऐसी भावना करते रहो ।

यह है आत्मा का स्वरूप । जैनदर्शन ने भी आत्मा के मूल स्वरूप की वर्चा करते हुए कहा है—आत्मा परम ज्ञानमय, ज्योति स्वरूप है । कहा है—

जे आया से विज्ञाया^२

जो आत्मा है, वही विज्ञाता है—ब्रह्म अधिकार तो कुछ नाम मात्र का भी नहीं है, परम ज्योति जल रही है, वह ज्योति कभी बुझती नहीं, क्षय नहीं होती, हाँ कर्मविरणों ने आवृत जरूर हो जाती है, किंतु बुझ नहीं सकती है ।

अनन्त सुखमय रूप

आत्मा का अपना रूप है अनन्त सुखमय । भगवान् महावीर ने पूछा—
आत्मन्स्वरूप कैसा है ? तो बताया—

शउल सुह नपन्ना

उचमा जस्त नत्ति उ^३

१ विवेक चूडामणि २४४ ।

२ आचार्यगण १।१।१५

३ उज्जयिनीयन ३६।९९

—आत्मा अनन्त सुखमय, अव्यावाघ सुखो मे स्थिर रहने वाला है, यही उसका स्वरूप है, जिसे मोक्ष भी कहा है, उन सुखो का वर्णन करने के लिए कोई उपमा नहीं है ।

बधुओ ! इस विवेचन से आपके सामने यह स्पष्ट हो गया होगा कि आत्मा चिदानन्दमय सुखरूप है—

चिदानन्दरूपो शिवोऽहं शिवोऽहं

यही उसका स्वरूप है, हमारी यात्रा, इस स्वरूप की प्राप्ति के लिए ही है—इसलिए हमारा लक्ष्य, हमारी मजिल है—स्वरूप की प्राप्ति । अर्थात् आत्मा को अपने ही रूप का दर्शन । “सपिदखए अण्णमण्णएण”^१ । आत्मा को अपनी दृष्टि से देखना है, आत्मदर्शन करना है । अपने भीतर क्या-क्या शक्तिया छिपी हैं, किन-किन विभूतियों का यह पुज है, वस, इसका अवलोकन करना यही हमारी यात्रा का लक्ष्य है । इसे देखने, समझने के लिए कहीं दूर जाने की जरूरत नहीं, अन्यत्र भटकने की आवश्यकता नहीं । यह हीरो की खान तो तुम्हारे ही पास में है—

महाकवि ‘निराला’ के शब्दों में—

पास ही रे, हीरे की खान
खोजता कहा अरे नादान !
स्पर्शमणि तू ही अमल-अपार,
रूप का फँला, पारावार
खोलते-खिलते तेरे प्राण
खोजता कहा उसे नादान !

आवश्यकता है—इन हीरो की खान को देखने वाली तेज दृष्टि की । इन चर्मचक्षुओं से यह खान नहीं दिखाई देगी, इसे देखना होगा—अन्तरदृष्टि से । अध्यात्म जगत की यह विचित्र बात है कि जब तक बाहर में दृष्टि खुली है, अन्तर सृष्टि नहीं दिखाई देगी, बाहर की दृष्टि भेदकर अन्तर दृष्टि खोली

अन्तर में झाको तो वहा की दिव्यमृष्टि तुम्हें दिखाई देगी और तब तुम अपने स्वरूप का नहीं अनुभव कर सकोगे ।

इस प्रकार एक बात निश्चित हुई कि हमारा लक्ष्य है—अन्तरदर्शन ! आत्मदर्शन या स्वरूपप्राप्ति । जिसे सीधी भाषा में मोक्ष प्राप्ति भी कह सकते हैं ।

मोक्ष की परिभाषा एवं स्वरूप

वास्तव में मोक्ष कोई भिन्न वस्तु नहीं है, आत्मा का आत्मस्वरूप में प्रकट होना ही मोक्ष है । मोक्ष की परिभाषा करते हुए आचार्य उमास्वाति कहते हैं—

कृत्स्नकर्म क्षयोमोक्ष ^१

आत्मा के सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाना ही मोक्ष है । इसी बात को एक अन्य आचार्य ने कुछ स्पष्टता के साथ बताया है—

कृत्स्नकर्मक्षयादात्मन स्वरूपावस्थानं मोक्ष ^२

नमस्त कर्मा का क्षय करके आत्मा अपने स्वरूप में जब स्थिर हो जाता है, तब वही मोक्ष नाम से कहा जाता है । मूलतः मोक्ष का यही स्वरूप है ।

जैन दर्शन ही नहीं, भारत के अन्य दर्शनों ने भी मोक्ष के सम्बन्ध में यही चिन्तन प्रस्तुत किया है । नाट्य दर्शन के आचार्य ने कहा है—

प्रकृति वियोगो मोक्ष ^३

—आत्मा रूप पुरुषतत्त्व से प्रकृति रूप भौतिक तत्त्व का अलग हो जाना मोक्ष है ।

वैदान्तिक आचार्य के मतानुसार—आत्मा का आत्मा में विलीन हो जाना ही मोक्ष है—

आत्मन्येव तयो मुक्तिर्वैदान्तिक मते मताः ^४

१ उमास्वाति (नमस्त वि० म० १-३ तक) तत्त्वार्थसूत्र १०।३

२ जैननिदान दोषिणा ५।३६

३ गङ्गदर्शन समुच्चय ४३

४ तिरुक्कविलान

—परब्रह्म स्वरूप ईश्वरीय शक्ति मे आत्मा का लीन हो जाना मुक्ति है ।

वैसे वैदिक ग्रन्थो मे मुक्ति के कई रूप माने गये हैं । श्रीमद्भागवत मे मुक्ति के स्वरूप के विषय मे विवेचन करते हुए पाँच प्रकार की मुक्ति बताई गई है^१

१ सालोक्य—भगवान के समान लोक की प्राप्ति ।

२ सार्ष्टि—भगवान के समान ऐश्वर्य की प्राप्ति ।

३ सामीप्य—भगवान के समीप स्थान की प्राप्ति ।

४ सारूप्य—भगवान के समान स्वरूप की प्राप्ति ।

५ सायुज्य—भगवान मे लय हो जाना ।

इन पाँचो भेदो का, और उनके साधनो का वैदिक दर्शन मे काफी विस्तार से चिन्तन-मनन हुआ है, भक्ति, कर्म और ज्ञान-योग का विकास भी इन पाँचो स्वरूपो के आधार पर हुआ है । किन्तु जैनदर्शन इसमे चौथे रूप को ही स्वीकार करता है । उसका कहना है—भगवान के समान लोक मे तो आत्मा कई बार चला गया, सिद्ध क्षेत्र मे एकेन्द्रिय जीव भी चला जाता है, पर वहाँ जाने मात्र से मुक्ति थोड़ी हो सकती है ? जिस विशाल राजभवन मे राष्ट्रपति रहते हैं, उसी मे उनका चपरासी भी रहता है, पर कहाँ राष्ट्रपति और कहाँ चपरासी ? सेठ के घर मे रहने से नौकर सेठ नहीं होता । सिपाही की वर्दी पहनलेने से सभी सिपाही नहीं बनते । वैसे ही भगवान के समान ऐश्वर्य को भी हमने मुख्यता नहीं दी है । जैन धर्म मे बाह्य ऐश्वर्य की कोई कीमत नहीं है । आचार्य समन्तभद्र ने तो यहाँ तक कह दिया है—“प्रभो ! आपके बाह्य अतिशयो को, विभूतियो को देखकर मैं आपकी स्तुति नहीं करता हूँ क्योंकि यह ऐश्वर्य तो अन्य मायावी देवो मे भी दिखाई देता है—मायावीष्वपि दृश्यते^२—किन्तु आपकी जो विलक्षणता है वह तो वीतराग भाव है ।”

१ श्रीमद् भागवत ३।१६।१३

२ आचार्य समन्तभद्र (समय वि. स. २-३ सदी) बृहत्सव्यभू स्तोत्र

इसी प्रकार भगवान में लय होना भी जैन दर्शन को मान्य नहीं है, इससे तो आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता ही समाप्त हो जायेगी, जबकि प्रत्येक आत्मा एक अखण्ड स्वतन्त्र सत्ता है। बौद्ध दर्शन ने तो मुक्ति के विषय में कुछ भिन्न बात ही कही है—वहा कहा गया है जिस प्रकार तैल क्षय हो जाने पर दीपक बुझ जाता है। विलय हो जाता है, वैसे ही आत्मा इधर उधर कहीं नहीं जाता, किन्तु क्लेश क्षय होने पर वह शांत हो जाता है—आचार्य अश्वघोष की यह उक्ति प्रसिद्ध है—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेत

स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ।

‘‘ तथा कृती निर्वृति मभ्युपेत्य’’

क्लेश क्षयात् केवलमेति शान्तिम् ।^१

किन्तु उनका यह विश्वास दर्शन जगत् में टिक नहीं सका, उनके द्वारा दी गई मोक्ष (निर्वाण) की इस व्याख्या को जैनदर्शन के धुरधर आचार्यों ने तर्क-वितर्क द्वारा जीर्ण शीर्ण कर डाली है। हा तो मैं बता रहा था, हमने मोक्ष की चौथी व्याख्या स्वीकार की है—जिसमें ‘मारूप्य’ मोक्ष का स्वरूप माना गया है, आत्मा परमात्मा के समान ही स्वरूप प्राप्त कर लेता है, अर्थात् स्वयं परमात्मा बन जाता है।

यही बात जैन दर्शन में, जैन आचार्यों ने बार-बार दुहराई है। आचार्य अकलक का कथन है—

आत्मलाभं विदुर्मोक्ष जीवस्यान्तर्मलक्षयात्^२

जीव के अन्तर्मलो का क्षय होने पर आत्मा को जो स्वरूप लाभ अर्थात् स्वरूपदर्शन प्राप्त होता है, आत्मा आत्मा में स्थिर हो जाता है—वही मुक्ति है।

१ सौंदरानन्द १६।२८-२९

२ आचार्य अकलक (गमय वि० ७ वी सदी) सिद्धिविनिश्चय पृ० ३८४

इस प्रकार आपके सामने मैंने पहली बात स्पष्ट की—हमारा लक्ष्य है—मोक्ष । अतः उसका स्वरूप है—आत्मलाभ । अर्थात् हम जहाँ हैं, वही बैठे आत्म-दर्शन कर सकते हैं और वही से मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं । भरत चक्रवर्ती, मरुदेवी माता के उदाहरण आपके समक्ष हैं । भरत जी आरीशा भवन में बैठे-बैठे ही केवलज्ञान प्राप्त कर गये, रागद्वेष से मुक्त हो गये और मरुदेवी माता तो हाथी के हौदे पर विराजमान रही और मुक्त हो गई । इन उदाहरणों से यही बात स्पष्ट की गई है कि आत्मा जहाँ भी राग-द्वेष से मुक्त हो जायेगा वही वह मोक्ष प्राप्त कर लेगा ।

अब प्रश्न दूसरा है—इस लक्ष्य को प्राप्त करने का साधन क्या है ? कैसे हम अपनी उस मजिल तक पहुँच सकते हैं । इस प्रश्न पर अगले प्रकरण में विचार किया जायेगा ।



लक्ष्य साधना

एक प्रसिद्ध आचार्य ने कहा है—‘भगवान ने अपने समस्त प्रवचनों में जो कुछ कहा है उसे यो बताया जा सकता है, कि भगवान ने सिर्फ दो ही बातें बताई हैं—मार्ग और मार्ग का फल—

मग्नो मग्नफलं ति य द्रुविहं जिणसासणं समवखादं ।^१

इन दो बातों में ही संपूर्ण जिन प्रवचन का समावेश हो गया है । मार्ग का अर्थ है—रास्ता, साधना, पथ और मार्ग फल का अर्थ है—मजिल । नाध्य और गतव्य । रास्ता पार कर, यात्रा पूरी कर जिस ध्येय को हम पाना चाहते हैं, उसे ‘मार्ग फल’ कहा जाता है । उस मार्ग फल के सम्बन्ध में यहाँ विचार प्रस्तुत किये जा रहे हैं । आपने समझा ही होगा कि हमारी यात्रा का अन्तिम ध्येय है—आत्मस्वरूप का दर्शन । अर्थात् रागद्वेष का क्षय कर संपूर्ण कर्मों से मुक्ति । समार के समस्त साधकों के सामने यही एक मात्र ध्येय रहता है कि हम मोक्ष प्राप्त करें । साधक को ‘मुमुक्षु’ कहा जाता है ! मुमुक्षु शब्द के अर्थ पर विचार करेंगे तो आपको पता चलेगा,

“जो मुक्ति की इच्छा रखता हो, वह मुमुक्षु है।” साधु भी और श्रावक भी—दोनों ही मुमुक्षु कहलाते हैं। क्योंकि दोनों की कामना एक ही है—मुक्ति।

अब प्रश्न यह है कि ध्येय तो हम सबका एक है, एक ही हमारी मजिल है, एक ही लक्ष्य की ओर हमें चलना है, किन्तु उस ध्येय को प्राप्त करने का मार्ग कौन-सा है? नगर में जाना है, तो मार्ग भी मिलना चाहिए! यदि मार्ग का ज्ञान न होगा तो मजिल सामने दिखाई देने पर भी हम उस तक पहुँच नहीं सकेंगे। समुद्र के बीच द्वीप है, वहाँ रत्नों का ढेर लगा है, पत्थर और ककर की तरह वहाँ हीरे-मोती बिखरे पड़े हैं, वहाँ की मिट्टी सोना है, और यह देख-देखकर आपकी आँखें ललचा रही हैं, आपके पाव उछल-कूद मचा रहे हैं वहाँ तक जाने को, किन्तु प्रश्न यह है कि वहाँ तक जायें कैसे? रास्ता भी तो मिलना चाहिए! कोई साधन भी तो मिले कि हम वहाँ तक पहुँच जायें।

यही प्रश्न हमारे सामने है—मोक्ष के अनन्त और अव्यावाध सुख, अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त आत्मशक्तियाँ और आध्यात्मिक विभूतियाँ देखकर हम चाहते हैं उन्हें प्राप्त करें, किन्तु कैसे? आज के प्रसंग में हम इसी प्रश्न पर विचार करेंगे कि मोक्ष प्राप्ति के उपाय क्या हैं?

मोक्ष के दो मार्ग . ज्ञान और क्रिया

स्थानाग सूत्र के दूसरे स्थान में बताया गया है—मोक्ष मार्ग का पथिक अणगार दो मार्गों पर चलता हुआ इस अनादि-दीर्घ ससार रूप कातार (जगल) का पार पा सकता है—

दोहि ठाणेहि संपन्ते अणगारे अणाइय, अणवदगं दीहमद्धं संसारकतार
वीइवएज्जा, तं जहा—

विज्जाए चेव, चरणेण चेव।^१

दो कारणों से इस ससार अटवी का पार पाया जा सकता है। वे दो कारण (मार्ग) हैं—विद्या और चारित्र !

विद्या का अर्थ है—ज्ञान और चारित्र का अर्थ है—सयम । ज्ञान और क्रिया—ये दो मोक्ष के मार्ग हैं। सूत्रकृताग में भी इसी बात पर बल देकर कहा गया है—

आहसु विज्जा चरणं पमोक्खो—^१

विद्या और चरण—अर्थात् ज्ञान और कर्म के समन्वय से ही मुक्ति हो सकती है। इसीलिए मोक्ष मार्ग के पथिक मुमुक्षु जनो को 'विज्जाचरण पारगा'—विद्या और चरण के पारगामी कहा गया है।

प्रसिद्ध निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु ने एक दृष्टांत देकर बताया है—
“किसी जंगल में एक पगु मनुष्य पड़ा था, उसने देखा कि जंगल में भयंकर आग लग गई है, धू-धूकर लपटें उठ रही हैं, बड़े-बड़े वृक्ष जलकर राख हो रहे हैं। आग की लपटें बढ़ती हुई उसकी ओर आने लगी। पागले मनुष्य का कलेजा धक्-धक् करने लगा, जंगल के सभी जीव इधर-उधर दौड़ रहे थे, पर विचारा पगु आग को पास में आती देखकर भी हताश-निराश बैठा रहा, उसके पाव नहीं थे, चल नहीं सकता था, देखकर भी करे तो क्या करे ? वह मन ही मन भगवान का नाम ले रहा है, और जोर-जोर से पुकार रहा है—“कोई परोपकारी मनुष्य इधर आकर मुझे बचाओ !”

तभी एक सूरदास महाराज रास्ते में भटकते हुए उधर आ गये।
‘जंगल में हाहाकार क्यों मच रहा है ?’ पर कौन उत्तर दे। वह इसी प्रकार चिल्लाता हुआ उधर ही जाने लगा, जिधर आग की लपटें उछल रही थी। पगु महाराज ने देखा तो पुकारा—“सूरदाम महाराज ! कहा जा रहे हो ?”

सूरदाम—“यह क्या हो रहा है ?”

पगु—“अरे महाराज ! आपको पता नहीं, जंगल में आग लग गई है, आग ! जिधर आप जा रहे हैं, उधर ही आग की लपटें बढ़ी आ रही हैं, कहीं भुन जाओगे ।”

सूरदास धवराकर बोला—“भाई ! मुझे तो कुछ दिखाई नहीं दे रहा है । किधर जाऊँ ? तुम मुझे रास्ता बता दो, भगवान तुम्हारा भला करेगा ।”

पगु मन-ही-मन बड़ा प्रसन्न हुआ, कहा—“महाराज ! रास्ता तो मैं बता दूँ, किन्तु मैं चल नहीं सकता, आखें तो हैं, किन्तु भगवान ने पाव छीन लिये चलो कैसे ?”

सूरदास की बाछे खिल गई, बोला—“भाई ! पाव न हो तो, क्या है, आखें सलामत चाहिए, यही बड़ी चीज है, देख पाव तो मेरे बड़े मजबूत है, पांच मन भार कंधे पर उठाकर चल सकता हूँ, बस रास्ता दिखाना चाहिए ।”

पगु ने कहा—“वावा, तब तो घी-खीचड़ी मिल गई, आओ मैं तुम्हें रास्ता बताऊँगा ।”

सूरदास—‘वैठो, मेरे कंधे पर ! तुम रास्ता दिखाते जाओ, मैं चलता हुआ अभी इस जंगल से पार हो जाता हूँ, चलो दोनों मिल गये तो दोनों की ही सवा लाख की जान बच गई, वर्ना आज दोनों का सकरकद सिक जाता ।”

इस प्रकार पगु अघे के कंधे पर बैठ गया, और दोनों ने मिलकर अग्नि-ज्वालाओं से दहकते उस जंगल को पार कर लिया । जब तक दोनों मिले नहीं, तो दोनों कष्ट पाते रहे—

पासतो पगुलो बड़्ढो धावमाणो य अघओ—

पगु देखता हुआ भी जलता रहा, अघा दौड़ता हुआ भी आग की लपटों में फँस गया ।

इस कहानी का सार बताते हुए आचार्य भद्रबाहु ने कहा है—

संजोग सिद्धीइ फलं वयति

न हु एग चक्केण रहो पयाइ ।

अंधो य पगु य वणे समिच्चा

ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा ।^१

—सयोग सिद्धि (ज्ञान और क्रिया का सयोग) ही ससार में फलदायी कही जाती है। इसी से मोक्ष रूप फल की प्राप्ति होती है। एक पहिए से कभी रथ नहीं चलता। जैसे अघा और पगु मिलकर वन के दावानल से बचकर नगर के सुरक्षित स्थान में पहुँच गये, दोनों ने ही अपना जीवन बचा लिया, वैसे ही साधक ज्ञान और क्रिया के समन्वित रूप के साथ चलकर मोक्ष रूप नगर को प्राप्त कर लेता है, अपनी मजिल पर पहुँच जाता है।

ज्ञान-क्रिया का यह महत्त्व प्रत्येक विचारक और प्रत्येक अध्यात्मवेत्ता ने माना है। महर्षि वशिष्ठ ने कहा है—

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गति ।

तथैव ज्ञानकर्मभ्यां जायते परम पदम् ।^२

—जिस प्रकार पक्षी को आकाश में उड़ने के लिए दो परो की आवश्यकता होती है, दोनों पर बराबर होने से ही उड़ सकता है उसी प्रकार ज्ञान और कर्म—दोनों के समन्वय से ही परमपद अर्थात् मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

जैसे सृष्टि में दिन-रात का, धूप-छाह का, नर-नारी का युगल है, दोनों सही रहने से ही सृष्टि का क्रम ठीक से चलता है, वैसे ही ज्ञान-क्रिया मोक्ष यात्रा का अनिवार्य युगल है, जोड़ी है, इन दोनों में से एक को भी छोड़ देने से काम नहीं चलेगा। क्रिया के बिना ज्ञान पगु की तरह पड़ा रहेगा और ज्ञान के बिना क्रिया अघे की तरह भटकती रहेगी।

गीतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा—“कुछ लोग शील (आचार) को श्रेष्ठ मानते हैं और कुछ श्रुत (ज्ञान) को इन दोनों में कौन ठीक है कौन श्रेष्ठ है ... ?”

१ आवश्यक निर्युक्ति १०१

२ योगवाशिष्ठ, वेंराग्य प्रकरण १।७

भगवान ने उत्तर दिया—“न अकेला शील ठीक है, और न अकेला श्रुत । शील और श्रुत—चारित्र्य और ज्ञान दोनों एक साथ मिलेंगे तभी साधना ठीक चल सकेगी । अतः जो शीलवान (सदाचारी) और श्रुतवान (ज्ञानी) है वही वास्तव में धर्म का सच्चा आराधक है—

सीलव सुयवं, उवरए विन्नायधम्मे... ^१

शीलवान और श्रुतवान ही धर्म का ज्ञाता और विषयो से विरक्त हो सकता है ।

इस प्रकार आप देखेंगे कि मोक्ष की प्राप्ति का—हमारे समक्ष ज्ञान और क्रिया का समन्वित मार्ग है ।

तीन मार्ग

ज्ञान और क्रिया का विस्तार करके कहीं-कहीं पर मोक्ष के साधन रूप तीन मार्ग भी बताये गये हैं । आचार्य भद्रबाहु ने कहा है—

णाणं पयासगं, सोहवो तवो
सजमो य गुत्तिफरो ।
तिण्हं पि समाजोगे,
मोक्खो जिणसासणे भणिओ ।^२

ज्ञान प्रकाश करने वाला है, तप आत्मा की शुद्धि करने वाला है, और सयम पाप-मार्गों का निरोध करने वाला है, वस, इन तीनों का सम-योग अर्थात् तीनों की उचित आराधना करने से ही मोक्ष मिलता है, इन्हें ही मोक्ष समझ लें तब भी ठीक है ।

भगवान महावीर स्वामी ने अपने अंतिम प्रवचन में मोक्ष का मार्ग बताते हुए शिष्यों से कहा है—

नाणस्स सव्वस्स पयासणाए
अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए ।

१ भगवती सूत्र १०।८

२ आवश्यक निर्युक्ति गाथा १०३

रागस्स दोसस्स य सखएणं

एगंतसोक्खं समुवेई मोक्ख ।^१

—जब आत्मा के समस्त अज्ञान और मोह दूर हट जाते हैं, निरावरण रूप केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है, जिसके प्रकाश में समस्त लोकालोक हथेली की रेखाओं की तरह जाना-देखा जाता है, और आत्मा के घोर शत्रु राग-द्वेष का क्षय हो जाता है, तो फिर आत्मा को एकांत सुखरूप मोक्ष प्राप्त करने में कोई समय नहीं लगता ।

इन्हीं तीन मार्गों की चर्चा करते हुए आचार्य उमास्वाति ने कहा है—

सम्यक् दर्शनं ज्ञानं चारित्र्याणि मोक्ष मार्गः ।^२

तत्त्वार्थ सूत्र का यह पहला ही सूत्र है, इसी पर समूचे जैन दर्शन रूप महल की नींव टिकी है । क्योंकि जब तक सम्यक् दर्शन नहीं होता, तब तक ज्ञान भी सम्यक् नहीं होगा । मुख्य वस्तु मन का विश्वास है, आस्था है । आस्था सच्ची है, तो ज्ञान भी सच्चा है, आस्था ही झूठी है, तो समझलो नींव खोखली है । विना आस्था का मनुष्य विना दस्तखत का पत्र है । विना हस्ताक्षर का चैक है । चैक चाहे एक लाख रुपये का हो, आप बैंक में ले जाकर दे देंगे तो बैंक आपको पैसा दे देगा, पर कब ? जब उस पर हस्ताक्षर सही होंगे । यदि चैक देने वाले का हस्ताक्षर सही नहीं होगा तो बैंक आपको वरग ही लौटा देगा, एक पैसा भी नहीं मिलेगा ।

तो यही बात आस्था की है, सम्यक् दर्शन जब हो जाता है, तो ज्ञान भी सम्यक् होता है, और तब जो आचरण किया जाता है, वह मोक्षरूप फल भी देने वाला होता है, तो ये तीन मार्ग बताये हैं मोक्ष के—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य ।

मोक्ष साधना के मार्ग में ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य इन तीनों की कितनी घनिष्ठता है, तथा तीनों किस प्रकार एक दूसरे के पूरक हैं, इस बात को कई युक्तियों से समझाया गया है । जैसे—

हरड-बेहडे-आवला त्रिफला हरै त्रिदोष ।
 ज्ञान-दर्श-चारित्र त्रय देत मनुज को मोक्ष ।
 मेदा-सक्कर-धीय से सीरो वणै सटाक ।
 ज्ञान-दर्श-चारित्र ते मिटे कर्म की छाक ।
 तेल-वाती-दीपक मिलत अंधकार को नास ।
 ज्ञान-दर्श-चारित्र ते मिले मोक्ष को वास ।
 दाम-ठाम-हिय तीन ते बढै विणज व्यापार ।
 ज्ञान-दर्श-चारित्र तिहु करदे भव जल पार ।
 जल-वायु-अरु अग्नि त्रय करे यंत्र विस्तार ।
 ज्ञान-दर्श-चारित्र तें छूटे आत्मविकार ।
 नीम-गिलोय-चिरायता ज्वरनाशक ये तीन ।
 ज्ञान-दर्श चारित्र तिन राग-द्वेष क्षय लीन ।
 मसि-कागज-अरु लेखिनी लिखे जु मन का भाव ।
 ज्ञान-दर्श-चारित्र तें समजे आत्म-स्वभाव ।
 वर्षा-धरती-बीज ते होवे शाख सवाय ।
 ज्ञान-दर्श-चारित्र ते क्रीडो अध मिट जाय ।^१

उक्त उदाहरणों में बताया है, जैसे हरड बेहडे और आवला इन तीनों के योग से त्रिफला बनता है, जो त्रिदोष का नाश करने वाला है, वैसे ही ज्ञान-दर्शन चारित्र-कर्म दोष का नाश करके मोक्ष देने वाला है ।

सीरा—हलुवा बनाने के लिए घी सक्कर और मेदा की जरूरत होती है, अधकार मिटाने के लिए तेल, वाती और दीपक (दीवट) की आवश्यकता होती है, व्यापार बढ़ाने के लिए पैसा स्थान और हिम्मत की जरूरत होती है, यंत्र व मशीन को चलाने के लिए पानी, हवा और अग्नि की जरूरत होती है, पुराने ज्वर को मिटाने के लिए नीम, गिलोय और चिरायता इन तीनों का घासा दिया जाता है, कविता व लेख लिखने के लिए स्याही, कागज और कलम चाहिए, धरती पर अन्न पैदा होने के लिए अच्छी भूमि,

बीज और वर्षा की जरूरत रहती है—जैसे उक्त वस्तुओं के बिना उनके काम पूरे नहीं हो सकते न सीरा बन सकता है, न प्रकाश हो सकता है, न व्यापार हो सकता है, न मशीन चल सकती है, न ज्वर मिट सकता है, न लेख कविता लिखे जा सकते हैं और न खेती हो सकती है, उसी प्रकार ज्ञान-दर्शन और चारित्र्य के बिना मोक्ष नहीं मिल सकता, कर्म ज्वर का नाश नहीं हो सकता, ज्ञान का सम्पूर्ण प्रकाश नहीं हो सकता, सद्गुणों की पूर्ण खेती नहीं हो सकती। भाव यही है कि ज्ञान-दर्शन और चारित्र्य इन तीनों के मिलने से ही मोक्ष या मुक्ति मिल सकती है।

चार मार्ग •

इन्हीं तीन मार्गों का विस्तार करके कही-कही मोक्ष के चार मार्ग भी बताये गये हैं—

दानं च शीलं च तपश्च भावो,
धर्मश्चतुर्धा जिनदांधवेन ।
निरूपितो यो जगतां हिताय,
स मानसे मे रमतामजस्रम् ।^१

दान, शील, तप और भाव—ये चार मोक्ष के मार्ग हैं, धर्म के अंग हैं, भगवान ने ससार के कल्याणार्थ इनका निरूपण किया है।

उत्तराध्ययन सूत्र के मोक्ष मार्ग अध्ययन में भी मोक्ष के ये ही चार मार्ग बताये हैं—

नाण च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा ।
एस मग्गु त्ति पन्नत्तो जिणोहि वरदसिंहि ॥^२

—ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप—श्रेष्ठ ज्ञानी प्रभु ने मोक्ष के ये चार मार्ग बताये हैं। इन चारों का अनुसरण करके, इन मार्गों पर चलकर आत्मा मोक्ष मजिल तक पहुँच सकता है।

बधुओं ! ये चार मार्ग ऐसे हैं, जिनमें कही बीच में कोई घुमाव नहीं, नदी-नाले और घाटियाँ आदि नहीं, एक प्रकार के राजमार्ग हैं ये। हाँ,

१ शातसुधारस भावना (आचार्य विनयविजयजी)

२ उत्तराध्ययन २८।२

चलने से पहले अपनी शक्ति को तोलकर देख लेना चाहिए। धीरे-धीरे चलने की शक्ति हो तो कोई बात नहीं, श्रावक धर्म बताया गया है, धीरे-धीरे ही चलो, पर चलते रहो, यह नहीं कि एक कोस चले और वहीं रुक गये, बैठ गये, थक गये और ली हुई जिम्मेदारी छोड़ भागे। यह मार्ग तो ऐसा है, जो चल पड़ा उसे सतत चलते ही रहना चाहिए। हर समय उसके कानों में यही मंत्र गूँजता रहे—

चरंवेति चरंवेति

चरन् वै मघु विदति

चरन् भद्राणि पश्यति

चलते रहो, चलते रहो, चलने वाला ही अमृत प्राप्त करता है, चलने वाला ही मंगल और कल्याण के दर्शन करता है। इसलिए साधक को बार-बार यही प्रेरणा दी गई है—

ओ चलने वाले, रुकने का तुम नाम कहीं भी मत लेना,

पथ में जो बाधाएँ आये, विजय उन्हीं पर कर लेना।

हा, तो यह बता रहा था मैं कि मोक्ष प्राप्ति के ये चार मार्ग भी बताये गये हैं। वैसे इनके नाम चार हैं, किन्तु देखा जाय तो सब एक दूसरे से जुड़े हुए हैं, ज्ञान जहाँ होगा, वहाँ दर्शन अर्थात् श्रद्धा (सम्यक्त्व) भी होगी, क्योंकि श्रद्धा शून्य ज्ञान निर्वल होता है। उस ज्ञान में कोई शान्ति नहीं, बल नहीं, और तेज नहीं, जिस ज्ञान में श्रद्धा नहीं हो। भगवान ने तो यहाँ तक कह दिया है कि जिसे सम्यक्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई हो उसे सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति हो ही नहीं सकती—

नादंसणिस्स नाणं

नाणेन विणा न ह्वति चरणगुणा।^१

और सम्यक् ज्ञान के बिना चारित्र भी नहीं, चारित्र के बिना तप नहीं, और यह चारो नहीं तो फिर कुछ भी नहीं। बारह में से चार निकल गये तो ?

आप कहेगे—‘आठ !’ पर यह तो कोई भी दूसरी-तीसरी कक्षा का विद्यार्थी बता देगा, फिर मैं आपसे क्यों पूछता ?

बादशाह ने पूछा—बारह में से चार निकल गये तो कितने बचे ? आप जैसे ही सभासद बैठे थे, बोले—“हजूर ! आठ बचे !”

बादशाह ने वजीर की तरफ देखा, वजीर वीरवल चुपचाप सब सुन रहा था । बादशाह बोले—वीरवल ! तुम क्यों नहीं बोलते ?

वीरवल ने कहा—“हजूर ! क्या बोलू ? बारह में से चार निकल गये तो कुछ नहीं बचा ?”

लोगों को आश्चर्य हुआ, क्या वीरवल जोड़ बाकी भी भूल गया ? बादशाह ने पूछा—कैसे ?

वीरवल ने बताया—वर्ष के बारह महीने होते हैं, उनमें चार महीने वर्षा ऋतु के हैं, वर्षा होती है, खेतों में अन्न उपजता है, नदी नाले-सरोवर पानी से भर जाते हैं, समूची सृष्टि में रग-रगीली छा जाती है, चारों तरफ आनन्द और सुख-समृद्धि लहराने लगती है । यदि वर्षा ऋतु में चार महीने सूखे निकल गये तो ? सावन की वर्षा मिगसर पोष में हो तो ? क्या हाल होगा ससार का ? अकाल पड़ेगा, लोग भूखों मरेंगे, प्यासे मरेंगे, लाखों करोड़ों मनुष्य दाने-दाने की तरसते फिरेंगे । यदि ये चार महीने निकल जाये तो ससार में हाहाकार मच जाये .. !’

तो भाइयो ! ये चार—ज्ञान, दर्शन चारित्र और तप भी यदि जीवन में न रहे तो फिर जीवन का भी वही हाल होगा जो चार मास निकलने से सृष्टि का होता है ।

शास्त्रों में बैठे कई दृष्टियों से मोक्ष के अलग-अलग मार्ग भी बताये गये हैं । नय, निक्षेप आदि की दृष्टि से तथा साधना के विविध मार्गों की दृष्टि से भी इस पर विचार किया गया है । एक स्थान पर वर्म के चार द्वार बताये हैं—

चत्तारि धम्मदारा,
खती, मुत्ती, अज्जवे मह्वे^१

—क्षमा, सतोष, सरलता और नम्रता-ये चार धर्म रूप नगर में प्रवेश करने के लिए द्वार हैं। जिस जीवन में ये द्वार खुले होंगे, वही धर्म-नगर में प्रवेश कर सकेगा।

इन्हीं विचारों की प्रतिध्वनि वैदिक साहित्य में भी मिलती है। महर्षि वशिष्ठ ने भी कहा है—

मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परिकीर्तिताः।

शमो विचारः सन्तोषश्चतुर्थं साधुसंगमः॥^१

—मोक्ष द्वार के चार द्वारपाल हैं—शम—(वैराग्य) विचार (ज्ञान) सतोष और साधु संगति। इन चारों की सेवा किये बिना मोक्ष नगर में प्रवेश नहीं हो सकता। अर्थात् ये भी मोक्ष प्राप्ति के चार साधन हैं।

विविध दृष्टियाँ

आप जानते हैं—जैन धर्म स्याद्वादी है, अनेकात्मवादी है, वह प्रत्येक विषय को अनेक दृष्टियों से सोचता है, समझता है। जैसे वैज्ञानिक लोग आजकल उग्रग्रह छोड़कर चन्द्रमा के तरह-तरह के चित्र ले रहे हैं, अलग-अलग दिशाओं के फोटू लेकर फिर सब को मिलाकर देखते हैं कि कुल मिलाकर—चन्द्रमा का रूप कैसा है? वहाँ क्या-क्या है? इसी प्रकार जैन धर्म में अनेक दृष्टियों से विचार करके अलग-अलग बातें बताई गई हैं, धर्म के अलग-अलग चित्र प्रस्तुत किये गये हैं—मोक्ष के अलग-अलग उपाय बताये गये हैं—कुछ तो मैंने आपके समक्ष रखे हैं। कुछ और रख रहा हूँ किन्तु आगे चलकर फिर सब एकत्रित हो गये हैं। जैसे सब नदियाँ एक समुद्र में मिल जाती हैं। उत्तराध्यायन सूत्र में बताया है—

तस्मैस भग्नो गुरु विद्वत्सेवा

विवज्जणा बालजणस्स दूरा।

सज्जाय एगत निसेवणा य

सुत्तत्थ सच्चित्तणया धिई च ।^१

उस एकांत सुख रूप मोक्ष स्थान तक पहुँचने का मार्ग है—गुरु एव वृद्ध जनो की सेवा, अज्ञानी और मूर्खजनो से दूर रहना, स्वाध्याय करना, एकांत निर्दोष शुद्ध स्थान में रहना, और बुद्धि से सूत्र-अर्थ का चिन्तन करते रहना । यह है मोक्ष का मार्ग ।

मुख्य रूप से इसमें भी ज्ञान और चाग्रि की विशेष साधना ही बताई गई है, भाषा अवश्य भिन्न है, किन्तु भावना में कोई अन्तर नहीं हैं । यह सब साथ-साथ तप-चारित्र और ज्ञान के ही अंग है ।

आचार्य हरिभद्र ने एक स्थान पर मुक्ति का एक मार्ग बताते हुए कहा है, “कपाय मुक्ति किल मुक्तिरेव—कपायो से मुक्त होना ही मुक्ति है । कपाय विजय ही मोक्ष का एक मार्ग है । यह भी बात सही है, कपायो को जीते बिना राग-द्वेष का क्षय नहीं होगा और वीतराग बने बिना मुक्ति कैसे होगी ?

एक सूक्ति यह भी प्रसिद्ध है—

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात !

वियान् विपवत् त्यज !

वधु ! यदि मुक्ति चाहता है, तो विषयो को विष समझकर छोड़ दे । जब तक विषय वासना मन से नहीं हटेगी, तब तक मुक्ति नहीं होगी । क्योंकि विषयो के चिन्तन से मन अपवित्र होता है, विषयो के आचरण से चारित्र का पतन होता है और अपवित्र एव पतित व्यक्ति को भी यदि मुक्ति मिल जाये तो फिर ससार पवित्रता और सदाचार का नाम ही भूल जायेगा ।

इस प्रकार मोक्ष मार्ग की विविध दृष्टियाँ हमारे सामने आई हैं, विविध मार्ग बताये गये हैं, इन मार्गों की विविधता से घबराने की या चिंता करने की आवश्यकता नहीं है कि अब किस रास्ते से चलें ? कौन सा रास्ता ठीक है ? वास्तव में ये सभी रास्ते ठीक हैं, सभी मार्ग आपको उमी केन्द्र

पर पहुँचायेगे। जैसे बड़े नगर में पहुँचने के अनेक दिशाओं से अनेक मार्ग होते हैं, सभी मार्ग आकर उसके मुख्य केन्द्र पर मिल जाते हैं, यही बात इन मार्गों की है। फिर जैन धर्म तो समन्वयवादी है, वह विभिन्न मार्गों को देखकर झगडा नहीं करता, किंतु उनमें समन्वय करता है, वह कैची का काम करने वाला धर्म नहीं, किंतु सूई का काम करने वाला है, टुकड़ों को जोड़ने वाला धर्म है। इसी दृष्टि से भगवान ने सब मार्गों को समन्वय करते हुए कहा है—

जे आसवा ते परिस्सवा
जे परिस्सवा ते आसवा ।^१

जितने भी आश्रव—अर्थात् कर्म आने के, ससार में भटकने के मार्ग हैं, उतने ही, अर्थात् वे सब मोक्ष के मार्ग बन सकते हैं, उन सब मार्गों से साधक निर्जरा भी कर सकता है, सिर्फ उसकी दृष्टि शुद्ध चाहिए। ध्येय मोक्ष का चाहिए, फिर तो विप भी अमृत बनाया जा सकता है। आचार्य ने कहा है—

जे जत्तिआ अ हेउ भवस्स
ते चेव तत्तिआ मुक्खे ।^२

जो, जितने हेतु, कारण ससार के हैं, वे और उतने ही हेतु मोक्ष के बन सकते हैं, वस, बनाने की कला आनी चाहिए। वह कला है वीतराग, दृष्टि ।

समन्वय

बधुओं । इस प्रकार अनेक बातें, अनेक मार्ग आपके सामने मैंने बताये हैं, शायद यह सुनकर आप भ्रम में पड़ गये होंगे कि अब कौन से मार्ग का आचरण करें। ज्ञान, क्रिया, दान, शील, तप, भाव, गुरु सेवा, स्वाध्याय सूत्र चिंतन, एकांत निसेवन, कपायपरिहार, विषयत्याग, शम, सतोष, वैराग्य, सरलता आदि विविध मार्ग आपने बता दिये, इनका निश्चय करना

१ आचाराग सूत्र १।४।२

२ ओघनिर्मुक्ति ५३

भी कठिन हो गया ! लेकिन बात ऐसी नहीं है, जैसा मैंने बताया, यह उस एक ही चन्द्रमा के विविध चित्र समझ लीजिए । एक ही पहाड़ के विविध दृश्य समझ लीजिए । सबका केन्द्र एक ही है, मूल एक ही है, आपको इन विविधताओं में नहीं ले जाकर एक ही केन्द्र पर लाऊँ तो वह है तप । तप में यह सब मार्ग समन्वित हो जाते हैं, ज्ञान भी, भाव भी, वैराग्य भी, सेवा भी, सबका समावेश तप में होता है ।

जैन धर्म का तप केवल शरीर को सुखा देना मात्र नहीं है, केवल उपवास आदि करना ही तप नहीं है, तप का क्षेत्र बहुत विशाल है, बड़ा व्यापक है, ज्ञान और क्रिया—दोनों ही तप हैं, तप चारित्र्य तो हैं ही, भाव के बिना तप होगा नहीं, ध्यान, विनय, गुरु सेवा आदि भी तप के मुख्य अंग हैं, जिनका वर्णन आगे किया जायेगा—इस प्रकार मोक्ष के जितने भी मार्ग आपके समक्ष बताये गये हैं, उन सबका यदि एक नाम ही रखा जाय तो वह है—तप । जैसे सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्ना—हाथी के खोज में सबके खोज समा जाते हैं, और सागर के आगम में सब नदिया मिल जाती हैं, वैसे ही तप के आचरण में मोक्ष के समस्त मार्ग समाहित हो जाते हैं । आत्मा को ज्ञानाभिमुख करने वाला भी तप है । ज्ञान प्राप्ति तभी होगी जब आप अध्ययन करेंगे, या गुरुजनो की सेवा करेंगे—और ये दोनों ही तप के अंग हैं, स्वाध्याय तप है, गुरुसेवा (वैयावृत्य) भी तप है । कपाय छोड़ना तप है, इन्द्रिय सयम तप है, कम खाना तप है, कम बोलना तप है, आसन, ध्यान करना तप है और दोषों का प्रायश्चित्त करना भी तप है । अब बताइए आत्मशुद्धि का ऐसा कौन-सा साधन है जो तप में नहीं आया हो ? तप से ही आत्मा पर लगे कर्म आवरण दूर हटते हैं, तप से ही आत्मा शुद्ध होती है—संपूर्ण तप ही मुक्ति मार्ग का एकमेव साधन है, सभी साधन तप के अंग हैं ।’



तप की परिभाषा

आपके सामने दो बातें स्पष्ट हो जानी चाहिए कि हमारा लक्ष्य क्या है, और उस लक्ष्य को प्राप्त करने का साधन क्या है ? लक्ष्य है मोक्ष । और उसका साधन है—तप ।

शायद तप के नाम से आप चौक उठेंगे । जैसे बच्चा सिंह का या भूत का नाम सुनकर भयभीत हो उठता है, उसके रोगटे खड़े हो जाते हैं, कानों की लवें लाल-लाल हो जाती हैं, वैसे ही तप का नाम सुनकर शायद आपकी हालत हो जाये । आप सोचेंगे—तप ? भूख मरना ? पेट पर पाटी बाधना ? ओह ! कितना कठिन काम है ? मनुष्य तलवारों के घाव सह सकता है, बाणों की पीड़ा भी हँसते-हँसते सह सकता है, किंतु भूख नहीं सह सकता । 'भूख भूवाजी पाजी' इसीलिए तो कही गई है । इसीलिए तो हमारे यहाँ के बारठ जी कहते रहे हैं—“सब बात खोटी एक सिरं दाल रोटी है ।”

किंतु वधुओ ! किसने बताया कि तप का अर्थ केवल भूखो रहना है । जिस तप के नाम से आपके कान खड़े हो जाते हैं, आपको मालूम भी है वह तप क्या है ? या खाली तप को बच्चों का 'हौवा' समझ रखा है । आइये,

तप के विषय में, तप की परिभाषा, उसका स्वरूप और उसके भेद समझ लें, फिर आप शायद अपने आप ही कह उठेंगे—‘ओह ! हमने तो कुछ और ही समझ रखा था, जिस तप को ‘अलूणी सिला’ कह रहे थे, वह तो मिसरी की रोटी है । हा, पहले तप का ज्ञान कीजिये, उसका स्वरूप समझिये ।

तप की विविध व्याख्याएँ

तप यह दो वर्णों का एक चमत्कारी शब्द है, इसमें अचित्य और असीम शक्ति छिपी है । जैसे ‘अणु’ दो वर्णों का छोटा सा शब्द है, परन्तु उसकी शक्ति कितनी विराट् है ? कितनी चमत्कारी है ? ‘अणु शक्ति’ के नाम से आज ससार चोकता है, और उसके अद्भुत कारनामों से, उसकी अद्भुत शक्तियों से बड़े-बड़े राष्ट्र भी भयभीत हैं । तो ‘अणु’ की तरह ही दो वर्ण का शब्द है ‘तप’ और वह भी अणु से अधिक शक्तिमान् है । तप की शक्ति के समक्ष हजारों लाखों अणुवम धूल चाटते हैं । हा, तो उस महान् शक्ति-पुत्र तप का अर्थ क्या है ?

आवश्यक सूत्र की टीका में आचार्य मलयगिरि ने बताया है—

तापयति अष्ट प्रकार कर्म-इति तप ।^१

जो आठ प्रकार के कर्मों को तपाता हो, उन्हें भस्मसात् कर डालने में समर्थ हो, उसे कहते हैं—तप ।

आपने ताप शब्द तो सुना ही है ? ताप का अर्थ है—गर्मी ! उष्णता ! धूप । कर्मों को स्थान-स्थान पर सूखे काठ की उपमा दी गई है, शुष्क घास बताया गया है, और उस घास को जलाने के लिए तप को अग्नि बताया है ।^२ धूप जैसे पानी को सुखा देती है, गर्मी जैसे शीत को भगा देती है, वैसे ही तप कर्मरूप जल को सुखा देता है, भव रूप शीत को भगा देता है, इसलिये तप को ताप या आतप-धूप के रूप में समझना चाहिए ।

जैन आगमों के प्रसिद्ध चूर्णिकार जिनदासगणी महत्तर (समय वि० स०

१ आवश्यक मलयगिरि, खण्ड २ अध्यायन १

२ तापयति कर्म, दहतीति तप —पचाशक विवरण १६

६५०-७५०) ने भी तप की व्युत्पत्तिजन्य परिभाषा करते हुए यही बात कही है—

तप्यते अणेण पावं कम्ममिति तपो ।^१

जिस साधना आराधना से, उपासना से पाप कर्म तप्त हो जाते हैं— उसे तप कहा जाता है। जैसे पहाड़ों पर बर्फ जमती है, पानी की बड़ी-बड़ी चट्टानें बन जाती हैं, उन पर चलो तो पाव फिसलने लगता है, छिठुरने लगता है, किन्तु यदि कोई उन चट्टानों के पास में आग जलादे, तो उसके ताप से वे चट्टानें धीरे-धीरे पिघलने लगती हैं और पानी बन कर बह जाती हैं। इसी प्रकार आत्मा पर कर्मों की बड़ी बड़ी बर्फाली चट्टानें जमी हैं, जब तप की अग्नि प्रज्वलित होती है तो उसके ताप से ये चट्टानें पिघल कर बह जाती हैं। इसलिए उन कर्म रूप हिमखण्डों को उत्तप्त करने वाली शक्ति को 'तप' कहा गया है।

आचार्य अभयदेवसूरि ने तप का निरुक्त—शाब्दिक अर्थ करते हुए कहा है—

रसरुधिर मास मेदाऽस्थि मज्जा शुक्राण्यनेन तप्यन्ते, कर्माणि वाऽशुभानी-
त्यतस्तपो नाम निरुक्त ।^२

—जिस साधना के द्वारा शरीर के रस, रक्त, मास, हड्डियाँ, मज्जा, शुक्र आदि तप जाते हैं, सुख जाते हैं, वह तप है, तथा जिसके द्वारा अशुभ कर्म जल जाते हैं वह तप है। यह तप की शाब्दिक परिभाषा है, जिसे संस्कृत में निरुक्त कहते हैं। तप से देह भी जर्जर हो जाती है, शास्त्रों में तपस्वियों का वर्णन किया है—सुखे, सुखे निम्नसे—'शरीर लूखा, सूखा, मास रहित, रक्त रहित हड्डियों का ढाँचा मात्र बनजाता है, और कर्म तो उससे निर्मूल होते ही हैं। इस प्रकार देहगत प्रभाव और आत्मगत प्रभाव—दोनों ही दृष्टियों से तप की परिभाषा की है—तप्त करने वाला तप !

१ निशोयचूणि ४६

२ स्थानाग वृत्ति ५।

इच्छानिरोध-तप

तप की शाब्दिक परिभाषा आपके सामने बताई गई है। अब उसकी अर्थ-परक अर्थात् भाव परक परिभाषा भी आपके सामने है।

वैसे जैन सूत्रों में तप शब्द का हजारों लाखों-बार प्रयोग हुआ है, वह जैन धर्म का प्राण समझा जाता है, जैन आचार की जननी भी तप ही है, किन्तु फिर भी आगमों में तप की सीधी परिभाषा कही नहीं दी गई है। तप के फलादेश पर ही उसकी परिभाषाएँ निकल सकती हैं। जैसे कोई यह नहीं पूछता कि मा किसे कहते हैं, वैसे ही जैन साधकों ने भगवान से कही यह नहीं पूछा कि 'प्रभो ! तप किसे कहते हैं ?' क्योंकि वह माता की तरह हर साधक की परिचित पद्धति थी। तप का अर्थ क्या पूछना ? वह तो जीवन का सार ही है। किन्तु वाद में जब तप से साधक कुछ दूर हटने लगा तो उसे तप की परिभाषा भी समझानी पड़ी कि तप का क्या अर्थ है, तप किसे कहते हैं ?

तप की भाव-प्रधान परिभाषा करते हुए एक आचार्य ने कहा है—

इच्छानिरोधस्तप

इच्छाओं का निरोध करना तप है।

इस परिभाषा का बीज उत्तराध्ययन सूत्र में मिलता है, जहाँ पर एक प्रश्न के उत्तर में भगवान महावीर ने बताया है—

पञ्चवखाणेण इच्छानिरोहं जणयइ^१

प्रत्याख्यान—अर्थात् त्याग करने से इच्छाओं का निरोध हो जाता है। त्याग से इच्छा-आशा तृष्णा शांत हो जाती है। वास्तव में तप की यह भावात्मक और व्यापक परिभाषा है। जैन दर्शन में समस्त त्याग प्रत्याख्यान सयम आदि को तप के अन्तर्गत मानलिया गया है, क्योंकि जबतक त्याग नहीं होता, आशा तृष्णा छूटती नहीं तब तक सयम कैसे होगा ? और सयम नहीं होगा तो तप कैसे होगा ? भोजन की इच्छा का त्याग होगा तभी उपवास तप हो सकेगा ? शरीर की सुख-सुविधा की तृष्णा का त्याग होगा—तभी

कायक्लेश और कायोत्सर्ग तप होगा । मन के अहकार और कषायों का त्याग होगा—तभी विनय तप एव वैयावृत्य तप होगा । इस प्रकार जबतक इच्छाएँ नहीं रुकेगी तब तक तप नहीं हो सकेगा, सिर्फ मुँह पर या पेट पर पट्टी बांध लेने से कोई तपस्वी नहीं हो सकता किन्तु जो इच्छाओं पर सयम कर लेगा, मन को जीत लेगा तभी वह तपस्वी हो सकेगा । हा, तो इसी दृष्टि से तप का अर्थ हुआ—इच्छाओं का सयम । इच्छाओं का निरोध ।

तप की इस परिभाषा ने यह स्पष्ट उद्घोषित कर दिया है कि जो परम्पराएँ सिर्फ देहदमन मात्र को तप मानती हैं वे तप के सपूर्ण स्वरूप से अनभिज्ञ हैं । तप वास्तव में देह दमन तक सीमित नहीं है उसका अकुश इच्छा और वासना पर रहता है । इस परिभाषा ने तप के ब्राह्म और आभ्यन्तर—ये दो स्वरूप बताकर दोनों को ही महत्व दिया है ।

संयम भी तप है .

शास्त्रों में जहाँ-जहाँ सयम का वर्णन आया है, वहाँ-वहाँ तप का वर्णन अवश्य आया है, क्योंकि जैसे जल के बिना मछली जीवित नहीं रह सकती, हवा के बिना अग्नि प्रज्वलित नहीं हो सकती, वैसे ही सयम के बिना तप की साधना भी चल नहीं सकती, वास्तव में सयम और तप दो शब्द हैं, दोनों का भाव एक ही है । इन्द्रिय सयम, मन सयम, वचन सयम, ये सब तप के ही अन्तर्गत आते हैं । भगवान् महावीर ने धर्म का स्वरूप बताते हुए कहा है—

अहिंसा सज्जमो तपो^१

धर्म—अहिंसा, सयम एव तप रूप है । ऊपर से तीनों शब्दों का अर्थ अलग-अलग लगता है, किन्तु गहराई में उतरने से तीनों में ही अभेद दृष्टिगोचर होगा । तीनों एक ही वस्तु के तीन दृश्य जैसे लगेंगे । इसलिए मुख्य रूप से सयम, नियम, इच्छा-निरोध आदि को तप ही कहा जा सकता है । आचार्य सोमदेव सूरि ने कहा है—

इन्द्रियमनसो नियमानुष्ठान तप^२

१ दशवैकालिक १।१

२ नीतिवाक्यामृत १।२२

पाच इन्द्रियाँ-स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु एव श्रोत्र, और मन इनको वश में करना, इन पर सयम रखना, इच्छाओं पर अकुश लगाना—वस इसी का नाम तप है। यही तप की सर्वमान्य परिभाषा है।

तप का जैसा व्यापक और विस्तृत वर्णन जैन आगमों व ग्रन्थों में किया गया है—उसके अनुशीलन से यह निश्चित ही पता चलता है कि—जैन धर्म की समस्त साधना जो आचार प्रधान और ज्ञान प्रधान है, वह सब तपो-मय ही है, तप का क्षेत्र इतना व्यापक माना गया है कि स्वाध्याय, अध्ययन, सेवा, भक्ति, अनशन, प्रायश्चित्त आदि जीवन की समस्त क्रियाएँ ही उसके अन्तर्गत आती हैं। अगले प्रकरणों में पृष्ठ स्वयं यह बतायेंगे।





तप की महिमा

जैनेतर ग्रन्थों में

तप तेज है

ससार में वही जीवन श्रेष्ठ होता है जो तेजस्वी होता है, प्रभावशाली, ओजस्वी और ज्योतिर्मय होता है। तेजोहीन, ज्योतिहीन निष्प्रभ-जीवन निष्प्राण शरीर के समान है।

आपको जानना चाहिए कि जीवन में 'तेजस्' ही मुख्य तत्त्व है। इसी तेजस् तत्त्व को 'तप' कहा जाता है। वैदिक संहिताओं में प्रायः तपस् के स्थान पर व तपस् के अर्थ में 'तेजस्' शब्द का ही प्रयोग किया गया है। तेजस्वी बनने के लिए 'तपस्' की साधना का उपदेश किया गया है।

तप रहित जीवन मिट्टी का वह दीपक है, जिसके पास आकार तो है, किन्तु ज्योति नहीं है, क्या ऐसे ज्योतिहीन हजार-लाख दीपकों से भी कुछ बनने वाला है ? "दीव सयसहस्र कोटीवि ?" उन करोड़ों दीपकों से भी क्या लाभ है, जिनमें ज्योति नहीं है।

कहावत है—

अमावस की रात आये बराती,

घर में खाये ठोकर, न तेल, न वाती ।

तो तप रहित जीवन भी ऐसा मिट्टी का दीपक है, जिसमें न तेल है न वाती, वह किसी भी काम का नहीं, उसका कोई महत्व नहीं ।

जैसे फूल तो हो, पर उसमें मीठी सुगन्ध न हो, दीखने में बड़ा सुन्दर लगे, आखें तो ललचाती रहें, किन्तु जब नाक के पास लें तो बस, सुबह हो जाय । न सौरभ न परिमल ।—जिसके लिए कहा जाता है—

रूप रूड़ो गुणवायरो

रोहीड़ा रो फूल ।

नदी में यदि जल न हो, अग्नि में यदि तेज न हो, गाय को यदि दूध न हो, तो जैसे वे निरूपयोगी और सारहीन मानी जाती है, वैसे ही तप रहित जीवन-सारहीन, महत्वहीन, तेजोहीन और पृथ्वी का भावभूत माना जाता है । क्षत्रिय में यदि तेज न हो, घोड़े में यदि तेजी न हो और साधक में यदि तपस् की तेजस्विता न हो तो वे मिट्टी माने जाते हैं ।

राजस्थानी में कहावत है—दीधी पण लागी नहीं रीतें चूल्हें फूँक—चूल्हा खाली पड़ा हो, ठंडा पड़ा हो, देवता-अग्नि बुझ गयी हो, एक भी चिनगारी न हो और भोजन बनाने वाली वहन लकड़ियाँ डालकर फू-फू-फूक मारती रहे तो क्या होगा ? राख उड़कर उलटी भुह पर ही तो आयेगी ! आँखों में राख भर जायेगी । न ज्योति जलेगी, न खाना पकेगा । एक नहीं, हजार लाख फूक भी बेकार है, ठंडे चूल्हे पर ! इसी प्रकार तप अग्नि से शून्य जीवन—‘ठंडा जीवन है, खाली चूल्हा है, उसे कितनी ही प्रेरणा दो, कोई लाभ नहीं !’

तप जीवन का प्राण है, जीवन का ही क्या, धर्म का, मस्कृति का, राष्ट्र का और समस्त विश्व का प्राण तत्त्व है । वैदिक ग्रन्थों में बताया गया है—

तपसा च लोकं जयन्ति^१

तप रूप तेजस् शक्ति के द्वारा ही मनुष्य ससार में विजय श्री एवं समृद्धि प्राप्त कर सकता है ।

सिद्धियों का मूल , तप

जितनी भी शक्तियाँ हैं, विभूतियाँ हैं, लब्धियाँ हैं, यहाँ तक कि केवल ज्ञान और मोक्ष भी जो हैं, वह तप के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है । समूचे धर्म ग्रन्थों के इतिहास में, ससार के इतिहास में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलेगा कि तप के बिना किसी ने कुछ लब्धि, उपलब्धि, ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त की हो । तप से असंख्य शक्तियाँ प्राप्त होती हैं । अगणित विभूतियाँ प्राप्त होती हैं । शास्त्र में कहा है—

परिणाम तव वसेण इमाहं हृति लब्धीभो ।^१

जितनी भी लब्धियाँ हैं, वे सब तप का ही परिणाम हैं । तप साधना से आत्मा में अद्भुत ज्योति प्रदीप्त होती है, एक विचित्र, प्रबल शक्ति जाग्रत होती है, और उस शक्ति से आत्मा में ये समस्त विभूतियाँ ऐसे प्रस्फुटित हो जाती हैं जैसे कमल कलिका में अपूर्व रूप एवं सौरभ ।

कहावत है—वर्षा भी कब होती है, जब सूर्य तपता है, यदि जेठ में सूर्य न तपे, मिगसर पौष जैसा ठंडा बना रहे तो क्या समय पर वृष्टि हो सकती है ? और वृष्टि के बिना सृष्टि का क्या हाल होगा ? तो सृष्टि का आधार वृष्टि है, और वृष्टि का कारण है सूर्य का तपना । यह तो एक प्राकृतिक उदाहरण है जिसे आस्तिक और नास्तिक सभी स्वीकार करते हैं, मुझे आश्चर्य है इस बात का कि प्राकृतिक उदाहरण आपके सामने होते हुए भी आप यह क्यों नहीं समझ सकते कि जीवन की सृष्टि में भी सदगुणों की वृष्टि तभी होगी, प्रभाव, और तेज की वृद्धि तभी होगी जब जीवन तपेगा, तप से निखरेगा, तेजस्वी बनेगा । भारतीय संस्कृति का एक प्रसिद्ध सूक्त है—तपोमूला हि सिद्धयः—समस्त सिद्धियाँ तप मूलक हैं, सब की जड़ तप है ।

तप की महिमा मैं आपको बता रहा हूँ, वह सिर्फ मेरे चिंतन और विचार की बात नहीं, किंतु समस्त धर्मों के चिंतन की भूमिका है। जैनधर्म में तो तप की अपार महिमा है ही, वैदिक धर्म में भी उसकी महिमा मुक्त कंठ से गाई गई है, लीजिए पहले वैदिक दृष्टि से तप की महिमा।

सृष्टि रचना का मूल : तप

यद्यपि जैन दर्शन सृष्टि की उत्पत्ति और आदि में विश्वास नहीं करता है, किन्तु हमारा पड़ोसी वैदिक दर्शन इस बात में गहरा विश्वास रखता है। उसके ग्रंथों में सृष्टि उत्पत्ति की सैकड़ों रोचक कहानियाँ भरी पड़ी हैं। हम यहाँ अपने विषय पर ही चलना चाहते हैं अतः हमें सिर्फ यह बताना है कि वैदिक धर्म में सृष्टि की उत्पत्ति का मूल स्रोत भी तप ही माना है। वहाँ बताया गया है—

“सृष्टि के पहले यह जगत् कुछ भी नहीं था न स्वर्ग, न पृथ्वी और न अन्तरिक्ष ! प्रजापति के मन में इच्छा उत्पन्न हुई, इस असत् को सत् रूप में बनाया जाय। उसने तप किया। तप के प्रभाव से धूम्र उत्पन्न हुआ। पुनः तप किया, उसमें से ज्योति प्रकट हुई। फिर तप किया, ज्वाला उत्पन्न हुई। पुनः तप करने से ज्वाला का दिव्य प्रकाश फैला, क्रमशः समुद्र बना और फिर क्रमशः सृष्टि की रचना संपन्न हुई।”

इस उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ब्रह्म—जिन्हें वैदिक ग्रन्थ जगत्पिता और प्रजापति कहते हैं, उन्हें सृष्टि रचना का अपूर्व सामर्थ्य कैसे प्राप्त हुआ ? तप के द्वारा ही तो ! तप के द्वारा ही वे अपनी विराट् शक्तियों को जागृत और उद्दीप्त कर सके और एक महान विचित्र सृष्टि करने में सफल हुए।

१ इदं वा अग्रेनैव किञ्चनासीत् तदसं देव सन् मनोऽकुरुत् स्यामिति तदतप्यत् । तस्मात्तपेनाधूमोऽजायत । तद्भूयोऽतप्यत् ।

—कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीयब्राह्मण २।२।६

(ख) न तपोऽनप्यत्, न तपस्तप्त्वा इदं सर्वं अमृजत् ।

—तैत्तिरीय आरण्यक ८।६

वैदिक ग्रन्थों में तप की गरिमा

वेदो एव उपनिषदो मे स्थान-स्थान पर तप की महिमा गाई गई है और वहे ही मुक्त मन से, श्रद्धा भरे हृदय से !

कुछ सूत्र देखिए—

तपो मे प्रतिष्ठा^१

तप ही मेरी प्रतिष्ठा है ।

श्रेष्ठो ह वेदस्तपसो ऽधिजात^२

श्रेष्ठ और परम ज्ञान तप के द्वारा ही प्रकट हो जाता है ।

यो ऽसौ तपति स वै शसति^३

जो तपता है, अपने कर्तव्य मे जुटा रहता है, वह ससार मे सर्वत्र यश कीर्ति प्राप्त करता है ।

तपो वाऽग्नि स्तपो वा दीक्षा^४

तप एक अग्नि है, तप एक दीक्षा है ।

श्रमेण लोकास्तपसा पिपति^५

श्रम (सयम—इन्द्रिय निग्रह) एव तप के द्वारा ससार की रक्षा की जाती है ।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत^६

ब्रह्मचर्य एव तप के द्वारा देवताओं ने मृत्यु को जीत लिया, अर्थात् तप से ही वे अमर बन सके ।

सामवेद मे बताया है—सरलात्मा देवताओं ने धूर्त एव दुष्ट राक्षसों को कैसे जीता ? तो कहा कि अपने तपस् के द्वारा—

१ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।७।७०

२ गोपथ ब्राह्मण १।१।६

३ गोपथ ब्राह्मण २।५।१४

४ शतपथ ब्राह्मण ३।४।३।३

५ अथर्ववेद ११।५।४

६ अथर्ववेद ११।५।१६

नियायिनस्तपसा रक्षसो बह- तपस् तेज के द्वारा देवताओ ने राक्षसो को पराजित कर भगा दिया।^१

तपसा चीयते ब्रह्म^२

तप के द्वारा ही ब्रह्म-ज्ञान एव परमात्मपद प्राप्त किया जाता है।

तस्यै तपो दम कर्मेति प्रतिष्ठा^३

आत्मज्ञान का मूलाधार इन तीन बातो पर टिका है—तप, दम-इन्द्रिय निग्रह) और सत्कर्म।

तपो ब्रह्मेति^४

तप ही स्वयं ब्रह्म है।

ऋतं तप सत्यं तप श्रुतं तप

शान्तं तपो दानं तपः^५

ऋत (मन का सत्य सकल्प) तप है, सत्य (वचन—यथार्थ भाषण) तप है, श्रुत (शास्त्र श्रवण) तप है, शांति (इन्द्रिय विषयो से विरक्ति-वैराग्य) तप है, और दान तप है। अर्थात् धर्म के समस्त अंग तप ही हैं।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा^६

यह आत्मा सत्य और तप के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। अर्थात् तप के द्वारा ही आत्मदर्शन व आत्मस्वरूप की प्राप्ति संभव है।

महाभारत (आदिपर्व ६०।२२) में स्वर्ग के मात द्वार बताये हैं जिनमें पहला द्वार है—तप।

इस प्रकार वैदिक दर्शन के मान्य ग्रन्थो को पढ़ने पर पृष्ठ-पृष्ठ पर आपको तप की महिमा, उसकी अपारशक्ति और उसके विराट रूप का

१ सामवेद पूर्वार्चिक १।११।१०

२ मुण्डक उपनिषद् १।१।८

३ केन उपनिषद् ४।१

४ तैत्तिरीय आरण्यक ६।२

५ तैत्तिरीय आरण्यक १०।८

६ मुण्डक उपनिषद् ३।१।५

दर्शन हो सकता है। महर्षि मनु ने तो कह दिया है कि ससार में जो कुछ है सो तप ही है—

यद् दुस्तर यद् दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुष्करम्

सर्वं तत् तपसा साध्यं तपोहि दुरतिक्रमः ।^१

ससार में जो कुछ भी दुस्तर है, दुष्प्राप्य है—अर्थात् कठिनता से प्राप्त होने वाला है, दुर्गम है, दुष्कर है वह सब कुछ तप के द्वारा पाया जा सकता है, साधा जा सकता है। तप की शक्ति के समक्ष अन्य कुछ भी दुष्कर नहीं है, जो दुष्कर है, दुर्लभ्य है, वह स्वयं तप ही है। यही एक अमोघ महाशक्ति है, जो इसे साध लेता है वह ससार की समस्त कठिनाइयों पर, समस्त शक्तियों पर विजय प्राप्त कर सकता है। तप सब को जीत सकता है, तप को कोई नहीं जीत सकता ।”

तो यह है तप की महिमा। अब बौद्धधर्म के पृष्ठों को भी पलट लीजिए, देखिए वहाँ भी कितने मुक्तमन से तप की महान् शक्तियों का तप की सार्वभौमता का वर्णन किया गया है।

बौद्ध धर्म में तप का स्थान

हमारे जैन धर्म का एक निकट पड़ोसी धर्म है बौद्धधर्म। जैन और बौद्ध दोनों ही श्रमण नाम से पुकारे जाते हैं। इन दोनों धर्म परम्पराओं में काफी निकटता भी रही है, यद्यपि आज भारतवर्ष में बौद्ध धर्म का वह स्थान नहीं रहा, जो प्राचीन समय में था, फिर भी उस धर्म का विश्व में काफी फैलाव हुआ है। हा, तो बौद्ध धर्म में भी तप के सम्बन्ध में क्या विचार है—संक्षेप में मैं आपको बता दूँ।

आमलोगों में यह धारणा है कि महात्मा बुद्ध तप के विरोधी थे। कहते हैं कि—छह वर्ष तक कठोर तपस्या करते-करते वे तप से ऊब गये थे, साधना में सफलता नहीं मिल रही थी। एक दिन वे उदासीन, चिन्ता-मग्न से बैठे थे, तभी कोई गायक मडली उनके पास से निकली। उनमें एक अनुभवी गायिका किसी नवशिक्षित युवती से कह रही थी—“देखो, सितार के

तारो को इतना ढोला न छोड़ो, कि वे वजे ही नहीं, और न इतना ज्यादा कसो, कि वस टूट जाये ।”

तपस्या से उद्विग्न बुद्ध ने ये शब्द सुने तो उनके मन में एक प्रकाश सा जगा, कि सचमुच जीवन इतना आराम-भोगप्रधान भी नहीं होना चाहिये कि वह एकदम शिथिल, दुर्बल और क्षीण हो जाय कि संयम का स्वर भी नहीं सध सके, और न इतना कठोर, देहदण्ड भी हो कि वस मन अशांत और उद्विग्न रहे । ध्यान में स्थिरता व शान्ति भी न रह सके । इसी विचार से प्रेरित हो बुद्ध ने कठोर देह दण्ड का मार्ग छोड़कर मध्यम मार्ग अपनाया ।

महात्मा बुद्ध के जीवन की यह घटना बहुत प्रसिद्ध है और मध्यम मार्ग के समर्थक इसका जोरदार शब्दों में मण्डन भी करते हैं । किन्तु बौद्ध धर्म को गहराई से पढ़ने वाले जानते हैं कि इस घटना के बावजूद भी उस धर्म में तप का महत्व कम नहीं हुआ । प्रारम्भ में बुद्ध स्वयं छह वर्ष तक कठोर तप करते रहे हैं । और इस घटना प्रसंग के बाद भी उन्होंने तप साधना का मार्ग छोड़ा नहीं । मज्झिमनिकाय के महासीहनाद सुत्त में सारिपुत्र के समक्ष वे अपनी कठिन तपश्चर्या का रोमांचक वर्णन सुनाते हैं । अपने पूर्वजन्मों में की गई कठोर तपश्चर्या की अनेक कहानियां वे लोगों को बताते हैं और तपस्या की प्रेरणा भी देते हैं । जीवन रूप खेत में धर्म और सत्कर्म की फसल लगाने के लिए वे श्रद्धा को बीज बताते हैं और तपश्चर्या को वृष्टि—

सद्धा बीजं तपो वृद्धि^१

श्रद्धा मेरा बीज है, तप मेरी वर्षा है ।

बुद्ध ने चार उत्तम मंगलों में ‘तप’ को सर्व प्रथम उत्तम मंगल माना है और इसकी आराधना की प्रेरणा दी है ।^२

एक बात यह भी जान लेनी चाहिए कि वैदिक और जैन दर्शन की भांति

१ मुत्तनिपात १।४।२

२ महामंगल सूत्र

बुद्ध ने तप को कठोर देह दण्ड के अर्थ में कम लिया है, चित्त शुद्धि के प्रयास के अर्थ में अधिक । हा, यह बात भी समझ लेनी है कि जैन धर्म भी तप को केवल देहदण्ड नहीं मानता, चित्त शुद्धि, ध्यान आदि को भी वह तप ही मानता है, और इस प्रकार विचार करे तो जैन धर्म का आभ्यन्तर तप बौद्ध धर्म में भी अपनाया गया है ।

बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए अति भोजन का वर्जन किया है, साथ ही एक समय भोजन का विधान भी । रसासक्ति का निषेध है । प्रायश्चित्त के रूप में बौद्ध ग्रंथों में प्रावारणा का विस्तृत विधान है । स्वाध्याय एवं ध्यान का भी बौद्ध साधना में काफी विस्तार के साथ वर्णन है !

बुद्ध के निर्वाण के बाद तो सिद्ध, नाथ, धुतग आदि साधुओं में तप की अनेक कठोर प्रक्रियाएँ चल पड़ी । वे जगलों में रहकर विविध प्रकार की तपश्चर्या करते थे ।^१ इसीलिए डा० राधाकुण्डन बौद्ध साधकों की तपस्या के विषय में लिखते हैं—“यद्यपि बुद्ध सैद्धान्तिक दृष्टि से निर्वाण की उपलब्धि तपश्चर्या के अभाव में भी संभव मानते हैं फिर भी व्यवहार में तप उनके अनुसार अति आवश्यक सा प्रतीत होता है ।^२ बौद्ध साधकों की तपस्या ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित तपश्चर्या से कम कठोर प्रतीत नहीं होती है ।”^३

भारत के वैदिक एवं बौद्ध-दोनों ही धर्मों में तप का अपार महत्त्व है, तप को जीवन-शुद्धि और सिद्धि का प्रमुख तत्त्व माना है ।

★★

१ दीपवश

२ इंडियन फिलोसफी, पृष्ठ ४३६ प्रथम भाग

३ वहीं

”

”

जैनधर्म में तप का महत्व

कल्पना कीजिए—यदि आकाश में सूर्य नहीं तपता, तो इस पृथ्वी की क्या स्थिति होती ? न वर्षा होती, न मधुर अन्न उत्पन्न होता, न जीवन-दायिनी वनस्पतिया पैदा होती ! न मधुर रसीले फल वृक्षों की डाली पर चमकते और न भीनी सुवास से भरे फूल सृष्टि की गोद को रग-विरगी बनाते ! सूर्य के तपने से ही समूचा सृष्टि-यंत्र ठीक प्रकार से चलता है ।

जीवन का यंत्र भी इसी प्रकार तप के द्वारा संचालित होता है । जिस तन में तेजस न हो, वह तन 'शव' कहलाता है, जिस मन में तेजस न हो, वह मन निष्क्रिय होता है, निष्प्राण होता है । कर्तृत्व एवं पुरुषार्थ की नदी जीवन में तभी बहती है और सुख एवं आनन्द के मधुर फल भी तभी प्राप्त होते हैं जब जीवन में तप की तेजस्विता होती है ।

जैनधर्म में 'तप' को धर्म का प्राण तत्त्व माना गया है । जैनधर्म का सदेशवाहक 'श्रमण' एक कठोर तप की जीती जागती प्रतिमा है । आपको मान्य होना चाहिए—आज जिसे हम जैनधर्म कहते हैं, वह प्राचीन समय में 'निर्ग्रन्थ धर्म' या 'श्रमण धर्म' कहलाता था । जैन आगमों से पता चलता है कि—प्राचीन समय में भगवान महावीर को 'जैन मुनि' नहीं, किंतु स्थान-स्थान पर 'निग्गये नायपुत्ते' अथवा 'समणे भगव महावीरे' इन्हीं विशेषणों

से पुकारा गया है इससे यह पता चलता है कि पूर्वकाल में जैन मुनियों को निर्ग्रन्थ और श्रमण ही कहा जाता था ।

भगवान महावीर ने साधु के चार नाम बताये हैं—

माहणे त्ति वा, समणे त्ति वा,

भिक्षु त्ति वा, निग्न्ये त्ति वा ।^१

इन नामों पर विवेचना करते हुये वृत्तिकार आचार्य^२श्रीलाक ने बताया है—किसी भी प्राणी का हनन मत करो, अर्थात् सब प्राणियों पर दयाभाव रखो जिसकी ऐसी वृत्ति हो, वह माहन है—

मा हण त्ति प्रवृत्तिर्यस्याऽसौ माहनः ।

जो शास्त्र की नीति व मर्यादा के अनुसार तप साधना करता हुआ कर्म बंधनों का भेदन करता है वह भिक्षु है—

यः शास्त्रनीत्या तपसा कर्म भिनत्ति स भिक्षुः^३

आचार्य भद्रबाहु ने भिक्षु की एक सुन्दर व्याख्या और की है— जो भिदेइ खुह खलु सो भिक्षु भावओ होइ^३ जो मन की भूख—अर्थात् तृष्णा एव आसक्ति का भेदन करता है, वही भावरूप में भिक्षु है ।

अब आप देखिये निर्ग्रन्थ का अर्थ क्या है ? ग्रन्थ का अर्थ है—गाठ और परिग्रह । जो राग-द्वेष की गाठ से मुक्त हो, अथवा धन-धान्य आदि बाह्य परिग्रह एव राग-द्वेष मोह आदि आभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त हो, वह निर्ग्रन्थ है । निर्ग्रन्थ की परिभाषा करते हुए बताया गया है—निर्गंतो ग्रंथाद निर्ग्रन्थः^४—जो ग्रंथि अर्थात् गाठ से रहित है वह निर्ग्रन्थ है । आचार्य उमास्वाति ने प्रशमरति में बताया है—

ग्रन्थः कर्माष्टविध, मिथ्यात्वाविरतिदुष्टयोगाश्च ।

तज्जय - हेतोरशठं संयतते य स निर्ग्रन्थ ।^५

१ सूत्रकृताग १।१६।१

२ दशवैकालिक वृत्ति अध्ययन १०, (आचार्य हरिभद्र)

३ उत्तराध्ययन नियुक्ति गाथा ३७५

४ दशवैकालिक वृत्ति अध्ययन १, (आचार्य हरिभद्र)

५ प्रशमरति प्रकरण १४२

थे । बौद्ध ग्रंथों में स्थान-स्थान पर भगवान महावीर को दीघतपस्सी कहा गया है । उनकी रोमांचक तपस्या की चर्चा करते हुए महात्मा बुद्ध ने स्थान-स्थान पर दीघतपस्सी निगंठो कह कर संबोधित किया है । इस दीर्घ तपश्चर्या—ध्यान, स्वाध्याय भावना, आदि के द्वारा ही उन्होंने उपसर्गों की विकट अटवी को पार कर केवलज्ञान, केवल दर्शन के सुरम्य उद्यान में प्रवेश किया ।

तप से तीर्थकरत्व

जैन धर्म में महानता की अलग-अलग क्रमिक श्रेणियाँ मानी गई हैं । सबसे उत्कृष्ट महानता अथवा महत्ता है तीर्थंकर पद की । तीर्थंकरों की लोगुत्तमाणं लोग नाहाणं—लोक में उत्तम, लोक के नाथ आदि विशेषणों से उनकी स्तुति की गई है । संसार में उनके जैसा पुण्यशाली अन्य कोई जीव नहीं होता । वे अनन्तबल, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख सौभाग्य के स्वामी होते हैं । हाँ, तो यह संसार की उत्कृष्टतम महान पदवी वे कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? क्या तीर्थंकरपद किसी की जागीर या बपौती होती है ? नहीं ! वह पद प्राप्त किया जाता है साधना के द्वारा ! तीर्थंकर गोत्र बाँधने के बीस बोल ज्ञातासूत्र में बताये हैं, उनका अवलोकन करने पर आप को पता चलेगा कि आत्मा सेवा, स्वाध्याय, तपस्या, गुरु आदि की भक्ति, ज्ञान आदि की आराधना में जब उत्कृष्ट भाव विशुद्धि को प्राप्त करता है, तभी वह तीर्थंकर गोत्र कर्म का उपार्जन करता है । बिना साधना के सिद्धि नहीं मिलती, यह जैन धर्म का मूल सिद्धान्त है और साधना का अर्थ ही है तप ।

तीर्थंकरों के बाद भावितात्मा अणुगार का पद महान माना गया है । यह साधु का पद भी तपःसाधना के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है । साधु होवे सो साधे फाया—जो शरीर को, मन को साधता है, तपाता है, वही साधु होता है । श्रमण की व्याख्या भी मैंने आपको बताई है—जो श्रम करता है, तप करता है वही श्रमण होता है, वही तपस्वी होता है । साधकों में हमारे यहाँ गौतम स्वामी की क्रिया को, उनकी तपःसाधना को सर्वोत्कृष्ट और आदर्श माना गया है । भगवान महावीर के शासन में गौतम स्वामी

जैनधर्म में तप का महत्त्व

उपकार के लिये, नर से नारायण बनने के लिए, जन से जिन बनने के लिए श्रम करता है, वही सच्चा श्रमण है। जैन आचार्यों ने उसे तपस्वी कहा है। देखिये आप प्राचीन आचार्यों के अमर वचन—

श्राम्यति तपसा खिद्यति इति कृत्वा श्रमणो वाच्यः^१

जो श्रम करता है, अर्थात् तपःसाधना करता है, तप से शरीर को खेदखिन्न करता है—इस कारण उसे श्रमण कहा जाता है। यही बात आचार्य हरिभद्रसूरि ने कही है—

श्राम्यतीति श्रमणा तपस्यन्तीत्यर्थः^२

वास्तव में श्रमण शब्द तपस्वी का ही वाचक बन गया है, और जैनमुनि कठोर तपस्या का प्रतीक माना गया है। जैन श्रमण का जीवन मंत्र ही तप था। तप ही उसका धर्म था।

महानता का मार्ग तप

जैन धर्म का इतिहास पढ़ेंगे तो पता चलेगा कि यहाँ जितने भी महा-पुरुष हुए हैं वे सब तपस्या करके हुए हैं। जितने भी ऊँचे और श्रेष्ठ पद हैं, उनको तप के द्वारा ही प्राप्त किया गया है। भगवान् ऋषभदेव जो इस युग के आदि पुरुष थे उन्होंने एक हजार वर्ष तक कठोर तपस्या करके केवल ज्ञान प्राप्त किया। यह नहीं कि महापुरुष को वैसे ही कुछ सिद्धि प्राप्त हो जाये। वास्तव में तो तपस्या द्वारा ही महापुरुष बना जाता है। ऋषभदेव जैसे युग के आदिकर्ता को भी एक हजार वर्ष तक उग्र तप करना पड़ा।^३ भगवान् महावीर ने भी बारह वर्ष और साढ़े छह मास तक कठोर उग्र और लोम-हर्षक तपःसाधना की थी, उनकी उग्र तपस्या को देखकर पास-पड़ोस के अनेक धर्माचार्य चकित हो गये थे, वे आश्चर्य और विस्मय के साथ भगवान् महावीर की कठोर तपश्चर्या का उल्लेख भी करते

१ सूत्रकृतांग १।१६ की टीका, आचार्य शीलानं

२ दशवैकालिक वृत्ति १।३ आचार्य हरिभद्र

३ कल्पसूत्र १६६

तप से चक्रवर्तित्व

संसार में भौतिक समृद्धि की दृष्टि के चक्रवर्ती का पद सबसे श्रेष्ठ और सबसे दुर्लभ माना गया है। वह चक्रवर्ती पद कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? तपश्चरण के द्वारा। भरत चक्रवर्ती ने अपने पूर्व जन्मों में हजारों वर्ष तक तपस्या, सेवा और स्वाध्याय तप की आराधना की थी, उसी के प्रभाव से वे चक्रवर्ती पद प्राप्त कर सके। सनत्कुमार चक्रवर्ती का भी पूर्व-जीवन आपने पढ़ा होगा ? हजारों हजार वर्ष की तपस्या करने के बाद वे चक्रवर्ती पद पर आरूढ़ हुए। चक्रवर्ती के भव में जन्म लेने पर भी वे सहसा चक्रवर्ती नहीं बन गये। हर एक भौतिक उपलब्धि, समृद्धि के लिए उन्हें तप करना पड़ता है। चक्रवर्ती के तेरह तेले जैन परम्परा में प्रसिद्ध है। समय-समय पर तेले की तपस्या करके वे अपने कार्य को सिद्ध करते हैं।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र^१ में बताया है कि इस अवसर्पिणी काल के प्रथम चक्रवर्ती भरत की आयुधशाला में जब सर्वप्रथम चक्ररत्न प्रकट हुआ, (जिसके बल पर ही वे चक्रवर्ती कहलाये) तब आयुधशाला के रक्षक ने महाराज भरत को वधाई दी ! यह शुभ संवाद सुनकर भरत प्रसन्नता में झूम उठे। उन्होंने वधाई लाने वाले को बहुत-सा प्रीतिदान दिया, फिर चक्ररत्न की पूजा की और पश्चात् चक्ररत्न के अधिष्ठायाक देव को प्रसन्न करने के लिए पौषधशाला में जाकर तीन दिन का निर्जल तप (अट्ठमभत्तं पणिण्हइ) तेला करके मागध तीर्थ कुमार नामक देव को प्रसन्न किया।

चक्रवर्ती की भांति वासुदेव बलदेव को भी जब अपने अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिए विशेष सहयोग एवं दिव्यबल की आवश्यकता होती— तब-तब उन्होंने तप करके देवताओं की उपासना की और उन्हें प्रसन्न कर अपने कार्य में सिद्धि प्राप्त की !

वासुदेव श्री कृष्ण, जो महान बलशाली, चतुर और अद्भुत पराक्रमी थे, सब यंत्र मंत्र तंत्र के मूल रहस्यों के वेत्ता थे वे भी द्रौपदी को धातकी

जैनधर्म के तप का महत्त्व
 एक महान साधक थे। उनके विषय में आज भी हम श्रद्धा के साथ यह पद्य
 बोलते हैं—

अंगूठै अमृतबसै लब्धितणां भंडार ।
 श्री गुरु गौतम सुमरिये वांछित फलदातार ।

गौतम स्वामी के अंगूठे में अमृत भरा था—इसका क्या अर्थ है ? अर्थात् तपस्या के द्वारा उनके शरीर का रोम-रोम, प्रत्येक अंग रसायन बन गया था, पारस बन गया था, अमृत हो गया था। जिस वस्तु को भी उनका स्पर्श हो जाता, वह कंचन हो जाती। यह लब्धि कठोर तपःसाधना के द्वारा ही उन्हें प्राप्त हुई थी। भगवान महावीर ने गौतम गणधर की कठोर तपःसाधना का वर्णन करते हुए शास्त्रों में स्थान-स्थान पर बताया है—उग्रतवे-घोरतवे-तत्ततवे, महातवे^१ गौतम बड़े उग्रतपस्वी घोरतपस्वी और एक अद्भुत महान तपस्वी थे। तपस्या के द्वारा उनका शरीर अग्नि में तपे स्वर्ण की भाँति, कसौटी पर खिची स्वर्ण रेखा की भाँति दमकने लग गया था। और उनका तपश्चरण दुर्धर्ष तो इतना था कि साधारण मनुष्य उसकी कल्पना करने मात्र से कांप उठता था। आचार्य अभयदेव सूरि ने लिखा है—यदन्धेन प्राकृत पुंसा न शक्यते चिन्तयितुमपि तद्विधेन तपसा युक्तः^२ साधारण मनुष्य जिस उग्र तपश्चरण की कल्पना भी नहीं कर सकता ऐसा, उग्रतपश्चरण गौतम करते थे। इसी कठोर तपःसाधना के द्वारा उनका शरीर कंचन कहो, पारस कहो या अमृत कहो वह बन गया था। इसी तपस्या के द्वारा ही उन्हें ऐसी महान तेजोलेश्या प्राप्त हुई थी जिसके प्रभाव से थोड़ा सा भी क्रोध आने पर सोलह महाजनपदों को क्षण भर में भस्मसात् किया जा सकता था।^३

तो यह अद्भुत महानता, प्रभावकता गौतम को कैसे प्राप्त हुई ? इसके उत्तर में एक ही उत्तर है कि तपस्या के द्वारा !

-
- १ (क) भगवती सूत्र १।१ (ख) औपपातिक सूत्र
 २ भगवती सूत्र १।१ वृत्ति पृ० ३५
 ३ भगवती सूत्र शतक. १५

कठोर उग्र तपःकार्य करने वाला बालतपस्वी यदि हमारा स्वामी बनने का निदान कर वहाँ से आयुपूर्ण करे तो हमें सचमुच ही मैं एक महान प्रतापी तेजस्वी स्वामी प्राप्त हो सकता है ।” वस फिर क्या था, अगणित असुरकुमार और असुरकुमारियाँ सुन्दर दिव्य रूप बनाकर उसके सामने आये, बत्तीस प्रकार के दिव्य नाटक, संगीत आदि का प्रदर्शन कर तपस्वी को प्रसन्न करने की चेष्टा करने लगे । बड़े ही विनय के साथ वंदना कर उसे प्रार्थना करने लगे—हे महान तपस्वी ! हम पर दया करो, हम अनाथ हैं, स्वामिहीन हैं, आप जैसे स्वामी हमें प्राप्त हो जाय तो हम सब सुरक्षित और आनन्द-पूर्वक जीवन यापन कर सकते हैं । इसलिए हम पर करुणा कर आप निदान (नियोग) करें और यहाँ से आयुःपूर्ण कर हमारी बलिचंचा राज-धानी के इन्द्र बनना स्वीकार करें ।^१

असुरकुमारों के द्वारा दीनता और विनय के साथ बार-बार प्रार्थना करने पर भी तामली तापस ने उसे स्वीकार नहीं किया और अपने चिंतन में ही मस्त रहा । फिर आयुष्यपूर्ण कर वह ईशान कल्प में ईशानेन्द्र के रूप में जन्म लेता है ।

कहने का अभिप्रायः यह है कि उस तपस्वी को अपने स्वामी के रूप में प्राप्त करने के लिए असुरकुमारों ने कितनी प्रार्थनाएँ की, कितनी दीनता दिखाई ? किसलिये ? इसीलिये कि यदि ऐसा तपस्वी हमारा स्वामी बन जाता है तो यह अपने तपस्तेज से समूचे स्वर्ग-विमानों को भयभीत और निस्तेज बना सकता है । तपस्या की शक्ति के समक्ष देवता और इन्द्र की भी शक्ति तुच्छ है, अल्प है, वे भी तपस्वी के चरणों की धूल सिर पर चढ़ाने को लालायित रहते हैं और उन्हें अपना स्वामी बनाने को उत्सुक !

आदिमंगल : तप

तप सिर्फ भौतिक सिद्धि और समृद्धि का प्रदाता ही नहीं, किन्तु वह अनन्त आध्यात्मिक समृद्धि का प्रदाता भी है । मैंने बताया है आपको कि तीर्थ-करत्त्व भी तप के द्वारा ही प्राप्त होता है । यही नहीं, किन्तु तीर्थकर बनने के

जैनधर्म के तप का महत्व

खंड से लाने के लिए जाते-आते समय समुद्र को पार करने के लिए तेली करके देवता को बुलाते हैं और उनका सहयोग मांगते हैं। माता देवकी की पुत्र को रमाने की इच्छा पूरी करने के लिए तेली करके देवता को प्रसन्न करते हैं और एक भाई की याचना करते हैं, जिसके फलस्वरूप गजसुकुमाल का जन्म होता है। तो इस प्रकार प्रत्येक कठिन कार्य की सिद्धि के लिए तप का सहारा लिया जाता रहा है। हर दुःसाध्य कार्य को तप के द्वारा सुसाध्य बनाया जाता रहा है। हर एक दुष्कर और मानव के लिए असंभव लगने वाले कार्य को तप के द्वारा सुकर और सम्भव बनाया जा सकता है।

तपस्वी को देवता भी चाहते हैं

तपस्या के द्वारा आत्मा की सुप्त शक्तियाँ जागृत होती हैं, दिव्य बल प्रकट होता है और आत्मा एक प्रचंड शक्तिस्रोत के रूप में व्यक्त होता है। तपस्वी का तपोबल इतना प्रखर होता है कि मानव ही क्या, देवता और इन्द्र भी उसके चरणों में झुकते हैं, उसको चाहते हैं, और उसकी शक्तियों से भय खाते हैं। वैदिक पुराणों में बहुत सी कथाएँ ऐसी आती हैं जिनमें बताया गया है कि अमुक तपस्वी के तपोबल से इन्द्र महाराज का सिंहासन कांप उठा। इन्द्र भय खाने लगा कि कहीं मेरा राज्य यह तपस्वी छीन न ले। जैनशास्त्र भगवती सूत्र में वर्णन आता है कि एक बार असुरों की राजधानी बलिचंचा नगरी का इन्द्र आयु पूर्ण कर गया। दूसरा कोई इन्द्र वहाँ उत्पन्न नहीं हुआ। अब असुर घबराये—हम अनाथ-स्वामी रहित हो गये? क्या करें? नये स्वामी को कैसे कहाँ से प्राप्त करें जो शत्रुओं से हमारे राज्य की रक्षा कर सके! ऐसा तेजस्वी स्वामी कहाँ से लाए? इसी चिंता में उलझे हुए असुरकुमारों की दृष्टि पड़ी एक घोर बाल तपस्वी पर! वह बाल तपस्वी था तामली तापस। तामली तापस घोर तपश्चर्या कर रहा था, साठ हजार वर्ष तक वह लगातार बेल-बेल तप करता और पारणे में इक्कीस बार धोया हुआ चावल का सत्वहीन पानी लेता। इस कठोर तप से उसका शरीर अत्यंत जर्जर हो गया, किन्तु तपस्तेज अत्यंत प्रचण्ड होकर दमक रहा था। असुरकुमारों ने तामली तापस को देखा तो सोचा—“यह

तप का उद्देश्य और लाभ

बंधुओ ! एक व्यक्ति आम का वृक्ष लगाता है, उसकी खूब सेवा और सार-संभाल करता है, रातदिन उसकी देखरेख करता है, कोई उससे पूछे कि भाई, आम की इतनी सेवा कर रहे हो—आखिर किसलिए ? वह उत्तर देता है कि “समय पर आम पकेगा, वीर आयेगा और मीठे-मीठे फल लगेंगे—उन फलों के लिए ही मैं इतना कष्ट कर रहा हूँ।”

अब उसके पड़ोस में एक दूसरा व्यक्ति भी आम की वैसी ही सेवा कर रहा है। उससे भी किसी ने पूछा—आप आम की इतनी देख-भाल किसलिये कर रहे हैं ? वह उत्तर देता है—“इस विशाल वृक्ष से छाया मिलेगी, कटेगा तब ढेर सारी लकड़ियाँ मिलेगी।”

आप सोचिए—उन दोनों में चतुर कौन है और मूर्ख कौन है ? जो आम का फल चाहता है वह अथवा आम से लकड़ियाँ और पान-पत्ते चाहता है वह ? आप कहेंगे—आम से तो फल ही चाहना चाहिए, छाया, पान पत्ते और लकड़ियाँ तो अपने आप ही मिलेगी। उसकी इच्छा और लालसा करने की जरूरत क्या है ?

जैनधर्म के तप का महत्त्व

वाद भी अर्थात् तीर्थंकर के भव में भी तपःसाधना करनी पड़ती है। अनन्तवली तीर्थंकरों ने जीवन में जो भी शुभकार्य किये हैं, जैसे दीक्षा, केवल ज्ञान, धर्मदेशना आदि उनके प्रारंभ में भी सर्वप्रथम तपश्चरण करते हैं। प्रत्येक शुभकार्य की आदि में तप करते हैं। तपको उन्होंने परम मंगल माना है, महामंगल माना है।^१

कल्पसूत्र में भगवान् ऋषभदेव के जीवन का वर्णन करते हुए बताया है कि जब वे संसार त्याग कर दीक्षा लेते हैं तो पहले दो दिन का तप करते हैं—छट्ठेणं भस्तेणं अपाणएणं केवलज्ञान के समय भी वे तपस्या में लीन रहते हैं। और सिर्फ भगवान् ऋषभदेव ही क्या, सभी तीर्थंकर दीक्षा के, केवलज्ञान के और निर्वाण के समय तपःसाधना करते पाये जाते हैं। भगवान् महावीर भी जिस दिन घर से अभिनिष्क्रमण कर दीक्षा के लिए प्रस्थान करते हैं उस दिन उनको वेले का तप होता है। केवलज्ञान के पूर्व भी वे वेले का तप कर ध्यान में लीन रहते हैं। इसका अर्थ है हर एक सिद्धि के मूल में तप ही मुख्य रहता है, तप मंगलमय है, वह सब विघ्नों का नाश करने वाला है, सब अरिष्ट उपद्रव को शांत करने वाला है। आपको ज्ञात होगा, प्राचीन समय में चातुर्मास प्रवेश के दिन, शास्त्र वाचन की आदि में मुनिजन तप का अनुष्ठान करते थे। इसका अभिप्राय यही था कि तपानुष्ठान के दिव्य प्रभाव से सब अनिष्ट दूर हो जाते, कार्य सुखपूर्वक संपन्न होता और मंगलमय वातावरण रहता।

जैन परम्परा में तप को महानता का प्रशस्त मार्ग माना गया है, सब मंगलों में प्रमुख मंगल के रूप में ध्याया गया है और सर्वसिद्धियों का मूल मंत्र मानकर इसकी आराधना की गई है।

✱✱

ही भाव तप के द्वारा कर्म मल से मुक्त होकर आत्मा शुद्ध व पवित्र बन जाता है ।

आत्मा के साथ जो अनन्त अनन्त कर्म दल चिपक कर उसे मलिन बना रहा है, उसके शुद्ध ज्योतिर्मय स्वरूप को ढक रहा है—तप की तेज पवन उन कर्म दलों को तितर-वितर कर आत्म-सूर्य की निर्मल ज्योति को प्रकट कर देती है । वस, तप का यही उद्देश्य है, यही उसका फल है ।

मनुष्य कोई काम करता है तो उसके सामने उसके फल की कल्पना भी रहती है । उद्देश्य और लक्ष्य भी रहता है ।

लक्ष्यहीन फलहीन कार्य को

मूर्ख जन आचरते हैं !

सुज्ञ सुधीजन प्रथम, कार्य का

लक्ष्य सुनिश्चित करते हैं ।

जो तप जैसा कठोर, देह दमनीय कार्य करता है वह बिना उसका लक्ष्य समझे, बिना उसके फल की कल्पना किये कैसे करेगा ? क्या कोई किसान अपने खेत में ऐसे-तेसे बीज डालेगा जिनके लिए उसे यह भी नहीं मालूम हो कि इनके फल कैसे लगेंगे ? नहीं ! आप कोई भी कार्य करते हैं, एक कदम भी चलते हैं तो पहले उसके परिणाम को सोचते हैं । फिर कार्य करते हैं । तो तप का फल क्या है ? उद्देश्य क्या है ? तप किसलिये किया जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर मैं भगवान महावीर की वाणी में ही दूँगा ।

भगवान महावीर एक बार राजगृह नगर में पधारे । वहाँ पर गणधर इन्द्रभूति गौतम ने भगवान से कई प्रश्न पूछे, उनमें एक प्रश्न याक्ष तप के विषय में । गौतम ने पूछा—

भगवन् ! तप करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है ? उत्तर में भगवान ने कहा—तवेण वोदानं जणयइ ।^१ तप से व्यवदान होता है । व्यवदान का अर्थ है—दूर हटाना । आदान का अर्थ है ग्रहण करना और व्यवदान का अर्थ है छोड़ना, दूर करना । तो

तप का उद्देश्य और लाभ

बंधुओ ! आचार्यों ने तप के विषय में भी यही बात कही है। तप रूप महावृक्ष से जो कि निर्जरा रूप मधुर फल चाहता है, वह सच्चा और चतुर साधक है और जो शरीर को भयंकर कष्ट व यंत्रणा देकर भी उस तप से सिर्फ यश, कीर्ति, ऋद्धि-सिद्धि और स्वर्ग की कामना करता है, वह मूर्ख, अज्ञान अथवा बालतपस्वी है।

जैन सूत्रों में तप की अद्भुत और अपार महिमा गाई गयी है, जिसकी एक झलक आप देख चुके हैं। उस तप के प्रभाव से अचिन्त्य लब्धियाँ, ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। यह सुनकर आपके मन में भी ललक उठेगी कि हम भी तप करें और अमुक शक्ति, अमुक लब्धि प्राप्त कर लें, अमुक देवता को प्रसन्न कर लें ! किंतु बंधुओ ! जैसा मैंने कहा—किसी ऋद्धि सिद्धि अथवा देवता आदि को प्रसन्न करने के लिए तप करना तो आम के महावृक्ष से लकड़ियाँ चाहने जैसा है। वास्तव में तप का उद्देश्य यह नहीं है। तप तो किसी महान लाभ के लिये किया जाता है—ऋद्धि-सिद्धि तो स्वतः ही प्राप्त हो जाती है जैसे धान की खेती में धान के साथ भुसा-पलाल भी होता है। किंतु क्या कोई पलाल व भुसा के लिए ही खेती करता है ? नहीं। इसी प्रकार किसी भौतिक लाभ के लिए तप नहीं किया जाता, तप आत्मशुद्धि के महान उद्देश्य से प्रेरित होकर ही किया जाना चाहिए।

तप का फल : निर्जरा

मैंने आपको तप की परिभाषा करते हुए बताया है कि जैसे अग्नि सोने को शुद्ध करती है, फिटकरी मैले जल को निर्मल बनाती है, सोड़ा या साबुन मलिन वस्त्र को उज्ज्वल बनाता है उसी प्रकार तप आत्मा को शुद्ध निर्मल और उज्ज्वल रूप प्रदान करता है।

आचार्य भद्रबाहु ने कहा है—

जह खलु मइलं वत्थं सुज्झए उदगाहिएहिं दव्वेहिं,
एवं भावुवहाणेण, सुज्झए कम्मट्ठविहं।^१

जैसे मैला वस्त्र जल आदि शोधक द्रव्यों से उज्ज्वल हो जाता है, व

श्रावकों से कही है—और समस्त तीर्थङ्करों ने, आचार्यों ने भी यही बात कही है। सम्पूर्ण जैन संस्कृति का एक ही स्वर है—कि

नो इहलोगदृठयाए तवमहिद्विठज्जा,
 नो परलोगदृठयाए तवमहिद्विठज्जा,
 नो कित्तिवण्णसद्धसिलोगदृठयाए तवमहिद्विठज्जा,
 नन्नत्थ निज्जरदृठयाए तवमहिद्विठज्जा ।^१

इह लोक की कामना और अभिलाषा से तप मत करो, परलोक की कामना और लालसा से तप मत करो ! यश कीर्ति और प्रतिष्ठा आदि के लिए भी तप मत करो ! तप करते हो तो केवल कर्म निर्जरा के लिए करो !

कामनायुक्त तप क्यों नहीं ?

अब एक प्रश्न खड़ा होता है कि तप के उद्देश्य के विषय में इतना जोर क्यों दिया गया है कि “किसी भी भौतिक अभिलाषा से तप मत करो ! इहलोक परलोक के लिए भी तप मत करो !” इस निषेध का मतलब क्या है ? स्वर्ग के लिए तप क्यों नहीं किया जाय ?

इस के उत्तर में आपको जैन दर्शन की दृष्टि समझनी होगी। आपको पता है जैन धर्म सुखवादी धर्म नहीं है, मुक्तिवादी धर्म है।

जो सुखवादी धर्म है, वह सिर्फ संसार के सुखों में उलझा रहता है। इस लोक में धन मिले, सुन्दर पत्नी मिले, यशकीर्ति मिले और परलोक में स्वर्ग मिले। वस, यही उसका दृष्टिकोण रहता है, और इसीलिए वह सब कुछ करना चाहता है। लेकिन जो मुक्तिवादी धर्म है, वह कहता है सुख और दुःख दोनों ही बन्धन हैं। आदमी सुख चाहता है, सुख के लिए प्रयत्न करता है, समझ लो, सुख प्राप्त भी हो जाता है, अब वह सुख भोगता है, ऐशो आराम करता है, किन्तु उस सुख-भोग के साथ नया पाप कर्म भी बाँधता जाता है। शुभ कर्म क्षीण होता है, फिर अशुभ कर्म का उदय होता है। थोड़े से सुख के बाद भयंकर दुःख प्राप्त होते हैं। गीता में बताया है— जो

तप का उद्देश्य और लाभ

तपस्या के द्वारा आत्मा कर्मों को दूर हटाता है। कर्मोंका क्षय करता है। कर्मों की निर्जरा करता है। वस यही तप का उद्देश्य है और यही तप का फल है। तप से जो पाना चाहते हैं—वह यही फल है—निर्जरा ! व्यवदान !

जैन परम्परा में भगवान महावीर को तपोयोगी माना गया है। और भगवान पार्श्वनाथ को ध्यानयोगी। भगवान पार्श्वनाथ के युग में अज्ञान तप का बोल-वाला था। लोग भौतिक सिद्धियों के लिए कठोर देहदमन-अज्ञान तप करते थे। पंचाग्नि साधते थे, वृक्षों पर ओंघे लटकते थे। शीतकाल की भयंकर सर्दियों में भी और हडकंपी पैदा करने वाली ठंडी हवाओं में भी पानी के भीतर खड़े रहकर तप जप किया करते थे। किन्तु कोई उनसे पूछता कि आप यह तप, जप, यज्ञ आदि क्यों करते हैं ? तो उनका एक ही उत्तर होता—स्वर्गकामो यजेत ! स्वर्ग के लिए यज्ञ तप करो ! अमुक सिद्धि के लिए ! अमुक शक्ति को प्राप्त करने के लिए ! वस इससे आगे उनके समक्ष कोई उद्देश्य ही नहीं था। किन्तु भगवान पार्श्वनाथ ने तप का उद्देश्य जनता को समझाया—तप शरीर को सुखाने के लिए नहीं। ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करने के लिए नहीं ! किन्तु आत्मा को कर्म बन्धनों से मुक्त करने के लिए हैं। जो बात भगवान महावीर ने कही थी वही बात भगवान पार्श्वनाथ ने भी कही थी। उनके स्वयं के वचन व उपदेश भले ही आज हमारे पास नहीं हैं, किन्तु उनकी परम्परा के विद्वान श्रमणों के वचन आज भी भगवती सूत्र में इस बात की साक्षी देते हैं कि भगवान पार्श्वनाथ ने तप का उद्देश्य क्या बताया है।

एक बार तुंगियानगरी के तत्त्वज्ञ श्रावको ने भगवान पार्श्वनाथ के स्थविर श्रमणों से तत्त्व चर्चा करते हुए पूछा—भंते ! आप तप क्यों करते हैं ? तप का क्या फल है—तवे कि फले ? उत्तर में श्रमणों ने कहा—तवे दोषाण फले—तप का फल है व्यवदान ! कर्म निर्जरा ! तो जो बात भगवान महावीर ने गौतम स्वामी से कही है, वही बात पार्श्वसंतानीय श्रमणों ने

हो जायेगा। इसलिए जो भी कार्य करो, वह अशुभ कर्म को नष्ट करने के लिए करो। अर्थात् अशुभ कर्म की निर्जरा के लिए करो।

दूसरी बात यह भी है कि भौतिक लाभ के लिए तप करने वाले का उद्देश्य बहुत सीमित है, वह छोटे से उद्देश्य के लिए ही बहुत बड़ा कष्ट उठाता है, जबकि कर्म निर्जरा के लिए तप करना असीम अचिन्तनीय फल देने वाला है। एक आदमी अमृत का उपयोग कीचड़ से सने पाँव धोने के लिए करता है और एक मरते हुए प्राणी को जीवन दान देने के लिए। अमृत के उपयोग में जिस प्रकार यह महान अन्तर है, उसी प्रकार तप के उद्देश्य में भी महान अन्तर है। भौतिक लाभ के लिए तप करना अमृत से पैर धोने जैसा है। चिन्तामणि रत्न को फेंककर कीड़े उड़ाने जैसा मूर्खता पूर्ण कृत्य है। आप जानते हैं कामना युक्त तप का फल सिर्फ स्वर्ग है, भौतिक लाभ है, जबकि निष्काम तप का फल सब कर्मों का क्षय कर अनन्त आनन्दमय मोक्ष को प्राप्त करना है। अब कौन मूर्ख है जो अपने अचिन्तनीय लाभप्रद तप के द्वारा अनन्त मोक्ष सुख की कामना को छोड़कर क्षणिक सुखों की इच्छा करेगा।

इन दोनों दृष्टियों से सकाम तप का निषेध किया गया है। गीता में भी कहा गया है—

असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।^१

अनासक्त भाव से जो श्रेष्ठ कर्म करता है वह परमपद को प्राप्त करता है और आसक्ति के साथ कर्म करने वाला तुच्छ लाभ को। एक लोक कथा प्रसिद्ध है—

एक साधक ने चौदह वर्ष तक कठोर साधना की। उपवास किये, मोन रखा और फिर उसने जल पर चलने की सिद्धि प्राप्त की। यह सिद्धि प्राप्त होते ही साधक अहंकार में फूल उठा। वह अपने गुरु के पास आया, और अहंकार से गर्दन ऊँची उठाकर बोला—“गुरुजी ! मेरी चौदह वर्ष की साधना सफल हो गई। मैंने जल पर चलने की सिद्धि प्राप्त कर ली। अब

तप का उद्देश्य और लाभ

स-काम कर्म करते हैं, पुण्य की अभिलाषा से, स्वर्ग की कामना से तप करते हैं, वे मर कर स्वर्ग को प्राप्त भी कर लेते हैं, किन्तु वहाँ अप्सराओं के मोह माया में फँसकर अपने समस्त पुण्यों का क्षय कर डालते हैं, और फिर पुण्य हीन होकर पुनः दुःखों के महागर्त में गिर जाते हैं।

क्षीणे पुण्ये मर्त्यं लोकं विशन्ति

इस प्रकार सुख-दुःख का यह चक्र चलता रहता है। दुःख से घबराकर सुख की कामना करते हैं, स-काम कर्म करते हैं और सुख प्राप्त कर पुनः दुःख के योग्य कर्म बाँधकर दुःख के गर्त में गिर पड़ते हैं। संसार के जितने भी सुख हैं, वे सब दुःख की खान हैं।

जितने सुख संसार में सारे दुःख की खान।

जो सच्चा सुख चाहिए ले समता उर ठान।

सुख-दुःख का मूल : कर्म

जैन दर्शन कहता है—सुख-दुःख के इस चक्र का मूल है कर्म ! संसार के समस्त सुख और दुःख कर्म से ही उत्पन्न होते हैं—कम्पुणा उवाही जायई^१—कर्म से सभी उपाधियाँ उत्पन्न होती हैं। सभी प्राणी अपने कर्मों के कारण ही नाना योनियों में जन्म लेते हैं—सन्वे सय कप्पकप्पिया^२—सब प्राणी अपने कर्म के अनुसार चलते हैं।

जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं

तमेव आगच्छति संपराए^३

पूर्व जन्म में जिसने जैसा कर्म किया है इस जन्म में वही उसके भोग में आयेगा। कर्मवाद का यह शाश्वत नियम है। अब जैन दर्शन कहता है—सुख-दुःख तो कर्म के अधीन है। सुख-दुःख तो खुद सेवक^३ हैं, राजा तो कर्म है - अशुभ कर्म को क्षीण करो तो दुःख अपने आप क्षीण हो जायेगा और दुःख का क्षय होगा तो सुख भी स्वतः प्रगट हो जायेगा। दीपक जलाओगे तो अंधेरा अपने-आप मिट जायेगा, और अंधेरा मिटा तो प्रकाश स्वतः ही

१ आचारांग १।३।११

२ सूत्रकृतांग १।२।३।१८

३ सूत्रकृतांग १।५।२।२३

वेश्या बोली—कल इस घर की एक काली-कलौंटी लड़की ने एक मैले कुचले साधु को उडद के वाकले दिये थे जिससे रत्नों की अपार वर्षा हुई। इधर आप भी न्हाये-धोये उजले काड़े पहने हैं और मैं भी न्हा धोकर आप को मिष्टान्न खिला रही हूँ। तो अभी तक रत्नों की वर्षा क्यों नहीं हुई ?...

वेश्या की मूर्खता पर बाबाजी को हँसी आ गई। वे बोले—

वा सती वो साध थो, तू वेश्या मैं भांड !

यारे-म्हारे योग सू पत्थर पडसी रांड !

तो चंदना के दान में कितनी पवित्रता, कितनी निष्कामता थी, और वेश्या के दान में, वास्तव में वह दान भी नहीं था, वह तो मूर्खता पूर्ण सोदा था। तो बताना यह है कि निष्काम भाव से सुपात्र को दिया हुआ उडद का वाकला भी कितना महान फल देने वाला सिद्ध हुआ ! इसी प्रकार शुद्ध भाव से आत्मशुद्धि के लिए किया गया जप, तप, दान, सत्कर्म सभी अर्चितनीय और महान फल देने वाले हैं। भगवान महावीर ने इसीलिए कहा है—एक उपवास भी, एक नवकारसी भी किसी भौतिक कामना से नहीं करो। तप से पूजा, सत्कार स्वर्ग और देवी देवताओं की आराधना मत चाहो—

नो पूयणं तवसा आवहेज्जा^१

तप से पूजा आदि की कामना मत करो, किन्तु तपस्या में एक ही पवित्र लक्ष्य सामने रखो—आत्मा की शुद्धि हो, कर्मों की निर्जरा हो ! कर्म दुख का मूल है, वह कर्म जब क्षय हो जायेगा तो दुःख अपने आप ही क्षीण हो जायेगा।

तप से लाभ

भगवान ने बताया है कि तपस्या से आत्मा पवित्र होती है, सम्यक्त्व शुद्ध होता है। और आत्मा का ज्ञान, दर्शन, चरित्र, निर्मल, निर्मल तर होता जाता है—

तवसा अवहट्ट तेसस्स वंसणं परिसुज्झइ^२

तप का उद्देश्य और लाभ
मुझे आपके दर्शनों के लिए उस पार से इस पार आते समय नदी पार करने में कोई कठिनाई नहीं होगी। नाव की इन्तजार भी नहीं करनी पड़ेगी, जब चाहूँगा, तभी चला आवूँगा।”

शिष्य की शेखी पर गुरुजी को कुछ हँसी भी आई और घृणा भी !
बोले—‘मूर्ख ! क्या इस दो पैसे की सिद्धि के लिए ही चौदह वर्ष तक शरीर को सुखाकर कांटा बनाया है ? इसी काँच के टुकड़े के लिए जीवन के चौदह अमूल्य रत्न खोये हैं ? कोई भी नाविक सिर्फ दो पैसा लेकर तुझे नदी के इस पार से उस पार पहुंचा सकता है। इतनी सी तुच्छ बात के लिए इतना अहंकार ! अच्छा होता तू चौदह वर्ष क्या, चौदह दिन ही निष्काम भाव से कुछ भगवान का भजन करता तो तेरी आत्मा कितनी ऊँची उठ गई होती !”

तो इस समस्त विवेचन का सार यह है कि साधक के सामने तप का उद्देश्य बहुत महान, बहुत ऊँचा रहना चाहिए। उसका पवित्र उद्देश्य एक ही होना चाहिए—तप द्वारा कर्म निर्जरा, कर्म मुक्ति। मुक्ति का महान फल सामने रखकर ही उसे तपः साधना करनी चाहिए।

तप-जप सेवा साधना दान और सत्कर्म।

‘मिश्री’ मुक्ति हित करो, यही परम है धर्म।

लोग सामायिक करते हैं, दान देते हैं, थोड़ी सी सेवा करते हैं और सोचते हैं, इससे हमें अमुक लाभ मिलना चाहिए, हमारी कीर्ति होनी चाहिए। दान दिया तो हमारा नाम अखबार में छपना चाहिए ! तैला किया तो देवता स्वप्न में आकर दर्शन देने चाहिए—यह सब आकांक्षाएँ, लालसाएँ उस सत्कर्म के फल को क्षीण और बर्बाद करने वाली हैं। आपने भगवान महावीर के जीवन प्रसंग में सुना होगा—चंपा नगरी में जब चंदनबाला ने भगवान को उड्ड के वाकले बहराये तो आकाश से रत्नों की वर्षा हुई। समूची घरती रत्नों से, हीरों पत्तों से भर गई। यह देखकर एक वेश्या ने भी अपने बाबाजी को बुलाया, खूब मिष्टान्न खिलाये और बार-बार आकाश की तर्फ देखने लगी। यह देखकर बाबाजी ने पूछा—बार-बार ऊपर क्या देखती है ?

तप और लब्धियां

आज का युग वैज्ञानिक युग कहलाता है। आज कोई भी वस्तु तब तक सही व सत्य नहीं मानी जाती जब तक विज्ञान उसकी सत्यता स्वीकार नहीं कर लेता। लोगों में एक भावना बन गई है कि जो विज्ञान द्वारा सम्मत हों, वही सत्य है। जिस वस्तु तथ्य का विज्ञान समर्थन नहीं करता वह सत्य नहीं हो सकता। यह धारणा एक लोकप्रवाह मात्र है। वास्तव में विज्ञान ने आज आश्चर्यकारी अनुसंधान तो किये हैं, किन्तु वे सब भौतिक जगत में ही किये हैं। वस्तु, पदार्थ और अणु के विश्लेषण में विज्ञान ने अवश्य आश्चर्यजनक प्रगति की है, किन्तु आध्यात्मिक शक्तियों के बारे में वह आज भी गति-हीन है। मनुष्य की आत्मा में, मन में कितनी अनन्त शक्तियाँ भरी हैं इसका विश्लेषण आज का विज्ञान नहीं कर सकता। आज भी वैज्ञानिक जब किसी योगी के मानसिक शक्तियों के चमत्कार, आध्यात्मिक तेज तथा आत्मा में प्रगट हुई कुछ विचित्र स्वाभाविक शक्तियों को देखते हैं तो दाँतों तले अंगुली दबा लेते हैं और विज्ञान वहाँ हार खा जाता है। विज्ञान ने जिसे विल पावर (Will Power) (इच्छा शक्ति) माना है वह भी एक प्रकार की मानसिक शक्ति है। मेन्मेरिज्म के प्रयोग से हजारों मनुष्यों का सम्मोहित किया जाता है, असाध्य रोगों का इलाज किया जाता है—क्या यह भौतिक शक्ति है? नहीं

तप का उद्देश्य और लाभ

तपस्या से लेश्याओं को संवृत करने वाले साधक का दर्शन—सम्यक्त्व परिशुद्ध होता है, निर्मल होता है। तप से इसी प्रकार के महान फल की प्राप्ति वैदिक ग्रन्थों में भी मानी गयी है। कहा है—

तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वात् संप्राप्यते मनः ।

मनसा प्राप्यते त्वात्मा ह्यात्मापत्या निवर्तते ।^१

तप द्वारा सत्त्व (मन को विजय करने की ज्ञानशक्ति) प्राप्त होती है सत्त्व से मन वश में आता है, मन वश में आ जाने से दुर्लभ आत्मतत्त्व की प्राप्ति होती है और आत्मा की प्राप्ति हो जाने पर संसार से छुटकारा मिल जाता है, आत्मा कर्म बन्धनों से सर्वथा मुक्त हो जाती है। इस प्रकार जैनेतर दर्शनों ने भी तप का अन्तिम लाभ मोक्ष माना है। महर्षि वशिष्ठ से पूछा गया कि संसार में सबसे दुर्लभ-दुष्प्राप्य क्या है? तो उन्होंने कहा—मोक्ष! सर्व दुःखों से विमुक्ति! फिर पूछा गया—वह दुष्प्राप्य मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है? तो उत्तर दिया—

तपसैव महोग्रेण यद् दुरापं तदाप्यते ।^२

संसार में जो सर्वाधिक दुष्प्राप्य वस्तु है, वह तपस्या के द्वारा प्राप्त की जा सकती है।

उपर्युक्त विवेचन का सार यही है कि तप का जो उद्देश्य है, वही उसका फल है, लाभ है। तप का उद्देश्य है—आत्म विशुद्धि और मोक्ष प्राप्ति। तप से इसी फल की प्राप्ति होती है। इसलिए कहा जा सकता है मुक्ति लाभ ही तप का मुख्य फल है।

१ मैत्रायणी आरण्यक १।४

२ योगवाशिष्ठ ३।६८।१४

लेकिन बादल हटते ही सूर्य चमकने लगता है। रंगमंच पर पर्दा पड़ा रहता है, तब तक अभिनेता दिखाई नहीं देता, किंतु जैसे ही पर्दा हटता है अभिनेता हमारे सामने हंसता-बोलता दिखाई देता है। इसी प्रकार जब जिस विषय के कर्मदलिक दूर होते हैं तब उस-उस सम्बन्ध की आत्मशक्ति प्रकट होकर हमारे सामने आ जाती है। आचार्य अभयदेव ने बताया है—
आत्मनो ज्ञानादि गुणानां तत्कर्म क्षयादितोलाभः^१—आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य आदि गुणों का तत्-तत् सम्बन्धित कर्मों के क्षय व क्षयोपशम से जो लाभ प्राप्त होता है, उसे लब्धि कहते हैं। जैन दर्शन में लब्धि का प्रायः सर्वत्र इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है। लब्धि की प्राप्ति परिणामों की विशुद्धता, चारित्र की अतिशयता तथा उत्कृष्ट तप के आचरण से होती है। आचार्य ने बताया है—

परिणाम तववसेण इमां हंति लब्धीओ।^२

शुभ परिणाम एवं तप संयम के आचरण से ये लब्धियां प्राप्त होती हैं। इस कारण ये लब्धियां शुद्ध आत्मशक्ति हैं। इनमें कोई देवशक्ति, या मंत्र की शक्ति का सहारा नहीं लिया जाता है।

वैदिक दर्शन में—योगदर्शनकार पतंजलि ने इन्हीं लब्धियों को 'विभूति' कहा है। साधक योगी, अपनी साधना के द्वारा अनेक प्रकार की विभूतियां प्राप्त कर लेता है, अनेक चमत्कार प्राप्त करता है। जैन दर्शन में जैसे कहा है—ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय व क्षयोपशम से ज्ञान सम्बन्धी लब्धियां प्राप्त होती हैं, वैसे ही अन्य कर्मों के क्षयादि से उनसे सम्बन्धित लब्धियां। आचार्य पतंजलि ने योगदर्शन में भी प्रायः इसी प्रकार विभूतियों की प्राप्ति का क्रम दिखाया है, जैसे अहिंसा की साधना से वैरविजय,^३ सत्य की साधना से वचनसिद्धि^४ आदि। बौद्ध दर्शन में इस 'लब्धि' या

१ भगवतीसूत्र वृत्ति ८।२

२ प्रवचन सारोद्धार २७०।१४६५

३ अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।

—योगदर्शन २।३५

४ योगदर्शन २।३६

तप और लब्धियाँ

यह भी एक प्रकार की मानसिक शक्ति है। किन्तु मानसिक शक्ति का बहुत ही छोटा सा तुच्छ रूप है।

‘अणु’ से आत्मा की शक्ति महान है

आज अणु की शक्ति से संसार चकित है, किन्तु जब अत्मा की शक्ति का पता चलेगा तो अनुभव होगा कि अणु से भी अनन्त गुनी शक्तियाँ आत्मा में हैं। आत्मा अक्षय अनन्तशक्तियों का पिंड है। हमारे में जो चेतना है, मनोबल है, चिंतन करने की क्षमता है, भविष्य की बातों का कभी कभी पूर्वाभास हो जाता है; अतीत की हजारों स्मृतियाँ मस्तिष्क में चक्कर काटती हैं, बहुत से लोगों को मृत्यु से पूर्व ही अपनी अंतिम यात्रा का ज्ञान हो जाता है—ये सब क्या भौतिक शक्तियाँ हैं? नहीं! आत्मा की ही कुछ विकसित शक्तियाँ हैं और इनके अनुभव से हमें विश्वास होता है कि यदि इन शक्तियों का विकास किया जाय तो ये ही शक्तियाँ अदभुत चमत्कार दिखा सकती हैं।

लब्धि क्या है?

चमत्कार को संसार नमस्कार करता है, किन्तु चमत्कार पैदा कौन कर सकता है? जिसमें आत्मबल होगा! जिसके पास साधना होगी! यंत्र और तंत्र की शक्तियाँ भौतिक होती हैं, किन्तु साधना, तपस्या से प्राप्त शक्ति आध्यात्मिक होती है। भौतिक शक्ति ‘जादू’ कहलाती है, आध्यात्मिक शक्ति ‘सिद्धि’। आज भी अनेक लोग तांत्रिक प्रयोग करते हैं, देवी की उपासना से कुछ चमत्कार भी दिखाते हैं, भैरव, भवानी, काली आदि की उपासना कर कुछ चमत्कृत करने वाले करिश्मों भी दिखाते हैं, किन्तु वास्तव में इन प्रयोगों को सिद्धि नहीं कहा जा सकता। सिद्धि तो वह है, जो शुद्ध आध्यात्मिक हो, कर्म आवरणों का क्षय होने पर स्वतः आत्मा से ही जो शक्ति प्रकट होती है उसे ‘लब्धि’ या ‘सिद्धि’ कहा जाता है।

लब्धि का अर्थ है—‘लाभ’! प्राप्ति! तपस्या आदि के द्वारा जब कर्मों का क्षय होता है तो आत्मा को उतने रूप में विशुद्ध व उज्ज्वलता प्राप्त होती है। आत्मा के गुण व शक्तियाँ, जो कर्मों के कारण ढंकी हुई थी, छिपी हुई थी, वे कर्मावरणों के हटने से प्रकट हो जाती हैं। जैसे आकाश में सूर्य पर बादल आ जाते हैं तो उसका तेज, प्रकाश घुंघला पड़ जाता है

दान, लाभ, भोग, उपभोग लब्धि के १-१ वीर्य लब्धि के ३, और इन्द्रिय लब्धि के ५-५ कुल दस लब्धि के २६ अन्तर भेद बताये गये हैं। इन लब्धियों से अभिप्राय है, उन-उन विषयक आत्मशक्तियों का विकास ! जैसे ज्ञान लब्धि के कारण आत्मा की ज्ञान शक्तियों का विकास होता है, जिस आत्मा को जितना क्षय, क्षयोपशम होगा उसके ज्ञान का उतना ही अधिक विकास होता जायेगा। वैसे ही इन्द्रियलब्धि में आत्मा को पांच इन्द्रिय विषयक क्षयोपशम होता है, और उसकी इन्द्रिय शक्तियों का विकास उसी अनुपात में होता रहता है। हां, ये लब्धियां एकान्त तपोजन्य नहीं मानी गई हैं। इनके विकास में तप मुख्य कारण बन सकता है, किंतु आत्मा की विकासशीलता के कारण सहजरूप में भी कुछ न कुछ उनका विकास प्रत्येक आत्मा में होता ही है। एकेन्द्रिय आदि में भी इन लब्धियों का सूक्ष्म विकास रहता है। हां, तपःसाधना के द्वारा इस विकास को अधिक सक्रिय एवं प्रबल फलदायी बनाया जा सकता है।

अठाईस लब्धियां

उपर्युक्त लब्धियों के अतिरिक्त ग्रंथों में अनेक प्रकार की तपोजन्य लब्धियों का बड़ा विस्तृत विवेचन किया गया है। प्रवचन सारोद्धार में २८ प्रकार की तपोजन्य लब्धियों का वर्णन आचार्य ने किया है। वे लब्धियां इस प्रकार हैं^१—

- १ आमोसहि विप्पोसहि खेलोसहि जल्लओसही चव ।
 सव्वोसहि संभिन्ने ओहीरिउ विउलमइ लद्धी ॥
 चारण आसीविस केवलिय गणहारिणो य पुव्वधरा ।
 अरहंत चक्कवट्ठी बलदेवा वासुदेवा य ॥
 खीरमहु सप्पि आसव कोठ्ठय बुद्धी पयाणुसारी य ।
 तह बीयबुद्धि तेयग आहारक सीय लेसा य ॥
 वेउव्विदेहलद्धी अक्खीणमहाणसी पुलाया य ।
 परिणाम तववसेण एमाइ हुंति लद्धीओ ॥

—प्रवचन सारोद्धार, द्वार २७० गाथा १४६२—१४६५

तप और लब्धियां .

‘विभूति’ को ‘अभिज्ञा’ कहा गया है । तपस्वी साधक अपनी उत्कृष्ट तपस्या के द्वारा जो शक्ति प्राप्त करता है, उसे वहाँ ‘अभिज्ञा’ संज्ञा दी गई है । उसके पांच और कहीं-कहीं छह भेद बताये हैं ।

लब्धियों के भेद

यों तो आत्मा की शक्ति अनन्त है, और वह अनन्त रूपों में प्रकट हो सकती है । जितने रूपों में प्रकट हों, उतनी ही लब्धियां बन सकती हैं । फिर भी मूल आगमों में तथा उत्तरवर्ती ग्रन्थों में लब्धियों की गणना करके उनका विस्तार के साथ विवेचन किया गया है । कहीं पर लब्धि के दस भेद, कहीं अठाईस भेद तथा कुछ अन्य नाम गिनाये गये हैं ।

भगवती सूत्र में पूछा गया है—भगवन् ! लब्धियां कितनी प्रकार की हैं ?

उत्तर में बताया गया है—दसविधा लब्धी पण्यता—दस प्रकार की लब्धियां बताई गई हैं ।

- १ नाणलब्धी—ज्ञानलब्धि
- २ दंसणलब्धी—दर्शनलब्धि
- ३ चरित्तलब्धी—चारित्र्यलब्धि
- ४ चरित्ताचरित्तलब्धी—चरित्रा चरित्र लब्धि
- ५ दाणलब्धी—दानलब्धि
- ६ लाभलब्धी—लाभलब्धि
- ७ भोगलब्धी—भोगलब्धि
- ८ उवभोगलब्धी—उपभोगलब्धि
- ९ वीरियलब्धी—वीर्यलब्धि
- १० इन्द्रियलब्धी—इन्द्रियलब्धि

ज्ञानलब्धि के, ५ ज्ञान लब्धि और ३ अज्ञान लब्धि यों आठ भेद बताये गये हैं । दर्शन लब्धि के ३, चारित्र्य लब्धि के ५, चरित्ताचरित्त लब्धि का १,

देवता संभ्रमित हो गया, बोला—“महाराज ! कर्मजन्य भाव रोग मिटाने की शक्ति मुझ में नहीं है, मैं तो स्वयं भी उस रोग से घिरा हूँ, मेरा काम सिर्फ शरीर का रोग मिटाना है ।”

मुनि ने उपेक्षापूर्वक कहा—“शरीर के रोग की क्या चिंता है,” और मुख का अमृत (थूक) लेकर शरीर के एक भाग पर लगाया तो शरीर कंचन की तरह चमक उठा । देवता नतमस्तक होकर वापस चला गया ।

तो उन्हें खेलोसहि लब्धि प्राप्त थी, थूक में ही सब रोग मिटाने की शक्ति विद्यमान होते हुए भी उन्होंने कभी अपने शरीर की चिंता नहीं की, अपने लिए अपनी लब्धि का प्रयोग नहीं किया । इससे यह भी पता चलता है कि लब्धिधारी मुनि हर समय लब्धि का उपयोग नहीं करते । आवश्यकता पड़ने पर, संघहित, धर्म प्रभावना या परोपकार की भावना से ही जब अपनी लब्धि का उपयोग करने का संकल्प करते हैं तभी लब्धि अपने प्रभाव में आती है । तो दूसरी लब्धि है—

(२) विप्पोसहि^१—विप्रुडोपधि—‘वि’ शब्द का अर्थ है शरीर द्वारा त्यक्त मल, और ‘प्र’ का अर्थ है - प्रश्रवण । पूरे शब्द विप्रुड् का अर्थ है—मल-मूत्र । अर्थात् जिस लब्धि के प्रभाव से तपस्वी साधक के मल-मूत्र में सुगन्ध आती हो, और जिसका स्पर्श होने पर रोगी का रोग शांत हो जाता हो—उनका मलमूत्र औपधि की भांति रोगोपशमन में समर्थ हो, ऐसी योग शक्ति का नाम है—विप्पोसहि लब्धि ।

साधारणतः मलमूत्र महान दुर्गन्धि और अपवित्र वस्तु मानी जाती है,

१ (क) विप्पोसहि गहणेण विट्ठस्स गहणं, कीरइ तं चेव विट्ठोसहि सामत्थज्जतेण विप्पोसहि भवति ।

—आवश्यकचूर्णि १

(ख) यन् माहात्म्यात् मूत्र पुरीसावयवमात्रमपि रोगराशि प्रणाशाय संपद्यते, सुरभिच सा विप्रुडोपधिः ।

—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति द्वार २७०

तप और लब्धियां

(१) आमोसहि आमशौषधि.....इस लब्धि के धारक तपस्वी किसी रोगी, ग्लान आदि को, स्वयं को अथवा जिस किसी को भी स्वस्थ करना चाहें तो वे पहले मन में संकल्प कर लेते हैं—मेरे स्पर्श से यह नीरोग हों, और फिर उसे स्पर्श करते हैं, तो उनके स्पर्शमात्र से ही रोग शांत हो जाता है, काया कंचन जैसी उज्ज्वल हो जाती है।

एक प्रश्न उठता है कि इस लब्धि के धारक तपस्वी के हाथ आदि का स्पर्श क्या किसी भी समय किसी भी स्थिति में होने से रोगी का रोग शांत हो जाता है या कोई विशेष स्थिति में ? इसका उत्तर हमें आवश्यक चूर्णि के इस शब्द—तिगिच्छामिति 'संचितेऋण'^१ में प्राप्त होता है, लब्धिधारी जब मन में यह संकल्प या चिंतन करता है कि 'मैं इसे स्वस्थ करूँ, नीरोग बनाऊँ, ऐसा संकल्प करके जब रोगी का स्पर्श करता है तभी उसका स्पर्श औषधि रूप में कार्य करता है, अन्यथा नहीं, अन्य लब्धियों के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए। चूंकि लब्धिधारी बहुत बार स्वयं भी असाता वेदनीय के उदय से रोगाक्रांत हो जाते हैं, वे अपने असातावेदनीय को भोगते हैं, किंतु लब्धि के द्वारा सहज में रोग मिटाने का प्रयत्न नहीं करते। जैसा कि सनत्कुमार चक्रवर्ती के विषय में प्रसिद्ध है कि उनका शरीर जब सोलह महारोगों से आक्रांत हो गया तो शरीर की नश्वरता का बोध कर वैराग्य प्राप्त कर वे दीक्षित हो गए और घोरतपश्चर्या करने लगे। उस तपोबल से उन्हें खेलोसहि आदि लब्धियां प्राप्त हो गईं। एक बार कोई देवता उनकी सहनशीलता और निस्पृहता की परीक्षा करने वैद्य का रूप बनाकर आया और बोला—“महाराज ! आपका शरीर कुष्ठ रोग से गल रहा है, मुझे सेवा का अवसर दीजिये, मैं आपका रोग मिटा दूँ।” मुनि ने सहज शांति के साथ कहा—“भाई ! द्रव्य रोग मिटाता है या भाव रोग ?”

१ आमोसहि पत्ताणं रोगाभिभूतं अत्ताणं परं वा जवेवि तिगिच्छामिति संचितेऋण आसुरति ते तक्खणा चेव ववगयरोगातंकं करोति सा ।
—आवश्यकचूर्णि

तप और लब्धियां

किंतु तपस्या के प्रभाव से वह दुर्गन्धमय वस्तु भी सुगंधित हो जाती है, और औषधि के रूप में बन जाती है।

(३) खेलोसहि—खेल यानी श्लेष्म, खंखार थूक। जिस योगशक्ति के प्रभाव से लब्धिधारी के श्लेष्म में सुगंध आती हो, और उसके प्रयोग-लेपन-स्पर्शन आदि से औषधि की भांति रोग शांत हो जाता हो, वह खेलोसहि लब्धि है। मल-मूत्र की भांति खेल-खंखार से भी घृणा की जाती है, और उसके स्पर्श से वचना चाहते हैं। किंतु खेल खंखार तपस्या के प्रभाव से दुर्गंध के स्थान पर सुगंध देने लगता है, और जहां कहीं भी उसका स्पर्श हो जाता है वस रोग को तुरंत शांत कर देता है। सनत्कुमार चक्रवर्ती ने इसका थोड़ा सा चमत्कार देवता को दिखाया, कि तू जिस शरीर के रोग मिटाने की बात करता है, उस शरीर का रोग मिटाने की दवा तो तेरी जड़ीबूटी में क्या, मेरे थूक में भी है, किंतु मुझे शरीर रोग की चिंता नहीं, कर्म रोग मिटाने की चिंता है। अस्तु।

(४) जल्लोसहि—जल्ल नाम है मल का। शरीर के विभिन्न अवयव—जैसे कान, मुख, नाक, जीभ, आँख आदि का जो मल-पसीना अथवा मैल होता है उसे 'जल्ल' कहा जाता है। साधु के २२ पीपहों में अठारहवां 'जल्ल परीपह' बताया गया है, क्योंकि इन मलों के कारण भी शरीर में दुर्गंध आने लगती है, तथा वैचेनी होने लगती है। किंतु तपस्वियों को लब्धि प्रभाव से ये मल भी सुगंध देने लगते हैं, तथा इनका स्पर्श भी औषधि की भांति रोग मिटाने की अद्भुतशक्ति रखता है।

(५) सव्वोसहि—सर्वौषधि। प्रथम चार लब्धियों में शरीर के अलग-अलग अवयव एवं वस्तुओं के स्पर्श से रोग शांत होने की शक्ति होती है, किंतु सर्वौषधि लब्धि के धारक तपस्वी के तो शरीर के समस्त अवयव—मल मूत्र, केश, नख, थूक आदि में सुगंध आती हैं तथा उनके स्पर्श से रोग शांत होते हैं। इस लब्धिधारी का समूचा शरीर ही जैसे पारस होता है, अमृतमय होता है, जहां से भी, जो भी वस्तु छू लो तुरन्त वह चमत्कार दिखाती है।

(६) संभिन्नश्रोता—इस लब्धि की व्याख्या कई प्रकार से की गई है। एक अर्थ है—इस लब्धि के प्रभाव से साधक शरीर के किसी भी भाग से शब्दों को सुन सकता है।^१ साधारणतया कान से ही सुना जाता है, किंतु लब्धि प्रभाव से नाक से भी सुन सकते हैं जीभ से भी, आँख से भी। अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय श्रोत्र-कान का कार्य कर सकती है।

एक दूसरा अर्थ किया गया है—कि साधारणतः एक इन्द्रिय एक ही कार्य कर सकती है। आँख देख सकती है, जीभ सूँघती है, न आँख जीभ का काम कर सकती है, और न जीभ आँख का। किंतु तपस्या के प्रभाव से साधक को ऐसी शक्ति प्राप्त हो जाती है कि किसी भी एक इन्द्रिय से पाँचों इन्द्रियों का काम कर सकता है। आँख मूँदकर बैठा है, आपके शब्द सुन रहा है तो शब्दों के साथ ही आपके हाव-भाव का ज्ञान भी उसे हो रहा है, आपका पूरा रूप उसके कानों से प्रतिबिम्बित हो जाता है, इसी प्रकार जीभ से एक वस्तु को छूने पर उसका रूप रंग स्पर्श गंध आदि सब का ज्ञान कर लिया जाता है। यह इन्द्रियों की अद्भुत विकसित शक्ति है।

प्रकारान्तर से एक अर्थ यह भी किया जाता है—कि संभिन्नश्रोतो लब्धि के धारक योगी की श्रोत्रइन्द्रिय शक्ति बहुत ही प्रचंड हो जाती है। सूक्ष्म से सूक्ष्म ध्वनि को वह अलग-अलग करके ग्रहण कर लेता है। जंगल के वातावरण में जैसे एक साथ सैकड़ों पक्षियों की आवाजें आती हैं, कहीं चिड़िया चहक रही है, कौआ कांव-कांव कर रहा है, कोयल गा रही है, और छोटे-मोटे झींगुर आदि अगणित जीव अलग-अलग शब्द कर रहे हैं। साधारण मनुष्य के लिए वह कोई स्पष्ट शब्द नहीं, केवल एक कोलाहल माय होता है, किसी की भी ध्वनि व अर्थ उसकी समझ में नहीं आ सकता। किंतु संभिन्नश्रोतोलब्धि का धारक दूर खड़ा ही उन तमाम शब्दों को, ध्वनियों को सुनकर सबको अलग-अलग पहचान सकता है, कौन किस की ध्वनि है ! उदाहरण देकर बताया गया है कि—चक्रवर्ती की विजाल सेना

१ सर्वतः सर्वैरपि शरीरदेजैः शृणोति स संभिन्नश्रोताः—

—आवश्यक चूर्ण अ० १

तप और लव्धियाँ

जो बारह योजन में खड़ी है। उसमें एक ही समय में कहीं शंख बज रहा है, कहीं ढोल, कहीं भेरी, कहीं घंटा, कहीं बाजे, कहीं वीणा आदि विभिन्न ध्वनियाँ एक साथ गूँज रही हैं, और एक विचित्र कोलाहल सा हो रहा है, लव्धिधारी उन समस्त वाद्य विशेषों के शब्दों को पृथक्-पृथक् रूप से सुनता है। प्रत्येक वाद्य की ध्वनि को अलग-अलग पहचानता है। इतनी सूक्ष्म और दूरस्थ विषय को ग्रहण करने की शक्ति संभिन्नश्रोतोलव्धि कहलाती है।

(७) अवधि लव्धि—इस लव्धि के प्रभाव से अवधि ज्ञान की होती प्राप्ति है।

(८-९) ऋजुमति विपुलमति लव्धि—मनःपर्यव ज्ञान के दो भेद हैं—
 ऋजुमति और विपुलमति। ऋजुमति मनःपर्यव ज्ञान का धारक अर्थात् समनस्क द्वीप में कुछ कम (अर्थात् अंगुल कम) क्षेत्र में रहे हुए सजी, अर्थात् समनस्क प्राणियों के मनोभावों को जानता है। प्राणी मन में जो भी सोचता है, संकल्प करता है उसका सामान्य रूप से ज्ञान करना ऋजुमति मनःपर्यव ज्ञान है। और संपूर्ण अर्थात् द्वीप में रहे हुए सजी प्राणियों के मनोभावों को स्पष्ट रूप से, सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचारों को भी जान लेना विपुलमति मनःपर्यव ज्ञान है। यह मनोज्ञान जिस लव्धि के कारण प्राप्त होता है, उस लव्धि को ऋजुमतिलव्धि तथा विपुलमतिलव्धि कहा जाता है।

(१०) चारणलव्धि—जिस लव्धि के कारण आकाश में जाने आने की विशिष्ट शक्ति प्राप्त होती है, उसे चारणलव्धि कहा जाता है। चारण शब्द एक प्रकार का रूढ़ शब्द है, जिसका आकाशगामिनी शक्ति के रूप में जैन ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर प्रयोग हुआ है।

भगवती सूत्र में^१ चारणलव्धि के दो भेद बताये गये हैं। जंघाचारण और विद्याचारण। जंघाचारण लव्धि का धारक पद्मासन लगाकर जंघा पर हाथ लगाता है और तीव्रगति से आकाश में उड़ जाता है। टीकाकार अमरदेव सूत्रि ने बताया है कि जंघाचारणवाला मुनि आकाश में उड़ान

प और लब्धियां

रहती है और इसमें ज्ञान की। तप के साथ विद्याभ्यास करने से इस लब्धि की प्राप्ति होती है। किंतु है यह भी तपोजन्य। विद्याधरों की आकाश-गामिनीशक्ति में और विद्याचारणलब्धि में अंतर है। विद्याधरों को भी यद्यपि विद्याभ्यास करना पड़ता है, किंतु वह जन्मगत एवं जातिगत संस्कार रूप में भी प्राप्त होती है। कुछ योगी मंत्र शक्ति से भी आकाश में उड़ान भरते हैं। किंतु विद्याचारण लब्धि वाला मंत्र-तंत्र व जन्मगत कारण से नहीं, किंतु तप के साथ विद्याभ्यास के कारण ही आकाशगमन कर सकता है।

विद्याचारण वाला तिरछे लोक में आठवें नंदीश्वर द्वीप तक उड़कर जा सकता है। विद्याचारण की शक्ति प्रारंभ में कम व बाद में अधिक होती है। चूंकि यह विद्या के वश होती है, विद्या का जितनी बार परिशीलन अधिक होगा वह उतनी ही अधिक शक्तिशाली बनेगी। जैसे भांग को जितनी घोटो जाती है, वह उतनी ही तेज होती जाती है, विद्याचारण लब्धि भी इसी प्रकार पुनः पुनः परिशीलन से अधिक शक्तिशाली बनती है। इसी कारण विद्याचारण को नंदीश्वर द्वीप जाते समय बीच में मानुषोत्तर पर्वत पर एक विश्राम लेना पड़ता है, और दूसरी उड़ान भरकर वह नंदीश्वरद्वीप पहुंचता है किंतु लौटते समय परिशीलन से उसकी विद्या शक्ति प्रखर हो जाती है अतः एक ही उड़ान में सीधा अपने स्थान पर आ जाता है। इसी प्रकार ऊंची उड़ान भरते समय भी जाते समय पहले नंदनवन में विश्राम लेकर फिर दूसरी उड़ान में पाण्डुकवन पहुँचा जाता है, किंतु लौटते समय में सीधे ही एक उड़ान में अपने स्थान पर आ जाते हैं।

जंघाचारण से विद्याचारण की शक्ति कम होती है। ग्रंथों में बताया गया है कि जंघाचारणलब्धि वाला तीन बार आँख की पलक झपकने जितने समय में एक लाख योजन वाले जंबूद्वीप के २१ चक्कर लगा सकता है, किंतु विद्याचारण लब्धि वाले इतने समय में सिर्फ ३ चक्कर ही लगा पाते हैं। गति की तीव्रता जंघाचारण में अधिक है। आज के जैट विमान, फ्रांस के मिराज विमान जो कि शब्द की गति से भी अधिक तेज दौड़ सकते हैं, और नन्दयान, जो मिनटों में हजारों मील के चक्कर काट लेते हैं, अभी भी

भरने से पहले मकड़ी के जाल जैसा तंतु, बटी हुई वाती अथवा सूर्य की किरणों का अवलंबन-निश्चाय लेता है, और फिर आकाश में उड़ता है।^१

जंघाचारण लब्धि चारित्र्य एवं तप के विशेष प्रभाव से प्राप्त होती है। भगवती सूत्र में इसकी साधनाविधि का वर्णन करते हुए बताया गया है, निरंतर वेले-वेले तप करने वाले को विद्याचारण एवं निरंतर तेले-तेले का उग्र तप करने वाले योगी को जंघाचारण लब्धि की प्राप्ति होती है।^२ जंघाचारण लब्धि वाला एक ही उड़ान में (उत्पात में) तेरहवें रुचकवर द्वीप तक जा सकता है। यह द्वीप भरतक्षेत्र से असंख्यात योजन दूर है। इस लब्धिधारक की पहली उड़ान अधिकशक्तिशाली होती है। किंतु उड़ान करने में प्रमाद और कुतूहल होने के कारण लब्धि की शक्ति क्रमशः हीन व क्षीण होने लग जाती है, इस कारण एक उड़ान में रुचकवर द्वीप जाने वाला जब वहाँ से वापस उड़ान भरता है तो वह बीच में थक जाता है, इसलिए बीच में नंदीश्वर द्वीप में उसे एक विश्राम लेना पड़ता है और वह दूसरी उड़ान में अपने स्थान पर लौट कर आ सकता है।

जंघाचारणवाला यदि ऊपर ऊर्ध्व लोक में उड़ान भरता है तो वह सीधा सुमेरुपर्वत के शिखर पर सुरम्य पाण्डुकवन में पहुँच सकता है। यह वन सब वनों में सुन्दर व सबसे अधिक ऊँचाई पर है। जब योगी वहाँ से वापस लौटता है तो जाने की अपेक्षा आने में उसे अधिक शक्ति व समय लगता है। शक्ति की क्षीणता के कारण उसे नंदनवन में एक विश्राम लेना होता है, और दूसरी उड़ान भरके अपने स्थान पर पहुँच जाता है।

विद्याचारण लब्धि तप के साथ विद्या के विशेष अभ्यास द्वारा प्राप्त होती है। जंघाचारण से इसका तपक्रम कुछ सरल है, उसमें तेले-तेले तप का विधान है, और इसमें वेले-वेले तपका। उसमें चारित्र्य की अतिशयता

१ सूतातन्तुनिर्वर्तित पुटकतन्तून् रवि करान् वा निश्चां कृत्वा जंघाभ्या-
माकाशेन चरतीति जंघाचारणः । —भगवती सूत्र वृत्ति २०।६

२ भगवती सूत्र २०।६

प और लब्धियां मनुष्यों को 'कल जिह्वा' भी कहा जाता है। चूंकि यह लब्धि मनुष्य व तिर्यच दोनों में हो सकती है, और सिर्फ वर्तमान में तपस्या करने से ही नहीं, किंतु अतीत में की हुई तपस्या आदि के प्रभाव से भी प्राप्त हो सकती है। देवता शाप आदि से जो अनिष्ट करते हैं वह इस लब्धि का कारण नहीं माना जाता उनमें तो देवभव जन्य ही ऐसी शक्ति होती है और वह सभी देवताओं में सामान्य रूप से पायी जाती है।

यहां यह भी बता देना जरूरी है कि जाति आशीविप कोई लब्धि नहीं होती है, वह तो जन्मजात—जातिगत स्वभाव के कारण प्राप्त हो जाती है। जैसे विच्छू सांप आदि में जो विप होता है वह जातिगत होता है। इसीलिए कहा जाता है 'सांप का बच्चा क्या छोटा क्या बड़ा? वह तो जन्मते ही विपधर होता है।' जाति आशीविप के सम्बन्ध में स्थानांग सूत्र में काफी विस्तार के साथ वर्णन करके बताया है—

जाति आशीविप के चार भेद हैं^१—

- १ विच्छू,
- २ मेंढक,
- ३ सांप,
- ४ मनुष्य

विच्छू से मेंढक का विप अधिक और प्रबल होता है, मेंढक से सांप का और सांप से मनुष्य का। मनुष्य का विप सबसे प्रबल और अधिक विस्तार वाला होता है।

(१२) केवलीलब्धि—चार घनघाती कर्मों के क्षय से लोकालोक-प्रकाशी जो केवलज्ञान, केवल दर्शन की प्राप्ति होती है, वह केवली लब्धि है।

(१३) गणधर लब्धि—गणधर 'गण को धारण करने वाले होते हैं। ये तीर्थकरों की वाणी रूप पुष्पों को सूत्र रूप में गूँथते हैं—उसे क्रमवद्ध करते हैं और आगम का रूप देते हैं, आज की भाषा में तीर्थकर प्रवक्ता होते

जंघाचारण और विद्याचारण लब्धि की शक्ति से बहुत पीछे हैं। फिर इनमें यंत्रबल है, जबकि उनमें आत्मबल का ही सारा चमत्कार है। अस्तु,

दिगम्बर आचार्य यति वृषभाचार्य ने चारण लब्धि के अनेक अन्तर्भेदों का भी वर्णन किया है—जैसे जलचारण—जल में भूमि की तरह चलना, पुष्पचारण—फूल का सहारा लेकर चलना, धूमचारण—आकाश में उठते धूँएँ का आलंवन लेकर उड़ना, मेघ चारण—बादलों को पकड़कर चलना, ज्योतिश्चारण—सूर्य व चन्द्र की किरणों का आलंवन ग्रहण कर गमन करना आदि ।^१

(११) आशीविष लब्धि—जिनकी दाढ़ों में तीव्र विष होता है उन्हें आशीविष कहा जाता है। अर्थात् जिनकी जीभ या मुख में, जिनका थूक या मुँह से निकली सांस विष के समान अनिष्ट प्रभावकारी होती है उन्हें भी आशीविष में माना गया है।

आशीविष के दो भेद किये गये हैं कर्म आशीविष और जातिआशीविष ! कर्म आशीविष—तप अनुष्ठान, संयम आदि क्रियाओं द्वारा प्राप्त होता है इसलिये इसे लब्धि माना गया है। इस लब्धि वाला, शाप आदि देकर दूसरों को मार सकता है। उसकी वाणी में इतनी शक्ति और प्रभाव होता है कि क्रोध में आकर किसी को मुँह से कह दिया 'मर जाओ।' या 'तेरा नाश' हों, तो वह वाणी विष की तरह शीघ्र ही उसके प्राण हरण कर लेती है।

प्राचीन ऋषि-मुनियों की शाप आदि की जो घटनाएँ हम सुनते हैं वह एक प्रकार की यही लब्धि होगी ऐसा अनुमान होता है। वैसे इस लब्धि के बल से सिर्फ शाप ही दिया जा सकता है, वरदान नहीं, चूँकि विष प्रायः अनिष्ट परिणाम ही लाता है और यह लब्धि 'आशीविष लब्धि' है। हाँ, यह भी प्रायः देखा जाता है कि जो शाप दे सकता है, वह वरदान दे या न भी दे ! शाप देने वाले में वरदान देने की शक्ति होना कोई जरूरी नहीं है। बहुत से मनुष्यों के विषय में हम सुनते हैं—जिसकी जीभ काली होती है उसके मुँह से जो बात निकलती है वह प्रायः सही भी हो जाती है ऐसे

तप और लब्धियां

वह पूर्वघर लब्धि कहलाती है। वर्तमान परम्परा में चौदह पूर्व के अंतिम ज्ञाता श्रीभद्रबाहु स्वामी हुए। यद्यपि आचार्य स्थूलिभद्र ने दश पूर्व का अर्थ सहित ज्ञान प्राप्त कर लिया था, और ग्यारहवें पूर्व का अनुशीलन (वाचना) चल रहा था, किंतु उसी समय उन्होंने अपनी बहनों को चमत्कार दिखाने के लिये लब्धि फोड़कर सिंह का रूप बना लिया।^१ स्थूलिभद्र का यह कृत्य देखकर भद्रबाहु स्वामी ने सोचा—‘इसे विद्या हजम नहीं हो रही है,’ अतः अपात्र समझकर आगे वाचना देना बंद कर दिया। संघ ने आचार्य से बहुत अनुनय-विनय किया—कि यदि आप ज्ञान नहीं देंगे तो चार पूर्व का ज्ञान लुप्त हो जायेगा। आचार्य ने कहा—“अपात्र को विद्या देने से तो विद्या साथ में लेकर मर जाना ठीक है।” किंतु फिर भी श्रीसंघ के अत्यधिक आग्रह और स्थूलिभद्र के विनय के कारण भद्रबाहु ने अंतिम चार पूर्व का ज्ञान तो दिया, पर केवल शब्दरूप में ही, अर्थरूप में ही नहीं। इसलिए अंतिम चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु स्वामी ही कहलाते हैं। पूर्वों का ज्ञान इतना विशाल है कि वह केवलज्ञान का एक नमूना पेश कर सकता है, इस कारण चतुर्दशपूर्व-घर को ‘श्रुतकेवली’ भी कहते हैं।

(१५) अर्हल्लब्धि—अरिहंत तीर्थंकर को कहते हैं। साधारणतः अरिहंत शब्द का अर्थ होता है—कर्म रूप शत्रुओं का नाश करने वाले। किंतु इस व्याख्या से तो प्रत्येक केवली अरिहंत कहला सकते हैं। इसलिए आचार्यों ने कहा है जिस केवलज्ञानी को अर्हल्लब्धि की प्राप्ति हो, वही सिर्फ अर्हत् कहलाता है, हर एक केवलज्ञानी नहीं। अर्हल्लब्धि की प्राप्ति होने पर अनेक विशिष्ट अतिशय भी प्रगट होते हैं जिनमें अष्ट महाप्रातिहार्य मुख्य हैं।^२

१ आवश्यक वृत्ति. पृ० ६६८

२ अशोक वृक्ष, देवकृत अचित्त पुष्प वृष्टि, दिव्य ध्वनि, चामर, सिंहासन, भामण्डल, देव दुन्दुभि और छत्र—ये आठ महाप्रातिहार्य हैं। अर्हत् जब माता के गर्भ में आते हैं तो माता चौदह महास्वप्न देखती है। चौदह महास्वप्न का चित्र परिशिष्ट में देखें।

हैं गणधर उस प्रवचन के संपादक। तीर्थंकर सिर्फ अपने विचार व्यक्त करते हैं, गणधर उन्हें शास्त्र या साहित्य का रूप प्रदान करते हैं।^१ किंतु यह महान कार्य हर कोई नहीं कर सकता। इस के लिए विशिष्ट ज्ञान, प्रतिभा और कुशल संयोजन मेधा होनी चाहिए। यह कुछ खास व्यक्तियों में ही होती है। अतः यह माना गया है कि जिनको गणधर लब्धि की प्राप्ति होती है वे ही गणधर पद प्राप्त करते हैं !

(१४) पूर्वधर लब्धि—‘पूर्व’ का शब्दार्थ होता है पहले। जैन परम्परा में पूर्व का अर्थ किया गया है—भगवान ने जो सबसे पहले गणधरों के सामने प्रवचन दिये—जिनमें सार रूप से समस्त वाङ्मय का ज्ञान छिपा था—वे ‘पूर्व’ कहलाये। वारह अंग जो श्रुतज्ञान का अखूट खजाना है उसमें सबसे पहले जिस अंग (दृष्टिवाद) की रचना हुई उसे ‘पूर्व’ कहा गया—ऐसा प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य अभयदेव एवं अन्य आचार्यों का मत है।^२ कुछ आचार्यों का कथन है कि जो श्रुतज्ञान भगवान महावीर से भी पहले अर्थात् भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा से चला आ रहा था, उसे पूर्व (पहले का) कहा गया है।

विश्व विद्या का ऐसा कोई भी विषय नहीं है, जिसका वर्णन ‘पूर्व’ में नहीं किया गया हो। यंत्र, मंत्र, तंत्र, शब्द शास्त्र, ज्योतिष, भूगोल, रसायन रिद्धि-सिद्धि आदि समस्त विषयों की चर्चा पूर्वों में है। पूर्व चौदह है। जिस मुनि को दश से लेकर चौदह पूर्व तक का ज्ञान होता है वह पूर्वधर कहलाता है। जिस शक्ति के प्रभाव से उक्त पूर्वों का ज्ञान प्राप्त होता हो,

- १ अत्यंभासई अरहा सुत्तं गुंथति गणधरा निज्जणा —आवश्यक निर्युक्ति
 २ (क) प्रथमं पूर्वं तस्य सर्वं प्रवचनात् —समवायांग वृत्ति पत्र १०१
 (ख) सर्वश्रुतात् पूर्वं क्रियते इतिपूर्वाणि —स्थानांग वृत्ति १०।१
 (ग) तित्थ करो तित्थ पवत्तण काले गणधराणं सव्व सुत्ताधारत्तणतो
 पुव्वं पुव्वगत सुत्तत्थं भासति ताहा पुव्वं ति भणिता।
 —नंदीसूत्र (चूणि पृ० ११)

तप की लब्धियाँ

खींच सकते हैं।^१ वासुदेव में जितना बल होता है उससे द्गुना बल चक्रवर्ती में और जिनेश्वर देव चक्रवर्ती से भी अधिक बलशाली होते हैं।^२ क्योंकि संपूर्ण वीर्यान्तराय कर्म का क्षय हो जाने के कारण तीर्थकरों का बल अपरिमित होता है।

(१६) क्षीरमधु-सपिराश्रवलब्धि—इस लब्धि के प्रभाव से वक्ता के वचन सुनने वालों को बड़े ही मधुर (दूध-मधु एवं घृत के समान) प्रिय एवं सुखकारी लगते हैं। आचार्य ने कहा है—यद् वचनमाकर्ण्यमानं मनः शरीर सुखोत्पादनाय प्रभवति ते क्षीराश्रवाः—जिनके वचन दूध जैसे, शहद जैसे और घी जैसे मन को, और शरीर को भी सुख एवं प्रीति प्रेदा करने वाले होते हैं वे क्षीर मधु सपिराश्रवलब्धि के धारक होते हैं।

साधारणतः दूध—मधुर भी होता है, प्रिय भी और शरीर एवं मन को प्रीति उत्पन्न करने वाला भी। इस पर भी यदि पुण्ड्रेक्षु चरने वाली गाय का दूध मिले और वह भी वह दूध, जिससे चक्रवर्ती की खीर बनती हो तो उस दूध का कहना ही क्या? उस दूध का वर्णन करते हुए आचार्यों ने बताया है^३—पुण्ड्र-इक्षु (गन्ने) के खेतों में चरने वाली एक लाख गायों का दूध

१ सोलसराय सहस्सा सव्व वलेणं तु संकलनिवद्धं ।
अंछंति वासुदेवं अगडतडम्मिठियं संतं ॥ १ ॥
घेत्तूण संकलं सो वामहत्थेण अंछमाणानं ।
भुंजिज्ज वलि पिज्ज व महुमहणं ते न चाएंति ॥ २ ॥
जं केसवस्स उ वलं तं दुगुणं होइ चक्कवट्टिस्स ।
तत्तो बला बलवग्गा अपरिमियवला जिणवरिदा ॥ ३ ॥

—प्रवचन सारोद्धार

- २ करोड़ चक्रवर्ती का बल एक देव में, करोड़ देवों का बल एक इन्द्र में, अनन्त इन्द्रों का बल तीर्थकर की कनिष्ठ अंगुली में।
३ (क) पुण्ड्रेक्षु चारिणीनामनातंकानां गवां लक्षस्य.....यावदेकस्या गोः सम्बधियत् क्षीरं.... —जंबूद्वीप प्रज्ञप्तिवृत्ति, वक्षस्कार २
(ख) प्रवचनसारोद्धार वृत्ति द्वार २६६ ।
(ग) दूध को मधुर एवं स्वादिष्ट बनाने की ऐसी ही एक कथा बीड (देखें पृष्ठ ८४ प)

(१६) चक्रवर्ती लब्धि—छह खण्ड के स्वामी को चक्रवर्ती कहा जाता है। चक्रवर्ती एक पराक्रमी राजा होता है, जब चक्रवर्ती लब्धि के प्रभाव से उसे चौदह रत्न प्राप्त होते हैं तो वह छह खण्ड पर विजय करता है और फिर चक्रवर्ती सम्राट का पद प्राप्त करता है।

(१७) वलदेव लब्धि—

(१८) वासुदेव लब्धि—वासुदेव तीन खंड के स्वामी होते हैं। युद्ध कोशल एवं राजनीति में वासुदेव चक्रवर्ती से भी बढ़-चढ़कर होता है। चक्रवर्ती स्वयं युद्ध कम करते हैं उनका सेनापतिरत्न ही अधिकतर युद्ध करता है, किंतु वासुदेव स्वयं युद्ध करते हैं इसीलिए—जुद्धे सूर वासुदेवा^१ युद्ध में वासुदेव शूर होते हैं—कहा गया है। ये सात रत्नों के स्वामी होते हैं। वलदेव वासुदेव के बड़े भाई होते हैं। वलदेव प्रायः सात्विक व धार्मिक प्रकृति के होते हैं, किंतु वासुदेव राजसी और तामसी प्रकृति के तथा भोग-प्रिय एवं राज्य सत्ता के आकांक्षी होते हैं। जिस लब्धि के प्रभाव से वलदेव पदवी प्राप्ति हो वह वलदेवलब्धि तथा वासुदेवपदवी प्राप्ति हो वह वासुदेव लब्धि कहलाती है। वलदेव पदवी बड़ी भाग्यशाली है, इस पद में उसकी कभी मृत्यु नहीं होती, किन्तु पद को छोड़कर मुनि बनता है, और कर्म क्षय कर मुक्ति प्राप्त करता है।

वासुदेव में बीस लाख अष्टापद का बल होता है। उसके बल का अनुमान करने के लिये आचार्यों ने एक उदाहरण दिया है—एक वासुदेव कुएं के तट पर बैठा हो, उसे जंजीरों से बांधकर उसकी समस्त सेना के हाथी, घोड़े, रथ और पदाति (पैदल)—यों चतुरंगिणी सेना के साथ सोलह हजार राजा उस जंजीर को दम लगाकर खींचते रहे, पसीना-पसीना हो जाये फिर भी वे वासुदेव को खींच नहीं सकते। किन्तु वासुदेव उस जंजीर को बाएं हाथ से पकड़ कर बड़ी आसानी के साथ उसे अपनी ओर

तप और लब्धियां

संहज प्रभाव होता है, और वह शुद्ध आध्यात्मिक ही होता है, उसमें मंत्र-तंत्र का कोई पुट नहीं होता है।

(२०) कोष्ठक बुद्धि लब्धि—जिस प्रकार कोठे में डाला हुआ धान्य बहुत काल तक ज्यों का त्यों सुरक्षित रह जाता है, इसी प्रकार जिसे कोष्ठक बुद्धि लब्धि प्राप्त होती है वह आचार्य आदि के मुख से सुना हुआ सूत्र-अर्थ, तथा अन्य जो भी तत्त्व सुनता है उसे ज्यों का त्यों अविकल रूप में धारण करने में समर्थ होता है। इस लब्धि प्रभाव से बुद्धि स्थिर धारणा वाली बन जाती है ;

(२१) पदानुसारिणी लब्धि—इस लब्धि के प्रभाव से सूत्र के एक पद को सुनकर आगे के बहुत से पदों का ज्ञान विना सुने ही अपनी बुद्धि से कर लेता है। जैसे कहा जाता है—एक चावल के दाने से पूरे चावलों के पकने का पता चलता है, एक बात सुनते ही पूरी बात का ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार एक पद से अनेक पदों का ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता इस लब्धि धारी में होती है।

(२२) बीजबुद्धि लब्धि—जैसे बीज विकसित होकर विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार बीज बुद्धि लब्धि के प्रभाव से एक सूत्र, व अर्थ प्रधान वचन को ग्रहण कर अपनी बुद्धि से उसके सम्पूर्ण सूत्र व अर्थ का ज्ञान कर लिया जाता है। यह लब्धि गणधरों में सर्वोत्कृष्ट रूप से होती है। वे तीर्थंकर देव के मुख से सर्वप्रथम उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप त्रिपदी का ज्ञान प्राप्त करते हैं—उप्पन्ने इ वा विगमे इ वा धूअे इ वा—वस इन तीन पदों को सुनकर ही संपूर्ण द्वादशांगी का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और वारह अंगों की रचना भी।

(३) तेजोलेख्या लब्धि—यह आत्मा की एक प्रकार की तेजस् शक्ति हैं। इस लब्धि के प्रभाव से योगियों को ऐसी शक्ति प्राप्त हो जाती है कि कभी क्रोध आ गया तो वे वायें पैर के अंगूठे को घिसकर एक तेज निकालने हैं जो अग्नि के समान प्रचंड होता है, और विरोधी को वहीं जलाकर भस्म-सात् कर डालते हैं। इस शक्ति से कई योजनाओं तक में रही हुई वस्तु को

निकाल कर पचास हजार गायों को पिलाया जाता है । पचास हजार गायों का दूध पच्चीस हजार को । और इसी क्रम से करते करते दो गायों का दूध एक गाय को पिलाया जाता है ।^१ उस गाय का दूध जितना मधुर, स्वादिष्ट और शरीर को सुख प्रीति देने वाला होता है उसी प्रकार क्षीराश्रवलब्धि के प्रभाव से वक्ता का वचन भी उस दूध की भाँति मधुर और सुख-प्रीति उत्पन्न करने वाला होता है ।

दूध की तरह ही जिसका वचन सुनने में श्रेष्ठ, मधु के समान मीठा लगता हो, वह मध्वाश्रव लब्धि का प्रभाव समझना चाहिए और उन पुण्ड्रिक्षु चरने वाली गायों के घी के समान जिसका वचन तृप्ति कारक लगता हो वह सर्पिराश्रवलब्धि का प्रभाव ।

उक्त लब्धि का एक प्रभाव यह भी होता है कि उनके भिक्षापात्र में लूखा-सूखा-नीरस आहार भी आ जाता है तो वह स्वतः ही क्षीर, मधु एवं घृत के समान स्वादिष्ट बन जाता है ।—येषां पात्रे पतितं क्वन्नमपि क्षीर-मधुसर्पिरादि सवीर्यं विपाकं जायते—और यह अन्न खाने पर भी उतना ही स्वादिष्ट और प्रीतिकारक लगता है ।

कहीं-कहीं लोग मांत्रिक प्रयोगों से भी दस्तु का स्वाद बदल देते हैं । मिसरी का मिट्टी जैसा स्वाद बना देते हैं और मिट्टी को मिश्री जैसा मधुर ! किन्तु यह एक मांत्रिक प्रयोग है । किन्तु लब्धिधारी का तो यह

ग्रन्थों में भी प्रसिद्ध है । सुजाता बुद्ध की उपासिका थी । वह एक हजार गायों का दूध पाँच सौ गायों को पिलाती, पाँचसौ गायों का ढाई सौ को, इसी क्रम से सोलह गायों का दूध आठ गायों को आठ का चार को, चार का दो गायों को दूध पिलाकर उसके दूध की खीर बनाती है । उस खीर की भिक्षा वह बुद्ध को देती है ।

—आगम और त्रिपिटक पृ० १७०

१ नोट :—इसी दूध से चक्रवर्ती की खीर बनती है जिसे 'कल्याणक भोजन' कहते हैं ।

तप और लब्धियां

हो, या मन में कभी कुछ संशय खड़ा हो गया हो, और उत्तर देने वाला पास में न हो, तथा तीर्थंकरों की अद्भुत ऋद्धि का दर्शन करने की भावना जग गई हो और वे दूर विचर रहे हों तो मुनि उस प्रयोजन को पूरा करने के लिए आत्म-प्रदेशों से एक स्फटिक के समान उज्ज्वल एक हाथ का पुतला बनाते हैं और उसे तीर्थंकर अथवा सामान्य केवली के पास भेजकर अपने प्रश्नों का उत्तर मांगते हैं, उनके दर्शन करते हैं। तथा किसी की रक्षा करनी हो-तो वह भी कर लेते हैं। पुतला वापस लौट आता है और पुनः आत्म-प्रदेशों में विलीन हो जाता है। यह लब्धि चौदहपूर्वधारी मुनि को ही प्राप्त हो सकती है।

(२५) शीतललेश्या लब्धि—यह तेजोलेश्या की प्रतिरोधी शक्ति है। तेजोलेश्या के द्वारा भड़कायी गई अग्नि को समाप्त करने के लिए शीतल लेश्या लब्धि धारक जब करुणाभाव से प्रेरित होकर सौम्यदृष्टि से निहारता है, तो क्षण भर में ही घघकते दावानल को शांत कर देता है। गौशालक पर करुणा-द्रवित होकर भगवान् महावीर ने उसे वचाने के लिए शीतल लेश्या का प्रयोग किया तो क्षण मात्र में ही वैश्यायन की तेजोलेश्या शांत हो गई।

शीतल लेश्या भी एक आध्यात्मिक तेज है, किंतु यह उष्ण नहीं, शीत है। इसकी शक्ति मारक नहीं, तारक है, शामक है। अग्नि को शांत करने के लिए जैसे जल है, वैसे ही तेजोलेश्या को शांत करने के लिए उसकी प्रतिरोधी आत्मशक्ति है—शीतललेश्या।

(२६) वैक्रिय देह लब्धि—प्रस्तुत में जैनदर्शन विक्रिया का अर्थ करता है विविध क्रिया, अनेक प्रकार के रूप, आकार आदि की रचना करना विक्रिया या वैक्रिय कहलाता है। वैक्रिय देहलब्धि से शरीर के छोटे-बड़े विचित्र सुन्दर और भयंकरतम रूप बनाये जा सकते हैं। एक रूप के हजारों रूप भी बनाये जा सकते हैं। चींटी से भी सूक्ष्म और अति विशाल रूप बनाने की क्षमता वैक्रिय देहलब्धि धारक को प्राप्त होती है।

मुनि विष्णुकुमान ने संघ की रक्षा के लिए नमुचि से तीन पांच रखने

भी भस्म किया जा सकता है। उत्कृष्ट शक्ति-प्रयोग में १६॥ महाजनपदों को एक साथ भस्म कर डालने की शक्ति भी इस लव्धि धारक में होती है।

भगवती सूत्र^१ में बताया गया है कि जब भगवान महावीर छद्मस्थ थे तो गौशालक उनके साथ-साथ घूमता था। एक बार उसने वैश्यायन नामक बाल तपस्वी को छेड़ लिया। तपस्वी ने क्रुद्ध होकर गौशालक को जला डालने के लिए तेजोलेश्या छोड़ी। तब गौशालक भयभीत होकर चीखता हुआ भगवान महावीर के बगल में आकर छुप गया। भगवान ने उस दीन प्राणी की रक्षा करने के लिए परमशीतलेश्या का प्रयोग किया जिससे आग शांत हो गई।

गौशालक इस शक्ति के चमत्कार से बड़ा प्रभावित हुआ। उसने अनुनय-विनय कर भगवान से तेजोलेश्या साधने की विधि पूछी। भ्रमु ने उसे बताया—छह महीने तक निरंतर बेल-बेल तप करके सूर्य मंडल के सामने दृष्टि रखकर खड़े रहना और पारणे में मुट्ठीभर उड़द के बाकले और चुल्लूभर पानी लेना। लगातार छह मास तक इस प्रकार की तपश्चर्या करने से थोड़ी बहुत मात्रा में तेजोलव्धि की प्राप्ति होती है।

गौशालक कुछ समय बाद भगवान से अलग हो जाता है और हाला-हला नामक अपनी भक्त कुम्हारिन की भट्टीशाला में छह महीने तक साधना कर तेजोलव्धि प्राप्त करता है।

यह तेजोलव्धि आज के अणुबम से भी अधिक विस्फोटक है। हाँ, तेजोलव्धि का प्रयोग जिस पर जितनी दूर तक संकल्प करके किया जाता है उतने ही क्षेत्र को वह प्रभावित करती है, जबकि बम तो फटने के बाद विध्वंस भी करता है और वायुमंडल को दूषित भी! इस तेजोलेश्या के प्रयोग से वायुमंडल दूषित नहीं होता है।

(२४) आहारकलव्धि—कभी-कभी तपस्वी मुनियों के समक्ष कुछ समस्याएँ व कुछ परिस्थितियाँ आ जाती हैं जिनका समाधान करने के लिए वे इस आहारक लव्धि का प्रयोग करते हैं। किसी प्राणी की रक्षा करना

तप और लब्धियां

वैक्रियलब्धि के प्रभाव से ही वह दिखा पाता था ।

(२७) अक्षीणमहानस लब्धि—इस लब्धि के प्रभाव से तपस्वी भिक्षा में लाये हुये थोड़े से आहार से लाखों व्यक्तियों को भरपेट भोजन करा सकता है । फिर भी उस भिक्षा पात्र का अन्न अखूट बना रहता है । वस, शर्त यही है कि जब तक लब्धिधारी स्वयं भोजन न करे तब तक ही वह अखूट रहता है, जब लब्धिधारी स्वयं उसमें से एक ग्रास भी खा लेता है तो फिर वह अन्न समाप्त हो जाता है ।

वत्पसूत्र में गौतम स्वामी की अक्षीणमहानसलब्धि के चमत्कार की एक घटना बताई गई है जिसे देखकर पन्द्रह सौ तापस उनके शिष्य हो गये । घटना इस प्रकार है—

कोडिन्न, दिन्न और सेवाल नाम के तीन तापस गुरु थे । प्रत्येक के पांच-पांच सौ तापसों का शिष्य परिवार था, यों पन्द्रह सौ तीन तापस अष्टापद पर्वत पर आरोहण कर रहे थे । सभी तपस्या से बड़े दुबले हो रहे थे । कोडिन्न तापस पांचसौ शिष्यों के साथ पहली मेखला तक चढ़ा था, दिन्न का परिवार दूसरी मेखला तक और सेवाल का परिवार तीसरी मेखला तक आरोहण कर गया था । अष्टापद पर्वत पर एक-एक योजन की कुल आठ मेखलाएँ थीं । ऊपर चढ़ने में तापस खिन्न हो गये थे और हताश से बैठे थे । तभी गौतम स्वामी उधर से आये और देखते-देखते ही लब्धिवल से अष्टापद पर्वत के शिखर पर चढ़ गये । गौतम के इस तपोबल से सभी तापस बड़े प्रभावित हुये, उन्हें आश्चर्य भी हुआ कि 'हम तो एक-एक मेखला पार करने में ही थक कर चूर हो जाते हैं और यह तपस्वी एकदम ही शिखर तक जा पहुँचा । जरूर यह महान लब्धिधारी और तपोवली है । जब यह तपस्वी अष्टापद से उतर कर आयेंगे तो हम भी उनके शिष्य बन जायेंगे ।'

इन्द्रभूति शिखर से वापस नीचे आये । तापसों ने विनयपूर्वक कहा— 'आप हमारे गुरु हैं और हम आपके शिष्य !' तापसों के आग्रह पर इन्द्रभूति ने उन्हें दीक्षा दी । अपने अक्षीण महानस लब्धिवल से खीर के एक ही भरे हुए

की भूमि मांगी थी। वचन मिलने पर एक लाख योजन का^१ विराट रूप बनाकर एक चरण जगती के इस छोर पर व दूसरा उस छोर पर रखा तथा तीसरे चरण को रखने की भूमि न देने पाने पर उसकी छाती पर रखकर उसे समाप्त कर डाला था। यह वैक्रिय देह लब्धि का ही चमत्कार था।

इस लब्धि के प्रभाव से एक साथ सैकड़ों हजारों रूप भी बनाये जा सकते हैं, जिधर देखो उधर वही रूप दिखाई देगा। एक साथ सैकड़ों घरों में घूमा जा सकता है, सैकड़ों जगह एक साथ भोजन आदि का उपभोग किया जा सकता है।

अंबड परिव्राजक वैक्रिय लब्धि से सैकड़ों रूप बना कर लोगों को चमत्कार दिखाया करता था। उववाई सूत्र में प्रमंग है कि एक बार भगवान महावीर कंपिलपुर में पधारे। वहां पर अंबड परिव्राजक का बड़ा ही प्रभाव था। लोग कहते—अंबड परिव्राजक बड़ा सिद्ध पुरुष है। वह एक साथ सौ घरों में भोजन कर सकता है, सौ घरों में एक साथ दर्शन दे सकता है। लोगों के मुंह से गणधर इन्द्रभूति ने यह चर्चा सुनी तो उन्होंने भगवान से पूछा—प्रभो ! क्या यह बात सत्य है ? उत्तर में भगवान ने कहा—‘हां, अंबड परिव्राजक ऐसा कर सकता है।’ गीतम ने पुनः आश्चर्य के साथ पूछा—वह यों कैसे कर सकता है ? भगवान ने बताया—अंबड परिव्राजक ने दीर्घ काल तक बेले-बेले की कठोर तपश्चर्या की, सूर्य के सामने हाथ ऊपर उठाकर आतापना ली और इस तपःसाधना के कारण उसे वैक्रियलब्धि, वीर्यलब्धि तथा अवधिज्ञानलब्धि की प्राप्ति हुई, उसी लब्धि के बल पर वह ऐसा कर सकता है।^२

सुलसा की परीक्षा करने के लिए भी अंबड ने अनेक रूप बनाए। और उसकी हृद् धामिकता की परीक्षा ली।^३ यह सब चमत्कार

१ यह लाख योजनउत्सेधा गुल से किया था, अतः सिद्धांगुल से वह सौ योजन ही माना जाता है, मनुष्य उत्कृष्ट वैक्रिय सौ योजन का ही कर सकता है।

२ उववाई सूत्र

३ आवश्यक चूणि, उत्तरार्ध पत्र १६४.



लब्धि-प्रयोग : निषेध और अनुमति

जैन शास्त्रों में बताया गया है कि तपस्या का फल दो प्रकार का होता है—एक आभ्यन्तर और दूसरा बाह्य ! आभ्यन्तर फल है—कर्म आवरणों की निर्जरा, उनका क्षय तथा क्षयोपशम ! इससे आत्मा की विशुद्धि होती है, विशुद्धि होने पर ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, बल, वीर्य आदि आत्म-शक्तियाँ अपने शुद्ध एवं प्रचंड रूप में प्रकट हो जाती हैं। जैसे किसी स्वर्ण पट्ट पर मिट्टी की तह जमी होती है तो सोने की चमक दिखाई नहीं देती, किन्तु जैसे-जैसे मिट्टी हटती है सोना चमकने लगता है। उसी प्रकार कर्म रूप मिट्टी जैसे-जैसे हटती है आत्मा की शक्तियाँ प्रकट होने लगती हैं।

आत्मशक्ति के रूप में ये शक्तियाँ आभ्यन्तर होती हैं, किन्तु उनका प्रभाव, चमत्कार, तेज बाह्य जगत में दिखाई देता है। उन शक्तियों के सहज विकास, एवं सामयिक प्रयोग से बाह्य वातावरण व समाज पर आश्चर्य-जनक प्रभाव पड़ता है। इस कारण उन शक्तियों को लब्धि आदि के रूप में तप का बाह्य फल माना गया है।

पर जल की भांति जैसे सरोवर में उन्मज्जन-निमज्जन की क्रियाएँ होती हैं वैसे ऊपर नीचे आने-जाने की क्रियाएँ करना प्राकाम्य लब्धि है।

ईशित्व लब्धि—इस लब्धि के प्रभाव से तपस्वी तीर्थकरों जैसी तथा इन्द्र जैसी ऋद्धि की विकुर्वणा कर सकता है। यद्यपि यह विकुर्वणा कुछ क्षण ही टिक पाती है, पर लोगों को चमत्कार दिखाने के लिए ऐसी शक्ति का प्रयोग तपस्वी करते हैं।

वशित्व लब्धि—दूसरों को अपने अनुकूल या वश में करने के लिये इस लब्धि का प्रयोग किया जाता है। वशीकरण के लिए यंत्र मंत्र तंत्र आदि भी अनेक प्रचलित हैं, किन्तु वे सब भौतिक वस्तुओं पर आधारित हैं जबकि यह लब्धि आत्म-शक्तिजन्य है।

कुछ योगी पर्वत मालाओं के बीच से, शिलाखंडों के भीतर से विना रुकावट के ही निकल जाते हैं—और शिलाखंड में कहीं कोई छेद भी नहीं दिखाई देता। इस लब्धि को अप्रतिघातित्व लब्धि कहा जाता है। शरीर को अदृश्य करने की लब्धि 'अन्तर्धान लब्धि' है, तथा एक साथ अनेक प्रकार के रूप बनाना, मनचाहे रूप बना लेना कामरूपित्व लब्धि है।

लब्धियों का विस्तार के साथ वर्णन इसलिए किया है कि आत्मा की अनन्त शक्तियों का किस-किस रूप में विकास होता है, और क्या-क्या चमत्कार पैदा होते हैं—इसका अनुमान पाठकों को लग सके। यह भी नहीं भूल जाना चाहिए कि तप का सीधा फल लब्धि नहीं है। तप का फल तो है कर्मनिर्जरा, आत्मा का शुद्ध स्वरूप में आना। आत्मविकास होने पर आत्मा की शक्तियाँ भी स्वतः जाग्रत होती हैं। वे शक्तियाँ ही एक प्रकार की लब्धि है। इस तरह तप का मूल लाभ है—कर्म निर्जरा ! और उत्तर लाभ है—लब्धि ! शक्ति !

लव्धि प्रयोग : निषेध और अनुमति

इस प्रश्न का उत्तर है कि लव्धि एक अतिशय है, एक प्रभाव है, साधक अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए कभी उत्सुक नहीं होता, भाव बढ़ता है तो प्रभाव अपने आप बढ़ जाता है। सिद्धि मिलती है तो प्रसिद्धि अपने आप हो जाती है। इसलिए तप की जो विधि है वह लव्धि प्राप्त करने के लिए नहीं है, किन्तु तप का एक मार्ग है जिस मार्ग पर चलने से बीच में अमुक सिद्धियाँ मिल जाती हैं। जैसे अमुक नगर को जाना है, यदि इस रास्ते से गये तो बीच में अमुक-अमुक स्थान आयेंगे और अमुक रास्ते से गये तो अमुक-अमुक स्थल ! बीच के स्थल पर पहुँचने के लिए कोई यात्रा नहीं करता, वह तो अपने आप आयेगा ही, यात्रा का लक्ष्य तो मंजिल है। वैसे ही तप का उद्देश्य तो कर्म निर्जरा है, किन्तु अमुक विधि से तप का आचरण करने पर कर्म निर्जरा तो होती ही है, किन्तु जिस प्रकार के कर्मों की अर्थात् जिस वर्गणा के कर्मों की निर्जरा होगी उसके फलस्वरूप आत्मा में स्वतः ही अमुक प्रकार की शक्ति जग जायेगी। जैसे बेल-बेले तप करते रहने से अमुक प्रकार की शक्ति जमेगी। तेल-तेले तप करने से उससे कुछ विशिष्ट आत्म-शक्ति जागृत होगी। उदाहरणार्थ—भगवान महावीर को भी लव्धियाँ प्राप्त थीं, तेजोलव्धि भी और शीतललव्धि भी प्राप्त थी। तो क्या उन्होंने इन लव्धियों के लिए तप किया या ? नहीं ! किन्तु वे बेल-बेले तप करते रहे तो उससे जैसे ही उस लव्धि के योग्य कर्मों की निर्जरा हुई तो वह लव्धि अपने आप प्राप्त हो गई। अंतः यह ध्यान में रखने की बात है कि शास्त्र में तप को लव्धि प्राप्त करने की विधि के रूप में नहीं बताया है, किन्तु अमुक प्रकार के तप के फल रूप में लव्धि बतायी गई है, और फल की कामना से रहित होकर ही साधक को तप करना चाहिए।

लव्धि का प्रयोग क्यों ?

एक और महत्व की बात है कि लव्धि जब तप के प्रभाव से स्वतः ही प्राप्त होने वाली एक आत्मशक्ति है तो उसका प्रयोग करना चाहिए या नहीं ? शास्त्रों में इसका प्रयोग करना अनुमत है या नहीं। इस प्रश्न का समाधान प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम हमें भगवती सूत्र

लब्धि तप से स्वतः प्राप्त होती है। तप व चारित्र्य की उत्कृष्टता होने पर लब्धियों की प्राप्ति अपने आप हो जाती है। जैसे पौष्टिक भोजन करने पर शरीर में शक्ति और स्फूर्ति बढ़ती है, तो रक्त और मांस भी बढ़ता है। भीतर में शक्ति बढ़ने पर बाहर में ओज-तेज जिस प्रकार दिखाई देता है, उसी प्रकार तप के द्वारा तेज प्रकट होता है, तो वह बाहर में स्वतः ही अपना प्रभाव दिखाने लगता है। इसीलिये भगवान् महावीर ने कहा है—

सखं खु दीसइ तवोवित्सेसो

तप का विशिष्ट प्रभाव संसार में साक्षात् दिखाई देता है। राजस्थानी में कहावत है—

घी खायो छानो को रेंवेनी

—घी खाया हुआ छिपता नहीं है, शरीर पर अपने आप उसका तेज दमकने लगता है, वैसे ही तप भी तपा हुआ छुपता नहीं है। तपस्वी की ऋद्धि, तेज और प्रभाव अपने आप ही बोलने लग जाती है। कहा है—

जस्सेरिसा रिद्धि महानुभावा

—उस महानुभाव तपस्वी की अपूर्व ऋद्धि, लब्धि और तेज ऐसा अद्भुत है कि जो देखे वह स्वतः ही नतमस्तक हो जाता है। तपस्वी के चेहरे पर स्वतः ही एक विशिष्ट तेज ओज दमकने लगता है। उसकी वाणी में सिद्धि, उसकी प्रवृत्ति में वरदान तथा आक्रोश में शाप की शक्ति अपने आप आ जाती है। इन शक्तियों के लिए उसे प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रहती।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जब लब्धियों के लिए तप करने की आवश्यकता नहीं है, तो शास्त्र में अलग-अलग लब्धियों के लिए अलग-अलग प्रकार की तपस्याएँ क्यों बताई हैं? जैसे भगवतीसूत्र में गोशालक को तेजोलेश्या की साधना विधि बताई गई है। जंघाचरण विद्याचरण की भी साधना विधि बताई है तथा पूर्वों में लब्धियों की विभिन्न साधना पद्धति का वर्णन उपलब्ध था ऐसा उल्लेख किया जाता है तो इसका क्या अर्थ है? जब लब्धि के लिए तप नहीं किया जाना चाहिए तो फिर उसके लिए तप की विधि क्यों?

लब्धिप्रयोग : निषेध और अनुमति

भाव है, और लब्धि-विस्फोट^१ प्रमत्तभाव है, प्रमादसेवना है। प्रमाद कर्म वन्धन का कारण है—पमायं कम्ममाहंसु^१ प्रमाद स्वयं ही कर्म है। इसीलिए भगवती सूत्र में बताया गया है—जो साधक (गृहस्थ या मुनि) लब्धि का प्रयोग कर, प्रमादसेवना कर यदि पुनः उसकी आलोचना नहीं करता है, और अनालोचना की दशा में ही काल प्राप्त कर जाता है तो वह धर्म की आराधना से च्युत हो जाता है—नत्थि तस्स आराहणा^२ अर्थात् वह विराधक हो जाता है।

लब्धि-प्रयोग प्रमाद क्यों है ? इसका सीधा सा उत्तर है कि—लब्धि फोड़ना—एक प्रकार की उत्सुकता, कुतूहल और प्रदर्शन, यश एवं प्रतिष्ठा की भावना का परिणाम है। कभी साधक कुतूहल के वश में होकर लब्धि फोड़ता है, कभी अपना प्रभाव लोगों पर जमाने के लिए। कभी-कभी क्रोध के वश होकर किसी का अनिष्ट करने के लिए भी लब्धि का प्रयोग किया जाता है। ये सब भावनाएँ राग-द्वेषात्मक हैं, जो प्रमाद-जन्य हैं, इस कारण लब्धि प्रयोग को भी प्रमाद-भाव माना गया है और प्रमाद भावना से मुक्त होना साधक का लक्ष्य है। तो जो कार्य उसे लक्ष्य के विपरीत दिशा में ले जाता हो, वह उसके लिए करणीय कैसे हो सकता है ? लब्धि बल से विविध रूप बनाने वाले अंघ्र को सुलसा श्राविका ने ढोंगी कहकर पुकारा, उसे नमस्कार नहीं किया इसका अर्थ यही है कि लब्धि का प्रयोग साधक के लिए विहित नहीं है, अनुमत नहीं है।

चमत्कार नहीं, सदाचार का महत्व

यह एक निश्चित तथ्य है कि भगवान् महावीर सदाचार को महत्व देते थे, चमत्कार को नहीं। शुद्ध चारित्र्य, निस्पृहभावना और वीतराग साधना में उनका विश्वास था, अपने शिष्यों को भी वे सदा यही उपदेश

१ सूत्रकृतांग १।८।३

२ भगवती सूत्र २०।६

के एक उल्लेख की ओर ध्यान देना होगा । गौतमस्वामी की विशिष्ट साधना का वर्णन करते हुए भगवान ने बताया है—गुत्तिदिए गुत्तबंभयारी संखित्त विउल तेउलेस्से.... गौतम इन्द्रिय शक्तियों का संगोपन करते थे, अर्थात् कभी अपनी शक्ति और तेज का प्रदर्शन नहीं करते थे तथा विपुल तेजोलेश्य का भी संगोपन करके रखते थे । लब्धियाँ प्राप्त करके उन्हें पचा लेते थे, उनका अजीर्ण उन्हें नहीं होता था । गरिष्ठ भोजन करने का महत्व नहीं है, महत्व है उसे पचाने का । वैसे ही शक्ति को प्राप्त करना उतना महत्वपूर्ण नहीं है किन्तु शक्ति को प्राप्त करके उसे पचा लेना बहुत महत्वपूर्ण है । इसलिए शास्त्रों में जहाँ लब्धियों का वर्णन किया गया है, वहाँ लब्धियों के प्रदर्शन व प्रयोग का निषेध भी किया गया है । प्रसिद्ध है कि आचार्य स्थूलिभद्र ने अपनी वहनों को चमत्कार दिखाने के लिए लब्धि फोड़ कर सिंह का रूप बनाया था । वहनें भाई का दर्शन करने गई थी पर भाई की जगह सिंह को बैठा देखा तो वे भयभीत हुई, घबरा गई । सोचा—अवश्य ही इस सिंह ने हमारे भाई को खा लिया है । वे घबराई हुई आचार्य भद्रबाहु के पास आई और बोली —“भगवन् ! अनर्थ हो गया । स्थूलिभद्र के आसन पर तो एक केसरी सिंह बैठा है ।” आचार्य ने ज्ञानबल से देखा तो पता चला कि सिंह और कोई नहीं, स्थूलिभद्र ने ही यह रूप बनाया है । आचार्य को बड़ा खेद हुआ—सोचा स्थूलिभद्र को विद्या सिखाई तो है, परन्तु उसे हजम नहीं हुई । इसी कारण आचार्य ने आगे ज्ञान देने से इन्कार कर दिया । इसका अर्थ है लब्धि फोड़ना एक प्रकार से शक्ति का अजीर्ण है । किन्तु कब ? जब कि वह अपना अहंकार पोषण करने के लिए हो, लोगों को जादूगर जैसा चमत्कार दिखाकर मनोरंजन करने के लिए हो ।

लब्धि फोड़ना प्रमाद है

सबसे पहली बात तो यह है कि लब्धि का प्रयोग, लब्धि फोड़ना एक प्रमाद है, प्रमादसेवना है । जितने भी लब्धि प्रयोग किये जाते हैं—सब प्रमत्त दशा में ही होते हैं । छठे गुण स्थान तक ही लब्धि प्रयोग है । सप्तम गुणस्थान वाला कभी भी लब्धि का प्रयोग नहीं करता, क्योंकि वहाँ अप्रमत्त

लब्धि-प्रयोग : निषेध और अनुमति

अनुमति कब ?

एक प्रश्न यहां और आता है कि क्या लब्धि फोड़ना सर्वथा ही निषिद्ध है ? अथवा कभी किसी परिस्थिति विशेष में अनुमत भी है ? इसका उत्तर आचार्य भद्रबाहु ने दिया है—

एगतेण निसेहो जोगेसु न देसिओ वाऽवि ।
दलिअं पप्प निसेहो, होज्ज विही वा जहा रोगे ।^१

जिन शासन में किसी भी क्रिया का, किसी भी आचरण का न तो एकांत रूप से निषेध ही है और न एकांत रूप से विधान ही है। जैसे रोग होने पर चिकित्सक रोगी की प्रकृति, वातावरण व देशकाल को देखकर उसकी चिकित्सा करता है, वैसे ही साधक परिस्थिति विशेष को देखकर कभी अनुमत कार्य का भी निषेध कर देता है, और कभी निषिद्ध कार्य भी अनुमत मान लिया जाता है।

किसी भी कार्य में मुख्यता कार्य की नहीं, भावना की होती है, परिस्थिति की होती है। यदि भावना में कुतूहल नहीं है, स्वयं के प्रभाव व यश-प्रतिष्ठा की कामना नहीं है, और उसके स्थान पर किसी जीव के प्रतिबोध की आशा हो, किसी का कल्याण हो सकता हो, किसी की रक्षा होती हो, अथवा संघ, गण आदि पर कोई संकट आया हो और वह संकट टल कर संघ की रक्षा होती हो तो ऐसी परिस्थिति में किया गया लब्धि-विस्फोट, लब्धि का प्रयोग वास्तव में कल्पप्रतिसेवना है, उसके सेवन से साधक विराधक नहीं होता। यद्यपि परम्परा में उसके लिए भी प्रायश्चित्त लेने का विधान किया गया है। प्राचीन आचार्यों ने कहा है—

रागदोषाणुगता तु दप्पिया कप्पिया तु तदभावा ।
आराधतो तु कप्पे, विराधतो होति दप्पेण ।^१

राग और द्वेष पूर्वक जो आचरण (प्रतिसेवना-निषिद्ध आचरण) किया जाता है, वह दपिका है, तदोष है, उसके सेवन से संयम की विराधना होती

देते थे । यश, प्रतिष्ठा, कीर्ति, प्रभाव जमाने की भूख को वे दल दल कहकर पुकारते थे, और स्वयं इस दल-दल से दूर थे, अपने शिष्यों को भी इस दल-दल से वचते रहने की ही शिक्षा दिया करते थे ।

भगवान महावीर के समान गौतम बुद्ध भी लब्धि-प्रयोग व चमत्कार-प्रदर्शन को साधक के लिए त्याज्य मानते थे । उनके संघ में भिक्षु मोद गल्यायन महान् लब्धिधारी ऋद्धिवली माना जाता था ।^१ वह कई बार अपने ऋद्धिवल का प्रदर्शन किया करता था, किन्तु बुद्ध बार-बार उसे ऋद्धिवल के प्रदर्शन की असारता बताते रहते ।

एक बार का प्रसंग है कि एक राजा ने एक बहुमूल्य चन्दन का रत्न जटित कटोरा ऊँचे खंभे पर टांग दिया और उसके नीचे लिख दिया—“जो कोई साधक, सिद्धयोगी इस कटोरे को बिना किसी सीढ़ी आदि के एक मात्र अपनी योगिकशक्ति से उतार लेगा मैं उसकी सारी इच्छाएँ पूर्ण करूँगा ।”

बहुत से लोग वहाँ इकट्ठे हो रहे थे तभी भिक्षु काश्यप वहाँ पहुँचा, उसने केवल उधर हाथ बढ़ाया और कटोरा उतार लिया । सभी दर्शक व पहरेदार चकित होकर भिक्षु को देखते रहे । भिक्षु कटोरा लेकर बुद्ध विहार की ओर चला गया । लोगों की भीड़ बुद्ध के पास पहुँची और उनकी तथा उनके शिष्य काश्यप के चमत्कारों की प्रशंसा करने लगी ।

बुद्ध सीधे काश्यप के पास पहुँचे, उस रत्नजटित कटोरे को लेकर उन्होंने तोड़ डाला और बोले—मैं तुम लोगों को चमत्कारों के प्रदर्शन का बार-बार निषेध करता हूँ, यदि तुम लोगों को चमत्कारों का प्रदर्शन ही इष्ट है तो सचमुच तुमने धर्म को समझा ही नहीं है । कल्याण चाहने वाला भिक्षु चमत्कार से बचकर सदाचार का अभ्यास करें ।^२

इससे पता चलता है कि आत्मसाधना के पथ में चमत्कारों व लब्धि-प्रयोगों को सभी अध्यात्मवादियों ने त्याज्य माना है ।

१ संयुक्त निकाय महावग्ग रिद्धिपाद

२ CARV'S GOSPEL OF-BUDDHA.

लब्धि-प्रयोग : निषेध और अनुमति

की भूमि मांगी। जब वैक्रिय लब्धिफोड़कर लाख योजन का रूप बनाया और दो चरण में जंबूद्वीप के ओर छोड़ को नाप कर तीसरा चरण रखने की भूमि मांगी, और आखिर दुष्ट नमुचि के अत्याचारों से धर्म शासन की रक्षा की।

यदि ऐसे प्रसंग पर उनके सामने यह अपवाद मार्ग नहीं होता, तो क्या जैन शासन की रक्षा हो सकती थी ? इसीलिए आचार्यों ने माना है कि लब्धि फोड़ना एकान्तरूप से निषिद्ध ही हो ऐसी बात नहीं है, परिस्थिति का विवेक तो उसमें होना ही चाहिए।

गौतम गणधर ने अष्टापद से उतरते समय जब पन्द्रह सौ तीन तापसों को अपने प्रति आकृष्ट हुए देखा और उनकी प्रार्थना पर उन्हें वहीं दीक्षा देकर खीर का पारणा कराने लगे तो अक्षीण महानस लब्धि के प्रभाव से एक ही क्षीर पात्र में से पन्द्रह सौ तीन तापसों को भरपेट पारणा करवा दिया।^१

उस सम्बन्ध में कहा है—

छोटा क्षीर पात्र भर पनरासैं तीन मुनि

ज्यांको पेट-भर-पाईं खूटी नांही खीर रे।

दीक्षा निज हाथ दीनी केवली बने हैं वे तो

ऐसे थे दयालु गुरु धारया जिन वीर रे।

अतिशयवन्त छवि चकित निहार होत,

कंचन समान कान्ति राजती शरीर रे।

कामधेनु मणि सुरतरु तिहुँ नाम छाजे

‘मिश्री’ लब्धि गौतम की भांजी डारे भीर रे।

तो यह भी एक विशेष परिस्थिति थी, वे जानते थे कि इसके कारण इन तापसों के मन में धर्म के प्रति दृढ़ आस्था उत्पन्न होगी। इस प्रकार के अनेक प्रसंग आगमों में व अन्य ग्रन्थों में आते हैं जिनसे यह पता चलता है कि लब्धि-प्रयोग कभी कभी परिस्थिति विशेष में किया भी जाता था और

है; किन्तु वही प्रतिसेवना, जब अपवाद काल में परिस्थिति आ जाती है, तब रागद्वेष की भावना से अलिप्त रहता हुआ साधक यदि उसका आचरण करता है तो वह निषिद्ध आचरण भी कल्पिका है, उसकी प्रतिसेवना में भी संयम की आराधना है। व्यवहारभाष्य में तो यहाँ तक कह दिया है कि सालंबसेवी समुवेइ मोक्खं^१—साधक यदि किसी विशिष्ट उद्देश्य से निषिद्ध का आचरण भी करता है तब भी वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

भावना और परिस्थिति की इसी भूमिका पर जैन धर्म का आचार महल खड़ा है। लब्धि-प्रयोग में भी हमें इसी दृष्टि से सोचना होगा कि सामान्यतः लब्धि फोड़ना निषेध है, लब्धि फोड़ने वाले को प्रायश्चित्त भी बताया है, किन्तु यदि कोई महत्वपूर्ण प्रसंग आ पड़ता है तो उस समय में साधक पीछे भी नहीं देखता, किन्तु अपने तपोबल से, संघ की, धर्म की, एवं किसी प्राणी की रक्षा के लिए लब्धि का प्रयोग भी कर लेता है। भगवान् महावीर स्वयं जब साधना काल में थे तब गौशालक की प्राणरक्षा के लिए द्रवित होकर उमें वैश्यायन तापस की तेजोलेश्या से जलते हुए को बचाया और शीतल लेश्या का प्रयोग किया।^२ यह महान करुणा का प्रसंग था, एक जीव की रक्षा का प्रसंग था और महान दयालु प्रभु महावीर ऐसे अवसर पर मौन कैसे रह सकते थे? शक्ति होते हुए भी यदि किसी की रक्षा न की जाय, किसी का उपकार न किया जाय तो क्या यह साधु धर्म है?

रक्षा बन्धन पर्व की कथा सुनने वाले जानते हैं कि जब नमुचि प्रधान की दुष्टता के कारण धर्मशासन पर संकट आ गया था, जैन धर्म पर विपत्ति की काली घटाएँ मंडराने लगी थी तब आचार्य ने लब्धिघारी मुनि विष्णु कुमार को याद किया। शिष्य को मेरु पर्वत पर भेजकर उन्हें आने का आग्रह किया। मुनि विष्णु कुमार ने उस परिस्थिति में अपना ध्यान बन्द करके संघ की रक्षा का बीड़ा उठाया, और नमुचि से सिर्फ तीन पांव रखने

१ व्यवहार भाष्य पीठिका १८४

२ भगवती सूत्र १५।



तप (मोक्षमार्ग) का

पलिमंथु : निदान

हमारा लक्ष्य है—आत्मशुद्धि ! आत्मा को पवित्र व उज्ज्वल बनाकर स्वरूप दशा को प्राप्त करना ही हमारी समस्त क्रियाओं का अंतिम लक्ष्य है । इस लक्ष्य की पूर्ति करने वाला श्रेष्ठ व उत्कृष्ट साधन है तप ! तप एक पवित्र व श्रेष्ठ क्रिया है । उसका फल अचिन्त्य और असीम है । जैसे कल्प-वृक्ष से जो चाहे वही वस्तु प्राप्त हो जाती है, चितामणि रत्न के प्रभाव से मन में सोचे हुए सब संकल्प सफल हो जाते हैं—तप का प्रभाव इनसे भी अधिक है । इसीलिए तप को सर्व संपत्तियों की 'अमरवेल' कहा है । भगवान ने बताया है—

भव-कोडी संचियं कर्मं तवत्ता निज्जटिज्जइ ।
करोडों भवों के संचित-कर्म तप से क्षीण व विलीन हो जाते हैं ।

उसके सुन्दर परिणाम के कारण उसे कभी हेय नहीं बताया गया । वास्तव में हर एक क्रिया उसके गुण-दोष रूप फल पर निर्भर करती है । सुन्दर फल लाने वाला दोष भी कभी-कभी गुण बन जाता है—

अगुणो वि य होति गुणो जो सुन्दर णिच्छओ होति ।^१

वह दोष भी गुण का कारण बनने से गुण ही मानना चाहिए जिसके परिणाम में सुन्दर फल प्राप्त होता है ।

दोष और गुण वस्तु में, नहीं कभी एकान्त !

‘मिश्री’ कड़वा नीम भी करता पित्त प्रशान्त !

गुण-दोष के परिणाम का विचार करके ही वस्तु को, किसी क्रिया को अच्छी या बुरी कही जाती है, जो नीम कड़वा होता है, जिसे चखते ही थू-थू करते हैं, वह भी पित्त ज्वर को शांत करने में, रक्तशुद्धि करने में तथा चर्म रोगों पर औषधि के रूप में प्रयोग किया जाता है, और बड़ा लाभकारी माना गया है—सर्व दोषहरो निम्बः कहा गया है ।

तो इसी प्रकार गुण-दोष के विचार पर ही लब्धि-प्रयोग का विधान और निषेध शास्त्रों में किया गया है । मूल बात है, लब्धि व शक्ति का प्रयोग अपने अहंकार आदि के पोषण के लिए निषिद्ध है, किंतु, जीवदया, संघ रक्षा व धर्म प्रभावना आदि के प्रसंगों पर वह अनुमत भी है ।

✱✱

तप (मोक्षमार्ग) का पलिमंथु : निदान

टूट जाता है, वह भी दूसरों की भांति आजादी से हाथ में नोट लेकर घूमना चाहता है। उसने पांच सौ में अपनी खेती बेच डाली।

दूसरा साथी मेहनत करता गया, फल के लिए उसे कोई अधीरता नहीं थी। मन में कोई लालसा नहीं थी कि मैं भी दूसरों की तरह आजादी से घूमूँ-फिहूँ ! वस, वह तो अपनी खेती की देखभाल में लगा रहा। समय पर फसल पकी, एक-एक बेल को सैकड़ों अंगूर लगे, ग्राहक आये, पांच हजार से बोली चढ़ी तो पच्चीस हजार में खत्म हुई। वह पच्चीस हजार के नोट लेकर घर आया। पहले ने पांच सौ कभी के खत्म कर डाले थे, जब उसने अपने साथी की पच्चीस हजार में फसल विकी सुनी तो सिर पर हाथ धर कर पछताने लगा—हाय ! यदि मैं भी पांच सौ के लालच में नहीं पड़ता, मौज-शौख के चक्कर में नहीं आता, मेहनत करता जाता तो आज मुझे अपनी फसल की कीमत पच्चीस हजार मिल जाती। खन-खन करते कलदार हाथ में आते ! फिर मन चाही मौज-शौख सब हो जाती !” हाय में रुपैया तो सारा जगत भैया !” पर अब तो पछताने और सिर पीटने के सिवाय और क्या हो सकता है ?

यही स्थिति तपस्या के बीच भोगों की कामना करने वालों की होती है। दूसरों को मौज-शौख करते देखकर साधक अपने तप को दांव पर लगाने के लिए अधीर हो जाता है कि वस, मुझे भी इस तपस्या के प्रभाव से ऐसा घर मिलना चाहिए, ऐसी पत्नी मिले, राज्य मिले, परिवार मिले, और मैं भी ऐसा आनन्द लूटूँ !

भगवान कहते हैं—“मूर्ख साधक ! तू तप करता है तो यह सब तो अपने आप मिलेगा, इनसे भी अधिक मिलेगा, किन्तु इन तुच्छ अभिलाषाओं के चक्कर में पड़कर अपनी तपस्या को बेच मत ! हीरों को कंकर के मोल मत बेच !” आमों के बगीचे को लकड़ियों के भाव बेच देने वाला मूर्ख होता है, वैसे ही अक्षय मुक्ति सुख प्रदान करने वाले तप को, संसार के तुच्छ भोग-सुखों के लिए बेच देने वाला—मूर्ख, महामूर्ख माना जाता है।

निदान क्या है ?
भोगाभिलाषा में फँसकर तपस्या को बेच देने की यह क्रिया ही है।

किंतु, कभी कभी तप करने वाला साधक कर्मनिर्जरा का उद्देश्य भूलकर भौतिक लाभ के लिए तप करने लग जाता है। उसके मन में, तप के भौतिक फल की कामना भी जागृत हो जाती है। संसार की भौतिक श्रद्धियों को देखकर, काम भोगों के सुखों की कल्पना कर वह सोचने लगता है—“मेरे तप के प्रभाव से मुझे भी ऐसा लाभ मिलना चाहिए। यदि मेरी तपस्या का कुछ फल हो, तो मैं भी अमुक प्रकार का संपत्तिशाली, यशस्वी व सुखी बनूँ।” तपस्या के साथ इस प्रकार का तुच्छ संकल्प पैदा होना ‘तप का शाल्य’ माना गया है। कांटा जिस प्रकार शरीर में चुभकर वैचेनी पैदा कर देता है, वैसे ही इस प्रकार की भोगाभिलाषा तपस्या के आत्मानंद में, एक प्रकार की वैचेनी, पीड़ा व खटक पैदा कर देती है। साथ ही तपस्या के अचित्य व असीम फल को भी तुच्छ भोगों के लिए बांध देती है।

कल्पना करिए—दो मनुष्य अंगूरों की खेती कर रहे हैं, खेती में खूब खाद और पानी दे रहे हैं, अच्छी बढ़िया जाति के पौधे लगाए हैं, समय-समय पर उसकी देखभाल भी कर रहे हैं। अब अंगूर की खेती पकने में तो समय लगता है, खेती में चट रोटी पट दाल नहीं हो सकती। फल आने में महीनों व वर्षों लग जाते हैं। तब उनमें से एक आदमी सोचता है—“मैं इतनी मेहनत कर रहा हूँ अभी तक इसका कुछ फल नहीं मिला, दूसरे लोग देखो, बिना मेहनत किये ही मजे से खाते-पीते हैं, घूमते फिरते हैं। कोई मुझे भी यदि मेरी मेहनत के बदले सिर्फ पांच सौ रुपये दे दे तो मैं यह खेती बेच डालूँ और मौज करूँ।” दूसरा साथी उसे कहता है—“भोले भाई ! पांच सौ रुपये के लिए यह इतनी मेहनत की खेती मत बेचो। पता नहीं पांच सौ की जगह पांच हजार और पचीस हजार भी मिल जाये। यह तो अंगूर की खेती है, मेहनत करते जाओ ! फल तो मिलेगा ही, फल के लिए बीच में अधीर बन कर मेहनत के मोती को कंकर के भाव मत बेचो !”

किंतु पहला साथी दूसरों को आजादी से घूमते-फिरते मौज-मजा करते देखकर अधीर हो जाता है। किसान के हाथ में तो खेती पकने पर पैसा आता है, पहले तो बस, जो आये खेती में लगाते जाओ ! पहले का धीरज

तप (भोक्षमार्ग) का पल्लिमंथु : निदान

भिलापा के वश होकर निदान करने वाले साधक की अन्तर आत्मा को कभी शान्ति नहीं मिलती, वह भीतर-ही-भीतर व्याकुल एवं वैचैन रहती है। जब अपने ही समान अपने से कम तप करने वालों को अधिक ऋद्धिशाली, प्रभावशाली व अपने ऊपर शासन करते देखता है तो वह निदान की असारता से दुःखी भी होता है, और उस चिन्ता व आर्तध्यान आदि के कारण मन वैचैन बना रहता है। निदान तीव्र कर्म बंधन का भी कारण है। सम्यक्त्व का भी घातक है। इस कारण इसे शल्य कहा है।

निदान करने वाला पछताता है

निशीथ भाष्य में निदान करके तप करने वाले एक यक्ष की कहानी आती है। चंपानगरी में अनंगसेन नामका एक स्वर्णकार रहता था। वह अत्यंत कामुक व भोगासक्त था। उसके पास धन की कमी नहीं थी। जहां कहीं भी किसी सुन्दर कन्या को देखता धन के द्वारा उसे खरीद लेता। इस प्रकार पांच सौ कन्याओं के साथ उसने विवाह किया। फिर भी भोगों में अतृप्त ही रहा।

एक बार हासा-प्रहासा नामकी दो यक्षिणियों ने अनंगसेन को देखा, उनका यक्ष उनसे पहले ही काल कर गया था, इसलिए वे विरह में भटकती हुई अनंगसेन के पास आईं। अनंगसेन को अपने रूप-लावण्य हाव-भाव के द्वारा आकृष्ट किया। अनंगसेन उनके सौन्दर्य व काम चेष्टा से उन्मत्त हो हाथ फैलाकर उनकी ओर दौड़ा। तब यक्षिणियाँ बोली—“हमें चाहते हो तो पंचशैल द्वीप में आओ।” वस इतना सा कहकर दोनों अदृश्य हो गईं।

अनंगसेन तो उनके पीछे पागल होगया। उसने घोषणा करवाई—“जो कोई व्यक्ति मुझे पंचशैल द्वीप पहुंचा देगा, उसे एक करोड़ स्वर्ण मुद्रा दूंगा। एक बुड्ढे नाई ने घोषणा स्वीकार की। उसने एक करोड़ स्वर्ण मुद्रा लेकर घर में रखी और अनंगसेन को नौका में बिठाकर पंचशैल द्वीप की ओर चला। बहुत दूर चलने के बाद नाई ने पूछा—कुछ दिखाई दे रहा है ?

अनंगसेन बोला—“बहुत दूर, जल की धारा के बीच एक मनुष्य खोपड़ी के बराबर लाल गोला दिखाई दे रहा है।”

दर्शन में 'नियाणा-निदान' के नाम से प्रसिद्ध है। आचार्य अभयदेव ने निदान की परिभाषा करते हुए बताया है—^१ 'अक्षय मोक्ष सुखों का आनन्द रूप फल वरसा देने वाली ज्ञान, तप आदि की लता, जिस इन्द्रचक्रवर्ती आदि के भोगों की अभिलाषा रूप परशु (कुल्हाड़ी) से काटी जाती है—उस भोगाभिलाषा रूप कुल्हाड़ी को निदान कहते हैं।' किसी देवता अथवा राजा आदि मनुष्य की ऋद्धि व सुखों को देखकर, या सुनकर उसकी प्राप्ति के लिए अभिलाषा करना कि मेरे ब्रह्मचर्य व तप आदि के फलस्वरूप मुझे भी ऐसी ऋद्धि व वैभव प्राप्त हो, और अपने तप अनुष्ठान को उसके लिए बढ़ कर देना निदान है।^२ निदान-शब्द का अर्थ है—निश्चय अथवा बांध देना। उच्च तप को, निम्न फल की अभिलाषा के साथ बांध लेना, महान् ध्येय को तुच्छ संकल्प-विकल्प रूप भोग प्रार्थना के लिए जोड़ देना यह होता है निदान का अर्थ। इस निदान को शल्य—अर्थात् आत्मा का कांटा कहा है।

निदान शल्य

श्रमण सूत्र में तीन प्रकार के शल्य बताये गये हैं—माया शल्य, निदान शल्य और मिथ्यादर्शन शल्य।^३ आचार्य हरिभद्र ने शल्य की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है—शल्यतेऽनेनेति शल्यम्^४—जो हमेशा सालता रहे, वह शल्य है। जिस प्रकार शरीर के किसी भाग में कांटा, कील अथवा तीर आदि तीक्ष्ण वस्तु घुस जाये तो वह समूचे शरीर को वेचन कर देती है, जब तक वह नहीं निकले भीतर-ही भीतर सालती रहती है, उसी प्रकार भोगा-

१ निदायते लूयते ज्ञानद्वाराधना लताऽऽनन्द-रसोपेत मोक्षफला, येन परशुने व देवेन्द्रादिगुणद्धि प्रार्थनाध्यवसायेन तन्निदानम्।

—स्थानांग १० वृत्ति

(ख) स्वर्ग मर्त्यादि ऋद्धि प्रार्थने

—स्थानांग, वहीं पर,

२ दिव्य-मानुष ऋद्धि संदर्शन श्रवणाभ्यां तदभिलाषाऽनुष्ठाने—

—आवश्यक ४

(ख) भोगप्रार्थनायाम्

—व्यवहार भाष्य वृत्ति

३ श्रमणसूत्र शल्य सूत्र

४ हरिभद्रावश्यक वृत्ति

तप (भोक्षमार्ग) का पलिमंथु : निदान

अनंगसेन पर तो बस यक्षिणियों का जादू चढ़ा था उसने किसी की बात नहीं मानी और उन्हीं को प्राप्त करने का निदान कर वाल तप करने लगा । वहाँ से मरकर वह पंचशैल द्वीप में विद्युन्माली यक्ष बना । वह हासा प्रहासा के साथ भोग भोगने लगा ।

इधर णाइल श्रावक भी संयम स्वीकार कर तप करता हुआ मृत्यु को प्राप्त हुआ । वह अच्युत कल्प में महान ऋद्धिशाली सामानिक देव बना ।

एक बार नन्दीश्वर द्वीप में अष्टान्हिक महोत्सव मनाया जा रहा था । इन्द्र की आज्ञा से सभी देवों को अपना-अपना नियुक्त कार्य करना था । विद्युन्माली देव को ढोल बजाने का कार्य सौंपा गया । वह ढोल बजाना नहीं चाहता था । आखिर इन्द्र के आदेश से जर्बदस्ती उसे वहाँ जाना पड़ा और ढोल बजाने लगा ।

णाइल देव इन्द्र के साथ इस महोत्सव में आया था । उसने जब विद्युन्माली देव को ढोल बजाते देखा तो पूर्व जन्म का स्नेह उमड़ आया । वह उसके पास आया । विद्युन्माली उसके तेज व प्रभाव को सहन नहीं कर सका, वह पीछे-पीछे हटने लगा । णाइल देव और पास में आ गया । तो हत-प्रभ हुआ विद्युन्माली ढोल बजाना भूल गया ।

णाइलदेव ने पूछा—तुम मुझे पहचानते हो ?
विद्युन्माली—महाराज ! मैं आपको कैसे जानूँ ! आप महान शक्र आदि कौन इन्द्र हैं ?

णाइलदेव—मैं तुम्हारा मित्र हूँ ।”

विद्युन्माली—सकुचाता हुआ बोला—“नहीं ! नहीं ! आप महान हैं ! मैं तो एक बहुत तुच्छ आतोद्यवादक हूँ ।”

णाइल देव—“मैं पूर्व जन्म की बात कह रहा हूँ, याद करो ! हम दोनों मित्र थे ।” फिर णाइल देव ने उसे पूर्व जन्म की घटना सुनाई—देखो, मैं तुम्हें कहा था निदान करके तप मत करो, लालसा रहित होकर तप न आचरण करो । तुमने नहीं माना इसलिए तुमने अपने तप को इसी भव

नापित ने कहा—यह पंचशैल द्वीप की जल धारा में स्थित वट वृक्ष है। नीका चलती हुई इस वृक्ष के नीचे से गुजरेगी। तुम अपना खाने-पीने का सामान लेकर तैयार हो जाओ ! जैसे ही हम वहाँ से गुजरें, वृक्ष की शाखा को पकड़ लेना और ऊपर चढ़ जाना। संध्या के समय पंचशैल द्वीप के बड़े-बड़े पक्षी यहाँ आयेंगे। रात भर यहाँ विश्राम कर प्रातः वापस द्वीप की ओर उड़ेंगे, तब तुम उनके पर पकड़ लेना, वे तुम्हें पंचशैल द्वीप पहुँचा देंगे।”

यक्षिणियों के मोह में फंसा अनंगसेन जान को जोखिम में डाल कर भी सब कुछ करने को तैयार हो गया। वह वृक्ष आया, अनंगसेन ने शाखा पकड़ ली, और प्रातः पक्षियों के पर पकड़कर वह पंचशैल द्वीप में पहुँच गया। यक्षिणियाँ उसकी राह देख रही थी। वहाँ पहुँचने पर उसने उनसे भोग प्रार्थना की। यक्षिणियाँ नाक मुँह सिकोड़ कर बोली—“मानव का शरीर बड़ा अशुचिमय होता है, हम इस अपवित्र देह के साथ भोग नहीं करतीं। तुम बाल तप करके निदान करो, हमारे स्वामी विद्युन्माली यक्ष के रूप में जन्म लो, तब हम तुम्हारे साथ रमण करेंगी।”

अनंगसेन एक बार हताश हो गया, पर उसने यक्षिणियों का पीछा नहीं छोड़ा। सोचा—“इस जन्म में न सही, अगले जन्म में तो जरूर इन्हें प्राप्त कहूँगा।” तभी हासा-प्रहासा ने उसे वहाँ के मादक फल खिलाये। शीतल जल पिलाया। उसे नशे जैसी नींद आने लगी। वह एक वृक्ष की छाया में सो गया। यक्षिणियों ने उसे उठाकर वापस चंपा नगरी में उसके घर पर पहुँचा दिया। कुछ देर बाद उसकी नींद खुली। अपने घर व परिवार को देख कर वह बड़बड़ाने लगा—“मेरी हासा ! प्रहासा ! कहाँ चली गईं !” “कई दिनों तक वह इसी प्रकार प्रलाप करता रहा।

अनंगसेन का एक मित्र या पाइल श्रावक ! उसने उसे समझाया—“तुम उन के चक्कर में मत फँसो ! जिनोक्त धर्म का पालन करो, इसके फलस्वरूप तुम्हें सौधर्म आदि स्वर्ग की प्राप्ति होगी, दिव्य देवकृति मिलेगी उनसे भी सुन्दर देवियाँ मिलेगी व दीर्घकालीन भोग भी प्राप्त होंगे। किन्तु तुम उन भोगों की लालसा छोड़कर धर्म का पालन करते रहो।”

तप (मोक्षमार्ग) का पलिमंयु : निदान

से भटक जाता है, वह भूल जाता है—“चलना अभी है दूर, यहाँ पर रुकना नहीं है।”

वह अपनी मोक्ष यात्रा के मार्ग को भूलकर संसार की भूल-भुलैया में उलझ जाता है और फिर निदान कर बैठता है—“कि मेरे ब्रह्मचर्य, शील, तप आदि का यही फल मिले, मैं अगले जन्म में इन भोगों को प्राप्त करूँ।”

निदान की भावना जब साधक के मन में जागृत होती है तो वह अपनी साधना से भी पतित हो जाता है। क्योंकि उस भावना के वश होकर वह एक प्रकार से मनसा-भोग भोग लेता है। संयम और साधना तो परिणामों पर ही टिकी है। मन जब संसारी हो गया, तो तन भले ही संन्यासी का रहे, उससे क्या लाभ होगा ? भावना से भोगों में आसक्त हो गया, तो तन से भले ही वह दूर रहे, किन्तु वह अपने तप से तो पतित हो ही जायेगा। फिर जब तक वह अपने इस मनसा पाप की आलोचना नहीं करेगा, धर्म में स्थिर नहीं हो सकेगा, चारित्र्य की सम्यक् आराधना कैसे कर पायेगा। दशाश्रुत स्कंध में इस सम्बन्ध में एक प्रसंग है—

श्रेणिक नृपाल पटनार चेलना के साथ

वीर जिन वन्दन को मोद घरी आयो रे।

दोनों को दीदार भव्य भाल के श्रमण कैई

महासतियों को वृन्द रूप मन चायो रे।

किया है नियाणा तव प्रभु मगधेश भणी

कह्यो मेरो समोशर्ण डाको तू डलायो रे।

भेद खोलतां ही सबै निजातम शुद्ध करी

‘मिश्री’ मुनि कहै नाथ साथ कूँ वचायो रे।

एक बार महाराज श्रेणिक रानी चेलना आदि राज परिवार के साथ भगवान महावीर की वन्दना करने के लिए जाये। राजा श्रेणिक एवं चेलना के अपूर्व सौन्दर्य, लावण्य एवं सब प्रकार के मानवीय भोगों को आनन्द के साथ भोगते हुए देखकर भगवान के श्रमणों के मन में एक संकल्प उठा—“अहो ! यह राजा श्रेणिक धन्य है ! जो रूप लावण्यवती रानी

लिए वेच डाला, मैंने शुद्ध तप किया जिस कारण इतना ऋद्धिशाली देव बना हूँ ।”

मित्र की बात सुनकर विद्युन्माली बहुत पछताने लगा । अपनी भूल पर बहुत दुःख हुआ — “पर अब पछताये होत क्या चिड़िया चुग गई खेत ।”

भाष्यकार आचार्य ने इस कथा के मर्म को स्पष्ट करते हुए बताया है, निदान तप करने वाला जब दूसरों की असीम शक्ति व समृद्धि को देखता है तो इसी प्रकार अपने कृत निदान पर पछताता है । शोक करता है । क्योंकि निदान का फल तो उतना ही होगा जितना उसने संकल्प किया था ।

तपस्या में बार-बार निदान करने से, भोगों की अभिलाषा के वश होकर अपना तप दांव पर लगाते रहने से वह तप दूषित हो जाता है, तथा उसका तेज क्षीण हो जाता है । लम्बी और कठोर तपस्या करने पर भी तपस्वी के तपस्तेज में वह बल और शक्ति नहीं रहती, कारण वह तप को बार-बार दूषित करता रहता है । इसलिए स्थानांग सूत्र में बताया गया है—जैसे बार-बार धोलने से अर्थात् वाचालता से सत्य वचन का तेज नष्ट हो जाता है, बार-बार लोभ करने से निस्पृहता का प्रभाव क्षीण हो जाता है, वैसे ही बार-बार निदान करने से तप का तेज क्षीण हो जाता है । निदान करने से तप का उत्तम फल नष्ट हो जाता है । इसलिए भगवान ने सर्वत्र निदान रहित होकर तप करने को श्रेष्ठ बताया है ।^१

निदान का हेतु : तीव्र लालसा

निदान तभी किया जाता है, जब अमुक वस्तु के प्रति साधक के मन में तीव्र राग भाव उत्पन्न होगा, गहरी आसक्ति और आकर्षण होगा । साधारण स्थिति में कोई भी साधक अपने तप को वेचना या नष्ट करना नहीं चाहता, किन्तु जब अमुक किसी वस्तु पर अथवा दृश्य देखने पर मन राग से चंचल हो उठता है, कामनाओं से प्रताड़ित होने लगता है, और बार-बार उन विषय भोगों के प्रति आसक्त होने लगता है तभी साधक अपने महान उद्देश्य

१ मोहुरिए सच्चवयणस्त पलिमंयू.....भिज्जा णिदानकरणे मोक्ख-मग्गस्त पलिमंयू । सच्चवय भगवया अणियाणया पसत्था ।

तप (मोक्षमार्ग) का पल्लिमंथु : निदान

सकोगे ! दुर्लभवोधि वनकर संसार-चक्र में परिभ्रमण करते रहोगे ।^१ इसलिए हे श्रमणो ! काम-भोगों की आसक्ति से मुक्त होकर, सब संग-अभिलाषाओं का त्याग करके अपने तप-नियम आदि व्रतों की शुद्ध आराधना करो, किये हुए निदान का प्रायश्चित्त करो, ताकि तुम अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप का दर्शन कर सको, कर्मआवरणों का क्षय कर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त अक्षय अव्यावाध सुखरूप मोक्ष को प्राप्त कर सको ।”

दशाश्रुतस्कंध के इस प्रसंग से स्पष्ट होता है कि निदान करने से आत्मा तप व संयम से किस प्रकार पतित व भ्रष्ट हो जाती है । उस भव में ही क्या, किंतु अनेक भवों तक उसे सद्धर्म का श्रवण भी मिलना कठिन हो जाता है, और वह संसारचक्र में परिभ्रमण करने लगती है । जैसे कोई कठोर प्रयत्न से प्राप्त अमृत को नदी के प्रवाह में बहा देता है, शुद्ध गाय के घी को राख के ढेर में डाल देता है, और चितामणि रत्न को समुद्र में फेंक देता है, वैसी ही बल्कि उससे भी अधिक मूर्खतापूर्ण बात है, निदान करके तप के फल को खत्म कर डालना ।

क्या साधना के लिए निदान विहित है ? एक प्रश्न यहां उपस्थित होता है कि निदान का निषेध इसलिए किया गया है कि उसके मूल में तीव्र भोगाभिलाषा रहती है । यदि कोई भोगा-भिलाषा न रखकर अन्य वस्तुओं के लिए निदान करे तो क्या वह भी निदनीय है ? जैसे किसी ने संकल्प किया—‘मैं अगले जन्म में तीर्थंकर बनूँ, अथवा चरम शरीरी बनूँ !’ तो क्या यह संकल्प भी नहीं करना चाहिए ? इसमें क्या आपत्ति है ?

जैनधर्म इस प्रश्न को बहुत ही गहराई से पकड़ता है और स्पष्ट विश्लेषण करके कहता है कि तीर्थंकरत्व की अभिलाषा भी एक प्रकार की अभिलाषा

१ एवं खलु समणाउत्तो ! तस्स जियाणस्स इमेया ह्वे पावकम्म-फलविवागे जं णो संचाएइ केवलपण्णत्तं घम्मं पडिमुणित्तए ।

—दशाश्रुतस्कंध १०

चेलना के साथ आनन्द क्रीड़ा करता हुआ अपने जीवन को सफल बना रहा है। इसने सचमुच ही मानव जीवन का आनन्द लिया है। यदि हमारे तप, विनय, ब्रह्मचर्य आदि का भी कुछ सुफल हो तो हम भी अगले जन्म में इसी प्रकार जीवन का आनन्द लेवें।”

इधर रानी चेलना को देखकर श्रमणियों के मन भी चंचल हो उठे। वे भी सोचने लगीं—“यह रानी चेलना धन्य है ! इसका जीवन सफल है। इसे कितना सौन्दर्य व लावण्य मिला है, राजा श्रेणिक का प्यार मिला है और कितने आनन्द के साथ यह अपना मानव जीवन सफल बना रही है। यदि हमारे तप, नियम, ब्रह्मचर्य, आदि का कुछ फल हो तो हम भी अगले जन्म में इसी प्रकार के काम-भोग भोग कर जीवन का आनन्द लेवें।”

इन विचारों का प्रवाह ऐसा उमड़ा कि अनेक श्रमण एवं श्रमणी एक ही विचारधारा में बह गये। उनके मन चंचल हो उठे और वे ऐसा संकल्प कर बैठे। सर्वज्ञ प्रभु महावीर ने अपने ही सामने जब अपने शिष्य परिवार को यों इतने दीर्घकालीन तप-नियम व्रतों की बलि देते देखा और तुच्छ भोगाभिलाषा के कीचड़ में फंसते देखा तो प्रभु ने तुरंत संबोधित किया। श्रमण वृन्द को जागृत किया और कहा—“हे श्रमणी ! राजा श्रेणिक और चेलना के युगल को देखकर तुम लोगों ने ऐसा संकल्प (निदान) किया है ?”

सभी ने नीचे मस्तक झुकाकर स्वीकृति की—“हां ! प्रभु ! ऐसा संकल्प हमारे मन में जगा है।”

प्रभु ने श्रमण-श्रमणी वृन्द को उद्बोधन देते हुए कहा—“आयुष्मान् श्रमणी ! जानते हो इस प्रकार के निदान का कितना भयंकर फल होता है ? तुम्हारे दीर्घकाल तक आचरण किये हुए तप, नियम, ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का जो महान फल होने वाला था, वह अब बलि तुच्छ फल रह गया है। महासमुद्र सूखकर छोटा सा गड्ढा रह गया है। तुमने अपना सर्वस्व खो दिया। इस निदान के कारण तुम अगले जन्म में संकल्पित काम भोग तो प्राप्त कर सकते हो, लेकिन अपने धर्म से, सम्यक्त्व से भ्रष्ट हो जाओगे, और लाख प्रयत्न करने पर भी केवली प्ररूपित धर्म का श्रवण भी नहीं कर

तप (मोक्षमार्ग) का पलियुः निदान

जो रयणमण्येयं विक्किज्जप्पेण तत्थ किं साहू ?
मूल्यवान मणि को बेचकर कोई कांच का टुकड़ा चाहे तो क्या यह समझदारी है ? ऊपर से नीचे गिरने की भावना रखना क्या उचित है ? स्पष्ट उत्तर है कि नहीं !

जैन धर्म में पुण्य की स्पृहा भी त्याज्य बताई है, और पाप की भी ! सुख और दुःख दोनों की ही इच्छा रखना खराब है । कारण सुख भोग से राग की उत्पत्ति होती है, दुःख भोग से द्वेष की । योगदर्शन में बताया है सुख से भी मन में क्लेशवृत्ति उत्पन्न होती है, पर वह क्लेश भीठा लंगता है, अतः उसे राग कहा है, और दुःख जन्य क्लेशवृत्ति बुरी लगती है अतः वह द्वेष है ।^२ इसीलिए सुख-दुःख के संकल्प से मुक्त होकर निष्कामभाव के साथ जो धर्म का, तप का आचरण करता है, वही शांति व निर्वाण को प्राप्त होता है । गीता में कहा है—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्पृहः ।

निर्ममो निरहंकारोः स शांतिमधिगच्छति ।^३

जो सब प्रकार की कामनाओं को छोड़कर बिल्कुल निस्पृहभाव के साथ तप का आचरण करता है, वह ममता से मुक्त हो जाता है, अहंकार के बंधन तोड़कर शांति को प्राप्त कर लेता है ।

गौतम बुद्ध ने भी वितृष्णा को ही परम मोक्ष बताते हुए कहा है—
कथं कथा च यो तिण्णो विमोक्खो तस्स नापरो ।^४

जो सुख-दुःख की विचिकित्सा से, कामना और तृष्णा से पार पहुँच गया है, उसके लिए अन्य मोक्ष क्या हो सकता है !

हां तो, निदान का उपर्युक्त विवेचन इसी दृष्टि से किया गया है कि साधक अपने तप में न भौतिक सुख की कामना करें, और न भौतिक दुःख

१ पंचाशक विवरण २६८

२ सुखानुशायी रागः । दुःखानुशायी द्वेषः । —योगदर्शन २।७-८

३ गीता. २।७१

४ पटिसम्भदान्तो—२।६।५८

ही है, कामना है, यशःस्पृहा है। क्योंकि जो साधक तीर्थंकर होने की इच्छा करता है वह तीर्थंकरों के देवकृत अतिशयों से, उनके छत्र, चामर भामण्डल आदि वैभव से तथा लोक में उनकी यशः प्रतिष्ठा एवं कीर्ति सुनने से प्रभावित होकर उस पद की अभिलाषा करता है अतः आखिर है तो यह भी एक प्रकार की कामना, पूजा-सत्कार की स्पृहा। इस कारण साधक को इस पद की भी कामना नहीं करनी चाहिए। यदि चाहना हो तो मोक्षगमन की चाहना करे, केवलज्ञान, केवलदर्शन की अभिलाषा रखे, किंतु तीर्थंकर पद की अभिलाषा न करें। क्योंकि पदवी की अभिलाषा रखना ही त्याज्य है।^१ इसी प्रकार चरम शरीर होने की भी अभिलाषा न करें, क्योंकि उसमें भी पुनर्जन्म की अभिलाषा छिपी है।

एक दूसरा प्रश्न आचार्य ने उपस्थित किया है कि ठीक है, कोई भोगों की, यश-प्रतिष्ठा की, पद की, एवं पुनर्जन्म की कामना न करें किंतु यदि ऐसी कामना करे कि—“मैं अगले जन्म में आसानी से मुनि बन सकूँ, संसार का त्याग कर सकूँ, किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो, अतः किसी दरिद्रकुल में उत्पन्न होऊँ, ताकि सहजतया भोग-त्याग कर दीक्षा ले सकूँ” यदि ऐसा निदान करे तो क्या आपत्ति है ?

आचार्य ने प्रश्न का उत्तर स्वयं ही देते हुए कहा है—इस प्रकार की कामना भी साधक को नहीं करना चाहिए। क्योंकि जैसी सुख की कामना हैं, वैसी ही दुःख की भी कामना है। वैभव और दरिद्रता दोनों की अभिलाषा ही त्याज्य है। सोने की वेड़ी न चाहकर लोहे की वेड़ी चाहना भी तो मूर्खता ही है—

१ इहलोक पर-निमित्तं अवि तित्यकरत्त चरिम देहत्तं ।

सव्वत्थेसु भगवता अणिदानत्तं पसत्थं तु ।

—पंचाशक विवरण गा. २५८

यत्तस्तीर्थंकर सत्कस्यामरवरनिमित्त - समवसरण कनक-कमल प्रमुख विभवस्य दर्शनात् श्रवणाद् वा संजाततदभिलाषः, कोपि विकल्पे करोति भव-भ्रमणतोऽप्यहं तीर्थंकरो भूयासमिति । —पंचाशक विवरण टीका

ज्ञान-युक्त तप का फल

जैनधर्म में तप को एक साधना माना गया है। साधना किसलिये की जाती है ? साध्य को प्राप्त करने के लिए ! साध्य क्या है ? साध्य है मुक्ति ! मुक्ति क्या है ? आत्मा का निज स्वरूप में स्थिर होना—स्वरूपावस्थानं मुक्तिः—आत्मा का अपने स्वरूप में, अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य आदि गुणों के विकास की पूर्ण स्थिति में पहुँच जाना ही मुक्ति है। अतः यह स्पष्ट हुआ कि मुक्ति रूप साध्य को प्राप्त करने की साधना है तप !

कुछ साधक परमात्म-दर्शन की बात करते हैं। भगवत् स्वरूप की प्राप्ति अथवा भगवत्स्वरूप के दर्शन की तीव्र अभिलाषा लेकर साधना करते हैं। इस विषय में मैं कहता हूँ, भाई ! परमात्म-दर्शन करने से पहले आत्म-दर्शन तो करो ! जो आत्मा का दर्शन कर लेता है वही परमात्मा का दर्शन कर सकता है। सच बात तो यह है कि आत्मा ही परमात्मा के रूप को प्राप्त कर लेता है। किंतु कब ? जब वह आत्मा के सही रूप का ज्ञान कर लेता है।

की। उसके सामने, तो बस एक ही संकल्प रहे कि मैं अपनी आत्मा को विशुद्ध व उज्ज्वल बनाने के लिए तप करूँ। तपःकर्म में इस प्रकार की निष्कामता जिसे जैनधर्म में अनिदानता कहा है—इसे ही प्रभु ने श्रेष्ठ बताया है। साधक हमेशा, इसी वाक्य को याद रखकर तपः साधना करता रहे—

सन्वत्थ भगवथा अनियाणया पसत्था^१

भगवान ने साधक के लिए निदान रहित तपः साधना ही प्रशस्त बताई है।

★★

न-युक्त तप का फल

विज्ञान जिसे होता है, वही आत्मा का दर्शन कर सकता है। आत्मा का दर्शन करने वाला तपः साधना के द्वारा आत्मा के विभावों को, जड़ आवरणों व बंधनों को तोड़कर सर्वथा मुक्त हो जाता है। आचारांग सूत्र में कहा है—

एगमप्पाणं संपेहाए धुणे कम्म सरीरगं ।^१

आत्मा को शरीर से पृथक् समझकर कर्म शरीर को धुन डालो ! कर्मों को धुन दिया तो आत्मा अपने स्वरूप में स्वतः प्रकट हो जायेगा। शरीर और आत्मा का यह भेद समझ पाना ही आत्म-विज्ञान है, आत्म-विज्ञानी में अपने साध्य का विवेक होता है। वह साधना करता है तो किसी भीतिक अभिलाषा से नहीं, अथवा अंधों के जैसे भी नहीं कि “चलते चलो, कहीं न कहीं तो पहुंचेंगे ही ! साधना करते जाओ ! शरीर को कष्ट देते जाओ कुछ न कुछ फल तो मिलेगा ही !” आत्मद्रष्टा साधक इतने अंधेरे में नहीं चलता। वह अपने मार्ग को स्पष्ट देखकर ही आगे बढ़ता है। उसके सामने लक्ष्य स्थिर रहता है, दिशा स्पष्ट रहती है कि ‘मुझे तो अपनी आत्मा को उज्ज्वल बनाना है, कर्म शरीर को, अर्थात् कर्मों के आवरणों को नष्ट कर परम शुद्ध दशा को प्राप्त करना है।’

साधना के क्षेत्र में उक्त दोनों प्रकार के साधक आते हैं। जो साधक आत्म-ज्ञान के अभाव में, मोक्ष प्राप्ति के लक्ष्य से रहित साधना करते हैं, उनका तप ‘अज्ञान तप’ कहलाता है। वे तप तो करते हैं, देह को भयंकर कष्ट भी देते हैं, किन्तु उस देह कष्ट में अद्रिशा, करुणा, अनासक्ति और आत्म-दर्शन का विवेक नहीं रहता। उदाहरण स्वरूप जैसे एक साधक ‘पंचाग्नि तप’ कर रहा है, उसके चारों ओर अग्नि की ज्वालाएं घ घ घ रही हैं, ऊपर सूर्य की प्रचंड किरणें आग बरसा रही हैं, इस साधना में देह को कष्ट तो अवश्य होता है, किन्तु साथ में अग्नि की ज्वालाओं से अनेक जीवों की हिंसा भी होती रहती है। कभी-कभी उन ज्वालाओं में बड़े-बड़े जीव भी भस्म हो जाते हैं। जैसे भगवान् पार्श्वनाथ ने कमठ तापस की धूनी में

साधना का मूल : विवेक

आत्मा का सही रूप पहचानना ही साधना का विवेक है। विवेक के बिना साधना चल नहीं सकती, चलती है तो सफल नहीं हो सकती। जैसे अंधा आदमी अपने मार्ग पर अकेला ठीक रूप से नहीं चल सकता। कभी चलता-चलता लड़खड़ा जाता है, कहीं ठोकर खाजाता है, और गिरता पड़ता भी है, कहीं का कहीं पहुँच जाता है। इसीप्रकार विवेक ज्ञान के बिना साधना करनेवाला जीवन में अनेक बार गिरता है, पड़ता है, भटक जाता है और सुदीर्घ काल तक चलता हुआ भी अपने सही लक्ष्य पर नहीं पहुँच पाता। अपने साध्य को प्राप्त नहीं कर सकता।

साधना में विवेक की अनिवार्यता बताते हुए आचार्यों ने कहा है—
विवेगमूलो धम्मो—धर्म का मूल विवेक है। इससे भी आगे कहा है—
विवेगो मोक्खो^१—विवेक ही मोक्ष है। इसका भाव है कि—साधना का मूल ज्ञान है। प्रश्न होता है—ज्ञान किसका ? उत्तर है अपने आपका ! हमारी समस्त साधना का, तप-संयम रूप आचार का अधिष्ठाता है—आत्मा !^२
आत्मा ही तप का आचरण करता है, साधना व संयम के प्रथम पर चलता है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम साधना के अधिष्ठाता का ज्ञान प्राप्त करें। तप के संचालक का दर्शन करें। आत्मज्ञान का अर्थ है हम अपने अन्तर-चैतन्य का अनुभव करें। आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है—आत्मज्ञान कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? उत्तर में कहा है—आत्म-प्रज्ञा द्वारा अर्थात् जड़ और चेतन के भेदविज्ञान द्वारा ही आत्मा का ज्ञान, अनन्तचैतन्य का अनुभव हो सकता है। यह शरीर चेतन नहीं है, यह तो चेतन का क्षणिक आश्रय है। आज मिला है, कल छोड़ना है। शरीर भी पुद्गल है, पुद्गल जड़ है, भौतिक वैभव, सुख-साधन सब जड़ है, वे सब विभाव है, विकृति है, नश्वर हैं। आत्मा स्व-भाव है, चैतन्य है, शाश्वत है। इस प्रकार का भेद-

१ आचारांग चूणि १।७।१

२ जीवाहारो भण्णइ आयारो

—दशवेकालिक नियुक्ति २६२

३ कह सो धिप्पइ अप्पा ? पण्णाए सोउ धिप्पए अप्पा ।—समयसार २८६

भान-युक्त तप का फल

जाता है। इसी तरह मुक्ति के लक्ष्य से शून्य तप को भी 'वाल तप' कहा जाता है। जैन सूत्रों में प्रायः 'अज्ञान' के अर्थ में 'वाल' शब्द का प्रयोग हुआ है। सूत्रकृतांग में स्थान-स्थान पर 'वाल' शब्द का अज्ञानी और मूर्ख के अर्थ में प्रयोग किया गया है—जैसे

णात्तीणं सरति वाले^१

वाले पापेहि मिज्जती^२

वालजणो पगवमई^३

स्थानांग ४ में भी तीन प्रकार के मरण बताये हैं—वालमरण, पंडित-मरण, वाल-मंडित मरण। यहाँ भी 'वाल' शब्द 'अज्ञानी' का ही द्योतक है। भगवती सूत्र^४ में ६० हजार वर्ष तक कठोर तप करने वाले तामली तापस के लिए भी 'वालतवस्सी' शब्द का ही प्रयोग किया गया है। क्योंकि वह भी सम्यक् ज्ञान के बिना ही तप कर रहा था। उत्तराध्ययन सूत्र में भी नमिराज ने ऐसे अज्ञान तपस्वियों को वाला^५ कह कर पुकारा है। इन सब प्रकरणों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्यक्ज्ञान के बिना जो तप किया जाता है, वह चाहे कितना ही कठोर और दुर्घर्ष हो, वह 'वाल तप' है, फल की दृष्टि से वह प्रायः 'खोदा पहाड़ निकाली चुहिया' के जैसा ही कार्य है।

वाल-तापसों के विभिन्न रूप

भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर के समय में इस प्रकार के वाल तप का बोल-बाला था। भगवान् पार्श्वनाथ जब गृहस्थ जीवन में थे। तब इस प्रकार के विवेक हीन वाल तपस्वियों का जनता पर अत्यधिक प्रभाव था। कमठ तापस जो वाराणसी के बाहर ही कठोर वालतप कर

१ सूत्र कृतांग १।३।१।१६

२ सूत्र० १।२।२।२१

३ सूत्र० १।१।१।४

४ स्थानांग सूत्र स्थान ३

५ भगवती सूत्र शतक ३। उद्देशक १

६ उत्तराध्ययन सूत्र ६।४४

जलते हुए नाग को देखा और बचाया था। कुछ तपस्वी इन्द्रासन प्राप्त करने की लालसा से, कुछ लब्धियां प्राप्त करने की अभिलाषा से और कुछ सम्यक् ज्ञान के अभाव में बिना किसी कर्मनिर्जरा की भावना के यों ही तप करते रहते हैं। इस तप में सम्यक्ज्ञान का अभाव होने से कष्ट तो भले ही अधिक हो, किन्तु उसका फल बहुत ही कम होता है। अज्ञान तप से कर्म निर्जरा बहुत कम होती है। जैसे पत्थर ढोने वाला मजदूर सुबह से शाम तक दम तोड़ काम करता है, फिर भी मजदूरी क्या मिलती है? एक-दो रुपये! और हीरे का व्यापार करने वाला तोला भर सामान लिये भी लाखों का वारा-न्यारा कर लेता है, वैसे ही सम्यग्ज्ञान पूर्वक तप करने वाला बहुत अल्प श्रम में अत्यधिक कर्मनिर्जरा रूप लाभ कमा लेता है। सम्यक् ज्ञानपूर्वक और उसके अभाव में तप करने वालों की तुलना करते हुए आचार्य ने बताया है—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसय-सहस्स कोडीहि ।

तं णाणी तिहि गुत्तो, खवेदि उस्सासमेत्तेण ।'

अज्ञानी साधक लाखों करोड़ों जन्मों तक तप करके जितने कर्म खपाता है, सम्यक् ज्ञानी साधक, मन, वचन और काया को संयत रखकर सांस मात्र में ही उतने कर्म खपा देता है।

अज्ञानी का एक और करोड़ों जन्मों का तप, तथा दूसरी ओर सम्यक् ज्ञानी का सांस मात्र का तप, कितना महान् अंतर है ?

बाल तप क्या है ?

जिस तप में सम्यक् ज्ञान का अभाव होता है, मुक्ति की दृष्टि से उस तप का कोई मूल्य नहीं है। इसी कारण उस तप को 'बाल तप' कहा जाता है। जैसे बालक की क्रियाओं में, चेष्टाओं में कोई लक्ष्य नहीं होता, कोई विनिष्ट ध्येय नहीं होता, वे प्रायः कुतूहलप्रधान या उद्देश्य शून्य-सी होती हैं। इसी कारण किसी व्ययं चेष्टा को, या लक्ष्यहीन प्रयत्न को 'बालचेष्टा' कहा

ज्ञान-युक्त तप का फल

पार्श्वनाथ ने इस अज्ञान तप के विरोध में बहुत बड़ी श्रान्ति की थी, लोगों को विवेक पूर्वक तप करने का उपदेश दिया था। आज भी जैनसूत्रों में आये वर्णनों से पता चलता है, गांव-गांव और जंगल उपवनों में ऐसे हजारों लाखों बाल तपस्वी भरे थे। कोई कड़कड़ाती सर्दी में नासाग्र तक जल में खड़ा रहकर रात बिताता था, कोई भुजायें ऊपर उठाकर चिलचिलाती धूप में सूर्य मण्डल के सामने खड़ा आतापना लेता था। कोई वृक्ष की शाखा से पांवों को बांधकर ओंघा लटक जाता था, कोई जीते जी छाती तक भूमि में गड़कर पड़ा रहता था। कोई सिर्फ खलिहानों में घान साफ करने के बाद बचे खुचे दाने बीनकर ही पेट भरते थे^१ तो कोई पानी पर तैरती सेवाल (काई) खाकर ही रहते थे।^२ औपपातिक सूत्र में ४२ प्रकार के वानप्रस्थ तापसों की चर्चा है जो विविध प्रकार के क्रियाकांडों द्वारा तप करते थे, शरीर को कष्ट देते थे। बहुत से मगर मच्छ की तरह रात-दिन जल में पड़े रहते थे, तो बहुत से सांप की तरह सिर्फ वायु भक्षण कर के ही जीते थे।^३ इस प्रकार सैकड़ों हजारों प्रकार से साधक अपने शरीर को कष्ट देते थे, अज्ञान तप के द्वारा जनता को प्रभावित करते थे।

बाल-तप की असारता

भगवान पार्श्वनाथ के प्रयत्नों से अज्ञान तप का प्रवाह कुछ कम जरूर हुआ, किन्तु फिर भी पूरे भारतवर्ष में इसका बहुत प्रचार था। भगवान महावीर स्वयं कठोर तपोयोगी थे, किन्तु वे इस प्रकार के देहदण्ड को वित्कुल निरर्थक मानते थे। तप के साथ ज्ञान और विवेक होना बहुत ही

१ व्यवहार भाष्य १०।३३-२५।

२ वैशेषिक दर्शन के प्रणेता कणाद ऋषि भी ऐसा ही व्रत तप करते थे।
३ सेवालभक्तियों—औपपातिक सूत्र तथा बौद्धग्रन्थ ललितविस्तर पृ० २४८

३ जलवासिणो, अम्बुभक्षिणो...वायुभक्षिणो। —औपपातिक सूत्र
(ख) रामायण (३।११।१२) में मंडर्कणों नामक एक तापस का वर्णन आता है, जो केवल वायु भक्षण करके जीवित रहता था।

रहा था, पंचाग्नि तप में शरीर को झोंक रहा था उसकी तत्कालीन जनता पर गहरी धाक थी। वह जब वाराणसी में आया तो नगर की जनता हाथों में भेंट पूजा के थाल सजाकर उसके दर्शनों के लिए उमड़ पड़ी थी। हजारों लोगों को एक ही दिशा में जाते देखकर पार्श्वकुमार ने अपने सेवक से पूछा तो पता चला कि एक महान तपस्वी नगरों में आया है, लोग उसके दर्शन करने जा रहे हैं। पार्श्वकुमार भी उस तपस्वी को देखने के लिए घोड़े पर चढ़कर बाहर निकले। किन्तु जब उसे, अपने चारों ओर बड़े-बड़े लकड़ जलाकर बीच में बैठे हुए देखा तो वे स्तम्भित रह गये। वे सोचने लग गये—यह कोई तप है? इतनी अग्नि हिंसा! इतना पाखण्ड! इतना प्रदर्शन! एक तरफ तो यह तपस्वी होने का दंभ कर रहा है, और दूसरी ओर इसकी घघकती अग्नि ज्वालाओं में नाग जैसे पंचेन्द्रिय प्राणी जल रहे हैं! प्रभु पार्श्व का हृदय करुणा से द्रवित हो गया। वे तपस्वी के पास आये। उसे यह अज्ञान तप करने से रोकते हुए बताया—‘तुम्हारे विवेकहीन आचरण से कितने जीवों की घात हो रही है पता है तुम्हें? इतना कष्ट! भूख, प्यास गर्मी सहन करके भी तुम उल्टा कर्म बन्धन करते जा रहे हो!’

कमठ तापस उल्टा पार्श्वकुमार पर गुरािया “राजकुमार! तुम्हें क्या पता धर्म क्या होता है? तप क्या होता है?”

पार्श्वकुमार ने शान्ति से तापस को समझाया किन्तु जब वह नहीं समझा तो अपने सेवकों को आदेश दिया—“तपस्वी की धूनी में जो लकड़ पड़े हैं उनमें एक नाग जल रहा है, उसे सावधानी से बचाओ!”

सेवकों ने लकड़ बाहर निकाले, तो उसमें से एक विशाल नाग तड़पता हुआ निकला। सांप की चमड़ी बहुत कोमल होती है, वह तेज धूप से भी जल जाता है, वहां तो आग की लपटों के बीच पड़ा था, विचारा मरणासन्न हो गया था, प्रभु ने नवकार मंत्र का स्मरण कराकर उसका उद्धार किया।

इस घटना से पता चलता है कि उस युग में अज्ञान तप का कितना जोर था और लोगों के मन पर उसका कितना प्रभाव था! भगवान्

न-युक्त तप का फल

देह को तपाना नहीं, देह के साथ मन को तपाना भी आवश्यक है। अन्तर
शुद्धि के बिना केवल शरीर को दण्ड देना मान्य नहीं है। इसलिए यहाँ
शरीर को कृश करने की जगह आत्मा को (कर्म दलों को) कपायों को कृश
करने की बात कही गई है—

फर्सेहि अप्पाणं जरेहि अप्पाणं^१

आत्मा को, कपायों को कृश करो, उन्हें जीर्ण करो। सिर्फ तन को
जीर्ण करने से क्या लाभ है यदि कपाय जीर्ण न हुई ?

एक कथा आती है कि एक आचार्य का शिष्य बड़ा उग्र तपस्वी था।
साथ ही उसका स्वभाव भी बड़ा उग्र था। कपाय भी प्रबल थी। आचार्य ने
उसे कपाय को क्षीण करने का उपदेश दिया। शिष्य ने आचार्य के उपदेश से
लंबी तपस्या प्रारंभ करदी। एक मासखमण का तप कर एक दिन पारणा
लाने के लिए आचार्य की आज्ञा मांगने आया। आचार्य ने शिष्य को संबोधित
कर कहा—“पतली पाड़ !” शिष्य ने समझा—आचार्य शरीर को और पतला-
दुबला करने के लिए कह रहे हैं। उसने पारणे का विचार त्याग दिया और
बोला—गुरुदेव ! दूसरा मासखमण पचखा दीजिए ! गुरु ने पचखा दिया। फिर
दूसरा महीना पूरा हुआ ! पुनः पारणा लाने के लिए आज्ञा लेने आया तो
आचार्य ने फिर वही बात कही, ‘पतली पाड़ !’ शिष्य ने फिर तीसरा मास
खमण पचख लिया, और उसी प्रकार एक महीने बाद चौथा मासखमण भी
पचख लिया।

चार महीने की तपस्या से शिष्य का शरीर एक दम क्षीण हो गया था।
हाथ-पांव की अंगुलियां सूखी फली की जैसी हो गई। चौमासी तप का
पारणा लाने की आज्ञा लेने शिष्य पहुंचा तो आचार्य ने पुनः वही बात कही,
“वत्स ! पतली पाड़ !” वत्स अब तो तपस्वी का पारा चढ़ गया। वह बोला-
पतली करते करते देह को इतनी तो पतली कर डाली हूँ, (और अपनी
अंगुली तोड़कर आचार्य की ओर फेंक डाली) अब क्या मुझे मारना ही चाहते
हो तो संयारा पचखा दो !”

आचार्य ने शांति के साथ कहा—वत्स ! मैंने इस देह को पतली करने

आवश्यक मानते थे । अज्ञान तप के विरोध में उन्होंने स्थान-स्थान पर प्रवचन भी दिये, उसकी असारता भी लोगों को समझाई । इस वाल तप की तुच्छता बताते हुए कहा है—

मासे-मासे उ जो वाला कुसग्गेण तु भुंजए ।

न सो सुयक्खायधम्मस्स कलं अग्घेइ सोलसि ।^१

—जो अज्ञानी साधक एक-एक मास का कठोर उपवास करता है और पारणे में सिर्फ घास की नोंक पर टिके उतना सा भोजन लेता है—इतना कठोर तप करने पर भी वह श्रेष्ठ धर्म की सोलहवीं कला की समानता भी नहीं कर सकता । क्योंकि वह देह को दण्ड तो दे रहा है, किन्तु उसके घट में अज्ञान भरा है, माया शल्य (दंभ) भरा है । और जब तक अज्ञान का, माया का शल्य मन में भरा है तब तक—

जइ वि य णिगणे फिसेचरे जइ वि य भुंजे मासमंतसो ।

जे इह मायाइ मिज्जइ आगन्ता गम्भाय ऽणंतसो ।^२

भगवान् महावीर ने इस प्रकार अज्ञान तप की कठोर आलोचना ही नहीं की, किन्तु उसे स्पष्ट रूप से 'वाल तप' कहकर व्यर्थ का देहदण्ड बताया ।

केवल शरीर को कष्ट क्यों ?

यह बात नहीं है कि जैनधर्म में कठोर तप का महत्व नहीं माना है । तप का महत्व तो बहुत ही अधिक है किन्तु अज्ञान तप का नहीं, ज्ञानपूर्वक तप का महत्व है । भगवान् ऋषभदेव एक वर्ष तक निरन्तर कठोर तप करते रहे । भगवान् महावीर ने अपने १२॥ वर्ष के साधना काल में इतना उग्र तप किया था कि उसे सुनते ही रोमांच हो जाता है । घन्ना अणगार जैसे अनेक उग्र तपस्वी भिक्षु-भिक्षुणियां उनके संघ में थे । यह सब घटनाएं बताती हैं कि जैन परम्परा में तप का महत्व कितना है । इसीलिए यहां—
देह दुषखं महाफलं—देह को कष्ट देना महान फलप्रद माना है । किन्तु सिर्फ

१ उत्तराध्ययन सूत्र १।४४

२ सूत्रकृतांग १।२।१।६

ज्ञान-युक्त तप का फल

कसिके कमर तप, भिक्षु-प्रतिमा को धारी
ब्रह्मसुर की रीस सारी ध्यान तें गमारली ।

मृदुल पट्टी के पेच कसूँवल रंग वारी
आग हू की पाल धन्य शीस पर धारली ।

घोर पाप कर्म करने वाले अर्जुनमाली ज्ञानपूर्वक तप करते हुए
सिर्फ छह मास में ही केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो गये !

आचार्यों ने बताया है, बाल तप चाहे जितना कठोर, दीर्घकालीन और
निष्काम भाव से किया जाय उसमें मुक्ति हो ही नहीं सकती—

न हु बाल तवेण मुषधु त्ति^१

हमने पूर्व में ही बताया है कि साधक के सामने तप साध्य नहीं,
साधना है, साध्य है मोक्ष ! जिस साधना से साध्य की प्राप्ति न हो वह
साधना वास्तव में साधना नहीं, विराधना ही है । जिस तप के करने से
मोक्ष की प्राप्ति न होती हो, उस तप से लाभ क्या ? स्वर्ग, भौतिक वैभव,
सुख समृद्धि भले ही मिल जाय, किंतु इनमें तो आत्मा का हित होने वाला
नहीं है । ये तो पुनः कर्म बंधन के कारण होंगे और पुनः पतन होगा । ज्ञानी
साधक यदि भरकर स्वर्ग में भी जायेगा तब भी वह सुखों में आसक्त नहीं
होगा । आत्म ज्ञानी तपस्वी लब्धि प्राप्त करके, समृद्धिशाली बन करके भी
उसका दुरुपयोग नहीं करेगा, इस कारण वह सुख भोग कर भी पुनः तीव्र
कर्म बंधन नहीं करेगा । इस कारण तपःसाधना के फल में हमें यह विचार
करना है कि तप चाहे अल्प ही क्यों न हो, पर जो हो, वह विवेक पूर्वक हो,
अन्तःज्ञान से किया जाय । वही तप मोक्ष का साधन बनेगा । अन्यथा तप,
ताप बन जायेगा, केवल देह दंड माय रहेगा, इसलिए सर्व प्रथम ज्ञान पूर्वक
तप करने की साधना जीवन में आनी चाहिए । यही तपोविवेक है ।

के लिए नहीं, किन्तु इस तीव्र कषाय को पतली पाड़ने के लिए ही तो कहा था। देह तो तेरी सूख रही है, मुझे भी दीखता है, किन्तु कषाय तो आज भी हरी-भरी हो रही है। यह कषाय पतली नहीं हुई तो देह पतली होने से क्या होगा ?

तो देह दुःखं महाफलं—का यह अर्थ तो नहीं कि देह को कष्ट देते जाओ, अन्तःकरण की कोई परवाह ही नहीं। इसी बात पर तो कबीर ने कहा है—

केसन कहा विगारियो जो मूँडे हर बार।

मनवा क्यों नहीं मूँडता जामें विषय विकार।

तब तक सिर मूँडने से कोई लाभ नहीं है, जब तक कि मन को नहीं मूँडा जाये। मन को मूँडने का अर्थ है—मन के विषय विकारों का परि-मार्जन ! अन्तःकरण की शुद्धि, और यह तभी होगी जब मन में ज्ञान का उदय होगा, विवेक जगेगा। यदि विवेक जग गया तो फिर उग्र तपः कर्म की भी कोई खास शर्त नहीं रहती। ज्ञानपूर्वक अल्पकालीन और अल्प तप भी महान फल देने वाला है।

सज्ञान तप का महाफल

पूर्व प्रकरण में तामली तापस का उदाहरण दिया गया है जिसने ६० हजार वर्ष तक कठोर तप किया और उस तप का फल बहुत ही अल्प हुआ। इसी कारण वह आयुष्य पूर्ण कर सिर्फ इशानेन्द्र ही बना। जबकि ज्ञान पूर्वक तप करने वाले कुछ समय में ही समस्त कर्मों से मुक्त हो गये। मर-देवा माता को जब आत्मज्ञान हो गया तो हाथी के होदे पर बैठे-बैठे ही मुक्त हो गई। गजसुकुमाल मुनि ने एक दिन-रात में ही समस्त कर्मों को क्षय कर अनन्त आनन्दमय मोक्ष पद को प्राप्त कर लिया। महामुनि गज-सुकुमाल की स्तुति में कहा है—

वसुदेव वारो प्यारो देवकी को नैन तारो,

जैन को दुलारो, भारी जादुता दिखारली।

बाल ब्रह्मचारी अहा नेम को नगीनी शिष्य

समता को धार सेरी शिव की निहारली।

तप का वर्गीकरण

एक अन्तर्-प्रक्रिया सतत चालू रहती है। उपवास, कायक्लेश जैसी प्रत्यक्ष दीखने वाली साधना और ध्यान, प्रायश्चित्त जैसी अन्तर्गत में चलने वाली गहन गुह्य साधना-दोनों ही तप की सीमा में आ जाती हैं। सेवा और विनय जैसी सामाजिक साधना, जिसका सीधा सम्बन्ध समाज, संघ, गण और अपने निकटतम सहयोगियों के साथ आता है वह भी तप का एक अंग है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तप का क्षेत्र बहुत व्यापक है।

तप का मुख्य ध्येय जीवन-शोधन है। शास्त्रों में जहाँ-तहाँ तप का वर्णन किया गया है वहाँ इसी भाव की प्रतिध्वनि सुनाई देती है तवेण परिसुज्जइ^१ तवसा निज्जरिज्जइ^२ तवेण घुणइ पुराण-पावगं,^३ 'सोहओ तवो'^४ इन शब्दों की ध्वनि में यही संकेत छिपा है कि तप से आत्मा निर्मल, पवित्र एवं विशुद्ध हो जाता है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि तप केवल शुद्धि का मार्ग ही नहीं, सिद्धि का भी मार्ग है। दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं—तप से शुद्धि होती है, शुद्धि से सिद्धि मिलती है। बिना शुद्धि के सिद्धि नहीं—यह जैनधर्म का अटल सिद्धान्त है। सिद्धि का अर्थ है मोक्ष—और शुद्धि कारक तत्त्व है तप ! इसलिए तप मोक्ष का अन्यतम कारण है। मोक्ष की इच्छा रखने वाले को तप करना ही होगा।

आत्मा में कर्म रूप मल सतत आता रहता है। वह कपाय, विषय, राग-द्वेष आदि के द्वारा प्रतिक्षण कलुषित होता रहता है। जैसे घी में सना वस्त्र यदि खुली हवा में पड़ा हो तो हवा के साथ उड़कर बाने वाली मिट्टी, रजकण उस पर प्रतिक्षण लगते-लगते वह मैला हो जाता है। सड़कों की दुकानों पर लगे नये वस्त्र आप देखते हैं, मिट्टी आदि से धीरे-धीरे वे कितने मैले हो

- १ उत्तराध्ययन ३८।३५,
- २ उत्तराध्ययन २०।६,
- ३ दशवैकालिक १०।७
- ४ आवश्यकनियुक्ति १०३

तप का वर्गीकरण

तप की अनेक परिभाषाओं में एक सर्वसामान्य परिभाषा बताई गई है—इच्छा का निरोध-तप है। वास्तव में जैनधर्म के आगम और उत्तरवर्ती ग्रंथों में तप का इतना विस्तृत और बहुविध वर्णन किया गया है कि उसके समग्र रूप को किसी एक परिभाषा में बाँध पाना बहुत कठिन है। जैसे महासागर की गंभीरता को, गगन की असीमता को, हाथ फैलाकर, भुजाएँ लम्बाकर बताना एक बाल प्रयत्न है, वैसा ही तप को किसी एक व्याख्या व एक परिभाषा में बाँध पाना बाल क्रीड़ा मात्र है।

शुद्धि और सिद्धि

तप जीवन के अन्तर्गत को शोधने की एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है। तप के विविध अंगों पर विचार करने से लगता है, साधना के क्षेत्र में, जीवन शुद्धि के क्षेत्र में ऐसा कोई भी अंग बाकी नहीं बचा है जिसको तप के अन्तर्गत नहीं लिया गया हो। व्यक्तिगत जीवन से लेकर समाज एवं समग्र विश्व के साथ जितने, जहाँ-तहाँ सम्बन्ध आते हैं उन सब सम्बन्धों में तप की

तप का वर्गीकरण

१ बाह्य तप

२ आभ्यन्तर तप—तप के ये दो भेद कहे गये हैं।

बाह्य तप का अर्थ है—बाहर में दिखाई देने वाला तप ! जिस तप की साधना शरीर से अधिक सम्बन्ध रखती हो, और उस कारण वह बाहर में दिखाई देती हो वह तपः साधना बाह्य कहलाती है। जैसे उपवास है। उपवास का स्पष्ट प्रभाव शरीर पर पड़ता है। लंबे उपवासों से शरीर दुर्बल भी होता है, देखने वालों को यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह तपस्वी है। काय-क्लेश, अभिग्रह, भिक्षावृत्ति ये सब ऐसी विधियाँ हैं जो बाहर में साफ दिखाई देती हैं।

आभ्यन्तर तप का अर्थ है—अन्तर में चलने वाली शुद्धि प्रक्रिया। इस का सम्बन्ध मन से अधिक रहता है। मन को सांजना, सरल बनाना, एकाग्र करना और शुभ चिंतन में लगाना—यह आभ्यन्तर तप की विधि है। जैसे ध्यान, स्वाध्याय, विनय आदि। हाँ यह बात भूल नहीं जाना है कि जैसे बाह्य तप में मन का सम्बन्ध भी रहता है, वैसे आभ्यन्तर तप में शरीर का भी सम्बन्ध जुड़ा रहता है। ऊनोदरी बाह्य तप है, फिर भी उसमें कपायों की ऊनोदरी का सीधा सम्बन्ध अन्तरंग से है। प्रतिसंलीनता बाह्य तप है, किन्तु अकुशल मन का निरोध, कुशल मन की उदीरणा और मनको एकाग्र करना इसका सम्बन्ध भी ध्यान साधना से जुड़ा है जो स्पष्ट ही आभ्यन्तर तप है। वैसे ही विनय, वैयावृत्य आभ्यन्तर तप है, जब कि इनकी प्रवृत्ति का सीधा सम्बन्ध बाह्य जगत से जुड़ा है। गुरुजनों का विनय, अपने साधमिकों का विनय क्या बाहर में दिखाई नहीं देते ? गुरु, शैक्ष, रोगी आदि को सेवा करना भी सीधा बाहरी संपर्क में आना है, फिर भी इन्हें आभ्यन्तर तप माना है। इस प्रकार गहराई से देखने पर पता चलता कि बाह्य एवं आभ्यन्तर भेद तप की प्रक्रिया समझाने के लिए है, न कि एक को अधिक महत्व देकर दूसरे का महत्व घटाने के लिए !

कुछ लोगों की यह धारणा बन गई है कि बाह्य तप साधारण तप आभ्यन्तर तप बड़ा तप है। बाह्य का महत्व कम है, आभ्यन्तर का महत्व

जाते हैं। यही हाल आत्मा का है। जैसे तालाव में प्रतिक्षण पानी आते-आते वह भर जाता है, वैसे ही आत्मा मलिन विचारों के पानी से धीरे-धीरे भर जाता है। तप उस मल को धोने के लिए साबुन का काम करता है, पानी को सुखाने के लिए तेज धूप का काम करता है, वह भीतर में शोधन करता है। जैसे सोना अग्नि को निर्मल बनाता है वैसे ही तप आत्मा को निर्मल बना देता है। शास्त्र में कहा है—

जहा महातलागस्त सन्निरुद्धे जलागमे ।

उत्तिचणाए तवणाए कमेणं सोसणा भवे ।

एवं तु संजयस्सावि पाचकम्म निरासवे ।

भव फोडी संचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ ।^१

जिस प्रकार किसी बड़े तालाव का पानी समाप्त करने के लिए पहले जल के आने के मार्ग रोके जाते हैं, फिर कुछ पानी उलीच-उलीच कर बाहर फेंका जाता है और कुछ सूर्य की तेज धूप से सूख जाता है। और इस प्रकार तालाव का समूचा पानी सूख जाता है, वैसे ही संयमी पुरुष व्रत आदि के द्वारा नये कर्मास्त्रियों को रोक देता है, और पुराने करोड़ों जन्मों के संचित किये हुए कर्मों को तप के द्वारा सर्वथा क्षीण कर डालता है। कर्म क्षीण होने पर आत्मा अपने लक्ष्य में सिद्धि प्राप्त कर लेता है। यही शुद्धि और सिद्धि का क्रम है जो तप के द्वारा फलीभूत होता है।

तप के दो भेद : बाह्य और आभ्यन्तर

वास्तव में आत्म-शोधन रूप तप एक संपूर्ण प्रक्रिया है। वह एक अखंड इकाई है। उसके अलग-अलग खंड नहीं हैं। किंतु फिर भी उसकी प्रक्रियाएं, विधियां अलग अलग होने के कारण उसके अलग-अलग भेद भी बताये गये हैं। मूलतः आगमों में तप के दो भेद बताये हैं—

सो तवो दुविहो वुत्तो बाहिरब्भन्तरो तहा ।^२

१ उत्तराध्ययन ३०।५-६

२ उत्तराध्ययन ३०।७

तप का वर्गीकरण

जीवन का केन्द्र होता है और बाह्य भाग राज्य संचालन आदि व्यवस्था का । किन्तु इसमें यह कहना कि बाह्य भाग कम महत्व का है आभ्यन्तर अधिक ! यह एक गलत बात होगी राज्य की दृष्टि से दोनों का ही महत्व है और दोनों ही अपनी-अपनी जगह में आवश्यक व उपयोगी हैं ।

जैसे एक ही पुस्तक के दो अध्याय होते हैं । एक ही महल के दो खण्ड होते हैं, एक सिक्के के दो पहलू होते हैं, वैसे ही तप के ये दो पहलू हैं । दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं । बाह्य तप के बिना केवल आभ्यन्तर तप की साधना कठिन क्या, असम्भव प्रायः है । और आभ्यन्तर तप के अभाव में केवल बाह्य तप देहदण्ड मात्र है । जो सिर्फ अपने को तत्त्वज्ञानी व अध्यात्म-वादी दिखाने के लिए बाह्यतप की उपेक्षा करता है, उसकी असारता बताता है वह वास्तव में जैनतत्त्वज्ञान से ही अपरिचित है । यदि बाह्य तप अनुपयोगी होता—तो भगवान् ऋषभदेव क्यों एक वर्ष तक भूखे रहकर कष्ट उठाते, क्यों भगवान् महावीर साढ़े बारह वर्ष के साधना काल में ग्यारह वर्ष तक का काल उपवास आदि में व्यतीत करते ! क्यों धनान्गार चौदह हजार श्रमणों में सर्वश्रेष्ठ तपस्वी घोषित किये जाते ! आखिर बाह्य तप भी कुछ शक्ति है, कुछ साधना है और बड़ी चमत्कारी साधना है । साधक के मनोबल और कष्टसहिष्णुता की जितनी कसौटी बाह्य तप में होती है, उतनी आभ्यन्तर में नहीं, साधक के जीवन स्वर्ण के लिए बाह्य तप अग्नि है और आभ्यन्तर तप उस पर पालिश है । सोना पहले अग्नि में शुद्ध हो जायेगा तभी तो उस पर पालिश की जायेगी ? क्या कभी अशुद्ध सोने पर पालिश या चमक की जाती है और की जायेगी तो वह कितने समय तक टिकेगी ? इसी प्रकार बाह्य तप से जब तक मानसिक मलिनता दूर नहीं हो जाती, हृदय शुद्ध नहीं हो जाता तब तक ध्यान, विनय, स्वाध्याय कैसे होंगे ? इसीलिए आभ्यन्तर तप से पहले बाह्य तप का क्रम रखा गया है, बाह्य तप को साधने के बाद साधक आभ्यन्तर तप की ओर बढ़ता है ।

दोनों का समन्वय
है, एक बात ध्यान में रखनी है कि जैन धर्म केवल बाह्य तप का ही आग्रह

अधिक ! एक विद्वान मुनिजी से तप की चर्चा चल रही थी । प्रसंग में किसी तपस्वी मुनिराज के दीर्घ उपवास और उसमें आतापना लेने की बात आगई । मैंने कहा—वे सचमुच बड़े उग्र तपस्वी हैं । अपने को विद्वान समझने वाले मुनि जी ने जरा उपेक्षा के साथ कहा—हां, ऐसी तपस्याएँ तो बहुत होती रहती हैं ।

मैंने उनसे पूछा—आपने भी काफी लम्बे उपवास किये होंगे ? आतापना आदि ली होगी ?

वे बोले—मैं इन बाह्य तपों में कम विश्वास करता हूँ । ये बाह्य तप है, साधना तो आभ्यन्तर तप की होनी चाहिए ? वही तो खास बात है !

विद्वान मुनि के उत्तर ने मुझे झकझोर दिया । मैं सोचने लगा—क्या इनकी विद्वत्ता इतनी ही गहरी है ? अभी तक इन्होंने तप का यही अर्थ समझा है कि बाह्य तप हलका है, आभ्यन्तर तप बड़ा है ? कितनी बड़ी ना समझी है ! लगता है इन्होंने सिर्फ बाह्य-आभ्यन्तर शब्दों को पकड़ा है, इनकी गहराई को नहीं ! वास्तव में तो बाह्य में आभ्यन्तर और आभ्यन्तर में बाह्य समाया हुआ है । और फिर आश्चर्य तो यह कि बाह्य तप को हलका बताकर भी स्वयं कभी आभ्यन्तर तप की ओर नहीं बढ़े ! न कभी ध्यान किया है ? न सेवा और न और कुछ ! किन्तु फिर भी बड़ाई तो आभ्यन्तर तप की करते ही हैं ।

तो यह एक गलत धारणा है । शास्त्रों में आभ्यन्तर तप का जो महत्व है वही महत्व बाह्य तप का है । हां ! किसी एक तप का ही आग्रह करना गलत है, दोनों की समान आराधना करना ही वास्तव में सम्यक् आराधना है । भगवान महावीर ने कठोर उपवास भी किये और ध्यान साधना भी की । बाह्य-आभ्यन्तर का सुमेल करके उन्होंने अपनी साधना में सिद्धि प्राप्त की । यदि हम गम्भीरता के साथ देखें तो तप में बाह्य आभ्यन्तर का भेद बहुत मौलिक भेद नहीं है । जैसे किसी एक ही राजप्रासाद में एक आभ्यन्तर भाग होता है और दूसरा बाह्य भाग । आभ्यन्तर भाग राजा के अन्तरंग

तप का वर्गीकरण

तप की महिमा में जैन धर्म में हजारों पृष्ठ लिखे गये हैं, हजारों गाथाएँ गाई गई हैं उस तप के सम्वन्ध में भी जैनधर्म हठवादी नहीं है। किन्तु समन्वय-वादी है, उस तप की भी उपयोगिता देखकर ही वह चलता है, तप करने की भी सीमा और मर्यादा को मानता है। वह नहीं कि मन संक्लेश से भरा रहे, भूख-प्यास से चित्त आकुल होता रहे, देह-दमन से समस्त क्रियाएँ एवं विधियाँ विश्रुंखल हो जाय और फिर भी वह आग्रह लिए बैठा रहे कि नहीं तप करते जाओ, प्राण निकले तो भले ही निकल जाय, मन चाहे जैसा संत्रास पाये पर तप करते जाओ ! ऐसा आग्रह जैन धर्म में नहीं है। वह कहता है—अमृत पीओ, किंतु वह भी मर्यादा के साथ ! तप करो, किंतु उसको भी मर्यादा है, सीमा है। सीमा को समझकर तप करो। भगवान महावीर ने कहा है—

वलं यामं च पेहाए सद्धामारोगमप्पणो ।
सेत्तं फालं च विन्नाय तहप्पाणं निजुंजए ।^१

अपना शरीर बल, मन की दृढ़ता, श्रद्धा, आरोग्य तथा क्षेत्रकाल आदि का पूर्ण विचार करके ही तपश्चर्या में लगना चाहिए। आप कहेंगे—क्या तप में भी कोई सीमा होती है ? जितना तप किया जाय उतना ही अच्छा है। हाँ, बात तो यह ठीक है कि तप जितना भी किया जाय करना चाहिए, किन्तु यदि तप करते समय मन में संक्लेश पैदा हो, आकुलता और धुव्धता पैदा हो तो फिर उस तप में समाधि कैसे रहेंगी। सोना सभी पहनते हैं, पर उतना सोना पहनना क्या काम का जिससे शरीर ही टूटने लगे—

वह सोना क्या कामका जिससे टूटे अंग ।
'मिश्री' तप वह क्यों करे जाहि समाधि भंग ।

जिस सोने से शरीर टूटे, जिस तप से समाधि भंग हो, वह सोना और वह तप क्या काम का ?

आपको पता है, भगवान् ऋषभदेव के समय में उत्कृष्ट तप चार

नहीं करता । यदि आभ्यन्तर तप न हों तो बाह्य तप की असारता भी उसने मानी है । आचार्य संघदास गणी ने कहा है—

इन्द्रियाणि फसाये य गारवे य किसे कुरु !

जो वयं ते पसंसामो किसं साहु शरीरम् ।^१

हम केवल अनशन आदि से कुश-दुर्बल-क्षीण हुए शरीर की प्रशंसा करने वाले नहीं हैं, वास्तव में तो वासना, कपाय और अहंकार को क्षीण करना चाहिए । जिसकी वासना कुश हो गई हम उसकी ही प्रशंसा करेंगे ।

तप की मर्यादा

इसका अर्थ है बाह्यतप— अनशन, कायवलेज आदि का अंधानुकरण करना जैनधर्म सम्मत नहीं है । वह तो हर स्थिति में समन्वयवादी, संतुलनवादी दृष्टि देता है । बाह्य तप पर एकांत भार नहीं देता, किंतु संतुलित आचार का ही समर्थन करता है । आचार्य जिनसेन का भी कितना स्पष्ट चिंतन है—

न केवलमयं कायः फर्शनीयो मुमुक्षुभिः ।

नाप्युत्कटरसंः पोष्यो मृष्टे रिष्टैश्च वल्भनैः ।^२

—मुमुक्षु साधको को यह शरीर न तो केवल कुश एवं क्षीण ही करना चाहिए और न रसीले एवं मधुर मन चाहे भोजनों से इसे पुष्ट ही करना चाहिए ।

दोष निर्हरणायेष्टा उपवासाद्युपक्रमः ।

प्राण संधारणायायम् आहारः सूत्रदर्शितः ।^३

दोषों की दूर करने के लिए उपवास आदि का उपक्रम है और संयम साधना हित प्राण धारण करने के लिए आहार का ग्रहण है—यह जैन सिद्धान्त सम्मत नाघना सूत्र है ।

यह एक बड़ी महत्व की बात है कि जिन तप के सम्बन्ध में, और जिस

तप का वर्गीकरण

तदेव हि तपः कार्यं दुर्ध्यानं यत्र नो भवेत् ।
येन योगा न हीयन्ते क्षीयन्ते नेन्द्रियाणि च ।

वही तप करना चाहिए जिससे कि मन में दुर्ध्यान न हों योगों की हानि न हों और इन्द्रियां क्षीण न हों ।

एक प्राचीन आचार्य का कथन है—

सो नाम अणसण तवो जेण मणोमंगुलं न चित्तेइ ।
जेण न इन्द्रियाणां जेण य जोगा न हायंति ।

वही अनशन आदि तप श्रेष्ठ है, जिससे कि मन अमंगल न सोचे, इन्द्रियों की हानि न हो और नित्यप्रति की योग—धार्मिक क्रियाओं में विघ्न न आये ।

तो यह तपःविवेक ही जैन धर्म की तपमर्यादा है । तप का संतुलित दृष्टिकोण है । इस दृष्टि का विवेक रखकर ही साधक अपनी शक्ति और रुचि के अनुसार कभी बाह्य तप का आचरण करता है और कभी आभ्यन्तर तप का । वैसे यह भी माना गया है कि बाह्य तप की दृष्टि आभ्यन्तर तप की ओर रहनी चाहिए ।

वाह्य तप के छह भेद शास्त्र में तप के दो भेद करके प्रत्येक तप के छह-छह भेद बताये गये हैं । बाह्य तप के छह भेद हैं और उसके अन्तर्भेद भी अनेक हैं । अन्तर्भेदों का वर्णन पहले से लगता है यह तप सिर्फ बाह्य तप ही नहीं, आभ्यन्तर तप तक भी पहुँच गया है । उसके छह भेद ये हैं—

अणसणमूणोयरिया भिस्सायरिया य रस परिच्चाओ ।
कायफिलेसो संलीणया य, वज्जो तवो होई ।^१

(१) अनशन—आहार त्याग

(२) ऊनोदरो—आहार आदि की कमी ।

(३) भिस्साचरो—अभिग्रह आदि के साथ विधिपूर्वक भिक्षा ग्रहण करना ।

मास का माना है, मध्य के द्वाइस तीर्थंकरों के समय में आठ मास का और भगवान महावीर के समय में छह मास का !^१ इसका क्या कारण है ? क्या भगवान महावीर में छह मास से अधिक तप करने की क्षमता नहीं थी ? वे तो अनन्तवली थे । और फिर भगवान ऋषभदेव और भगवान महावीर की आत्मशक्ति में कोई अन्तर नहीं था । तब क्यों यह अन्तर दिखाया गया कि एक तीर्थंकर के समय में बारह मास का तप (उत्कृष्ट) विहित है तो दूसरे तीर्थंकर के समय में छह मास का ! भगवान महावीर स्वयं भी इस सीमा से आगे क्यों नहीं बढ़े ?

इसका कारण और कुछ नहीं, किंतु यही था कि उस काल की शरीर स्थिति में अन्तर आ गया था । ऋषभदेव युग के साधक के लिए एक वर्ष का तप सहज था, वह अतिभार नहीं था, जबकि भगवान महावीर के युग के साधकों के लिए छह मास तक का तप ही शरीर-स्थिति के अनुकूल समझा गया । उससे अधिक लम्बा तप करने पर शरीर पर अतिभार पड़ता और उससे इन्द्रिय शक्ति अधिक क्षीण होकर संमयाराधना में भी कठिनाई आने लगती, इसी कारण यह एक तप की सीमा बताई गई है । यदि किसी साधक को दो चार दिन का उपवास करने पर भी अधिक संक्लेश होता हो तो शास्त्र में कहा है—वह उपवास न करके तप के अन्य मार्ग की आराधना करें । क्योंकि तन की तपस्या उपवास है और मन की तपस्या समाधि है, यदि समाधि भंग होती हो तो फिर तप-समाधि नहीं हो सकती; अतः वह तप का मार्ग बदल दें, ध्यान, स्वाध्याय, वित्त्य सेवा आदि के मार्ग पर बढ़ें किन्तु मन को क्षुब्ध न बनाएं ।

इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने अनशन आदि तप की श्रेष्ठता का मापक यंत्र भी यही बताया है कि जिस तप के साथ ताप (उत्ताप-संक्लेश) का अनुभव न हो, तप करते समय यदि मन में ताप होता है, संताप परिताप बढ़ता है तो उससे तो अच्छा है कि तप न किया जाय । आचार्य यशोधरजी ने अपने तपोष्टक ग्रन्थ में कहा है—

तप का वर्गीकरण

तप के अनेक रूप

तप के उक्त बारह भेदों पर जैन आचार्यों ने बहुत ही विस्तार के साथ चिन्तन किया है, मनन किया है, और तर्क, युक्ति एवं व्यवहारोपयोगी साहित्य का निर्माण किया है। यह कहा जा सकता है कि तप के विषय में जितना चिन्तन जैन धर्म ने प्रस्तुत किया है, उतना शायद किसी अन्य धर्म ने नहीं किया। इतना गहरा विश्लेषण किसी भी धर्म में प्राप्त नहीं होता। तप के उक्त भेदों के अलावा अलग-अलग दृष्टियों से, कारणों से तप के अलग-अलग नाम व परिभाषाएँ भी की गई हैं। कुछ यहां बताई जाते हैं।

सराग तप—किसी भौतिक आकांक्षा या प्रतिष्ठा, कीर्ति, लब्धि तथा

स्वर्ग आदि की भावना से तप करना सराग तप है।

वीतराग तप—आत्मा को कर्म बन्धनों से मुक्त होने के लिए कषाय रहित दृष्टि से जो तप किया जाता है वह वीतराग तप है। सराग तप निम्न कोटि का है, अल्पफलदायी है, वीतराग तप उत्कृष्ट कोटि का उत्तम फल देने वाला है।^१

बाल तप—आत्म ज्ञान के अभाव में जो तप किया जाता है वह बाल तप कहा जाता है, इसे अज्ञान तप भी कहा गया है। आचार्य भद्रबाहु ने कषायों की उत्कटता के साथ जो तप किया जाता है उसे भी बाल तप ही है। कहा है—

जस्तं वि दुष्पणिहिआ होंति कसाया तवं चरंतस्स ।
सो बालतवस्सी वि व गण्हाण परिस्समं कुण्डं ।^२

जिन तपस्वी ने अपने कषायों को धोष नहीं किया, कषाय आदि पर काबू नहीं पाया वह बाल तपस्वी हैं, वह चाहें जितना तप करें, उसका सब श्रम केवल कष्ट रूप है, जैसे हाथी स्नान कर के फिर सूँढ़ से मिट्टी उछाल कर शरीर को भँसा कर लेता है, उसका स्नान करना व्यर्थ है, वैसे ही उस बाल तपस्वी का सब तप व्यर्थ है।

१ निजीय भाष्य, गाथा ३३३२

२ दण्डकालिक निगुंत्ति ३००

(४) रस परित्याग—प्रणीत, स्निग्ध एवं अतिमात्रा में भोजन का त्याग ।

(५) काय बलेश—शरीर को विविध आसन आदि के द्वारा कष्ट-सहिष्णु बनाकर साधना तथा उसकी चंचलता कम करना ।

(६) संलीनता—शरीर, इन्द्रिय, मन वचन आदि तथा कषाय आदि का संयम करना, एकांत शुद्ध स्थान में रहना ।

बाह्य तप के ये छह भेद हैं । इनका विस्तार दूसरे अध्याय में किया जा रहा है ।

आभ्यन्तर तप के छह भेद

आभ्यन्तर तप के छह भेद इस प्रकार हैं—

अभ्यन्तरं तपे छव्विहे पणत्ते तंजहा—^१

पायच्छित्तं, विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।

ज्ञाणं विउत्सग्गो ।

(१) प्रायश्चित्त—दोष विशुद्धि के लिए सरलतापूर्वक प्रायश्चित्त आदि करना ।

(२) विनय—गुरुजनों आदि का आदर, बहुमान एवं भक्ति करना ।

(३) वैयावृत्य—गुरु, रोगी, बालक, संघ आदि की सेवा करना ।

(४) स्वाध्याय—शास्त्रों का अध्ययन, अनुचितन एवं मनन करना ।

(५) ध्यान—मन को एकाग्र कर शुभ ध्यान में लगाना ।

(६) व्युत्सर्ग—कषाय आदि का त्याग करना, शरीर की ममता छोड़कर उसे साधना में स्थिर करना एवं आवश्यक होने पर संघ आदि का भी त्याग करना ।

आभ्यन्तर तप के यह छह भेद हैं । जैसा कि पूर्व बताया गया है—इनका अधिक सम्बन्ध मन के साथ आता है, अन्तरंग शुद्धि और अन्तरंग दोषों का परिहार इनका विशेष फल है इसी कारण इन छह तपों को आभ्यन्तर तप कहा है ।

तप का वर्गीकरण

(१) आत्मन्तप—कुछ साधक अपने शरीर आदि को कठोर तपश्चर्या के द्वारा सुखा डालते हैं, उसे कष्ट देते हैं, किन्तु दूसरों को कुछ भी पीड़ा नहीं पहुंचाते।

(२) परन्तप—कुछ व्यक्ति दूसरों को ही कष्ट देते हैं, स्वयं सदा सुख सुविधा में रहना पसंद करते हैं।

(३) आत्मन्तप-परन्तप—कुछ व्यक्ति स्वयं भी धार्मिक अनुष्ठान आदि करके कष्ट उठाते हैं, और दूसरों को भी कष्ट पहुंचाते हैं।

(४) न आत्मन्तप न परन्तप—जो लोग न तो स्वयं कष्ट करते हैं और न दूसरों को ही कुछ कष्ट देते हैं।

बुद्ध ने इन चार भेदों में चौथा भेद श्रेष्ठ बताया है। वे अपने अनुयायियों (श्रावकों) से कहते हैं—तुम न स्वयं कष्ट उठाओ और न ओरों को कष्ट व पीड़ा दो।^१

यद्यपि जैन परम्परा में इस प्रकार के तप का कोई खास महत्व नहीं है। वहां तो पहला भेद ही मुख्य रूप से स्वीकार्य है, कि स्वयं को चाहे जितना कष्ट उठाना पड़े, तपस्या करनी पड़े किन्तु दूसरों को बिलकुल ही पीड़ा मत दो। स्वयं कष्ट उठाने से दूसरे का लाभ होता हो तो और भी श्रेष्ठ। चौथा भेद तो एक प्रकार की अकर्मण्यता ही है—न स्वयं कष्ट लेते, न दूसरों को कष्ट दें। दूसरा-तीसरा भेद जैन दृष्टि में सर्वथा त्याज्य है। ऐसे व्यक्ति तपस्वी तो क्या साधारण योग्य नागरिक भी नहीं माने जा सकते।

आजीविकों के धार तप भगवान् महावीर के समय में गौशालक के आजीविक संप्रदाय का भी काफी बल बढ़ गया था। उसके सिद्धान्त प्रायः भगवान् महावीर के सिद्धान्तों की नकल मात्र ही थे, हां उनमें कुछ सरलता और लोकों का मनोरंजन हो ऐसी बातें और जोड़ दी गई थी। तप पर गौशालक का काफी बल था,

जैन धर्म में बाल तप को बहुत ही निम्नस्तर का माना है, एक और क्षण भर का सञ्ज्ञान तप तथा एक और करोड़ों वर्ष का अज्ञान तप—वास्तव तप ? दोनों की तुलना में ज्ञानी का क्षण भर का सञ्ज्ञान तप श्रेष्ठ है, वह एक सांस भर समय में जितने कर्म खपा सकता है अज्ञानी करोड़ों जन्मों में उतने कर्म नहीं खपा सकता ।^१

अकाम तप—जो तप की इच्छा किये बिना ही परवशता आदि के कारण भूखा रहता है, धूप आदि में कष्ट सहता है, यह सब अकाम तप है । वास्तव में यह तप है ही नहीं, एक प्रकार की विवशता है, किन्तु भूख एवं काय-कष्ट को माने तो उसे अकाम तप कह सकते हैं ।

इस तरह अनेक दृष्टियों से, कारणों से जो शारीरिक कष्ट किये जाते हैं उन्हें उस भावना के साथ जोड़ने से उसी प्रकार का तप हो जाता है । किन्तु उक्त सब तपों में सञ्ज्ञान तप, तथा वीतराग तप यही तप श्रेष्ठ है !

बौद्ध परम्परा में तप

जैन ग्रन्थों में तप का जितना भी वर्णन है वह प्रायः तप के बारह भेदों में ही समाविष्ट हो जाता है । अन्य धर्मों में भी तप की महिमा खूब गाई है, तप की परम्परा भी रही है, किन्तु वहाँ तप की कोई व्यवस्थित विधि या मर्यादा, नियम आदि का कोई वर्णन प्राप्त नहीं होता । बौद्ध श्रमण भी तप करते थे । बुद्ध के कुछ समय पश्चात् तो तप का काफी जोर बौद्ध श्रमणों में बढ़ा है, उन्हें 'घुतांग तपस्वी' कहा जाता था । स्वयं बुद्ध ने अपने पूर्व साधक जीवन में कठोर तप का आचरण किया था—ऐसा उन्होंने स्वीकार किया है । वह तप जैन तप-साधना से काफी मिलता-जुलता है । किन्तु उसके पश्चात् बुद्ध ने तप को उतना महत्त्व नहीं दिया, और न कोई विशेष उपदेश भी इस सम्बन्ध में दिया । साधारणतः वहाँ तप की श्रेष्ठता एवं निकृष्टता पर विचार किया गया है । इसी दृष्टि से बुद्ध ने चार प्रकार के तप करने वाले बताये हैं—

तप का वर्गीकरण

ज्ञप्ति (जानकारी) एवं प्राप्ति की जा सकती है—सत्येन तभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा^१—सत्य एवं तपस्या के द्वारा ही आत्मा को प्राप्त किया जा सकता है ! योगदर्शनकार आचार्य पतंजलि ने भी तप का वर्णन किया है, आत्म शुद्धि के साथ-साथ शरीरशुद्धि के लिए भी उन्होंने तप की महत्ता स्वीकार की है—कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धि क्षयात्तपसः^२—तपः साधना के द्वारा अशुद्धि दोष का क्षय होने से शरीर एवं इन्द्रियों की शुद्धि होती है ।

गीता में भी तप के सम्बन्ध में कई दृष्टियों से विचार किया गया है । तप के स्वरूप और उसके उद्देश्य को ध्यान में रखकर गीता में तप के तीन-तीन भेद बताए गए हैं ! प्रथम स्वरूप का विवेचन करते हुए कहा गया है—

देवद्विज-गुरु प्राज्ञ पूजनं शौचमार्जवम् ।

ब्रह्मचर्यमहिंसा च शरीरं तप उच्यते ॥१४॥

अनुद्वेग करं वाक्यं सत्यं प्रिय हितं च तत् ।

स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

मनः प्रसाद सौम्यत्वं मीनमात्मविनिग्रहः ।

भाव संशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

तप के तीन प्रकार हैं—

शारीरिक तप

वाचिक तप

मानसिक तप

१—देवता, ब्राह्मण, गुरुजन एवं ज्ञानी जनों का आदर सत्कार करना, उनकी सेवा करना, शौच—शरीर एवं आचरण को पवित्र रखना, सरल व्यवहार करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना तथा किसी जीव को कष्ट नहीं देना—शारीरिक तप है ।

१ मुष्णक उपनिषद् १।१।=

२ योगदर्शन, साधनापाद ४३

३ श्रीमद्भगवद् गीता, अध्याय १७ ।

स्वयं उसने भगवान् महावीर के साथ रहकर कई प्रकार की तपस्याएं की थी, देखी भी थी, और लोगों पर प्रभाव डालने का एक अचूक साधन तप को वह मानता था। गौशालक के संप्रदाय में तप की क्या परम्परा थी इसका कोई विशेष वर्णन नहीं मिलता। स्थानांग सूत्र में एक स्थान पर आजीविकों का चार प्रकार का तप बताया है—

आजीवियाणं चउच्चिहे तवे पणत्ते^१—

उगगतवे, घोरतवे, रसनिज्जूहणया

जिन्निभदिय पडिसंलीणया ।

आजीविकों का तप चार प्रकार का है—

(१) उग्रतप—जो आचरण में कठिन हो ।

(२) घोरतप—जो दीखने में बड़ा कठोर हो ।

(३) रसनिर्ग्रहण—स्वादिष्ट वस्तु न लेना ।

(४) जिह्वेन्द्रिय प्रति-संलीनता—रसना इन्द्रिय के विषयों का संकोच करना ।

गीता में तप का स्वरूप

वैदिक साहित्य में भी तप के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा गया है। मूलतः वेदों में तप का जो उल्लेख है, वह शायद आज के प्रचलित तप- (तपस्या) के अर्थ में कम है, किंतु तेजस् के अर्थ में अधिक है। वहां तपस् को एक दाहक-आग्नेय तत्व माना है जो अनिष्टों को, दुष्टों को और कष्टों को भस्मसात् करने की अपूर्व शक्ति है। उसके बाद उपनिषद् साहित्य में तप के विषय में काफी चिंतन किया गया है और उस पर जैन चिंतन की गहरी छाप भी है। वहां तप को साधना के रूप में ग्रहण किया है। कहा गया है—तपसा स्वीयते ब्रह्म^२—तप से परमात्म स्वरूप (ब्रह्म) की खोज की जा सकती है और तप से ही आत्म स्वरूप—जो शुद्ध ज्योतिर्मय है उसकी

१ स्थानांग सूत्र ४।२

२ मुण्डक उपनिषद् १।१।८

तप का वर्गीकरण

क्योंकि तप में दूसरे को पीड़ा देने की भावना तो होना ही नहीं चाहिए, हां यदि दूसरे के लाभ के लिए, हित के लिए स्वयं को कष्ट उठाना पड़े तो उस स्थिति में भी साधक सहर्ष स्व-पीड़ा भोगने को तैयार होता है।

इस प्रकार गीता में तप के स्वरूप और ध्येय की दृष्टि से कुछ विचार किया गया है। किन्तु तप के समस्त अंगों पर जितनी गहराई से और वैज्ञानिक वर्गीकरण करके जैन धर्म में विचार किया गया है, उतना विचार, चिन्तन और अनुसंधान तप के विषय में कहीं भी प्राप्त नहीं होता।

जैन धर्म में आत्म-विकास में सहायक प्रत्येक क्रिया पर तप की दृष्टि से विचार किया गया है। यहाँ तक कि दोष विशुद्धि के लिए जो प्रायश्चित्त किया जाता है उसे भी आभ्यन्तर तप में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। जबकि वैदिक आचार्यों—खासकर गीताकार ने उसे शरणागति मामेकं शरणं ब्रज—प्रभु की शरण में आ जाने से शुद्धि हो जाती है मानकर ही विश्राम ले लिया। किन्तु जैन धर्म ने जीवन की उस सरलता एवं निष्कपटता को तप माना है।

जैन धर्म सम्मत तप के समस्त अंगों पर अब विस्तार के साथ अगले खण्ड में विचार किया जायेगा।



२—दूसरों को उद्विग्न—कष्ट न देने वाला, शांति कारक, सत्य, प्रिय हितकर वचन बोलना, सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय (अनुचितन) एवं अध्ययन करना—यह वाचिक (वचन का) तप है।

३—मन को प्रसन्न रखना, शांत भाव, मौन, मनोनिग्रह और मन को शुद्ध-पवित्र रखना—यह मानसिक तप है।

तप के ये तीन स्वरूप बताकर फिर तीनों ही तप की शुद्धता, ध्येय की पवित्रता एवं आचरण की निष्कपटता पर भी विचार किया गया है।

गीताकार ने बताया है—उपर्युक्त तीनों प्रकार का तप यदि निष्काम-वृत्ति—फल की आकांक्षा से रहित होकर दृढ़ श्रद्धा के साथ किया जाता है तो वह तप सात्विक तप है, अर्थात् प्रथम श्रेणी का तप है। यदि वह तप सत्कार, सम्मान एवं लोकों में पूजा प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए किया जाय—तो फिर उसकी उदात्तता एवं पवित्रता में कमी आ जाने से यह तप 'राजस' श्रेणी में आ जाता है, क्योंकि इस प्रकार के तप में आत्म-शोधन एवं ईश्वर-आराधना की प्रवृत्ति नहीं रहती किन्तु, दिखावा, प्रदर्शन और यश की भूख ही प्रबल रहती है। फिर भी यह तप गीता की दृष्टि में द्वितीय श्रेणी का है, जब कि जैन दर्शन में इस प्रकार के तप का सर्वथा ही निषेध किया गया है।

गीता की दृष्टि से तीसरी श्रेणी का तप तो बिल्कुल निम्नस्तर का ही है—

मूढाग्रहेणात्मनो यत् पीडया त्रियते तपः

परस्योत्सादनाय वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥७॥

जिस तप में मूढ़ता, दुराग्रह की भावना छिपी हो, जिद्द पर चढ़ कर ही शरीर को कष्ट दिया जाता हो, अथवा दूसरे का अनिष्ट करने की भावना से जो तप किया जाता हो, वह 'तामस तप' कहलाता है। यह तप आत्म-शुद्धि की दृष्टि से तो हेय है ही, किन्तु नैतिक दृष्टि से भी त्याज्य है।

तपस्वियों की अमर परम्परा

भूधर रघुनाथ जयमल भोपत सी
वेनीदास आदि 'मिश्री' पीनी तप पेग फी ।

भगवान ऋषभदेव से गौतम

जैन धर्म के आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभनाथ एक वर्ष तक कठोर तप करते रहे, भूख-प्यास के भयंकर कष्टों को हँसते-हँसते सहते रहे और जनपद में घूमते रहे । बाहुवली एक वर्ष तक जंगल में खड़े रहे, न खाना-न पीना, न सोना न बैठना ! वृक्ष की भांति अचल ध्यान मुद्रा में खड़े हुए तो पूरा वर्ष ही बीत गया, खड़े ही रहे, पक्षियों ने गिर पर घोंसले डाल लिए, लताएँ वृक्ष की तरह शरीर पर लिपट गई फिर भी वे तप करते रहे ।

भगवान महावीर का तप तो आज भी लोमहर्षक सत्य है । कितने भयंकर कष्ट ! उपसर्ग ! कितनी लंबी-लंबी तपस्याएँ ! आचार्य भद्रबाहु ने कहा है—२३ तीर्थंकरों के कष्ट-उपसर्ग एक ओर भगवान महावीर का तप एक ओर ! कितना दुर्घर्ष तप या उनका ! सिंघों की दहाड़ ! दैत्यों के अट्टहास, तूफानों की संज्ञावात ! फिर भी कभी क्षुब्ध नहीं हुए, मन चंचल नहीं हुआ ! साढ़े चारह वर्ष के साधना काल में सिर्फ ३४६ दिन पारणा भोजन ग्रहण किया बाकी लगभग साढ़े ग्यारह वर्ष तक तपस्या ! उपवास आदि में लीन रहे ।^१ घन्टा अणगार की तपस्या को देखकर तो स्वयं भगवान महावीर ने राजा श्रेणिक से कहा—

इमेसि चोदुत्तण्हं समणसाहस्सीणं घन्ने अणगारे महादुक्करफारए चैव ।^२
इन चौदह हजार भ्रमणों में घन्टा अणगार महान दुष्कर और उन्नत करने वाला है । तप करते-करते उसका शरीर एकदम जर्जर लकड़ियों की भांति गुप्ता रक्त-मांस रहित हो गया । जिसे देखकर श्रेणिक ने भी दांतों तले अँगुली दशानी ।

इसीप्रकार नंदीपेण, स्कन्दक, गणधर गौतम, जैसे अनेक उग्रपतस्वी प्राचीन परम्परा में होगए जिनके तपस्तेज से आज भी इतिहास जगमगा रहा है ।

१ आर्यसप्तकनियुंक्ति गाथा ५, ३४
२ श्रेणिक गृह्य ३, ३६

तपस्वियों की अमर परम्परा

जैन परम्परा में तप का सिर्फ सैद्धान्तिक महत्व ही नहीं रहा है, किन्तु आचरण में भी उसका अपार महत्व रहा है। जैसे दूध के कण-कण में घृत रमा हुआ है, फूलों की कली-कली में सौरभ बसा हुआ है और ईख के पोरे-पोरे में माधुर्य छलकता रहता है वैसे ही जैन साधकों के जीवन के प्रत्येक कण में, प्रत्येक रूप में तप समाया हुआ है। उनका हर व्यवहार तपोमय होता है, वहाँ तप जीवन की रसायन के रूप में प्रयुक्त होता रहा है। एक से एक बढ़कर तपस्वी, ध्यानी, मीनी वहाँ हुए हैं जिनका जीवन मोदक की तरह तप का परिपूर्ण माधुर्य लिए हुए है। देखिए—

प्रथम जिनेन्द्र तप धारणो एक अब्द अहा,

बाहुबली ताहि भांति ग्रही तप तेग को।

त्रिशला सपूत, तप कीनो तो अभूत जग

घम्रा नंदीपेण अर देखो मुनि मेघ को।

चन्दना र काली राणी दस को ब्रह्म पड़ो,

विचित्र तपस्या तपी बरो शिव बेग को।

तपस्वियों की अमर परम्परा

आज भी स्वानकवासी व तेरापंथी संप्रदायों के लिए स्मरणीय है। वे एक महान श्रुतधर विद्वान् आचार्य तो थे ही, किन्तु इससे भी अधिक वे क्रियानिष्ठ एक महान तपोधन थे। उनके रोमांचक तप का वर्णन सुनते हुए आज भी हम आश्चर्य-चकित से रह जाते हैं।

चार व्रतो टाली चतुर दीक्षा दिन घी जाण।

पांच-पांच लग पारणो अभिग्रह धार्यो आन।

जिस दिन दीक्षा ग्रहण की उसी दिन से जीवन भर के लिए चार विगय का त्याग कर दिया था और पंचोले-पंचोले—अर्थात् पांच-पांच दिन के उपवास प्रारंभ कर दिये थे। आपको आश्चर्य होगा पांच-पांच का उपवास तो उनके जीवन भर का साधारण नियम बन गया था। पांच दिन के बाद एक दिन भोजन करना उसमें भी चार विगय का त्याग और फिर पांच दिन का उपवास। किन्तु उनके तप की सीमा इतनी ही नहीं थी। इस क्रम के बीच अनेक मासखमण, चोमासी, पंचमासी तप भी किये—

पांच मास पाली में फीना, मेड़ते चार रसाल।

चार मास उज्जैन पचलिया, चार जोघाणे रसाल।

तीन मास इग्यारा आदर्या, दोय मास सप्त धार।

मासी तप इकवीस अन्दाता, पक्ष पांच ही लार।

कंसो तप तपियो पूज्य दयाल सुनता आनन्द आवें ॥

यह है महामहिम आचार्य श्री के तप का संक्षिप्त वर्णन—

पांच मासी तप—१, चार मासी तप—२ तीन मासी तप—३

दो मासी तप—४ मासखमण तप—२१ पन्द्रह दिन का तप ५

तथा अन्य फुटकर तप अनेक प्रकार का भी करते रहे। आचार्य भद्रबाहू ने बताया है—भगवान् महावीर ने साढ़े बारह वर्ष के साधना काल में उप-अद्वितीय तप का आचरण किया, साढ़े बारह वर्ष में कुल ३४६ दिन ही आहार ग्रहण किया। किन्तु आप चकित होकर देखें कि ज्ञानार्थ श्री रुपनाथ जी महागज ने अपने आराध्यदेव के एक आदर्श की ओर भी अधिक निष्ठा के साथ अपनाया। अपने साधनान्तर्गत जीवन के ६० वर्ष

तपस्विनी श्रमणियाँ

जैन परम्परा में सिर्फ श्रमण ही नहीं, किन्तु श्रमणियाँ भी तपःसाधना में प्रतिस्पर्धा के साथ आगे बढ़ती रही हैं। काली, महाकाली, रामकृष्णा आदि महाराज श्रेणिक की दस रानियों की तपस्याओं का वर्णन अंतगड़ सूत्र में आता है, जिसे पढ़ते-पढ़ते रोमांच होने लगता है—कि एक सुकुमाल नारी जो किसी प्रतापी सम्राट की महिषी रही होगी, फूलों की शय्या में सोती रही होगी, मन चाहे मधुर मिष्ठानों से जिसकी मनुहारें होती होंगी वह नारी जब साध्वी जीवन में आती है तो इतना उग्र तप करना शुरू कर देती है कि जिसे सुन कर बड़े-बड़े योद्धाओं के दिल कांपने लग जाते हैं। चंदना, मृगावती आदि साध्वियों ने तपोमय जीवन की घटनाएँ तो अभी ढाई हजार वर्ष पुरानी भी नहीं हुई हैं।

और इस मध्यकाल में भी कितने महान श्रमण तपस्वी हुए हैं क्या उनका अमर इतिहास इन कागजों पर कभी उतरा है? शायद बहुत कम! सी में एकाधा ही, सैकड़ों-हजारों तपस्वियों ने अपनी तपःअग्नि की आहुतियाँ देकर जैन धर्म के तेज को, गौरव को सदा दीप्त किया है, करते रहे हैं।

अर्वाचीन युग में

मध्यकाल में भी अनेक महान तपस्वी, योगी हुए हैं जिनके उग्र तप की भारत के सुदूर प्रांतों तक में बहुत चर्चा थी। दुर्बलिका पुण्यमित्र, पादलिप्त सूरि तथा अन्य अनेक तपः साधकों के नाम लिये जा सकते हैं।

अभी दो सी-तीन सी पूर्व भी हमारे समक्ष ऐसे महान तपस्वी आए हैं—आचार्य भूधरदास जी, आचार्य रघुनाथ जी, पूज्य जयमल्ल जी, तपस्वी भोपत जी, तपस्वी श्री बेणीदास जी म० आदि। उनके तपोमय जीवन की घटनाएँ भी बड़ी प्रेरक रही हैं।

स्थानकवासी परम्परा के पूर्व पुरुष आचार्य भूधरदास जी म० स्वयं एक महान तपस्वी थे। तपस्या के विविध अंगों की उन्होंने कठोर आराधना की थी।

महान तपोधन आचार्य श्री रघुनाथ जी

हमारे प्रातःस्मरणीय आचार्य श्री रघुनाथ जी महाराज का अमर नाम

में उन्होंने सिर्फ ६७५ दिन ही आहार किया। अर्थात् ६० वर्ष में तीन वर्ष से भी कम आहार का समय रहा, बीस वर्ष में १ वर्ष से भी कम (१० मास २० दिन) ही सिर्फ आहार ग्रहण किया। कितना महान व दुर्घर्ष तप था उनका !

आचार्य रघुनाथ जी म० के गुरु भाई पूज्य जयमल्ल जी म० भी एक महान तपस्वी साधक थे। वे सोलह वर्ष तक निरंतर एकांतर तप करते रहे। उनके जीवन में एक और महान संकल्प था जो बड़ा उग्र तपश्चरण कहा जा सकता है। जब (संवत् १८०४) श्रद्धेय गुरुवर श्री भूधर जी म० का स्वर्गवास हो गया था तो आपने एक वज्रसंकल्प लिया कि—“आज से आजीवन सोकर नींद नहीं लूंगा।” आप इस तप की कठोरता अनुभव कर सकते हैं कि मनुष्य एक दिन भी यदि आराम से नहीं सोने पाये तो शरीर पर आलस छा जाता है, काम करने का मन नहीं होता, हाथ-पांव टूटते से लगते हैं, जिसमें एक दो वर्ष नहीं, लगभग पचास वर्ष तक, बुढ़ापे में भी कभी सोकर नींद नहीं ली।

भोपत जी तपसी, श्री वेणीदास जी म०, वेणीचन्द जी म० आदि अनेक तपस्वियों की उज्ज्वल परम्परा आज भी हमारे समक्ष है जो जैन धर्म में तप के महत्व को उजागर कर रही है।

यह बात नहीं है कि सिर्फ स्थानकवासी परम्परा में ही महान तपस्वी हुए हैं—खेताम्वर भूतिपूजक समाज में भी अनेक आचार्य, साधु-साधवियां सुदीर्घ तप करने वाले हुए हैं, तेरापंथी समाज में भी अनेक साधु साधवियां तथा थावक-थाविकाओं के सुदीर्घ तप की बातें हम सुनते आये हैं। ये सभी तपस्वी जैन धर्म के गौरव को, तप की महिमा को बढ़ाने वाले हैं और जैनधर्म की तप परम्परा को आदरणीय, प्रशंसनीय कड़ियां रही हैं। वर्तमान में भी सभी परम्पराओं में ऐसे तपस्वी संत, गतिव्या, गुरुभ्य हैं जो आज के भौतिकवादी युग में सन्तमुच में अद्व्यात्म युग का चमत्कार दिखा रहे हैं।

बाह्य-तप का स्वरूप :

२

१ अन्नशन तप

अशन और अनशन

अन्न का महत्व

आहार के विविध प्रकार

भोजन में आवश्यक रस व तत्त्व

आहारशुद्धि

आहार का उद्देश्य

भोजन में अनासक्ति

आहार करने के छह कारण

आहार त्याग के छह कारण

उपवास के लाभ

अनशन में निषिद्ध कार्य

अनशन तप के भेद

इत्थरिक् तप के छह भेद :

नित्य-तप (नानिभोजन-त्याग)

वस्त्र-पात्र की मर्यादा
भक्तपान ऊनोदरी—
आहार की मात्रा
वस्तीस कवल-प्रमाण
अतिभोजन के दोष
मित-भोजन के लाभ
अन्य भेद
भाव ऊनोदरी—
अल्पभाषण
अल्पकालह
उपसंहार

३ भिक्षाचरी तप

भिक्षा के तीन भेद
गोचरी और माघुकरी
वृत्तिसंक्षेप
नवकोटि परिशुद्ध भिक्षा
भिक्षा के दोष
भिक्षा के नियम
भिक्षा का काल
भिक्षा की विधि
मुषाजीवी
भिक्षाचरी के आठ भेद
सात एषणाएँ
तीस प्रकार के अभिग्रह
पुद्गलपत्र का महत्त्व
भिक्षा कैसे दे ?

भिक्षु प्रतिमाएँ

सर्वतो भद्रप्रतिमा

लघु सर्वतोभद्रप्रतिमा

महासर्वतोभद्रप्रतिमा

भद्रोत्तर प्रतिमा

यवमध्य चन्द्रप्रतिमा

वज्रमध्य चन्द्रप्रतिमा

लघुसिंह निष्क्रीडित तप

महासिंह निष्क्रीडित तप

मुक्तावली तप

रत्नावली तप

कनकावली तप

गुणरत्न संवत्सर तप

आयंविल वर्धमान तप

वर्षीतप

छहमासी तप

कल्याणक तप

महावीर तप

ओली तप

यावत्कविक अनशन

संलेखना

भक्त प्रत्याख्यान अनशन

पादपोषण अनशन

छपसंहार

२ ऊनोदरी तप

ऊनोदरी का अर्थ व स्वरूप

उपकरण ऊनोदरी—

दो कष्टः

इन्द्रियों की यह दासता ?

प्रतिसंलीनता के भेद

इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता

इन्द्रियों का स्वरूप

इन्द्रिय-विषयों में आसक्ति का वर्जन

इन्द्रिय प्रतिसंलीनता के दो रूप

संग त्यागो !

वीतरागता के तीन सोपान

पांच भेद

कषाय-प्रतिसंलीनता

अन्तरंग दोष

तीन श्रेणी : क्रुद्ध-जात-प्रज्ञात

क्रोधोत्पत्ति के कारण

क्रोध को विफल कैसे करें ?

एक तीर : तीन शिकार

मान से हानि

मदस्पर्श

अभिमान को कैसे जीतें ?

माया से दूर रहो

माया के दुष्फल

माया विजय

लोभ सर्वनाशक है

संतोष से लोभ को जीतो

मोह-प्रतिसंलीनता

मोह की परिभाषा

४ रस-परित्याग तप

'रस' क्या है ?

पङ्कज

विजय कितनी ?

रसविजय ही सबसे कठिन

क्या रस का सर्वथा निषेध है ?

स्वाद का निषेध

भोगपणा के पांच दोष

रस-लोलुपता से हानि

रसासक्ति से कामासक्ति

रस-त्याग के विविध रूप

उपसंहार

५ कायक्लेश तप

कायक्लेश की परिभाषा

वाईस परीपह

शरीर को कष्ट क्यों ?

कायक्लेश की दार्शनिक पृष्ठभूमि

सुकुमारता का त्याग

सहिष्णुता आवश्यक

कायक्लेश के प्रकार

आसन की साधना

आसनों के भेद

परिकर्म और विभूषा

उपसंहार

६ प्रतिसंतीनता तप

प्रतिसंतीनता

प्रतिसंतीनता

१

अनशन तप

अशन और अनशन

जैन भाग्यों में स्वरूप की दृष्टि से तप का वर्गीकरण करके उसके बारह भेद बताये गये हैं, जिनमें छह आश्वन्तर तप के और छह बाह्य तप के भेद हैं। बाह्य तप में सर्वप्रथम अनशन तप माना गया है। अनशन का अर्थ है— उपवास ! निराहार ! अशन कहते हैं—आहार को ! भोजन को ! भोजन का त्याग करना अनशन है। अनशन का महत्त्व और स्वरूप समझने के पहले अशन—आहार के सम्बन्ध में कुछ बातें जान लेनी आवश्यक है।

धिकरास भूत

जब पेट में भूत लगती है तो भोजन की इच्छा जागृत होती है। जब तक भोजन नहीं मिलता तब भूत के प्राणी तड़पते लगता है। उसके हाथ पैर तालवहीन हो जाते हैं। इसलिए भूत को सबसे बड़ी घेदना माना गया है—छुहा समा देवणा नत्थि—बुद्ध ने तो कहा है—जिघरच्छा परमारोणा—

तीन भेद

मन के रूप

पहले शुद्धीकरण : फिर स्थिरीकरण

तीन घुड़सवार

मन को कैसे मोड़ें ?

घारा बदल दो ।

कुशलीकरण

एकाग्रता

मन शुद्ध तो, वचन शुद्ध

अशुभ वचनयोग

अशुभ वचन के लक्षण

सत्य की परिभाषा

मौन का अर्थ

काय संकोच

यह पूजा भी है

विविक्त शय्यासन प्रति-संतीनता

अनगार कोन ?

आश्रम और विहार

अनिकेत जैन श्रमण

आवास क्यों नहीं ?

विवेक योग्य आवास

दो दृष्टियाँ:

ब्रह्मचर्य की सुरक्षा

अभय-भाव की साधना

उपसंहार



भजनजन तप

तो ऐसे अपवित्र कर्म, पाप और निकृष्ट आचरण मनुष्य पेट के लिए करता है। अर्थात् भूख से व्याकुल होकर जो चाहे सो पाप करने को तैयार हो जाता है। जब तक पेट में भूख रहती है, भगवान् याद नहीं आते—
“भूते भजन न होय गोपाला।”

अन्न का महत्व

इस दुमर पेट को भरने का, भूख को मिटाने का साधन है रोटी ! अन्न ! कहावत है—“भूते पेट को क्या चाहिए ? दो रोटी !” अन्न का पुजारी पुकारता है—“सारी बात सोटी एक तिरं दाल रोटी है।” जब तक शरीर है तब तक भूख है,^१ और भूख मिटाने के लिए अन्न है। अतः शरीर-धारण के लिए अन्न सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है ? इसीलिए वैदिक ऋषियों ने अन्न को प्राण कहा है—अन्नं वं प्राणाः^२—अन्न ही प्राण है। उपनिषद् के अध्यात्मज्ञानी ऋषिजनों ने भी अन्न की महिमा गाते हुए कहा है—अन्नेन पाय सर्वे प्राणा महोयन्ते^३—अन्न से ही सब प्राणों की महिमा स्थिर रहती है। अन्न न हो, तो हीरे जवाहर मोती मापक क्या काम के ? कहा जाता है कि एक धनाढ्य सेठ एक बार अपने घर में सोया था। पहरेदार बाहर लगी तो भंजार सोने, मगर अन्न का दाना वहां नहीं मिला। हीरे मोती से तिजोरियां भरी थी, किंतु अन्न के बिना उनका क्या करता ? पहरेदार आया नहीं, भूख-प्यास से तिलमिलाता सेठ भीतर ही भीतर दम तोड़ने लगा। तभी पहरेदार पहुंचा, उसने कमरा खोला, सेठ मरणाश्रय पड़ा था, मरते दम उसके मुंह से इतना ही निकला “जवाहर के हजार दानों से ज्वार का एक दाना बेहतर है।”

जब पेट में भूख की आग चुनगती है, तब अन्न ही उसे शांत कर सकता

-
- १ छद्म जाम शरीरं तप अस्ति —आचारंग सूत्रिका १।१।२
 - २ ऐतरेय ब्राह्मण ३।२।१०
 - ३ तैत्तिरीय उपनिषद् १।४।१

भूख ही सबसे बड़ा रोग है। पेट जब तक खाली रहता है, कोई काम मूसला नहीं। जैसे तेल के बिना दीपक टिमटिमाने लगता है, पानी के बिना मछली तड़फड़ाने लगती है, भोजन के बिना मनुष्य भी इसी प्रकार आकुल-व्याकुल हो उठता है, भूख से व्याकुल होकर ही किसी ने कहा था—

बुभुक्षितः किं न करोति पापं

—भूखा क्या पाप नहीं कर लेता। सन् १८४५ में जब बंगाल में भयंकर दुष्काल पड़ा था तब भूख से व्याकुल हुई एक माता अपने बच्चे को भी पकाकर खा गई थी। मनुस्मृति में एक स्थान पर बताया है—“अजीर्तं नाम के ऋषि ने भूख से व्याकुल होकर अपने प्यारे पुत्र शुनःशेष को यज्ञ में होम देने के लिए घेच डाला था।”^१ विश्वामित्र^२ जैसे ऋषि भी क्षुधा पीड़ित होकर चंडाल के हाथ से लेकर कुत्ते की जांघ का मांस खाने को तैयार हो गए।^३ इन उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होती है कि भूखा क्या नहीं करता? संस्कृत के एक कवि ने कहा है—

अस्य वगधोदरस्यार्थे किं न कुर्वन्ति मानवाः।

वानरीमिव वाग्देवीं नर्तयन्ति गृहे-गृहे।

इस पापी पेट को भरने के लिए मनुष्य कीन-सा पाप नहीं कर लेता? सरस्वती जैसी पवित्र वाग्देवी को भी वानरी की तरह घर-घर में हर किसी के सामने नचाने लगता है। कवि ने कहा है—

कयन फला वोह कूर, किता मुठ होय कबीश्वर,

सुत दासी नो सोय, न्याय सुय होय नरेश्वर।

कायर ने सूरत कहे, कहे सून न दाता,

नरां घणां रो नार कहे आ लिछमी माता।

जाचवा काज जिण-जिण विषे हुलस हाय हेठे घरे।

दुभर पेट भरखा भणी करम एह मानव करे।

१ मनुस्मृति १०।१०५

२ मनुस्मृति १०।५८

नमन तप

"महाराज ! ये सब चीजें तभी अच्छी लगती हैं—जब पेट में अन्न हो !
पेट भूखा तो जगत हवा ! भूखे पेट संसार में कहीं भी रस व आनन्द
नहीं आता ।"

रामचन्द्र जी ने गंभीर होकर कहा — "यह बात है ? तो फिर मैंने आप
लोगों से अन्न की कृपान क्षेम पूछी तो आप लोग हुंसे क्यों ? और क्यों मेरे
प्रश्न को उपेक्षापूर्वक दुहराया ?"
लोगों की समझ में आया—सचमुच अन्न ही सबसे मुख्य चीज है ! अन्न
से ही संसार की गाड़ी चलती है ।

आहार के विविध प्रकार
यहां अन्न से अर्थ है सुपक्व आहार ! इस सृष्टि में प्रत्येक शरीरधारी
प्राणी को आहार की अपेक्षा रहती है । बिना आहार के कोई प्राणी जी नहीं
सकता । जैन दर्शन का तो यहाँ तक कथन है कि कोई भी प्राणी अनाहारक
स्थिति में अधिक समय तक नहीं रह सकता । दो समय से अधिक अना-
हारक स्थिति नहीं रहती ।^१ अनन्तवली तीर्थंकर भगवान भी अनाहारक
नहीं रहते । वे भी शरीर चलाने के लिए आहार करते हैं ।

आहार की परिभाषा करते हुए जैनचार्यों ने कहा है— "दुग्धा वेदनीय
कर्म के उदय में भोजन रूप में जो वस्तु ली जाती है वह आहार (भाव-
आहार) है ।" वह आहार तीन प्रकार का है—

- (१) ओज आहार—जन्म के प्रारम्भ में—माता के गर्भ में सर्वप्रथम
लिया जाने वाला आहार !
- (२) सोम आहार—स्वप्न या रोम द्वारा लिया जाने वाला आहार,
जैसे पवन आदि ।
- (३) प्रक्षिप्त आहार—मुत्र या दन्तव्यतन आदि द्वारा शरीर में प्रवेश
किया जाने वाला आहार ।

१ एक ही चरित्राहारकः—तात्पर्यमूल २।३।

२ सूत्रशास्त्र निरुक्ति २।३

एक पौराणिक कथा है कि रामचन्द्र जी वनवास से लौटकर जब अयोध्या प्रवेश कर रहे थे तो अयोध्या के नागरिक उनके स्वागत में बहुत दूर तक आगे बढ़े। नागरिकों का अभिवादन लेते हुए रामचन्द्र जी ने सब प्रिय उनसे पूछा—आप के घरों में अन्न कुशल क्षेम है ?

स्वागत के अवसर पर रामचन्द्रजी का यह प्रश्न लोगों को बड़ा अजीबो-गरीब लगा, कुछ लोग मन ही मन हँसने लगे। उन्होंने सोचा—“वनवास में राम को जरूर भूख सताती रही है, इसलिए सबसे पहले अन्न की याद आयी है।” वे बोले—“हां, महाराज ! अन्न की क्या फिकर है ? सब कुशल है ?”

लोगों का छुप-छुपकर हँसना और व्यंग्यपूर्वक बोलना रामचन्द्र जी ने ताड़ लिया, पर उस समय वे कुछ नहीं बोले। स्वागत समारोह के बाद एक दिन नागरिकों को भोज के लिए बुलाया गया। नागरिक आये। काफी देर तक राम उनके साथ गपशप करते रहे। लोगों को भूख सताने लग गई। इधर उधर देखा, पर कहीं अन्न की वास भी नहीं आ रही थी। अतिरिक्त भूख से परेशान होकर नागरिकों ने कहा—महाराज ! पहले भोजन हो जाय ! फिर हम आपके साथ विचार चर्चा करेंगे।

पूर्व योजनानुसार रामचन्द्र जी ने सेवकों को संकेत किया—सोने के बालों में हीरे-मोती-मानिक भरे हुए आये ! सब नागरिकों के सामने जवाहरात के बाल रख दिये गये। लोग दिग्भ्रष्ट हो देख रहे थे—कुछ समझ नहीं पाये कि रघुपति राम उनके साथ आज क्या मजाक कर रहे हैं ?

राम बोले—श्रीमानो ! अब भोजन प्रारम्भ कीजिये ?”.....अब तो मजाक की हद हो गई ! पेट में चूहे दंढ पेन रहे हैं, और सामने हीरे पत्ते के बाल परोसे जा रहे हैं ? लोग बोले—“महाराज ! आप जैसे नीतिज्ञ आज हम लोगों से साथ क्या मजाक कर रहे हैं ?

राम ने कहा—“नहीं ! कोई मजाक नहीं !”

“तो हम क्या करें ? अन्न तो है ही नहीं !”

“अन्न का क्या करना है ? राम ने कहा।” अन्न का दाना तो मांभूती पीज है, कहीं भी मिला जाता है ! आप लोग हीरे जवाहरात सीजिये न ?

अनशन तप करता है। वर्तमान स्वास्थ्य विशेषज्ञों ने हमारे भोजन के आठ आवश्यक तत्व माने हैं—

- (१) प्रोटीन—दालें आदि।
- (२) फेट्स—जर्बलि पदार्थ—घी तेल आदि।
- (३) खनिज—लवण सहस्र पदार्थ।
- (४) कार्बोहाइड्रेट्स—मकंरा जातीय चीनी आदि।
- (५) कैल्शियम—चूना फासफोरस आदि।
- (६) लोहा—लोह युक्त पदार्थ।
- (७) पानी—पेय पदार्थ।

(८) कैलोरी—शरीर को गर्मी और शक्ति देने वाले तत्व। इन आठों तत्वों का उचित मात्रा में शरीर में पहुंचना आवश्यक रहता है। शुद्ध दूध और गेहूँ में ये आठों तत्व सबसे अधिक मात्रा में पाये जाते हैं अतः शरीर के लिए सबसे अधिक आवश्यकता। उन्हीं तत्वों की रहती है। फिर भी भोजन में संतुलन और आवश्यक मात्रा का ध्यान रखना जरूरी है।

मात्रा के साथ भी भोजन की वस्तु आदि का विवेक रखना आवश्यक है। जिस पदार्थ के सेवन से शरीर में राजस और तामस भाव की उत्पत्ति होती हो, वह पदार्थ स्वादिष्ट लगने पर भी नहीं खाना चाहिए। नीचा में आहार के तीन भेद बताये हैं—

सात्विक आहार

राजस आहार

तामस आहार

इन तीनों आहार का वर्णन करते हुए बताया है—

आयुः सत्य - क्षतारोग्य - मुक्तप्रीति - विषयन्ताः।

रज्याः स्निग्धाः तिपरा हृषा आहाराः सात्विक प्रियाः।

आयु को बढ़ाने वाला, सत्य, क्षतारोग्य, मुक्त प्रीति उत्पन्न करने वाला रज्याः स्निग्धा, तिपरा न होने वाला तथा हृषा को मुष्ट रज्याः

जैन धर्म में तब
 देव, नरक, तिर्यच एवं मनुष्य योनि में ये ही तीन प्रकार के आहार
 लिये जाते हैं। इनमें देवताओं का आहार बड़ा सुन्दर व मधुर रस, गंध,
 वर्ण व स्पर्श वाला होता है, जबकि नारकों का आहार-अंगारों के समान
 जलाने वाला, मुर्मुर् के समान दाह उत्पन्न करने वाला अथवा बर्फ के समान
 भयान्त जीतल ठिठुरन पैदा करने वाला होता है। पशुओं का आहार सुन्दर
 भी होता है तथा दुखद भी ! मनुष्यों के आहार के चार प्रकार बताये हैं—

(१) अशन—दाल-रोटी-भात आदि।

(२) पान—पानी आदि पेय पदार्थ।

(३) खादिम—फल-मेवा आदि।

(४) स्वादिम—पान-सुपारी-लींग आदि।

मनुष्य साधारणतः यह चारों प्रकार का आहार लेता है और इसी में से
 जीवनी शक्ति प्राप्त करता है।

भोजन के आवश्यक रस व तत्त्व

आयुर्वेद की दृष्टि से आहार के पञ्चरस माने गये हैं—

मधुर रस—मीठा-चीनी मधु आदि

फट्ट रस—कड़वा-नींबू आदि

आम्ल रस—खट्टा-कांजी आदि

तिक्त रस—तीखा-मिर्च, करेला आदि

काषाय रस—कपिला-आंवला आदि

लवण रस—नमक

इन पञ्चरसों से युक्त आहार मन को प्रीति, शरीर को बल व ओज
 प्रदान करता है। शरीर निर्माण में सभी रसों की आवश्यकता रहती है।
 तथा दूध, घृत आदि पदार्थों की भी। किंतु प्रत्येक रस का, घी दूध आदि
 का उचित प्रमाण ही शरीर के लिए आवश्यक होता है, अधिक मात्रा में
 कोई भी वस्तु उचित नहीं होती। मात्रा से अधिक तो अनृत भी हानि

१. नउजिहे आहारे-अमणे, पाणे, मादमे, मादमे — सप्तमं ५४३४०

वनवन तप

जैसा सावे अन्न वैसा होये मम ।
जैसा पीवे पानी वैसी धोले बानी ।

जैसा अन्न जल खाइये तैसा ही मन होय !

एक प्राचीन उक्ति है कि एक राज सभा में राजा ने विद्वानों से एक प्रश्न पूछा—दीपक तो मिट्टी का बना हुआ है, उसका रंग लाल है, तेल पीला है, उसमें कई की बाती बिल्कुल सफेद है, इससे जो ज्योति प्रगट होती है वह भी लाल है, किन्तु काजल काला होता है, इसका क्या कारण ? जब अन्य कोई चीज काली नहीं है तो उनसे उत्पन्न होने वाला काजल ही काला क्यों ? कज्जले श्यामतां कथम् ? राजा के प्रश्न पर सभी विद्वान मौन होकर सोचने लगे । तभी एक धनुमवी विद्वान उठा, उसने कहा—महाराज ! आपका प्रश्न ठीक है, तेल पीला है, बाती सफेद है, ज्योति लाल है, फिर कज्जल काला क्यों ? किन्तु महाराज ! जैसा आहार होता है वैसा ही नीहार होता है, जैसा अन्न खाते हैं वैसी ही डकार आती है—

दीपो भक्षयते ध्यातं कज्जलं च प्रसूयते ।

आपको मालूम है दीपक का भोजन क्या है ? वह अन्धकार को निगलता है, इसलिए वह काला काजल पैदा करता है । काले अन्धकार को खाने वाला तो काला काजल ही पैदा करेगा । मफेदी कहाँ से जायेगी ?

तो कवि का यह उत्तर शरीर और मन पर अन्न का प्रभाव बताता है । जैसा भोजन क्या जायेगा वैसी ही बुद्धि पैदा होगी । आपने ज्ञाना मूढ में मुनी है पुंडरीक और पंडरीक की कथा । कठरीक राजा ने दीक्षा लेकर हजार वर्ष तक कठोर तपस्या करके शरीर को मला दिया । किन्तु एक बार जब वे भाई की राजधानी में जाये वहाँ राजा उनकी भक्ति कान्ने लगा, राजा की देखकर लोग भी भक्ति करने लगे । सरल स्पर्शदिष्ट आहार निगलने लगा । पूजा-नमस्कार सम्मान निगलने लगा । वग उन सम्म-स्पर्शदिष्ट भोजन के चक्कर में पंडरीक मुनि फल गये । हजार वर्ष की तपस्या में

जैन धर्म में तप
सात्विक भोजन सात्विक प्रकृति वाले मनुष्यों को प्रिय होता है अतः यह
सात्विक आहार कहलाता है ।
फट्त्वन्मलवणात्युष्ण- तीक्ष्ण - रुक्ष विदाहितः ।
आहारा राजसत्येष्टा दुःख - शोकामयप्रदाः ।

—अति कड़वे, अति खट्टे अति नमकीन, अति उष्ण तीक्ष्ण, रुखे, जलन
पैदा करने वाले, खाने से दुःख शोक एवं रोग उत्पन्न करने वाले भोज्य
पदार्थ राजस प्रकृति वाले मनुष्यों को प्रिय लगते हैं, अतः यह राजस आहार
कहलाता है ।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च तत्
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ।^१
बहुत देर का पका हुआ, रस रहित, दुर्गन्धित, वासी, जूठा, तथा
अपवित्र भोजन तामस प्रकृति वालों को अच्छा लगता है अतः यह तामस
आहार कहा जाता है ।

आहार शुद्धि

जिस प्रकार का भोजन किया जाता है, वैसे ही विचार मन में उत्पन्न
होते हैं ? यदि शुद्ध सात्विक भोजन किया जायेगा तो विचार भी शुद्ध और
सात्विक रहेंगे । काम, क्रोध आदि की जागृति कम होगी । मन पवित्र
रहेगा । इसके विपरीत भोजन में यदि उत्तेजक पदार्थ लिये जायेंगे मिर्च-
मसाला, तीक्ष्ण चन्दे तथा गरिष्ठ पदार्थों का सेवन किया जायेगा तो यह
विकार बढ़ायेगा मन को चंचल बनायेगा । शास्त्र में कहा है—
पणोपं भक्त पाणं तु लिप्यं मयपिबद्ध्यं

प्रणीत—रसदार तेज मसाले वाला गरिष्ठ भोजन तुरन्त ही प्रसीर
में उत्तेजना फैला देता है, मद—अर्थात् काम-क्रोध की जागृति करता है
और मस्तिष्क को अशान्त कर देता है । क्योंकि अन्न का प्रभाव सीधा मन
पर पड़ता है । अतः इन कहावतों में बहुत ही सच्चाई है ।

जनजन तप

किन्तु श्री कृष्ण को वे छिलके भी बहुत मीठे और स्वादिष्ट लगे। तो श्री कृष्ण ने ऐसा क्यों किया ? इसीलिए कि पापी का अन्न कण भी मुँह में लेने से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, जैसी कि भीष्म पितामह जैनों की भी दुर्वोधन का अन्न खाने से हो गई। इसलिए भोजन में अन्न की पवित्रता, शुद्धता, स्वच्छता और सात्विकता का विचार रखना बहुत ही आवश्यक है। गांधी जी कहा करते थे—“आहार सुधारिये, स्वास्थ्य अपने आप सुधर जायेगा।” छांदोग्योपनिषद् के इन कथन पर भी गांधी जी का बहुत बल था—

आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः ।
स्मृतिलभ्ने सर्वप्रत्नवीनां विप्रमोक्षः ।^१

आहार की शुद्धि रहने पर अन्तःकरण—अर्थात् मन भी पवित्र रहता है, मन पवित्र रहने पर बुद्धि पवित्र और स्थिर रहती है, बुद्धि स्थिर रहने पर आत्मा में ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित हो उठती है और अज्ञान मोह की समस्त ग्रन्थियाँ सुत जाती हैं। तो वस्तुओं ! बुद्धि की स्थिरता और पवित्रता जीवन में बहुत ही आवश्यक बात है, यदि बुद्धि भ्रष्ट हो गई तो सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगा—बुद्धिनाशात् प्रणश्यति (गीता २।६३) बुद्धि को स्थिर व संतुलित रखने के लिए आहार को संतुलित और शुद्ध रखना आवश्यक है। इसीलिए हमने यहाँ पर आहार शुद्धि की चर्चा की है। आहार जितना सादा, सात्विक होगा मन उतना ही शांत और स्थिर रह सकेगा।

आहार का उद्देश्य

यह बात नहीं है कि आहार के बिना शरीर नहीं चल सकता, किन्तु यथा सभी लोग शरीर चलायाने के लिए ही आहार करते हैं ? बहुत से लोग, शरीर के लिए नहीं, किन्तु स्वाद के लिए ही आहार करते हैं। जीने के लिए भोजन नहीं करते किन्तु भोजन के लिए ही जिंदा रहते हैं। ऐसे मनुष्यों के जीवन का उद्देश्य क्या है, भोजन ! और भोजन का उद्देश्य क्या है स्वाद ! स्वाद के पक्षधर मैं के शरीर को, और शरीर को भी सर्वांग धार

१ छांदोग्य उपनिषद् ७।२६३

और रसों में गूढ़ हो गये।—मणुप्रंसि असस पाण खाइम साइमंसि मुच्छिए
 ादे गटिए—मनोज असन पान खादिम स्वादिम में गूढ़ हो गए, मूर्च्छित हो
 गए। बस, रस लोलुपता ने विचारों को झकझोर दिया मन को बदल दिया और
 हजार वर्ष की तपस्या खोकर वापस संसार में जाकर फंस गये। तो उनके
 मन पर यह बुरा परिणाम किस बात का हुआ ? हजार वर्ष तक जो विचार
 नहीं बदले वे कुछ दिनों के सरस-स्वादपिष्ट भोजन आदि से बदल गये।
 और—

मेही बन तीन दिवस आमिष आहार कर।
 सप्तमी नरक गयो भारी दुःख खान पै।^१
 सिर्फ तीन दिन संसार में आमिष आदि उत्तेजक आहार कर तीव्र भावों
 से भरकर सातवीं नरक में गया।
 बताना यह है कि उत्तेजक और राजसी भोजन का मन पर कितना
 गहरा प्रभाव पड़ता है।

महाभारत में भी भोजन क्रुद्धि के विवेक का एक उदाहरण हमारे
 सामने आता है। श्रीकृष्ण जब शान्तिदूत बनकर दुर्योधन को समझाने के
 लिए हस्तिनापुर जाते हैं कि तुम युद्ध मत करो, युद्ध से कुल का सर्वनाश
 हो जायेगा, केवल पाण्डवों को पाँच गाँव देकर इस विनाश लीला को टाल
 दो। तब दुर्योधन श्रीकृष्ण के स्वागत सत्कार में मिठाइयों के थाल सजाकर
 रखता है, भोजन का आग्रह करता है, किन्तु श्रीकृष्ण उस दुष्ट पापी के
 घर का एक कण भी मुँह में नहीं लेते। क्योंकि उनका अन्न पाप का बा,
 पापी का अन्न माने से बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है, इसलिए दुर्योधन के
 भेजे मिष्ठान छोड़कर विदुरजी के घर गये और वहाँ विदुर पत्नी को कहा—
 काकी ! भूख लगी है ! कुछ खिलाओ, तो वह भाव विह्वल हुई केले के पत्र
 बाँटे, छिलके उतारने लगी और श्री कृष्ण के प्रेम में ऐसी पापन हुई कि
 छिलके तो श्रीकृष्ण को देने लग गई, केले का गूदा स्वयं माने लग गई

अनशन तप

के नाम पर मद्य-मांस का सेवन करने में भी नहीं चूकते। यह मध्यम श्रेणी है।

३—साधना के लिए खाने वाले—ये मध्यम की रक्षा के लिए, तप त्याग के योग्य शरीर को बनाये रखने के लिए एवं भजन आदि साधना करने के लिए भोजन करते हैं। इनके भोजन में शुद्धता, नियमितता और मर्यादा रहती है। साधना में भोजन की आवश्यकता न होने पर ये भोजन का त्याग भी कर देते हैं। उनका उद्देश्य न स्वाद है, न स्वास्थ्य, किन्तु साधना ही उनका लक्ष्य है। ये सबसे उत्तम श्रेणी के लोग हैं। भोजन की तरह उपवास आदि को भी वे शरीर की घुराक मानते हैं।

भोजन में अनासक्ति

उत्तम श्रेणी के मनुष्य भोजन तभी करते हैं जब उन्हें साधना के लिए उसकी आवश्यकता रहती है। सूत्र में बताया है—साधुजन देह की रक्षा क्यों करते हैं? उत्तर दिया है—मोक्ष की साधना करने के लिए।" मोक्ष साधन हेउस्त साधु देहस्त धारणा—मोक्ष साधना के लिए ही साधु देह को धारण करता है, और देह को सुचारु रूप से कार्यरत रखने के लिए भोजन करता है। इस बात को शातामृत में धन्य सेठ का उदाहरण देकर बहुत ही स्पष्ट रूप में बताया गया है। धन्य सेठ का इकलौता पुत्र था देवदत्त। बड़ी मनोविधियों के बाद उसका जन्म हुआ था। सेठ-मेठानी का बड़ा ही प्यारा, बांगों का तारा और कलेजे की कोर था यह। एक बार वह घर के बाहर बच्चों के साथ खेल रहा था। अचानक उस नगर का कुम्भार चोर विजय उधर से निकला। उसने कुमार को विविध आभूषणों से मजा हुआ देखा तो उनके मुँह में पानी छूट आया। मोका देखकर उसने कुमार को उठा दिया और भाग गया। जंगल में जाकर उसने हरे-मोतिनों के मध गहने उतार लिये और बालक का मला मनोम कर एक श्रेष्ठ कूर्म में डाल दिया। बालक नहीं मिनने से धन्य सेठ के घर में कूहरान मच गया। नगर कीतमान को माय निकर उसने राजमूर का पत्ता-धपता छान, जाना।

ढालते हैं, स्वास्थ्य चौपट कर डालते हैं। कंठरीक का उदाहरण अभी आपके सामने दिया गया है, वह साधुत्व से भ्रष्ट होकर कुछ दिनों में ही क्यों मर गया ? इसका कारण स्पष्ट बताया गया है—अति मात्रा में भोजन-पान रस आदि विषयों में गूढ़ होकर। रात-दिन स्वादिष्ट-गरिष्ट भोजन करता रहा, वह हजम नहीं हुआ, शरीर में रोग फूट पड़ा। रोग होने पर भी स्वादिष्ट-गरिष्ट भोजन छोड़ नहीं सका, रोग बढ़ता गया और अंत में दुःख पाता हुआ मरकर सातवीं नरक में गया !

भोजन में जब ऐसी लोलुपता आ जाती है तो उनके सामने जीवन और स्वास्थ्य का भी कोई महत्व नहीं रहता, वे तो बस खाना ! खाना ! यही रट लगाये रहते हैं। किंतु यह अन्न-मूढ़ व्यक्तियों की बात हुई। साधारणतः विचारशील भोजन करता है तो उसमें संयम भी बरतता है, उस भोजन का उद्देश्य भी होता है। गांधी जी से किसी ने पूछा—“आप भोजन किसलिए करते हैं ?” गांधी जी ने कहा—“दान की तरह शरीर को पालने के लिए।” कबीरदास जी ने भी यही बात कही है—कि भूख एक कुतिया है, यह भौंकने लगती है तो हमारा चित्त चंचल हो उठता है, मन अशांत हो जाता है, अतः मन की शांति बनाये रखने के लिए और स्थिरता के साथ भजन करने के लिए इस भूख-कूतरी को रोटी का टुकड़ा डालना जरूरी है—

“भूख कबीरा कूतरी करत भजन में संग।”

बस भोजन करने का यही उद्देश्य है—क्षुधा शांत कर साधना करने रहना। विचारकों ने भोजन करने वालों की तीन श्रेणियों की हैं—

१—स्वाद के लिए भोजन करने वाले—ये अज्ञानी और मूर्ख लोग हैं, वे स्वाद की चाट में बर्बाद हो जाते हैं, शरीर व धन को चौपट कर डालते हैं। यह सबसे नीची श्रेणी है।

२—स्वास्थ्य के लिए भोजन करने वाले—ये जीवन की आवश्यकता महसूस करने वाले लोग हैं। शरीर व स्वास्थ्य की रक्षा तथा सुख करना उनका उद्देश्य है। ये स्वास्थ्य के लिए संयम भी रखते हैं पर स्वास्थ्य

अनशन तप

कुछ दिनों बाद सेठ बन्दीगृह से छूटकर घर आया। सेठानी ने उसका स्वागत-सत्कार भी नहीं किया। सेठ ने उसे परिस्थिति की विवशता समझाई कि यदि मैं उसे कुछ भोजन नहीं देता तो मेरा इतने दिन जी पाना भी कठिन हो जाता। नहीं चाहते हुए भी सिर्फ परिस्थिति से निबटने के लिए ही मैंने विजय को भोजन दिया था। सेठ के समझाने से सेठानी का रोप कम हो गया। इस कथानक का भाव बताते हुए कहा गया है—

सिक्साहणेसु आहार विरहिञ्चो जं न वट्टए देहो ।
तम्हा घणोव्व विजयं ताहू तं तेण पोसेज्जा ।^१

मोक्ष के साधना पथ में यह शरीर भोजन के बिना चल नहीं सकता, यद्यपि शरीर विजय चोर की तरह आत्मगुणरूपी पुत्रों का हत्यारा है, फिर भी समय पड़ने पर जैसे गधे को भी बाप बनाना पड़ता है, वैसे ही तप आदि करने के लिए इस शरीर का भी पोषण करना पड़ता है। किन्तु साधक शरीर से किसी प्रकार का मोह या ममत्व न रखकर सिर्फ अपनी जीवन साधना में सहायक होने के नाते ही इसका पोषण करे। जब देगे कि अब शरीर से कोई मतलब नहीं रहा है तब आहार का त्याग कर अनशन स्वीकार कर ले और शरीर के बन्धन से छूट जाय।

भोजन के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए जैन आगमों में रत्नानुसंग पर इस बात पर बल दिया गया है कि भोजन का उद्देश्य स्वाध गृही, गरीय का पोषण भी नहीं, किन्तु शरीर को धर्म सहायक बनाये रखना है। बताया गया है—जैसे गाड़ी चलाने के लिए पहियों के अंजन (दिनम तेल आदि) लगाया जाता है, गाव को डीक करने के लिए उस पर सेर भरहूम लगाया जाता है, उसी प्रकार साधु को संनम यात्रा निभाने के लिए, नंगन भा को ग्रहण करने के लिए तथा प्राणी को पालन करने के लिए भोजन करने चाहिए -

जंगल में उत्ती अंब वृक्ष से बालक की लाश मिली और फिर बाल-पातक विजय चोर भी पकड़ लिया गया। चोर के हाथ पैरों में बंधन डालकर कारावास में डाल दिया गया। पुत्र शोक में सेठ-सेठानी तिर-छाती पीटकर रह गये। जो मर गया उसका अब क्या हो ?

एक बार किसी व्यापारिक अपराध में धन्य सेठ भी पकड़ा गया। उसे उत्ती कागानार में विजय चोर के साथ एक ही बंधन से बांध दिया गया। सेठ के घर से भोजन आया देखकर विजय चोर के मुंह में भी पानी छूटा। भूख से वह व्याकुल हो रहा था। सेठ से प्रार्थना की—“सेठ ! यहाँ तो हम दोनों ही बंदी हैं, एक समान हैं। मुझे भी भूख लगी है, थोड़ा सा भोजन दे दो तो मेरे पेट की आग भी शांत हो जाय।”

पुत्र घातक विजय चोर की प्रार्थना पर सेठ आग-ववूला हो गया। उसने खूब डांटा, फटकारा और दुत्कार कर कहा—“मेरा अन्न बनेगा तो कुत्तों को डाल दूंगा, किन्तु तुझ दुष्ट को नहीं दूंगा।”

विजय चुप रहा। सेठ ने भोजन कर लिया। संध्या के समय सेठ को शरीर चिता के लिए जाने की इच्छा हुई। उसका एक पैर तो विजय चोर के साथ बंधा था, उसके बिना वह अकेला कैसे चला जाता ? सेठ बड़ी दुष्टि में पड़ गया। उसने विजय से अपने साथ चलने के लिए कहा। विजय ने मुंह बनाकर कहा—“जाते समय तो अकेले खाया, और जाते समय मुझे भी बुला रहे हो ? मैं क्यों जाऊँ ? जो खायेगा वह जायेगा ?” सेठ बड़ी परेशानी में फँस गया। शरीर जितना गोकने से उसका पेट दुस्तने लगा। बहुत आजीजी करने पर भी जब विजय उसके साथ जाने को तैयार नहीं हुआ तो हारकर सेठ ने उसे भोजन में से कुछ हिस्सा देना स्वीकार कर लिया।

दूसरे दिन नमस्ती के अनुसार सेठ ने मन नमोन कर भी विजय को अपना कुछ भोजन दिया। भोजन लाने लाने परक मोहर में वह कूटी आया नहीं देना गया। उसने जाकर सेठानी से यह बात कही तो वह सेठानी आग-आग हो गई। उसे सेठ पर जो यह भोजन देना है। सेठानी यह कि मेरे

अनशन तप

- १—धुया वेदनीय को जान्त करने के लिए अर्थात् भूख मिटाने के लिए ।
- २—वैयावृत्य अर्थात् बालक, वृद्ध, रोगी, गुरु तपस्वी आदि की सेवा करने के लिए ।
- ३—श्याममिति का पालन करने के लिए । भूख से चलना ठीक तरह नहीं हो पाता, अतः ठीक गतनापूर्वक चलने के लिए आवश्यक भोजन जरूरी है ।

४—संयम पालन के लिए, मन आदि का निग्रह करने के लिए ।

५—प्राणधारण करने के लिए । ध्यान आदि श्रियाओं की स्थिरता व

६—धर्म का चिन्तन करने के लिए ।

इन छह कारणों में हमारे भोजन के, और यों कहें तो जीवन जीने के मुख्य उद्देश्य आ गये हैं । मनुष्य सिर्फ अपने लिए ही नहीं जीता है, बेट के लिए ही जीता पाप है । उनके जीवन में कोई न कोई महान् उद्देश्य होता है । सेवा, त्याग, परोपकार, संयम साधना, अहिंसा व दया का पालन-प्रसार आदि । इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए शरीर की सबल होना भी जरूरी है, क्योंकि शरीर सबल रहता है, समर्थ रहता है तो दूसरों की सेवा भी की जा सकती है । जो गुरु ही दुर्बल होगा, रोगी होगा वह दूसरों की सेवा क्या करेगा, उसे तो स्वयं सेवा की जरूरत है । जैसे ही तपस्या करने के लिए भी शरीर समर्थ होना चाहिए । राजस्थानी में कहावत है—

खार हार नहीं हूँ । जो खाता है, वह बहाता भी । जो सोड़ । खाना खानेगा, वह मालिक के लिए सोड़गा भी ! जो शरीर भोजन आदि में कुछ खनेगा वह समय पर खाना खसका आदि करने में भी आगे रहेगा । किन्तु यदि शरीर खाने में आगे और सेवा में पीछे रहे तो वह शरीर और भोजन क्या नाम का ? जो सैनिक शक्ति के समय खा पीकर हल-मुष्ट खाता तो क्या प्रेता का रोगी हो जाय तो क्या वह सैनिक राष्ट्र के किसी काम है ? वही स्थिति हमारे शरीर की है, शरीर भोजन करे, तो बल ही

अवलोचंजणाणुलेपणसूयं संजम जायामाय निमित्तं ।
संजमभार वहणट्ठायाए भुंजेज्जा पाणधारणट्ठाए ।^१

इसी आशय का कथन, अन्य अनेक आगमों में भी मिलता है ।^२ इसी प्रकार का कथन एक वैदिक आचार्य का भी है—

शरीरं व्रणवद् ज्ञेयं अन्नं च व्रणलेपनम् ।^३

शरीर व्रण के समान है, और भोजन उस पर मरहम की भांति है । घाव को ठीक करने के लिए मरहम की जरूरत रहती है, घाव ठीक होने के बाद मरहम की कोई जरूरत नहीं, इसी प्रकार शरीर से साधना करने के लिए भोजन की जरूरत है, जब शरीर साधना करने में समर्थ न रहे तब उसे भोजन देने की भी कोई आवश्यकता नहीं रहती ।

आहार करने के छह कारण

आहार के उद्देश्य पर सभी दृष्टियों से विचार करते हुए भगवान् महावीर ने उसके छह कारण बताये हैं—

वेणण वेयावच्चे इरिपट्ठाए य संजमट्ठाए ।
तह पाणवत्तिपाए छट्ठं पुण घम्मत्तिताए ।^४

ध्रमण भोजन करने से पहले यह विचार करे कि वह भोजन किस लिए कर रहा है ? उसके भोजन की आवश्यकता क्या है ? क्योंकि ये छह बातें हैं, जिनके लिए कि भोजन किया जाता है —

- १ भगवती सूत्र ७।१-२ तथा— अन्नव्याकरण सूत्र २।१
- २ (क) जायामायाइ जावए—आचारंग ३।३

- (ख) नारस्तं जाया भुणि भुंजेज्जा—सूत्रकृतांग ७।२६
- (ग) स्थानांग ६ (भोजन के छह कारण इसी प्रकारण में दैमिण्)
- (घ) ...संजमभार वहणट्ठायाए विलनिवपन्नगभूएणं—भगवती ७।१।२२

- (च) जवणट्ठाए महामुणी—उत्तराख्ययन २।१।६ तथा २।१।३३

- ३ वीरान्न महाप्रभु

- ४ उत्तराख्ययन सूत्र = ६।३३ तथा स्थानांग सूत्र ६

नशन तप

स्वति में भी साधक जीवदया के लिए, अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए आहार का परित्याग कर दे।

(५) तप के लिए—जब साधक तप आदि करना चाहे तो उसके लिए भी आहार त्यागना होता है।

(६) शरीर त्याग के लिए—जब देने कि शरीर व्रत, वीर्य, ओज आदि से हीन हो गया है, चलने फिरने में ग्लानि होने लगी है, तब शरीर को छोड़ने के लिए उपवास वेला आदि तप तथा संन्यास^१ प्रारम्भ कर देनी चाहिए।

आचारांग में बताया है—जब श्रमण यह देखे कि अब यह शरीर चलने में असमर्थ हो रहा है, तब धीरे-धीरे उसे आहार का त्याग करते जाना चाहिए।^२

उपवास के लान

आहार त्याग के जो छः कारण बताये हैं—प्रकारान्तर से ये ही छह कारण अनशन के हो जाते हैं। अर्थात् आहार त्याग में जो उद्देश्य रहता है वही उद्देश्य अनशन का है। प्रारम्भ में हमने यही बताया है—व्रत का अर्थ है आहार ! और अनशन का अर्थ है—निराहार ! अर्थात् आहार त्याग, उपवास आदि।

तप का उद्देश्य क्या है यह तो प्रथम ग्लष्ट में ही बहुत विस्तार के साथ बताया गया है। आत्मशुद्धि, कर्मविमोक्षण वही प्रमुख उद्देश्य तप का है। यही इस विषय में पुनरुक्ति की आवश्यकता नहीं है, अतः अब अनशन

तप के विषय में ही विस्तार के साथ यहाँ बर्ना करनी है।

अनशन को सभी तपों में प्रथम स्थान मिला है, इसका कारण है—यह तप आचरण में अन्य तपों से अधिक कठोर और दुर्लभ है। अनशन में भूख पर विजय करनी होती है, और भूख ही संसार में दुर्लभ है। मनुष्य मारे भूख के सब अन्वय पर जानता है। तो उन भूख को जीतना और माप ही

१ संन्यास का अर्थ है इसी प्रकार में देना।

२निर्माणि तनु अहं इन्दिमि नमस्ते इमं शरीरं.....आचारसंग्रह ५७

कन्तु करे इसीलिए कि उससे संयम, सेवा, अहिंसा, त्याग आदि की प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिले। स्वाध्याय, ध्यान, आदि की वृद्धि हो। यदि इन कार्यों की आराधना में शरीर पीछे हटने लगे तो फिर इस शरीर का मोह नहीं रखकर इसे उपवास, तप, अनशन संलेखना आदि में झोंक देना चाहिए। इसीलिए जहाँ छह कारण आहार करने के बताये हैं, वहाँ आहार त्याग करने के भी छह कारण बताये गये हैं।

आहार त्याग के छह कारण

शास्त्र में कहा है—

आयंके उवसगो तितिवखणे वंभचेरगुत्तीसु
पाणीदया तवहेउं सरीरवोच्छेयणट्ठाए।^१

१ रोग होने पर—रोग में आहार करने से रोग और अधिक प्रबल होता है, इसलिए रोगादौ लंघनं श्रेयः—रोग की आदि में लंघन—उपवास अच्छा रहता है। राजस्थानी में कहावत है—

ज्वर जाचक अरु पावणा लंघन तीन फराय

इन सबका भाव है—रोग होने पर भोजन नहीं करना चाहिए।

(२) उपसर्ग—संकट आदि आने पर, उपसर्ग होने पर आहार त्याग कर उपसर्ग सहने में टट जाय।

(३) ब्रह्मचर्य में कठिनाई होने पर—यदि भोजन करने से मनोविकारों की वृद्धि होती हो, ब्रह्मचर्य की साधना में कठिनाई आती हो, तो आहार का त्याग कर ब्रह्मचर्य की साधना में स्थिर रहे। गांधीजी इसीलिए कहते थे—“उपवास से शरीर के रोग तो दूर होते ही हैं, मन के विकार भी दूर हो जाते हैं। अर्थात् शरीर एवं मन शुद्धि विधित्ता है।” तो भोजन करने से यदि रोग होता हो तो आहार का त्याग कर दें।

अनशन तप

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः^१

आहार का त्याग करने से मन के विषय विकार दूर हो जाते हैं। विषय-निवृत्ति होने से मन में पवित्रता आती है, शरीर भी रोगमुक्त रहता है, इस प्रकार नीरोग मनुष्य प्राप्त रहेगा—इससे जोज तेज प्रगट होगा। अतः उपवास करने से शरीर दुबल नहीं, किन्तु अधिक नीरोग, सबल, स्वस्थ और तेजस्वी बनता है। मनोबल बढ़ता है, मानसिक शक्तियाँ शुद्ध होकर केन्द्रित हो जाती हैं जिससे तपस्वी बड़े-बड़े कष्टों को भी चुटकियों में उड़ा देता है।

तपस्या के इन्हीं लाभ रूप परिणामों को देखकर एक ऋषि ने मुक्त कंठ से कहा है—

तपोनाशनानात् परं।

यद्धि परं तपस्तप्यं दुर्धमं त्वं दुराधर्मम्^२

—अनशन ने ब्रह्म और कोई तप नहीं है। साधारण मनुष्य के लिए यह तप बड़ा ही दुर्धम - सहन करना और बहन करना कठिन है, कठिनतम है। यह तो एक प्रकार की अग्नि का स्वर्ण है अथवा अग्निस्नान है। जो इसमें कूद पड़ेगा उसके समस्त मन दूर हो जायेंगे। वह निरंतर उठेगा, चमक उठेगा और जो ठरता रहेगा वह अपने जलुड रूप में ही पड़ा रहेगा।

जैन गुरुओं में तप के लाभ के विषय में पूछा गया है। गणपद गौतम भगवान् महावीर ने प्रश्न करते हैं—आहार का त्याग करने से किस पत्न की प्राप्ति होती है? अर्थात् आत्मा को लक्षण से क्या लाभ होता है?

उत्तर में कहा गया है—आहार का त्याग करने से जीवन की आर्मावा सर्वाङ्ग शरीर एवं प्राणों का मोह—छूट जाता है।^३ तपस्वी को न शरीर का मोह रहता है, और न प्राणों का। जब तक शरीर एवं प्राण के प्रति

१ भगवद् गीता २।१६

२ भगवद् गीता २।१६

३ आहारसंन्यासयोग श्रीविष्णुसंहिता २।१६

निग्रहीत करना अनशन तप की साधना है। इस साधना से शरीर
बढ़ भी होती है और मन की भी। जैसा कि पूर्व में बताया गया है—
न-अर्थात् उपवास यदि शरीर का सबसे बड़ा चिकित्सक है। एक
चिकित्सक से पूछा गया—संसार में सबसे अच्छा डाक्टर कौन
और कौन सी चिकित्सा सबसे अच्छी है? उसने उत्तर दिया—संसार
सबसे अच्छे डाक्टर पाँच हैं—

- १ उपवास
- २ मिट्टी
- ३ जल
- ४ हवा
- ५ धूप

और इन पाँचों की राय से जो चिकित्सा की जाती है वही चिकित्सा
सबसे अच्छी है।

प्राकृतिक चिकित्सा में शरीर शुद्धि के लिए उपवास सबसे पहली
चिकित्सा है। गांधी जी का विश्वास था—“उपवास से शारीरिक दोष दूर
होते हैं, और मनोबल बढ़ता है।” बहुत से दुःसाध्य प्रतीत होने वाले रोग
उपवास चिकित्सा से दूर हो जाते हैं। शरीर रूप स्वर्ण को तपाकर
निराकरने वाली अग्नि है—उपवास ! इसीलिए शुक्लरूप धारी इन्द्र ने जब
वाग्भट्ट से पूछा कि जो न भूमि में पैदा होती हो, न जल में न आकाश
में। जिसमें कोई रस भी नहीं, और कहीं बाजार में सरीसरे पर सात
रुपये में भी नहीं मिलती—किन्तु जिसके सेवन से शरीर के समस्त दोष
दूर हो जाते हैं ऐसी परम औषधि क्या है? वह ? वैद्य ! किमौषधम् ?—
वैद्यराज ! बतलाइए ऐसी औषधि क्या है ?

आयुर्वेदज्ञ वाग्भट्ट ने मोनकर उत्तर दिया—ऐसी परम औषधि तो
संसार में एक ही है और वह है—संघर्ष परमौषधम्—अनशन ! उपवास।

यह सब रोगों को दूर करने वाली रमायन है।
शरीर के सामान्य उपवास मन को भी सुदृढ़ करता है। मानसिक
बिमारों को जीतने के लिए, अन्तराशुद्धि के लिए उपवास से बढ़कर और
कोई साधन नहीं है। इसलिये गीता में भी कहा है—

अनशन तप

उतनी कर्म निर्जरा नहीं कर सकता। साधु तैले में जितने कर्म खपाता है, नैरयिक डीव करोड़ों वर्षों में भी उतने कर्म क्षय नहीं कर सकता और साधु एक चोला करके जितने कर्मों का क्षय कर शान्तता है, नैरयिक प्राणी तो करोड़ों-करोड़ वर्षों में भी उतने कर्म नहीं खपा सकता।^{११}

गीतम स्वामी ने यह प्रश्न राजगृह में भगवान महावीर से पूछा है, और प्रभु ने इसका उत्तर दिया है। इससे पता चलता है, जीवन में एक शुद्ध उपवास का कितना महत्व है? कर्मक्षय करने की दृष्टि से एक उपवास का कितना गौरव है? उपवास की गरिमा बताते हुए कहा गया है—

तप से तन रोग मिटे सगले, सगरे मध जीत रहे उनकी,
जप में मन लागत है सगरो, सब चंचलता जु मिटे मन की।
सप जाय कठोर विद्यानस ही, कमती न रहे उनके धन की,
'मिस्त्रो' कर एह जु मोद भरी शिव पावन चाह हूँ जिनकी।

तेज षड़ं निज वेह की, निरक्षय विषदा नाश।
फूट मिटायन फूटरो आछो जग उपवास ॥
शुद्ध भाव जो निज करत गुनि गुनि जन है जात।
बापसिद्धि सटकें वरं आछो जग उपवास ॥

अनशन में निषिद्ध कार्य

उपवास आदि तप का जो महान फल बताया गया है, वह जब मिलता है? जबकि तप की विधिपूर्वक किया जाय। उपवास में आहार का त्याग होता है, किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि निषिद्ध आहार का ही त्याग कर देने मात्र में उपवास का मंजूर फल मिल जाता है। आहार के माप-माप विषयों का, तीस आदि वस्तुओं का त्याग भी अनिवार्य है। निषिद्ध वस्तुओं में क्या है, उपवास में तीन कार्य करो और तीन कामें मत करो!—तीन कामें करो—

१. शत्रुघ्न का पालन

१. भगवती गृह सप्तक १९। उर्द्वक ४०

शक्ति रहती है, तप हो ही नहीं सकता। शरीर की सार-संभाल करने वाले प्राणों के मोह में पड़ने वाले—एक समय की भूख भी नहीं सह सकते। उन्हें लगता है—भूखा रहने से शरीर कमजोर हो जायेगा, शक्ति घट जायेगी। इसलिए खाने से ही उनका मन विपटा रहता है। वास्तव में यह वज्रान है। खाने से जितनी शक्ति नहीं आती उतनी पचाने से मिलती है। यदि बढ़िया से बढ़िया स्वादिष्ट व गरिष्ठ भोजन खाया, किन्तु हजम नहीं हुआ तो शक्ति बढ़ेगी या क्षीण होगी? अपचन हुआ। अजीर्ण हुआ तो रोग की शुरुआत समझ लो। रोग होने से शरीर दुर्बल होगा, आयुक्षीण होगी। खाये हुए भोजन को पचाने के लिए, उसका रस बनने के लिए पेट को विश्राम की जरूरत होती है, और वह विश्राम ही अनशन व ऊनोदरी तप है। तो इसलिए तप से आयु व शरीर क्षीण नहीं होते, किन्तु तप से मनुष्य दीर्घायु होता है। नीरोप रहता है।

हां तो मैं कह रहा था—शरीर का मोह रखने वाला उपवास आदि तप नहीं कर सकता। वह तप वही कर सकता है, जिसे शरीर की मजबूती न हो, प्राणों का मोह न हो, जीवन के प्रति कोई आसक्ति न हो। और जीवन के प्रति अनासक्त भाव जगना ही आहार त्याग रूप तप का फल है।

यहां एक बात ध्यान में रखने की है, शास्त्र में उपवास का लाभ कहा भी बताया है, वहां आध्यात्मिक लाभ ही बताया है। उपवास से होने वाले पारीरिक लाभ तो अपने आप होते ही हैं, उनके लिए कोई उपवास नहीं किया जाता, उपवास तो आत्मा को निर्मल बनाने के लिए, मन व शरीर का निग्रह करने के लिए ही किया जाता है। ऐसे उपवास का महान फल होता है।

भगवतो नृप मे एक प्रसंग पर पूछा गया है—“साधु एक उपवास करता है तो उससे जितने कर्मों का क्षय कर जानना है?”

उत्तर में बताया गया है—साधु एक उपवास में जितने कर्म तथा मज्जा है, उसने कर्म नैरतिक जीव हजारों वर्ष में भी नहीं तथा मज्जा। एक में में साधु जितने कर्मों का नाश कर सकता है, नैरतिक जीव लाखों वर्ष में

अनशन तप

अनशन तप के दो भेद हैं—

१ इत्वरिक—कुछ निश्चित काल के लिए

२ यावत्कल्पिक—जीवन पर्यंत के लिए,

यावत्कल्पिक तप को मरणकालिक (मृत्युपर्यंत) भी कहा जाता है। इत्वरिक तप में समय की मर्यादा रहती है, निश्चित समय के पश्चात् भोजन की आकांक्षा रहती है, इसलिए इस तप भी को सावकांक्ष तप कहा है, यावत्कल्पिक में जीवन पर्यंत आहार का त्याग कर दिया जाता है, उसमें भोजन की कोई आकांक्षा शेष नहीं रहती, जीवन के प्रति कोई आकांक्षा नहीं रहती इस कारण उसे निरवकांक्ष तप भी कहा गया है।^१

इत्वरिक तप के छह भेद

दो पक्षों के आधार त्याग से लेकर छह मास तक के उपवास को इत्वरिक तप माना जाता है, किन्तु यहाँ दो प्रश्न उपस्थित होते हैं। पहला यह है कि मूल आगम में इत्वरिक तप की गणना चउद्वे भक्ते चतुर्वे भक्ते अर्थात् एक अहोरात्रि के उपवास से प्रारंभ की गयी है। फिर चतुर्वे भक्त से कम समय के उपवास को अनशन तप क्यों माना जान ? आचार्य वात्साराज जी म० ने अपनी आत्मज्ञानप्रकाशिका हिन्दी टीका में दो पक्षों के आधार-त्याग को भी अनशन तप माना है।^२ यह मान्यता परम्परा में प्रचलित है, क्योंकि प्रकीर्ण तप के भेद में नवकारकी, पौन्यी आदि को भी तप माना है, लगता है उसी आधार पर यहाँ दो पक्षों के आधार-त्याग को अनशन में गिना गया है। किन्तु मूल आगम में यहाँ अनशन तप का वर्णन है, यहाँ कम से कम चतुर्वे भक्त को ही अनशन तप माना है, इससे कम काल का आहार-त्याग संभवतः उन्नोदरी तप की गणना में गिना गया है। तब केवलविषय है। दूसरी बात यह है कि इत्वरिक तप उल्लेखित छह मास का ही क्यों माना गया ? छह मास में अधिक काल का सावकालिक आधार त्याग क्या इत्वरिक

१ इत्वरिक सावकालिक या अनशनमा दुविधा भवे।
इत्वरिक सावकालिक निरवकांक्ष उ विवक्षितम् ॥

२ उपनिषद्भाष्य, भाग ३, पृष्ठ १३४४

२ शास्त्र का पठन
३ आत्मस्वरूप का चिंतन
और तीन कार्य न करो—

१ क्रोध

२ अहंकार

३ विषय-प्रमाद सेवन

उपदेश माला ग्रन्थ के रचयिता क्षमाश्रमण धर्मदासगणो ने कहा है—
फरसवयणे दिणतवं अहिकखवैतो हणइ मासतवं ।
वरिसतवं सबभाणो हणइ हणंतो य सामन्नं । १२४

—किसी को कठोर वचन कहने वाला एक दिन के तप का—एक उपवास के पुण्य का नाश कर डालता है । किसी की निंदा, भर्त्सना और मर्म पं चोट करने से एक मास के तप का पुण्य क्षीण हो जाता है । किसी का शाप देने और लट्टी आदि से प्रहार करने पर एक वर्ष का तप और हत्या करने पर जीवन भर तक किये गये तप के पुण्य को नष्ट कर देता है । इसका अभिप्राय है उपवास में कठोर वचन, शाप, गाली, निंदा, हिंसा आदि का भी त्याग करना चाहिए । तभी उपवास का योग्य फल प्राप्त होता है ।

अनशन के भेद

अनशन की पूर्वभूमिका स्पष्ट कर देने पर अब हमें अनशन तप के शास्त्रगत विविध प्रकारों पर विचार करना है । अनशन का सीधा अर्थ है—आहार त्याग ! आहार त्याग कम से कम एक दिन रात्रि (अहोरात्रि) का भी हो सकता है और उत्कृष्ट छहमासीने का भी जीवन पर्यंत का भी । उसके विविध भेद इस प्रकार हैं—

अणसणे दुविहे पणन्ते—
तं जहां—इत्तरिए य आवश्यकिए

इत्तरिए अणेंगविहे पणन्ते—
तं जहां—घटत्य भत्ते, छट्ठभत्ते जाय छम्मासिए भत्ते ।^१

अनशन तप

३ घनतप

४ वर्गतप

५ वर्ग-वर्ग तप

६ प्रकीर्णतप

(१) श्रेणी तप—श्रेणी का अर्थ है क्रम, अर्थात् पंक्ति ! उपवास, घेला, तेला, चोला आदि क्रम से किया जाने वाला तप श्रेणी तप, की गणना में आता है। यह तप उपवास से लेकर छह मास तक का होता है।

(२) प्रतर तप—श्रेणी को श्रेणी से गुना करना प्रतर है। प्रतर क्रम से अर्थात् श्रेणी तप को गुणाकार की दृष्टि से तप करने जाना प्रतर तप है। उदाहरण स्वरूप - उपवास, घेला, तेला, चोला इन चार पदों की श्रेणी है। इस श्रेणी की श्रेणी से गुना करने पर मोलह पद हो जाते हैं। वे मोलह पद नवलाई-चौड़ाई में बराबर होने चाहिए। जैसे पहली श्रेणी में १-२-३-४ यह क्रम सनेगा, दूसरी श्रेणी में सबसे पहले २ से निगा जानेगा और ४ के बाद १ निगा जायेगा। इसकी कोष्ठक से निगने का तरीका इस प्रकार है—

१	२	३	४
२	३	४	१
३	४	१	२
४	१	२	३

इस तप की एक श्रेणी पूर्ण करने में ० दिन लग के तथा ४ दिन आहार से भी १४ दिन लगते हैं। मोलह पद पूर्ण करने में कुल ४६ दिन लगते हैं जिसमें ४० दिन तप के तथा ६ दिन आहार के होते हैं।

तप नहीं है ? जबकि मान्यता यह है कि प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने स्वयं एक वर्ष का कठोर तप किया ।^१ उनके शासन में भी एक वर्ष का उत्कृष्ट तप माना गया है, मध्य के बाईस तीर्थंकरों के शासन में अष्टमास का उत्कृष्ट तप है ।^२ तो उनका तप किता तप की गणना में आवेगा ।

इस विषय में समाधान यह है कि इत्वरिक तप का यह वर्णन भगवान् महावीर (चरम तीर्थंकर) के शासन काल की अपेक्षा से ही किया गया है । चरम तीर्थंकर के शासन काल में इत्वरिक तप उत्कृष्ट छह मास का ही होता है, जो स्वयं भगवान् महावीर ने भी किया है । इस काल मर्यादा का कारण है उस समय का शरीर बल ! अस्तु, इसी हेतु से वर्तमान काल की दृष्टि से एक दिन के उपवास से लेकर छह मास पर्यन्त का उपवास इत्वरिक तप की सीमा में आता है ।

इत्वरिक तप में अनेक प्रकार की तपस्याएं आ जाती हैं । आगम में जितने प्रकार के तप 'गुणरत्न संवत्सर, महासिंह निष्क्रीडित तप, तथा सर्वतो-भद्र प्रतिमा आदि जितने भेद बताये गये हैं वे सब इत्वरिकतप के अन्तर्गत आ जाते हैं । उन सब भेदों का समावेश करते हुए संक्षेप में इस तप के छह भेद बताये गये हैं—

जो सो इत्तरिओ तवो सो समासेण छव्विहो ।

सेडितयो पपरतयो घणो य तह होइ वगो य ।

तत्तो य वग वगो पंचम छट्ठओ पइराण तयो ।

मण इच्छियचित्तव्यो नायव्यो होइ इत्तरिओ ॥^३

मन इच्छित फल प्राप्त करने वाला इत्वरिक तप संक्षेप में छह प्रकार का है—

१ श्रंषीतप

२ प्रतप्यप

१ कल्पसूत्र

२ संवत्सरं तु पश्यन् मज्झिमनियमसूत्रमागमं होइ ।

छन्मासं पच्छिमसरेण उ, मासो मज्झिमं तथुक्कोमं ।

३ उत्तराध्यायन ३:११०-११

धनशन तप

(६) प्रकीर्ण तप—श्रेणी आदि तपों में एक निश्चित विधि रहती है, निश्चित कालमान रहता है। किन्तु यदि साधक यथाशक्ति जैसा चाहे वैसा तप करना चाहे तो भी कर सकता है उस तप को प्रकीर्ण तप कहते हैं। प्रकीर्ण का अर्थ है फुटकर ! इसमें नवकारसी से लेकर वज्रमध्यचन्द्र प्रतिमा, वज्रमध्यचन्द्र प्रतिमा, गुणरत्न संवत्सर आदि सभी तप आजाते हैं। इन तपों का विस्तृत वर्णन आगमों में ब टीका ग्रन्थों में अलग-अलग स्थान पर प्राप्त होता है। अधिकतर तपों का वर्णन अंतगड़ सूत्र में आता है। वागुदेव की कृपा की १० रानियां काली महाकाली आदि ने भगवान् अरिष्टनेमि के तान्त्रिकों में दीक्षा ग्रहण कर जो विविध प्रकार की तपश्चर्याएं की उनका वर्णन अंतगड़ में किया गया है। कुछ तपों का अन्वय भी वर्णन आता है ! संक्षेप में यहाँ उन तपों का वर्णन किया जाता है।

(१) नवकारसी—सूर्योदय से लेकर दो घड़ी दिन बड़े तक अर्थात् सुहृन् भर के लिए बिना नमस्कार मंत्र पढ़े, आहार पानी ग्रहण नहीं करना। इसका दूसरा नाम नमस्कारिका भी है। बोलचाल की भाषा में इसे नवकारसी कहते हैं। नमस्कार मंत्र पढ़कर ही इसका पारणा किया जाता है, इस कारण इसे 'नमस्कार महिता' भी कहा जाता है। प्राचीन परम्परा के अनुसार नवकारसी चोविह्वर ही होती है। इसके गठिनशिवं मुदितनह्रिं आदि अनेक भेद भी हैं।

(२) पीरसी—सूर्योदय से लेकर एक प्रहर दिन बड़े तक चारों प्रकार के आहार का त्याग करना पीरसी तप है। पीरसी का अर्थार्थ है—'दुग्ध प्रत्याग छाना।' प्राचीन समय में जब घड़ी का आविष्कार नहीं हुआ था तो अपने घड़ी की छाया से व मधनों आदि की गति से ही समयज्ञान किया जाता था। एक प्रहर दिन बढ़ने पर मनुष्य की छाया घटते-घटते अपने घड़ी प्रत्याग रह जाती है, इसी कारण इस कालमान को पीरसी कहा जाता है।

(३) पूर्वाधे—सूर्योदय से लेकर दिन के प्रथम दो प्रहर तक का समय पूर्वाधे कहलाता है। दो प्रहर तक का आहारत्याग पूर्वाधे तप है।

(४) एकामरा—दिन में एकप्रहर एक अमरा पर बैठ कर भीरन कर

(३) घन तप—प्रतर की श्रेणी से गुणा करना घन है। जैसे सोलह की संख्या 'प्रतर' हुई, इसे श्रेणी ४ की संख्या से गुणा करने पर ६४ की संख्या आई, यह घन संख्या कहलाती है। इस संख्या के क्रम से किया जानेवाला तप—घन तप कहलाता है। श्रेणी तप में ४ कोष्ठक की श्रेणी चार बार लिखी गई, उसमें कुल १६ कोष्ठक बने। इसमें ८ कोष्ठक की श्रेणी ८ बार लिखी जायेगी। जैसे—

१	२	३	४	५	६	७	८
२	३	४	५	६	७	८	१
३	४	५	६	७	८	१	२
४	५	६	७	८	१	२	३
५	६	७	८	१	२	३	४
६	७	८	१	२	३	४	५
७	८	१	२	३	४	५	६
८	१	२	३	४	५	६	७

इस तप की एक श्रेणी पूर्ण करने में ३६ दिन उपवास के और ८ दिन पारणे के कुल ४४ दिन लगते हैं। आठों श्रेणी पूर्ण होने में कुल ३५२ दिन लगते हैं। जिनमें ६४ दिन भोजन के और २८८ दिन तप के होते हैं।

(४) वर्गतप—घन की वन से गुणा करना वर्ग है। यहाँ ६४ की ६४ के गुणा करने पर ४०९६ की संख्या आई है, यही वर्ग है। इस वर्ग से तपस्या करना वर्ग तप है।

(५) वर्ग-वर्ग तप—वर्ग की वर्ग से गुणा करना वर्ग-वर्ग है। जैसे वर्ग की संख्या ४०९६ है, इसे इसी संख्या ४०९६ से गुणा करने पर जो संख्या आती है वह है १६, ७७ ७२ १६। यही संख्या वर्ग-वर्ग है। इस संख्या से वन से जो तप किया जाता है वह वर्ग-वर्गतप कहलाता है।

अनशन तप

ये रात्रौ सर्वदाहारं वर्जयन्ति सुमेधतः ।
तेषां पक्षीपदासस्य फलं मासिन जायते ।

जो बुद्धिमान रात्रिभोजन का त्याग कर देते हैं उनको महीने में पन्द्रह दिन के उपवास का फल स्वतः मिल जाता है । धर्म एवं नीति शास्त्र में भी भोजन का समय दिन में ही माना है । रात को खाना, धर्म, दया आदि की दृष्टि से तो दोषपूर्ण है ही किन्तु स्वास्थ्य की दृष्टि से भी बहुत हानिकारक है । आचार्यों ने रात्रिभोजन को अशुभ भोजन कहा है—रात्रौ भुङ्क्षतममोजनम्—इससे अनेक कुपरिणाम आते हैं, जिनका विमूर्खजन निम्न पत्र में बताया गया है—

केरी के भरोसे सुल मेंढकी को योग बण्यो,
लापसी में छिपकली देखी जीय घाबरयो ।
नाय को उकाली चूल्हे बुझिक गिर्यो है आय,
घुँट लेता गरम-प्राय धरा पर जा गिर्यो ।
अहि तार खीर परी खीचड़ी में खान हड़्यो,
विगुनारी कही बीन प्राण गयो बाबर्यो ।
रात्रि भोज दुष्करतान जाती पञ्चगान खीजै,
'मिनरी' भनत पाप मेरु समता टर्यो ॥

मायु एवं श्रावण जो इस नियम तप का सर्व आचरण करना चाहिये । माय तप आचरण में सहज है, किन्तु फल प्रदान करने में उत्कृष्ट तप है ।

(१) अभिवृह तप—इसका विशेष वर्णन भिषागरी ग्रन्थ में देखिये ।

(१०) वसुधै भवत—रात में सोया अर्ध को चार भोजन का होता है । भोजन का अर्ध है दिन में एक बार का भोजन । माषादमल, दिन में दो बार भोजन होता है । उपवास में पूर्ण रात्रि दिन एक समय भोजन नहीं करता तथा उपवास के दिन दो समय भोजन न करना, और पान्थी के दिन भी एक समय भोजन न करना—ये चार समय के भोजन—भोजन का त्याग करना वसुधै भवत है । किन्तु वसुधै भवत तप का यह कुछ अर्ध तप खीज ही रहा है । उपवास में भी और प्राचीन ग्रन्थों में

एकाशन तप है। एकाशन शब्द से दोनों ही अर्थ व्यक्त होते हैं—एक + अशन तथा एक + आसन ! प्राकृत 'एगासण' शब्द से एकाशन एवं एकासन दोनों ही अर्थ होते हैं। प्रवचन सारोद्धार वृत्ति में कहा है—एक आसन पर बैठकर दिन में एकवार भोजन करना—एकाशन तप है ! प्राचीन परम्परा के अनुसार एकाशन में पौरोषी के बाद ही एकवार आहार किया जाता है।

(५) एकस्थान—बोलचाल की भाषा में इसे 'एकलठाणा' भी कहते हैं। भोजन प्रारम्भ करते समय शरीर की जो स्थिति हो, जिग स्थिति में बैठें हों, भोजन के अंत तक उसी स्थिति में बैठकर भोजन करना एकस्थान तप है। इसकी विशेषता यह है कि, चाहिते हाथ एवं मुख के सिवाय शरीर के किसी भी अंग को हिलाए बिना दिन में एक आसन से एकवार भोजन करना।

(६) आर्षविल—इस तप में सत्र रस (विगय)-घी-दूध आदि एवं लवण का भी त्याग किया जाता है। इस तप में दिन में एकवार भोजन किया जाता है, भोजन में कोई भी एक रस आहार जैसे उबले हुए बाकले, भुने हुए चने, सत्तू उड़द, चावल आदि एक प्रकार का अन्न लिया जाता है, यह भी लवण रहित और अन्न को पानी में भिगोकर लेना होता है। इस तप में स्वादिन्द्रिय का संयम ही मुख्य बात है।

(७) दिवस चरिम—दिन के अन्तिम भाग में, अर्थात् सूर्यास्त के समय, किन्तु सूर्यास्त से पहले दूसरे दिन सूर्योदय तक के लिए तिविहार या चौरिहार प्रत्याग्यान करना दिवस चरिम तप (प्रत्याग्यान) है। इस प्रत्याग्यान में रात्रि भोजन का भी स्वतः त्याग हो जाता है। जो कि श्रावक के लिए भी एक महत्त्वपूर्ण तप है।

(८) रात्रि भोजनत्याग तप (नित्यतप)—रात्रि भोजन का त्याग करना एक बड़ा तप है। जिसे नित्य तप कहा गया है। सूत्र में बताया है—
अहोनिच्छं तयो कम्म' रात्रि भोजन का त्याग एक प्रकार मग्न तप है, यान में १५ दिन का यह तप मुनिगणों को सहज रूप में हो जाता है। आवासी ने कहा है—

वनजन तप

स्कंधे में १२ भिक्षू प्रतिमाओं का वर्णन है। यहाँ प्राप्त वन के अनुसार इन तपः कर्मों की संक्षिप्त परिभाषा बताई जाती है—

प्रतिमाएँ—प्रतिमाएँ अनेक प्रकार की हैं, किसी प्रतिमा में तप के साथ ध्यान एवं कायोत्सर्ग का भी विधान है, वे प्रायः ध्यान प्रधान ही होती हैं, कुछ प्रतिमाओं में व्रतजः आहार का त्याग व भिक्षा में आहार की दत्ति का नियम रहता है।

भिक्षू प्रतिमा—भिक्षू के द्वारा विविध प्रकार के अभियोगों के साथ तप का वाचरण करना प्रतिमा कहलाता है। ये प्रतिमाएँ वारह हैं। इनमें ध्यान व कायोत्सर्ग भी साथ में चलता है।

(१) मात्स्यी प्रतिमा—यह पहली प्रतिमा है—इसका समय एक मास का है। एक मास तक भिक्षू एक दत्ति भोजन की ओर एक दत्ति पानी की ग्रहण करता है। दत्ति से अभिप्राय है—मत्त घारा। दाता भोजन देना प्रारम्भ करता है और जब तक यह व्रत बीच में नहीं टूटता यह एक दत्ति कहलाती है। यदि एक घान या एक बूँद जल देकर बीच में घारा टूट गई तो यह एक दत्ति हो गई। उसमें दुबारा नहीं लिया जाता। प्रतिमाधारी मुनि मत्त ध्यान व कायोत्सर्ग में लीन रहता है। तर्क एक बार भिक्षा का समय होने पर भिक्षाएँ जाता है। उनमें भी अभिप्राय व कठोर निवृत्त रहता है, उस नियम के साथ यदि आहार मिले तो न, नहीं तो दिना निष्प ही चोट जाता है। इसके संपूर्ण दिवस विस्तार के साथ दत्ताध्वस्तकाल में बताये गये हैं।^१

(२) द्विमात्स्यी प्रतिमा—द्विमात्स्यी प्रतिमा में दो मास तक दो दत्ति आहार की व दो दत्ति पानी की ग्रहण की जाती है, द्विमात्स्यी में तीन मास तक तीन-तीन दत्ति, इसी तरह चार मात्स्यी में चार-चार दत्ति, पाँच मात्स्यी में पाँच-पाँच दत्ति, षट् मात्स्यी में छह-छह दत्ति, सप्त मात्स्यी में सात-सात दत्ति ग्रहण की जाती है।

उक्त शब्द से अर्थ को ग्रहण नहीं कर एक अहोरात्र भोजन न करना मात्र इतना अर्थ ही ग्रहण किया गया है। इसे ही उपवास कहते हैं।

उपवास का प्राचीन नाम अभक्तायं भी है। भक्त का अर्थ है भोजन। अर्थ का मतलब है—प्रयोजन। जिसमें भोजन का कोई प्रयोजन नहीं हो, वह तप अभक्तायं है। अर्थात् अशन पान खादिम स्वादिम इन चारों अथवा पानी को छोड़कर तीनों आहार का जिसमें त्याग हो, उस अभक्तायं को ही उपवास कहा जाता है। उपवास को 'चतुर्थ भक्ते' चतुर्थ भक्त, वेले को 'छट्ट भक्त' तेसे को 'अट्टम भक्त' और इसी प्रकार चोले को दसम भक्त तथा आगे के उपवासों को दो-दो भक्त अधिक जोड़कर बताया गया है। मासिक तप को मासमग्न एवं छह मास के तप को छमासी कहा जाता है।

उपवास के आगे अनेक प्रकार के विचित्र-विचित्र उग्र तपोकर्म का वर्णन शास्त्रों में मिलता है। अंतगड़ में^१ यह तप करने वाले साधकों के नामों का उल्लेख भी आता है। उपवाई मूत्र^२ में भगवान के श्रमणों का जहाँ वर्णन किया गया है वहाँ बताया है—भगवान के अनेक भिक्षु कनकावलीतप करते थे, अनेक भिक्षु एकावली तप, अनेक भिक्षु महासिद्ध निष्क्रीडित तप, अनेक भिक्षु भद्रप्रतिमा, अनेक भिक्षु महाभद्र प्रतिमा, अनेक भिक्षु सर्वतोभद्र प्रतिमा, अनेक भिक्षु आर्यविल वर्धमान तप, अनेक भिक्षु मासिकी भिक्षु प्रतिमा, अनेक भिक्षु द्विमासिकी भिक्षु प्रतिमा से सप्त मासिकी भिक्षु प्रतिमा, अनेक भिक्षु एक अहोरात्र प्रतिमा, अनेक भिक्षु प्रथम-द्वितीय-तृतीय तप जहोरात्र प्रतिमा, अनेक भिक्षु एकरात्र प्रतिमा अनेक भिक्षु सप्त सप्तमिका प्रतिमा, अनेक भिक्षु सवमध्य चन्द्र प्रतिमा अनेक भिक्षु पञ्चमध्य चन्द्र प्रतिमा तप करते थे।

इस वर्णन के अतिरिक्त भी अंतगड़ मूत्र में गुणरत्न संवत्सर तप, रत्ना-वर्षी तप, मुक्तावली तप, भद्रोन्नर प्रतिमा आदि का भी वर्णन है। दत्तात्रेय

^१ अंतगड़ मूत्र पृष्ठ १ में ८ तप

^२ उपवाई मूत्र १५

अनजन तप

आते हैं, भिक्षु उन्हें अपार धैर्य के साथ सहन करता है। उसका ध्यान आत्म-स्वरूप में ही लीन रहता है। यदि वह किसी कारण इस प्रतिमा से चञ्चित-द्रष्ट हो जाता है तो या तो उन्मत्त—पागल हो सकता है, कोई भयंकर रोग से पीड़ित हो सकता है, अथवा धर्म से द्रष्ट भी हो सकता है। यदि इस प्रतिमा की आराधना में सफल होता है तो वह, अवधिज्ञान या मनःसर्व-ज्ञान की प्राप्ति अवश्य करता है। इसे ही एकराशि महाप्रतिमा कहा गया है। गजसुकुमान मुनि ने महाकाल श्मशान में इसी महाप्रतिमा की आराधना कर एक ही दिन की साधना में मोक्ष प्राप्त किया था।^१

सर्वतोभद्र प्रतिमा—सर्वतोभद्र प्रतिमा की दो विधियाँ बनाई गई हैं। प्रथम विधि के अनुसार प्रमजः दन्तों दिशाओं की ओर मुग करके एक-एक अक्षोरात्र का काशीस्तन किया जाता है। भगवान महावीर ने इसी सर्वतोभद्र प्रतिमा की आराधना की थी।

सर्वतोभद्र प्रतिमा की दूसरी विधि के दो भेद विधे गये हैं। एक सप्तसर्वतोभद्र, तथा दूसरी महानसर्वतोभद्र।

१ सप्तसर्वतोभद्र प्रतिमा—सर्वतोभद्र का अर्थ है अंकों की इस पार की स्थापना जिनको विधत् से ही जिनो, योग एक समान आने। जैसे सर्वतोभद्र संज्ञा बनाया जाता है, उसमें चारों तर्कों से विभिन्न पर समान योगफल आता है, वैसे ही प्रत्येक पक्ष की संख्या का योग समान होता सर्वतोभद्र प्रतिमा है।

इस प्रतिमा में उपनास से प्रारम्भ किया जाता है, और पहले हुए पंचोत्था (द्राघशमक) तक पहुँचा जाता है। इसकी पाँच पक्षिकाएँ पूरी होती पर एक पक्षिकाही होती है। एक पक्षिकाही का कायमान ३ महीने २० दिन होते हैं। चार पक्षिकाही की पूर्ण प्रतिमा होती है, जिसमें १३ मान १० दिन का हिसाब समझ समझा है। अंग स्थापना का प्रत्येक पक्ष में समझा जा सकता है। महासर्वतो महासर्वतो (अनसर्व) ने इस पक्ष की आराधना की थी।

आठवीं से दशवीं—प्रतिमा तक प्रत्येक प्रतिमा का कालमान एक सप्ताह का होता है। इनमें एक दिन चौविहार उपवास, दूसरे दिन पारणे में आयोजित किया जाता है। आठवीं प्रतिमा को अष्टम सप्त अहोरात्र प्रतिमा भी कहा जाता है। इसमें सात दिन तक चौविहार एकान्तर उपवास रखा कर उत्तानक या किसी पाश्र्व से शयन या पलंगी लगाकर गांव आदि से बाहर गुनमान जंगल में कायोत्सर्ग किया जाता है।

नवमी प्रतिमा—द्वितीय सप्त अहोरात्र प्रतिमा कहलाती है। इसमें भी सात दिन तक एकान्तर चौविहार उपवास, पारणे में आयोजित उत्कृष्ट, लगण्डशादी (केवल सिर व एडियों का पृथ्वी पर स्पर्श हो, इस प्रकार पीठ के बगल लेटना, या दण्डायत (सीधे दण्ड की तरह लेटना) होकर ग्रामादि के बाहर कायोत्सर्ग किया जाता है।

दसवीं प्रतिमा—तृतीय सप्त अहोरात्र प्रतिमा है। इसमें सात दिन के चौविहार एकान्तर तप के साथ गोदुहासन वीरासन, या आश्रमुक्कशान्त (आश्रमफल की तरह वक्राकार स्थिति में बैठना) से ग्रामादि के बाहर कायोत्सर्ग किया जाता है।

ग्यारहवीं प्रतिमा—एक अहोरात्र की होती है। इसमें निक्षु चौविहार करता है और गांव के बाहर शून्य स्थान में भुजाएं सीधी लम्बी करके कायोत्सर्ग करता है। बारहवीं प्रतिमा एकरात्र प्रतिमा कही जाती है। इस की साधना सर्वाधिक कठोर है। सामान्य साधु इस प्रतिमा की आराधना नहीं कर सकता। विनिष्ट संहनन, विनिष्ट धैर्य, व महामाद्व से युक्त नादिव्राह्मणा अणुगार गुरु आदि की आज्ञा प्राप्त करके ही इस प्रतिमा की आराधना कर सकता है। इस प्रतिमा की आराधना में चौविहार केला (अष्टम भक्त) किया जाता है। ग्राम आदि के बाहर जिनमुद्रा (दोनों पैरों के बीच चार अंगुल का अन्तर रखते हुए मोघा नम अवस्था में खड़े रहना) में स्थित होकर भुजाएं लम्बी करके, अनिनिष गवन एक पुष्पसूत पर टिकाकर मुझे हुए बदन में एक दिन रात्र तक कायोत्सर्ग किया जाता है। इस साधना में अनेक प्रकार के वैश्विक, मातृश्रिक, शिवैक्यन मन्त्रकी उपासना

धनशत तप

भद्रोत्तर प्रतिमा—इस तप का आरम्भ पंचोत्ति (छादश भक्त) से प्रारम्भ होकर नौ (वीन भक्त) तक पहुँचता है। यह भी पिछले क्रम से चलता है। एक परिपाटी में छहमास बीस दिन लगते हैं। चारों परिपाटी पूर्ण करने में २ वर्ष २ मास २० दिन लगते हैं। महासती रामकृष्ण (अंतगढ़) ने इस तप की आराधना की भी। इसे निम्न मंत्र से तनवें।

भद्रोत्तर प्रतिमा

५	६	७	८	९
७	८	९	५	६
९	५	६	७	८
६	७	८	९	५
८	९	५	६	७

यवमत्स्य चन्द्र प्रतिमा—यह तप शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से प्रारम्भ होता है। जैसे चन्द्रमा की कक्षा शुक्ल पक्ष में बढ़ती है और पूर्णिमा के बाद अमवस्य पड़ती जाती है वैसे ही इस तप में दत्ताकृति से भिक्षा से आहार की दत्ति की वृद्धि-हानि होती रहती है। अमवस्यार्ध-शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को एक दत्ति, द्वितीया को दो दत्ति और इस पक्ष में शुक्ल-एक दत्ति बढ़ाते हुए पूर्णिमा को पन्द्रह दत्ति। शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को चौदह दत्ति, और अमवस्य-एक दत्ति बढ़ाते हुए अशुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को पन्द्रह दत्ति ही प्राप्त की जाती है। अमवस्य की उपवास समाप्त होता है। पूरी उपवास एक मास की होती है—इसे नियम परिशिष्ट १ में।

लघुसंवतोभद्र प्रतिमा

१	२	३	४	५
३	४	५	१	२
५	१	२	३	४
२	३	४	५	१
४	५	१	२	३

(२) महासंवतो भद्र तप—इस तप का प्रारम्भ उपवास से किया जाकर सात (षोडश भक्त) उपवास तक पहुँचा जाता है। बढ़ने का क्रम लघु की भाँति ही है, अन्तर केवल इतना ही है कि लघु में उत्कृष्ट तप पंचोत्तर महा में ७ उपवास। एक परिपाटी का कालमान १ वर्ष १ महीना और १० दिन है। इसकी भी चार परिपाटी होती है। चारों का सम्पूर्ण कालमान वर्ष ५ मास १० दिन का है। इसकी आराधना वीरकृष्णा (अंतगढ़) में की। इसका क्रम निम्न मंत्र के अनुसार है—

महासंवतो भद्र प्रतिमा

१	२	३	४	५	६	७
४	५	६	७	१	२	३
७	१	२	३	४	५	६
३	४	५	६	७	१	२
६	७	१	२	३	४	५
२	३	४	५	६	७	१
५	६	७	१	२	३	४

अनशन तप

अनुसार इस तप में एक चरण आगे बढ़ाकर फिर पीछे आया जाता है, और फिर अगले चरण से एक चरण आगे बढ़ा जाता है।

इसकी पहली परिपाटी में १० मास १५ दिन लगते हैं। चारों परिपाटी में ३ वर्ष १० मास का समय लगता है। पहली परिपाटी के पारने में विषय आदि तब रस लिये जा सकते हैं। दूसरी परिपाटी में पारने में विषय का त्याग, तीसरी में जेप का भी त्याग और चौथी परिपाटी में पारने में आग-विल किया जाता है। विष से स्पष्ट समझा जा सकता है। अंतगढ़ रूप के वर्णनानुसार इसकी आराधना महासती प्रियसेनकृप्या ने की थी।

रत्नावली तप—रत्नमणियों की आकृति बनाने की कल्पना के अनुसार इस तप की विधि का आचरण किया जाता है। उपवास से १६ तक बढ़ा जाता है और फिर उमी कम से उतरा जाता है। एक परिपाटी में १ वर्ष ३ मास २२ दिन लगते हैं। सम्पूर्ण तप में ५ वर्ष २ मास २८ दिन लगते हैं। पारने में विषय आदि का वर्जन चारों परिपाटी में पिछले कम से ही चलता है। परिनिष्ठ गत चित्र से इसकी रचना समझी जा सकती है।

एकावली तप—एक लट्ठी के छार की रचना की कल्पनानुसार इस तप का आचरण किया जाता है। उपवास में सोलह तक बढ़ना और फिर उमी कम से उतरना। एक परिपाटी में १ वर्ष २ मास और २ दिन का समय लगता है। चारों परिपाटी में कुल ४ वर्ष ८ मास और ८ दिन का समय लगता है। पहली में सर्व रस प्राण होते हैं, दूसरी परिपाटी के पारने में विषय का त्याग, तीसरी में जेप त्याग एवं चौथी में अत्यधिक किया जाता है। विष देशिय परिनिष्ठ १ में।

कनकावली तप—कनक मणियों के भूषण विभाग के आकार की कल्पना के अनुसार इस तप किया जाता है। एक परिपाटी में १ वर्ष ५ मास १२ दिन या चारों परिपाटी में ५ वर्ष २ मास और १८ दिन लगते हैं। विषय आदि का त्याग पूर्णतः ही समझना चाहिये। विष देशिय।

पुनरुत्पन्न संवत्तर तप—इस तप में विशेष निर्वेद कुल की रचना (उत्पत्ति) होती है, अथवा विशेष निर्वेद कुल रूप रत्नों की आराधना में

यज्जमप्य चन्द्र प्रतिमा इसका क्रम कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से प्रारम्भ होकर चन्द्र कला की हानिवृद्धि के अनुसार दत्ति की हानि-वृद्धि से बचाव होती है। उदाहरणार्थ कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा को १५ दत्ति, द्वितीया को १४ दत्ति, तृतीया को १३ दत्ति, चतुर्थी को १२ दत्ति, पंचमी को ११ दत्ति, षष्ठी को १० दत्ति, सप्तमी को ९ दत्ति, अष्टमी को ८ दत्ति, नवमी को ७ दत्ति, दशमी को ६ दत्ति, एकादशी को ५ दत्ति, द्वादशी को ४ दत्ति, त्रयोदशी को ३ दत्ति, चतुर्दशी को २ दत्ति और पूर्णिमा को उपवास किया जाता है। इस तप का काल मान एक मास का है। देखिये चित्र परिनिष्ठ १ में।

लघुसिंह निष्क्रीडित तप—सिंह गमन करता हुआ पीछे मुड़कर देखा करता है—यह सिंह का जातिगत स्वभाव है। इसी अर्थ में सिंहावलोकन शब्द चलता है। सिंह की इसी गति के क्रम से आगे बढ़ना और साव ही पीछे आना, फिर आगे बढ़ना और फिर पीछे आना—इस गति से जो तप किया जाता है वह सिंहनिष्क्रीडित तप कहलाता है। यह दो प्रकार का है—एक लघु सिंह निष्क्रीडित दूसरा, महासिंहनिष्क्रीडित।

लघुसिंह निष्क्रीडित तप में अधिक से अधिक नौ दिन की तपस्या की जाती है, और फिर उसी क्रम से तप का उतार होता है। इस तप की एक परिपाटी में ६ मास ७ दिन लगते हैं। चारों परिपाटी में २ वर्ष २८ दिन लगते हैं। यह तप महाकाली ने किया था। समझने के लिए चित्र देखें परिनिष्ठ १ में।

महासिंह निष्क्रीडित तप—लघुसिंह निष्क्रीडित तप का वर्णन ऊपर में किया गया है। उसमें अधिक से अधिक नौ दिन की तपस्या की जाती है। इस तप में अधिकाधिक सोलह दिन का तप होता है और फिर उसी क्रम से उतार भी होता है। समग्र तप में १ वर्ष ६ महीने और १८ दिन लगते हैं। इस तप की भी चार परिपाटी होती हैं। चारों परिपाटी में छह वर्ष ही महीने १२ दिन लगते हैं। अंतर्गत ग्रन्थ के वर्णनानुसार इस तप की आगमना महाकाली स्वयं से की थी समझने के लिए चित्र देखिए परिनिष्ठ १ में।

मुक्ताक्षती तप—मोक्षिणी के द्वार स्थित की आकृति की बजाया के

अनशन तप

उसी स्मृति में चैत्र कृष्ण ८ से प्रारम्भ कर वैशाखशुक्ल ३ तक एकान्तर उपवास करना वर्षी तप कहलाता है।

(२) छह मासी तप—भगवान महावीर १३ बोल के अनिग्रह के समय ५ मास २५ दिन तक निराहार रहे। उन स्मृति में ५ मास २५ दिन तक एकान्तर तप आदि करना छहमासी तप कहा जाता है।

(३) कल्याणक तप—प्रत्येक तीर्थंकर की पंच कल्याणक तिथियाँ हैं—ज्यमन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण। इन कल्याणक तिथियों को उपवास या आयचित्त करना कल्याणक तप है। इन तिथियों में अक्षय तृतीया (शुक्ल पारणा) शीघ्र यदि १० (पार्वं जयन्ती) चैत्र शुदि १३ (महावीर जयन्ती) कार्तिक अमावस्या (दीपावली) आदि के उपनयन में अनेक लोक उपवास, तथा दीपावली को बेला आदि करते हैं।

(४) महावीर तप—भगवान महावीर ने १२॥ वर्ष के छपसव साल में अनेक तपस्याएं की थीं। १ छमासी तप, १ पांच मास, २५ दिवस। ६ पार मासी, २ तीन मासी, २ दो मासी, १२ एक मासी ७२ पारिक तप, १२ तेले २२६ बेले, १ भद्र प्रतिमा १ महा भद्र प्रतिमा, १ सर्वतोन्नत प्रतिमा तप किये थे। आज उनकी स्मृति में तेले तक के तप के स्थान पर एकान्तर उपवास, तथा बेले के स्थान पर आयचित्त के बेले, आदि किये जाते हैं, जो महावीर तप कहलाता है।

(५) पान्दन वाता तप—तेजा करके पारले में छन्द के वातले, व सोई रक्षा बीरस वरसु ग्रहण करना। यह तप अश्वमेधा के तेले की स्मृति में किया जाता है।

(६) प्रदेसी तप—प्रदेसी राजा पहले बहुत नास्तिक था। केजीबुमार भगवान ने उसे प्रतिवीर्य देकर सम्यग्बुद्धी दत्ता। सम्यग्बुद्ध प्राणि के समान उसने १३ बेले और १ बेला किया। उस स्मृति में अक्षय की १३ बेले और १ बेला किया जाता है जिसे प्रदेसी तप कहते हैं।

इस तप प्रायः दिन की आरम्भवाक्य के रूप में किये जाते हैं। जिसके माता-पिता तप कहा जा सकता है। जैसे श्रीमोक्ष - अनिग्रह, सिद्ध, आर्या

एक वर्ष का समय बीतता है इसलिए इसे गुणरत्न संवत्सर तप कहते हैं। इसमें तपो दिन १ वर्ष से अधिक होते हैं इसलिए भी इसके साथ संवत्सर नाम जुड़ा है। इसमें प्रथम मास में एकान्तर उपवास किये जाते हैं, १६ उपवास और १४ पारणे होते हैं। द्वितीय मास में बेले-बेले पारणा, तृतीय में तेले-तेले इस प्रकार क्रमशः बढ़ते हुए सोलहवें महीने में सोलह-सोलह का तप किया जाता है। तपस्या के साथ दिन में उत्कुटकासन से सूर्य के सामने बैठकर आतापना ली जाती है, और रात में बीरासन से वस्त्र रहित रहा जाता है। सम्पूर्ण तप में १६ मास ७ दिन लगते हैं, जिसमें ७३ दिन पारणे के आते हैं। बक्षीम सागर मुनि (अंतगढ़ २) ने इस तप की आराधना की थी। चित्र देविए परिशिष्ट १ में।

आयंविल वर्षमान तप—आयंविल की परिभाषा बोधे बतायी जा चुकी है। नुना हुआ, तथा रंघा हुआ एक प्रकार का ही अन्न पानी में भिगोकर दिन में एक बार खाना आयंविल कहलाता है। वर्षमान का अर्थ है निरंतर बढ़ते जाना। पहले दिन १ आयंविल, फिर दो आयंविल, फिर उपवास, तीन आयंविल फिर उपवास गों बढ़ते हुए सौ आयंविल तक चले जाना और बीच में उपवास करते जाना आयंविल वर्षमान तप कहलाता है। इस तप में कुल २४ वर्ष ३ मास और बीस दिन का समय लगता है। अंतगढ़ मूल के अनुसार महासती महामेत कुण्डा ने इस तप की आराधना की थी।

प्राचीन जनों एवं परम्परागत मान्यताओं में उक्त तपः विधियों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रकार के तप प्रचलित हैं। कुछ तप प्राचीन परम्पराओं की स्मृति में किये जाते हैं, कुछ आराधना में एवं कुछ पर्वों के उपलक्ष्य में। स्मृति रूप में किये जाने वाले तप की संस्मरणात्मक तप भी यह समझे हैं। कुछ तप वर्तमान में बहुत ही प्रसिद्ध हैं। जैसे—

(१) वयोतप—प्रथम वीर्योत्तर भगवान् श्रीपद्मदेव ने बीस वर्ष का आयु ही की वीर्य की थी, उसी दिन से तप प्रारम्भ कर बीसवार दुःखा ३ मर के निराकार रहे अर्थात् समस्त एक वर्ष और पञ्चमीस दिन तक उपवास करते रहे। बीसवा गुफा ३ की इच्छा के द्वारा उनका प्राप्ति हुआ। उसी

जो रोहिणी तप (संतान प्राप्ति हेतु) आदि किये जाते हैं उनका फल बहुत ही लम्बे होता है अतः तप नहीं प्रचलित और पूर्ण फल देने वाला होगा जो कुछ आत्मत्वन के लिए किया जायेगा । यह सब भेद दृष्टिकर तप के रूप ।

साधकदिक अनशन

अनशन तप का दूसरा भेद है—साधकदिक अनशन ! साधकान का अभि है जीवन पर्यन्त ! जब से अनशन स्वीकार किया जाता है तब से तिरुत आहु तक अर्थात् मृत्यु आने तक आहार आदि का त्याग करना साधकदिक अनशन है । इस अनशन के कई प्रकार हैं, कई दृष्टियों से अलग-अलग भेद बताये गये हैं, उन भेदों पर विचार करने में पहले इस अनशन की कुछ भूमि एवं संवेचना तप पर भी कुछ विचार कर लेना चाहिए । तथा साधकदिक अनशन क्यों किया जाय इस बात पर भी कुछ चर्चा कर लेनी है ।

संवेचना

रक्षणात्मक रूप में आहार करने के छद्म कारण बताये हैं वही पर आहार त्यागने के भी छद्म कारण बताये गये हैं । उनमें कुछ कारण बताये हैं—करीर पोषणार्थम्, शरीर त्याग करने के लिए भी आहार न चरे । शरीर पालन का उद्देश्य है धर्म साधना करना । जब शरीर इस योग्य न रहे, शीघ्र होने लगे, तेजा, स्वास्थ्याय, तप आदि करने में असमर्थ हो जाय तब साधक के लिए यही उपयुक्त होता है कि वह शरीर के द्वारा अथवा छद्म कारणों से अथवा अनेक कारणों से शरीर को छोड़ दे । शरीर

१६८

उपाध्याय, साधु, ज्ञान, दर्शन, चाग्नित्रय तप—इन तीनों पदों की आराधना स्वरूप वर्ष में दो बार तीनों आयंत्रित किये जाते हैं, जिसे आयंत्रित की ओली कही जाती है। यह चैत्र शुक्ला सप्तमी से पूर्णिमा तक, तथा आश्विन शुक्ला सप्तमी से पूर्णिमा तक चलती है।

पाँच पदों के १०८ गुण होते हैं—अरिहंतों के १२, सिद्धों के ८, आचार्यों के ३६, उपाध्याय के २५ तथा साधुजी के २७—कुल १०८। इन गुणों की आराधना की भावना के साथ उतने-उतने दिनों का उपवास या आयंत्रित आदि किया जाता है। जैसे अरिहंतों के १२ गुणों की आराधना के लिए १२ उपवास। इसी प्रकार अन्य गुणों की आराधना के लिए उतने उपवास करना। सम्मत्त्व, ज्ञान आदि की आराधना के लिए उनके गुणों के अनुसार उतने-उतने उपवास आदि करना। इस प्रकार प्राचीन महापुरुषों के विविध गुणों का निमित्त लेकर तप की आराधना करने की परिपाटी भी आज प्रचलित है।

संवत्सरी, चातुर्मासी, पूर्णिमा, चतुर्दशी, पाँच तिथियों को उपवास, पुरुषों के आठ दिन उपवास करना ये सब पर्वलक्षी तप कहे जा सकते हैं। कहीं-कहीं आगम आदि की वाचना करते समय भी तप किया जाता है। इसका उद्देश्य ज्ञान के प्रति विनय, तथा शास्त्रस्वाध्याय की निविध्य समाधि की भावना है। शास्त्र के प्रति आदर बुद्धि रहेगी तो उसका अर्थ ज्ञान भी सम्मत् रूप में परिणत होगा। इन दृष्टि में अनेक प्रकार के तप किये जाते हैं—जिन्हें 'उपधान तप' कहते हैं।

उन सब प्रकार के तपों का पूरा लक्ष्य एक ही है—जीवन में किसी भी प्रेरणा से किसी भी निमित्त में संन्यास, त्याग तथा मनोनिग्रह की भावना जो तब जो और प्रवृत्ति रहे। व्यक्ति भोग-विनाश में लुप्त कर तप त्याग के वातावरण में पलना रहे।

प्रत्येक तपों में अन्त भी अनेक प्रकार के तप का मिश्रण मिलता है। संन्यास तप, शौचिक तप आदि। किन्तु मुख्य बात यह है कि तप के साथ किसी प्रकार की शौचिक भावना नहीं होनी चाहिए। शौचिक भावना के लिए

है, जीवन के प्रति राग-भावना का उत्प्रेक्ष्य करता है और फिर अनमन तप को स्वीकार करता है ।

भक्त प्रत्याख्यान

सायत्वानिक अनमन के दो भेद बताते हुए कहा है -

आवक्षिह्य दुषिहे पण्णत्ते—

पाओवगमणे य भत्तपक्खवणाणे य ।^१

सायत्वानिक अनमन के दो भेद हैं—पाओवगमन और भक्त प्रत्याख्यान !
उत्तराध्ययन में कुछ भिन्न अपेक्षा से इनके दो भेद बताये हैं—

जा सा अणत्तज्जा मरणे दुषिहा सा विपाट्ठिया ।

स विमारमविमारा कायचिट्ठं पटि भवे ॥^२

—मरणकाल पर्यन्त अनमन तप के कायचेष्टा की अपेक्षा से दो भेद हैं—तविचार और अविचार !

जिन अनमन तप में शरीर की चेष्टा, हिलना, चलना, बाहर भ्रमण करना आदि काय व्यापार बाध रहते हैं वर तविचार अनमन है । और जिनमें शरीर की समस्त क्रियाएँ बन्ध होकर देह विलुप्त विपर निर्गन्ध हो जाती है वह अनमन की गति अविचार अनमन है ।

अनमन के ये भेद मरणकालीन गति, कायचेष्टा आदि की अपेक्षा से बताये गये हैं, अतः इनमें समझने के लिए हमें मरण के भेद की समझ लेने चाहिए ।

आत्माओं में मरण (मृत्यु) के समस्त भेद बताये गये हैं । अर्थात् मरणाद प्रसार में आत्मा की मृत्यु प्राप्त होती है । इसमें प्रथम भेद है—आयीविमरण अर्थात् विषय मरण : यम के मरण ही इसी क्षण में मृत्यु भी आगम्य हो जाती है, परिधान बाध भटती है, पापों में मरण दर दर मरण प्रथम प्रथम रहती है, इसी प्रकार मृत्यु भी आत्मा के साथ विच्छिन्न भटती रहती है । परिधान

१. उपमाई रूप ।

२. उपमावगमन ३-११२

इसी प्रकार अन्य अनेक अनगार व गृहस्थों का भी जहाँ बचने आता है वहाँ पहले तपस्या, फिर संलेखना और उसके साथ अनशन स्वीकारने की चर्चा आती है। जानारांग मूय का वह उल्लेख भी हमारे समक्ष है जिसमें बताया है कि नाथु जब वह देखे कि यह शरीर अब जीवंत हो रहा है, मुझे हलने चलने में भी रूतानि हो रही है तब वह धीरे-धीरे तपस्या द्वारा शरीर त्याग करने की ओर बढ़े।

इन सब उद्धरणों से यह ज्ञात होता है कि यावज्जीवन अनशन के पूर्व उनकी भूमिका भी तैयार होनी चाहिए और वह भूमिका है संलेखना ! प्रती में लगे हुए अतिचारों की आलोचना के साथ जो तपस्या की जाती है, जिससे कि दोष विशुद्धि होकर आत्मनिर्मलता व नमोधि प्राप्त होती है—यह है संलेखना ! संलेखना की व्याख्या करते हुए बताया गया है—सम्पक् फाय—फपाय लेखना—संलेखना ।^१ काय-शरीर एवं कपाय—प्रमाद विकार आदि की सम्पक् प्रकार से निग्रह करना—आलोचना आदि करके उन्हें हनन करना—इसका नाम है संलेखना । संलेखना के साथ आगनों में प्रायः—अपच्छिम मारणांतिकी शब्द आते हैं जिसका अर्थ होता है, उसके बाद में अन्य कोई संलेखना आदि शेष नहीं रहती वही अंतिम होती है और मरणकाल तक चलती है। जीवन के अंत में अनशन से पूर्व वह एक प्रकार का स्नान है, जिसके द्वारा साधक पूर्ण विशुद्ध स्थिति में आसन्न होकर अनशन व्रत स्वीकार करता है। भूतकालीन समस्त दोषों, अतिचारों की सम्पक् आसो-बना करके साधक अपने दोषों की पूर्ण विशुद्धि कर लेता है, अपने व्योम की उत्पत्ति निर्मल बना लेता है और पूर्ण मनःनमोधि में स्थित हो जाता है। विष्णुदत्त आचार्य समस्तभद्र ने भी यही कहा है—“जीवन में आपत्ति अनशन आदि विविध तपों का फल है अतः समय में पुरीत संलेखना ।^२ वायव्यात्मिक अनशन स्वीकारने से पूर्व संलेखना की पृथग्भूमि तैयार करना आवश्यक है। इस पृथग्भूमि पर साधक साधक शरीर में समग्र हस्तास

१ मयमिनिधि आर्य

२ समस्तभद्र वाक्यानुसार प्राप्ति

रिक चेष्टाओं को नियमित कर देता है—कि मैं अमुक मर्यादा से अधिक क्षेत्र के बाहर नहीं जाऊंगा। इतने स्थान में ही रहूंगा, तथा अपनी सेवा स्वयं करूंगा, किसी अन्य की सेवा, सहयोग नहीं चूँगा—इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके रहना—इंगिनी मरण कहलाता है।

उक्त दोनों तप सविचार तथा सपरिग्रह तप है, इनमें शरीर आदि की चेष्टाएँ, हिलना-डुलना मुक्त रहता है, तथा शरीर की सेवा दूसरों से भी ली जाती है, स्वयं भी की जाती है।

पादोपगम—मरण के भेदों में यह सप्रहयं तथा अन्तिम मरण है। इसे पादोपगम भी कहते हैं—शब्दार्थ व भाव दोनों का एक ही है—पादप अर्थात् वृक्ष—वृक्ष के समान स्थिर होना—इसका अभिप्राय यह है कि वृक्ष जैसे जड़ से टूट कर, उखड़कर कहीं भी किसी भी स्थान पर गिर जाता है, और जहाँ गिरता है, फिर वहाँ से हिलता नहीं, निश्चल रहता है उसी प्रकार माधव अनजन तप स्वीकार कर शरीर की समस्त चेष्टाओं का त्याग कर दृढ़ वृक्ष की भाँति अचंचल—चेष्टा रहित यावत् एक ही स्थान पर—जिस स्थान पर जिस मुद्रा में प्रारम्भ में स्थिर हुआ है अन्तिम क्षण तक उसी मुद्रा में स्थिर रहता हुआ जागृत पूर्ण करता है। इन अवस्था में निश्चयता रहती रहती है कि भाग भी यदि घुनी है तो उसे छेद नहीं की जाती। सम्पूर्ण विवेक भाव उस अवस्था में प्राप्त हो जाता है। और साधक मरणान्त तक अनुष्ठान में स्थिर रहता है। पादोपगम अनजन के विषय में बताया गया है—

पदमंथि अ संप्रपणे पट्टतो मेतुष्टु समाप्तिः ।

तेति पि अ वृष्टेऽं भवतुमुष्योप वृष्टेऽं ॥^१

जिसका अर्थ है—जब माधव अनजन तप स्वीकार कर गया है। अनजन स्वीकार कर तबसे स्थिर की भाँति निश्चल रहता रहता नहीं, तथा सामान्य मरण के समान भी नहीं कर सकता। और पट्टी

१. उपदेश सागर भाग ४ पृष्ठ ४२०।

आयु घटती है, प्राणी मरता है इसे 'आवीनिमरण' या 'नित्य मरण' कहते हैं। इस मरण का आत्मपरिणामों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। इसके बाद अन्य प्रकार के कई मरण बताये हैं—जैसे अवधिमरण, क्षतिक मरण, वनन्मरण, वनातं मरण, तद्भव मरण, पंडित मरण, बाल-पंडित मरण, कियनि (पंडित-पंडित) मरण। अतः में तीन मरण बताये गये हैं—भक्त परिज्ञा मरण, हंगिनी मरण, पादोपगममरण—इन तीन मरणों का सम्बन्ध अनशन (संगारा-नलेखना) के साथ है। जीवन के अन्तकाल में जब मायात देखा है कि उसका आयु, बल आदि क्षीण होने लगे हैं, शरीर गलने लगा है, तब आत्म-शुद्धि के लिए भूतकाल में किये गये दोष, अतिचार आदि की मध्यम आलोचना करना हुआ आहार पानी आदि का प्रत्याख्यान करके समाधि के माद मरणाभिमुखा स्थिति को स्वीकार करले।

भक्त परिज्ञा मरण को स्वीकार करना ही भक्त प्रत्याख्यान तप कहलाता है। इस तप में वायव्यजीवन के लिए आहार (तीनों आहार) अथवा आहार-पान (चारों आहार) का त्याग किया जाता है। आहार प्रत्याख्यान करके साधक मत्त स्वाध्याय-ध्यान आत्मनितन, क्षमापना आत्मालोचन में ही अपना समय बिताता है। उनके मन में जीवन के प्रति विरक्तुण ही मोह नहीं रहता। जब मोह नहीं रहता तो भूत-ध्याम की वेदना उमें कष्ट नहीं दे सकती, उनके मन में किसी प्रकार का संवेदन पैदा नहीं हो सकता। किन्तु महा समाधि पूर्व समस्तता का भाव मुक्त पर अगमगाता रहता है।^१

इस अनशन में साधक-साधिका नेष्टाओं का त्याग नहीं करता, क्षति रही तो अपनी नेष्टा मुख्य रूप से भी करता रहता है, अपनी प्रतिव्रतता, अवश्यक विचारों भी त्याग से करता है, उपवास भी देता है और विहार आदि का प्रयोग जाने पर समाजिक यह भी कर सकता है।

तीनहूँ मरण बताया है—द्वितीयमरण—यह भक्त प्रत्याख्यान तप में जाने की स्थिति है। भक्त प्रत्याख्यान करने के बाद जब साधक अपनी सादी-

उपसंहार

अनशन में मूलतः आहार त्याग एवं कषाय व दोष विशुद्धि रहती है, यह तो प्रत्येक अनशन में ही समान है। यदि आहारत्याग के साथ कषाय-वर्जना नहीं होती तो यह अनशन भी नहीं होता। क्रोध आदि के वश में मोह में फँस कर, दुःखी होकर, क्लेश, द्वेष राग आदि के निमित्त से प्रेरित होकर समुद्र में कूदना, कूप में गिरना, ऊपर से छलांग लगाना, किसी भी प्रकार आत्महत्या करना - शरीर छोड़ देना, यह महापाप है। क्योंकि ऐसी स्थिति में प्राणी की भावनाएँ बड़ी कलुषित रहती है, आक्रोश, द्वेष और रोष से जलता हुआ वह मृत्यु प्राप्त करेगा तो अनन्त भव में भी जलता रहेगा। शास्त्र में कहा गया है—आत्मा जिन लेश्याओं, परिणामों एवं भावनाओं में मृत्यु प्राप्त करता है, उन्हीं लेश्याओं आदि की परिणति में आने जन्म ग्रहण करता है। वास्तविकता तो यह है कि आने जिस प्रकार की गति में जन्म लेना होता है उसकी आनुपूर्वी यही पर आ जाती है। मरते समय यदि कोई अनाति और संक्लेश के साथ मरता है तो समझ लेना चाहिए अगली गति भी उसकी पैसी ही होगी। मृत्यु के समय यदि शांति, समाधि और प्रसन्नता के साथ प्राण त्यागता है तो यह उसके आगामी भव का स्पष्ट विषय है कि आने भी यह सद्गति में जायेगा।

मृत्यु को सुखद, सांतिमय तथा समाधिपूर्ण बनाने के लिये ही अनशन तप पर बल दिया गया है। अनशनपूर्वक मृत्यु वास्तव में एक सुखद जीवितपूर्ण मृत्यु है—यही जीवन की परिपूर्ति है।



का विच्छेद होने के पश्चात् पादपोषणम अनशन का भी विच्छेद हो जाता है।

उक्त तीनों ही अनशन सामान्य स्थिति में मनेगना पूर्वक ही किये जाते हैं और यह भी तब-जब वायु, वन आदि की क्षीणता से माधक को मृत्युकाम है और प्रतीत होता हो, अथवा जानी के तथा देवता आदि के वननों में मृत्युमान हो गया हो। उस स्थिति में साधक मनेगना के साथ अनशन स्वीकार करता है—उसे आकारण अनशन कहा जाता है। कहीं-कहीं (उपवाई-भगवती) आदि में इसे निव्यांघात अनशन भी कहा गया है। किन्तु यदि कभी ऐसी परिस्थिति आ जाय—जैसे अचानक बिजली गिर पड़ी हो, पर्वत से गिर पड़ा हो, गर्भ में दम लिया हो उस दशा में मृत्युकाम अतिनिकट आ जाने से साधक तुरन्त ही अनशन स्वीकार कर सकता है। क्योंकि उस दशा में दमना समझ भी नहीं रहता कि पहले मनेगना करे तथा मनेगना का जो उद्देश्य है वह भी वहाँ पूर्ण नहीं होता। मनेगना अनशन की पूर्व भूमिका है, इनमें शरीर कषाय आदि को कम करके शरीर व मन की स्थिति को अनशन के योग्य बनाया जाता है, किन्तु आकस्मिक व्याघात आदि में तो शरीर छूटने की स्थिति स्वतः ही प्राप्त हो जाती है, अतः उस दशा में तो माधक तीव्र ही अनशन तत्त स्वीकार कर समाधि भाव के साथ शरीर छोड़ने को प्रसन्न हो जाता है। उक्त अनशन को आकारण तथा व्याघातिक अनशन कहा गया है।

साधक शरीर रक्षाय कहा, तिम रक्षाय पर करता है, उसके दिवार में अनशन के दो भेद और बताये गये हैं—नीहारिमनीहारी—नीहारिम और अनिहारिम।

यदि शरीर तथा किसी पर्वत की पृष्ठ में, शिवर पर, जल में ऐसे निर्जन स्थान में बिठा जाता हो, जहाँ में सब की उदाहर सामने की भाव व्यवस्था नहीं रहती हो, वही पक्षी आदि उसे साधक सम्भाष कर दे। उस अनशन को नीहारिम कहा गया है। यदि शरीर रक्षाय सम समय या जल-मंदिर स्थान में बिठा जाता है जहाँ में कि सब की उदाहर स्थान में सम्भाष करने की आवश्यकता रहती हो, उस अनशन को अनिहारिम अनशन कहा गया है। ये भेद तब-महात्मा की अपेक्षा से हैं, आत्मविश्रुति भेद को कुछ नहीं है।

के बिना यह तप नहीं हो सकता । इसलिए निराहार रहने की अपेक्षा आहार करते हुए पेट को खाली रखना, अधिक संयम व मनोबल का कार्य है ।

दूसरी बात यह कि उपवास आदि में शारीरिक बल, सामर्थ्य, एवं स्वास्थ्य आदि की अपेक्षा रहती है किन्तु ऊनोदरी तप तो रोगी, कमजोर और दुर्बल व्यक्ति भी कर सकता है । यत्कि ऊनोदरी में अनेक रोग भी मिट जाते हैं, अस्वस्थ व्यक्ति स्वस्थ हो जाते हैं । रोगावस्था प्रदान आदि प्रत्येक परिस्थिति में बानक, बूढ़, आदि सभी इस तप की आराधना कर सकते हैं । इसलिए ऊनोदरी तप कठिन भी है और सर्वसुलभ भी । थोड़ा सा वैराग्य, विवेक और धर्मज्ञान होने पर हर कोई साधक इस तप का आनन्द कर सकता है ।

ऊनोदरी का अर्थ व रूप

ऊनोदरी का प्रचलित अर्थ प्रायः 'कम खाना' से लिया जाता है । अन्न-आहार, परिमित आहार आदि शब्दों से ऊनोदरी का भाव प्रकट होता है । यद्यपि जैन ग्रन्थों में ऊनोदरी के सम्बन्ध में बहुत ही सूक्ष्म विचार दिया गया है । आहार की भांति, कप्याय, उपकरण आदि की भी ऊनोदरी की जाती है, प्रत्येक वस्तु का संयम करना, आवश्यकताओं की तम करके इच्छा का विरोध करना इन व्यापक अर्थ में ऊनोदरी तप को लिया गया है । जिस वस्तु की हमें आवश्यकता है, उस वस्तु के सम्बन्ध में विचार करना, उस की माया के सम्बन्ध में विचार करना और फिर अग्रिम में अधिक संयम करके वस्तु को कम से कम मात्रा में ग्रहण करना—यह ऊनोदरी का भाव है । साध्यात्मिक शेष के माय-माय व्यावहारिक क्षेत्र में, रोज-मर्रा के जीवन में भी इस का बहुत उपयोग हो सकता है और उसमें अनेक लाभ भी हो सकते हैं । साध्यात्मिक क्षेत्र में ऊनोदरी संयम का रूप लेती है, माया का विरोध है और व्यावहारिक क्षेत्र में, कम खप, विपरिवर्तनी और सफ़ाई का परिहार देती है । इसलिए कहा हम ऊनोदरी के तप करने पर यम का विचार करते ।

इस ग्रन्थ में ऊनोदरी के दो भेद बताये गये हैं—

ऊनोदरी तप

तप का दूसरा भेद है—ऊनोदरी तप । ऊनोदरी का अर्थार्थ है ऊन-नग, उदर-पेट । अर्थात् भोजन के समय पेट को खाली रखना, भुक्त में कम खाना ऊनोदरी है । ऊनोदरी को कहीं-कहीं—अधनोदरी भी कहा जाता है । इसका भी अर्थार्थ और भावार्थ यही है—अन्न का अर्थ है—हुल्ल वगैरह, या खाली, उदर का अर्थ है पेट : खाली पेट रखना ।

प्रश्न ही सकता है, उपवास करना तो तप है, क्योंकि उसमें आहार का त्याग होता है, किन्तु ऊनोदरी में तो भोजन किया जाता है फिर यह तप कैसे ?

उत्तर है—भोजन का सर्वथा त्याग करना तो तप है ही, किन्तु भोजन करने के लिए तैयार होकर, भुक्त में कम खाना, यतो-यतो रखना या संयम का ध्यान और स्वयं अपने हुए भोजन को जीव ही में छोड़ देना भी उपवास ही कहकर है जिसका उद्देश्य यही है । बहुत से लोग तो यह भी कहते हैं कि उपवास करना महत्त्व है, किन्तु भोजन करने के बाद पेट को खाली रखना, जीव ही में तप स्वीकृत करना बहुत कठिन है । अन्न संयम और इस उपवास

उपकरण ऊनीदरी

उपकरण का अर्थ है—उपकार करने वाली वस्तु । जिन वस्तुओं के द्वारा शीत-ताप आदि से शरीर की रक्षा होती हो, लज्जा का निवारण होता हो, भूत प्यास आदि मिटाने में सहयोग मिलता हो, तथा जो साधना की अन्य प्रवृत्तियों में सहकारी होती हो—उन वस्तुओं को उपकरण कहते हैं । इस दृष्टि से वस्त्र-पात्र आदि उपयोगी वस्तुओं की उपकरण मंजा होती है । इन उपकरणों की जो भर्वादा है, उनसे कम उपकरण रखना, अर्थात् वस्त्र-पात्र आदि आवश्यक वस्तुओं की कमी करना—उपकरण इष्य ऊनीदरी है ।

माधक का शरीर मोक्ष का साधन माना गया है । जब तक इन शरीर के द्वारा मोक्ष की साधना होती है—यह शरीर रक्षणीय है । यहाँ यहाँ ने बचने के लिए वस्त्र आदि पहनना होता है, मोक्षलज्जा के लिए शरीर के आवश्यक अंगों को ढकना होता है, दण्ड मज्जन आदि के काटने में शरीर की रक्षा करनी होती है अतः वस्त्र शरीर के लिए साधना के लिए आवश्यक होते हैं—इसलिए, "तं पि संजम लज्जमट्ठा धारंति परिहरंति य"---

ये वस्त्र आदि जब तक संजम पात्रा में आवश्यक होते हैं, भ्रमण उन्हें धारण करनी हैं, जब आवश्यक नहीं होते तो छोड़ भी देना है । संजम पात्रा में उपयोगी वस्त्र पात्र आदि परिग्रह नहीं है । क्योंकि जैसे साधना के लिए शरीर आवश्यक है, शरीर रक्षा के लिए मोक्षन आवश्यक है, वैसे ही वस्त्र पात्र भी आवश्यक है । वास्तव में तीन प्रकार के परिग्रह यत्नाएँ मने हैं—

- (१) कर्म परिग्रह,
- (२) शरीर परिग्रह,
- (३) वास्तु भाष्य साध उपकरण आदि परिग्रह ।

१ तीन वास्तव में वस्त्र पहनना सम्मान है—लज्जा के लिए, मोक्षलज्जा के लक्ष्मण के लिए, शरीर के रक्षण के लिए—संज्ञापात्र आदि

२ भगवती सूत्र १.५.३

ओमोपरिया दुषिहा

दव्योमोपरिया व भायोमोपरिया^१

ऊनोदरी दो प्रकार की है—१ द्रव्य ऊनोदरी । २ भाव ऊनोदरी ।
कहीं-कहीं ऊनोदरी के पांच भेद भी किये गये हैं—

ओमोपरणं पंचहा समासेण पिपाहिणं ।
दव्यओ सैत कालेण, भायेण पज्जयेहि य ।^२

संक्षेप में ऊनोदरी के पांच प्रकार हैं—

(१) द्रव्य ऊनोदरी—आहार की मात्रा से कम खाना और आवश्यकता से कम वस्त्र आदि रखना ।

(२) क्षेत्र ऊनोदरी—भिक्षा के लिए कोई स्थान आदि निश्चित कर वहीं से भिक्षा लेना ।

(३) काल ऊनोदरी—भिक्षा के लिए काल—समय निश्चित कर उसी समय पर भिक्षा मिले तो लेना, नहीं तो न लेना ।

(४) भाव ऊनोदरी—भिक्षा के समय अनिग्रह आदि करना ।

(५) पर्याय ऊनोदरी—वक्त चारों भेदों को किया रूप में परिणत करने रहना ।

ग्रंथों के अनुसार 'द्रव्य' के कई अर्थ हो जाते हैं । एक अर्थ है—नकली । जैसे द्रव्य साधु, द्रव्यसामाधिक ! वास्तविक गुण से हीन होने पर आकृति, योगभूत आदि को देनाकर किसी को साधु मनसता या जो साधु दिखाई दे वह द्रव्य साधु है । यहाँ पर द्रव्य पद का यह अर्थ नहीं है । यहाँ पर द्रव्य का अर्थ है—वस्तु ! वस्तु या वस्तुत्व में सम्बन्धित जो ऊनोदरी होती है उसे 'द्रव्य ऊनोदरी' कहा गया है ।

द्रव्य ऊनोदरी के दो भेद बताये हैं—

(१) उदमरुण वस्योमोपरिया—उदमरुण द्रव्य ऊनोदरी ।

(२) भसणानवस्योमोपरिया—भसणानव द्रव्य ऊनोदरी ।

१ भाव्यही मूल । तथा उदमरुण मूल,
२ उदमरुणमूल १०१४

(२) साधु जो वस्त्र ग्रहण करता है वह महामूल्य वस्त्र—बहुत महंगा, बीजने में बहुत सुन्दर व आकर्षक नहीं होना चाहिए, किन्तु सादा, अलमूला वाला होना चाहिए ।^१

(३) साधु पांच प्रकार के वस्त्रों में से ही कोई वस्त्र ले सकता है जैसे—ऊन के, रेशम के, नन के, कपास के और बूँत आदि की छाल व मृण आदि के ।^२

(४) इसी तरह तीन प्रकार के पात्र ग्रहण किये जा सकते हैं—तुँबे के, काठ के और मिट्टी के ।^३

वस्त्र-पात्र ग्रहण करने की सम्पूर्ण विधि आचारांग ८४ तथा दूसरे-श्रुत स्कंध के पाँचवें अध्याय के १-२ उद्देशक में विस्तार के साथ बताया गई है । वहाँ पर हमारा प्रश्न इतना ही है कि जिसने वस्त्र पात्र की मर्यादा है, उस मर्यादा से कम वस्त्र-पात्र रखना । जैसे एक वस्त्र और एक पात्र रखना अथवा सम्पूर्ण परिहार करना तब से अस्मितामग्राण वह तप कहा गया है । यह तप कठिन ऊनोदरी है । जिसकी मर्यादा है, उसने पूर्ण वस्त्र-पात्र रखने में उपकरण ऊनोदरी नहीं हो सकती ।

उपकरण ऊनोदरी की साधना गृहस्थ भी कर सकता है । आज के युग में जहाँ वस्त्रों की सुन्दर से सुन्दर आकर्षक डिजाइनें, रंगरंगुन मशीन कपड़े, महामूल्यवान् माँड़ियाँ उपलब्ध होती हैं, जिन्हें देखकर मनुष्य का मन मनवा जाता है, उन्हें खरीदने की, संग्रह करने की, और पहनने की मानना जबरन है, उस मानना के पर, दण्डा पूरी करने के लिए हजारों रुपये खर्चा कर दिये जाते हैं । जहाँ अपने शक्तियों की रंगरंगुन माँड़ियाँ मशीन के विद्युत्, गर्द-गर्द विद्युत् के सहज चलने के लिए विद्युत् प्रेरित हो जाती है, वह भी किसी से छुपी बात नहीं । मोर-मोर की इन शक्तियों का संग्रह करने में,

१ आचारांग ८४२, ११३, ११४

२ आचारांग ११३, ११४, तथा आचारांग २४४, २४५

३ आचारांग २४५

अब यदि कोई व्यक्ति उपवसन को, और उनमें भी सिकं वस्त्र को ही परिग्रह माने और बाकी अन्य वस्तुओं को परिग्रह न माने तो क्या यह तपकं माना जाये ? यदि वस्त्र परिग्रह है, तो भोजन, पात्र और जरीर भी परिग्रह है। जब जरीर की रक्षा करते हैं, भोजन भी करते हैं, पात्र-उपकरण आदि भी रखते हैं तो फिर क्या सब परिग्रह वस्त्र में ही अटक गया है ? यथात यथा से वस्त्र को परिग्रह मानना जैन-दर्शन के धर्म की अमान्यता प्रगट करता है। परिग्रह क्या है ? इसका स्पष्टीकरण जैन-दर्शन एक वाक्य में ही कर देता है—

मुच्छा परिग्रहो धृत्तो—^१

मूर्च्छा परिग्रहः^२

यदि मूर्च्छाभाव है, समत्व है तो जरीर भी परिग्रह हो जाता है और वस्त्र भी। यदि मूर्च्छाभाव नहीं है, तो न वस्त्र परिग्रह है, और न जरीर परिग्रह है।

वस्त्र-पात्र की मर्यादा

तो मैं क्या रहा था कि सपन यात्रा चलाने के लिए साधक को वस्त्र पात्र आदि उपकरणों की आवश्यकता होती है, आवश्यकता के अनुसार और मर्यादा के अनुकूल वस्त्र-पात्र आदि रखना परिग्रह नहीं, किन्तु साधक के उपकरण होते हैं। परिग्रह नहीं कारण होता है, उपकरण—उपकारी होता है। यदि उपकरण भी मर्यादा तोड़कर रखा जाये तो वह परिग्रह की कटि में आ जायेगा। साधक भी कायक बन जायेगा। इसलिये साधक से साधु के समान पात्र आदि उपकरणों की मर्यादा और विधि बताई गई है—

(१) साधारणतः समस्त साधु के लिए एक परम और अधिक से अधिक तीन वस्त्र (भादर) और (साधकी के लिए बार वस्त्र) देने ही एक पात्र व तीन पात्र की मर्यादा बताई गई है।

१. उत्तरजैनाचार्य ६:१२१
२. साधक से पूछ लो ३:१२
३. अमरगणित २:११

अनुपयुक्त आहार-शरीर के बल, वीर्य, शीज आदि को क्षीण कर दानता है, आवश्यकता के अनुसार प्रकृति के अनुकूल किया हुआ आहार शरीर में शक्ति, बल, आरोग्य की वृद्धि करता है।

आचार्य उमास्वाति ने इसी बात को इन शब्दों में कहा है—

कालं क्षेपं मायां स्वात्म्यं द्रव्य-गुणं ताप्यं स्वयत्नम् ।

ज्ञात्वा योग्यवहार्यं भुङ्क्ते किं भेषजस्तस्य ।^१

जो काल, क्षेप, माया, अपना हित, पदार्थ की गुणता-वस्तुता—(हलका भारी पन) तथा अपनी पानन शक्ति का विचार कर भोजन करता है, उसे दया की कमी जरूरत नहीं पड़ती अर्थात् वह कभी रोग-ग्रस्त नहीं होता।

इसनिम्न आवश्यक है कि सबसे पहले आहार की माया का ज्ञान प्राप्त किया जाये।

आहार की माया

प्रश्न हो सकता है—वस्त्र और पाद के सम्बन्ध में जिन प्रकार सामान्य नियम और मर्यादा है, क्या आहार के सम्बन्ध में ऐसा कोई सामान्य नियम अथवा मर्यादा ही सकती है? नृकि प्रत्येक व्यक्ति की मुराद अलग होती है, उसकी रुचि अलग होती है। उसकी पाचन शक्ति में अन्तर रहता है। कोई आदमी १० रोटी खाकर भी सुस्त नहीं होता और कोई-कोई १ रोटी भी नहीं खा सकता। कहते हैं माया परलोकाना माया पादि के अन्तर्गत २५ भेद हुए, १ भेद आद्याय, आद्या भेद भी और २ भेद काल रोड माया या। बहुत से व्यक्ति पाणी पर बैठकर या खड़ी खरने, जो आया सभी समाप्त। नृत्यार कोई राजराजाभी आत्मनः कलकला गया, कछुदर के घासे में समने माना माया। मादे के बाद दो पादु घासे तो कछुदर ने कहा—कुत्तरे खादे जियने माया, पापन दो नहीं जिय सकते। आद्याय भी फिर पर बहुत गया, बोला—अपना, तो या कुत्तरे ही या। कछुदर को-कछुदर गया, आद्याय माया गया। २५ कुत्तरे या जिये, जिय भी या नहीं नहीं, जो कछुदर के होत दुम होत, माया—

सादे व रम सुन्दर के वस्त्र पहनने से—पुरुष भी उपायम जलोदरी की मायना कर सकता है। इससे तिल्लुसानी भी खेती और जलोदरी तब भी निरा हो सकेगा।

भक्तमान जलोदरी

इस जलोदरी का दूसरा रूप है—भक्तमान जलोदरी। भक्तमान में आहार और पानी दोनों ही वस्तुएं ली जाती हैं। भोजन में आहार और पानी दोनों की ही आवश्यकता रहती है, अतः इन दोनों की मर्जी करवा और मर्जी में कम माना, अर्थात् पेट को मानी करना भक्तमान जलोदरी कहलाती है।

आहार की माया

मायक की सर्वप्रथम आहार की माया का ज्ञान करना चाहिए। ज्ञान में बताया है—सादने असणपापदमो मायक की मानेनीमे की माया का ज्ञान होना चाहिए। कितनी माया में आहार करना चाहिए, और कितना पानी पीना चाहिए, किस आहार में जलीर में निवार आदि की वृद्धि होनी है, किस आहार का रचना परिलक्षण होना है—इन सब बातों का विमल ज्ञान मायक की होना चाहिए। ज्ञान देता रहता है कि लोगों की भोजन के विषय में बहुत कम ज्ञान है। जो बहुत भोजन के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण है उस विषय में ज्ञान रहना बहुत आवश्यक होता है। आयुर्वेद के प्रमुख ग्रंथ में कहा है—

मायासीः स्वात् । आहारमाया पुनरनिवमर्षिधानी ।^१

माया पुनर आहार करने जाने दो ! क्योंकि आहार की माया महा अग्नि घन की शक्ति रहती है। अग्नि मह है जो आहार की माया घन की, अग्नि प्रकाश है जो आहार प्रकाश माया में रहती। अतएव आहार (Liber 12) में कहा है—अग्नि की आवश्यकता के अग्नि माया पुनर निवमर्षि रहता है, निवार की वृद्धि करता है, आवश्यकता में हम और

१. अतएव अग्नि माया

२. अतएव अग्नि माया पुनर निवमर्षि

एकदम ही उस पर लकड़ियों का अम्बार लगा दिया तो वह चुन जाती है—यही स्थिति जठराग्नि की है। धीरे-धीरे, थोड़ा-थोड़ा खाने से अग्नि तेज रहती है और एक साम ही भूख से अधिक खा लिया तो उस अग्निमंद हो जाती है, अग्नि मंद हो गई तो उस फिर पाचन किया विगड़ जाती है, यकृत काम करना बन्द कर देता है, खाने हुए का रक्त नहीं बनता, रस नहीं बनता, शरीर दुर्बल और क्षीण होने लग जाता है।

इसलिए कहा गया है कि खाने में सबसे पहली मर्यादा तो यही है कि उतना मत खाओ जिससे जठराग्नि मंद पड़ जाय, पाचन-किया विगड़ जाय।

पक्षीस कवल-प्रमाण

इसके साथ ही भोजन की कुछ न कुछ मर्यादा व समय भी निश्चित किया गया है। माया के सम्बन्ध में विचार करते हुए जैन ग्रन्थों में कहा गया है—साधारण स्वस्थ मनुष्य का भोजन पक्षीस कवल प्रमाण होता है। कवल के दो अर्थ किये गये हैं—मुर्गी के अंडे के बराबर आहार का एक साम एक कवल कहलाता है। कुछ आचार्यों ने कवल का अर्थ किया है—जितना अपना भोजन हो उसके पक्षीस भाग कर लेने पर बचीयवा भाग एक कवल होता है। यदि एक मनुष्य का भोजन आठ रोटी का है, तो एक रोटी का पक्षीस भाग एक कवल समझना चाहिए। उसकी दृष्टि में मुर्गी के अंडे (बुढ़ड़ी का अंडा) का भी यही भाव है। भाष्यकार आचार्य ने कहा है—

“तुम्हिला कुटी कुबकुटी शरीरनिर्णयः । तायाः शरीर दयायाः कुबकुट्या
अवधमियाच्छरं मुचं ।”

—तुम्हिला कुटी विगयी हो वह कुबकुटी—अर्थात् शरीर, उस शरीर का कुबकुटी का अंडा—अर्थात् भूख । भूख में मुचमुचं जितना खान का भरे—उतना एक कवल । सामान्यतः कवल का अर्थ यही समझना चाहिए कि अपनी शरीर का पक्षीस भाग एक कवल होता है। भगवती सूत्र में कवल के आहार पर ही ऊनोदरी तप की मर्यादा दी है इससे भी यही अर्थ निकट

२१४

मह तो ४०-५० आयसी की रंगोई अकेला ही बैठ कर जायेगा। उससे पाँच पकड़े—पंडित जी ! नाक फरो !, पण्डित जी ने कहा—कोई बात नहीं, पापद न ही की फुलके ही नमने दो ! ठाकुर ने कहा—नहीं ! महाराज ! हुनरा पापद तैयार है, मे लो और मेरी जान छोड़ो !

तो ऐसे भी बहुत से व्यक्ति होते हैं, दो-चार सेर बाटे में उनके पेट का पानी भी नहीं हिनवा और ऐसे भी अमीर लोग होते हैं जो १ रोटी से एक घान ज्यादा का निना गो अपनन हो जाता है। विनागों की रोटी भी हजम नहीं हो सकती, दूध भी पी तो बात ही क्या ? तो जब भूख और मूत्रक की इतनी विभिन्नता रहती है तो भोजन की मात्रा के सम्बन्ध में क्या कोई एक सर्वमान्य नियम बन सकता है ? आचार्य सोमदेन सूरि ने कहा है—

न भुक्ति परिमाणे सिद्धान्तोऽस्ति^१—

भोजन के विषय में—किन्तु माना—उम सम्बन्ध में कोई सिद्धान्त नहीं है !

किन्तु किन्तु माना—इसकी क्या मर्यादा हो सकती है ? उत्तर में आचार्य ने बताया है—तथा भुञ्जीतः ! यथा सापेक्षत्वेऽन्य न विषयतो यत्ति—भोजन की मर्यादा मनुष्य का अपना विशेष ही है, अपना पेट ही क्या देता है कि विषयता माना जातिग, किन्तु सति में पेट इतना भारी न हो जाय, कि यम इसके समक भूख न सके। जलना ही भोजन करना चाहिए किन्तु भोजन में मध्या के समय का हमारे दिन मध्या के अन्तर्गत चुके नहीं, अर्थात् भूख कम न हो। बहुत से व्यक्ति की शायद होती है—साथ में मध्या के अन्तर्गत पेट का पच नही सकता, कोई थकती ग्रासिष्ट बीज आ गई कि पाले पले, इसे छोड़े के साथ भय रहे हो। साथ में बाद राखी पले की भी समझ नहीं रहती, साथ में भी कहीं कठिनाई पले पड़ती है। किन्तु हमारे प्राणी हैं पेट में कुछ पचती है, बाकी को छोड़ने हो जाता और विविध चीज हो पाते हैं। जैसे भोजन में कृमि-पौधे दोनों आते हुए ही वह अतिव दल्य होत है, और

अन्न शरीर के लिए इतना आवश्यक होते हुए भी यदि वह मात्रा और नियम के विरुद्ध किया जाये तो वह अमृत समान आहार भी जहर का काम कर देता है । कहा जाता है—

मधुरमपि बहुशक्तिसन्निभं भवति ।

अमृतमपि बहु पीतं विषाचते !

बहुत ज्यादा मात्रा हुआ मधुर भोजन भी ख़तरा—बदहजमी पैदा कर देता है । मात्रा में अधिक पीया हुआ अमृत भी जहर का काम करता है । अति भोजन में आसुप्त भी पड़ता है । आचार्य मनु ने कहा है—

अतारोग्यमनापुष्यमल्पमपि चाति भोजनात् ।

अधिक भोजन करने से—स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, आसुप्त हो जाता है, और अंतर्गत में मृत्यु प्राप्त कर प्राणी परलोक में जाता है तो यहां परलोक भी बिगड़ जाता है । आचार्य ने यह अति भोजन का बहुत बड़ा दोष बताया है कि इससे न केवल यह लोक ही, किन्तु परलोक भी बिगड़ जाता है ।

आचार्य मनु में भगवान् महाशय ने भोजन के दो कारण बताये हैं वहां सबसे पहले दो कारण भोजन में सम्मिलित हैं— 'अस्वास्वात्, अहिमा-मयात्' अति आहार से हम अस्वस्थ हो आहार में रक्तसमुच्च भी उत्पन्न होती ही जाता है ।

अपेक्षा से एक कल्पन कहलाता है।
 कल्पित कथन का आहार पुरुष का संपूर्ण आहार माना गया है। रबी का
 आहार पुरुष की अपेक्षा कम होता है अतः अर्द्धरस कल्पन प्रमाण रबी का
 कम माना जाये उतनी ही जनोदयी होती है। कोई व्यक्ति अपने आहार का
 जोफाई अर्धान् आठ कल्पन प्रमाण जोड़न करता है, वह अर्द्धाहार कहा जाता
 है। नो से मान्य कल्पन जोड़न करना—अपार्थ सेरत से सोनह कल्पन
 जनोदयी जनोदयी कल्पन तक का भोजन पादोन जनोदयर तप

[illegible]

जो जयस न आहारो सरो ओमं तु जो गदे ।

जो जयसि के आहूत
जयसि के आहूत एवं दखीन के मध्य
जिसका जयसि आहूत है, उसमें मे काम से काम एक बनाने भी काम
माना—दुसरा जयसि (महापति जयसि) का कहना है।
यदि भोला के दो

[illegible]

1. 1950年10月1日，中华人民共和国成立，标志着中国历史的新纪元。

विशेषण है, और ये इस बात के श्रोतक है कि साधना करने वाला सदा ही आहार की ऊनोदरी करता है। जैन दर्शन तो यह भी मानता है कि कम खाना, अल्पाहारी होना, मनुष्य के सुख-सौभाग्य का सूचक है। जो प्राणी जितना ही भाग्यशाली होगा, सुखी होगा तथा उन्नत होगा, उसे भूख भी उतनी ही कम लगेगी और वह सदा कम भोजन में ही संतुष्ट हो जायेगा, इस बात की संपुष्टि के लिए आपके समक्ष प्रजापता सूत्र (२८ या २९ का यह प्रकरण बताया है।

भगवान में पूछा गया है, नरक तिर्यक आदि जीवों को आहार करने की इच्छा कितने समयों में होती है ? उत्तर में बताया है—

नारक जीव अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनट के भीतर ही) में आहार की इच्छा करते हैं।

तिर्यक जीव अल्प्य प्रति समय उत्कृष्ट दो दिन में आहार को इच्छा करते हैं।

मनुष्य—अल्प्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट तीन दिन में आहार करते हैं। जैसे—
 एकवर्षीय काय के पहले आरे के मनुष्य तीन दिन में, दूसरे आरे के मनुष्य दो दिन में, तीसरे आरे के मनुष्य एक दिन में, चौथे आरे के मनुष्य दिन में एक बार, पावने आरे के मनुष्य दिन में दो बार भोजन किया करते हैं। छठे आरे के मनुष्यों की भोजन के सम्बन्ध में कोई मर्यादा नहीं होती, वे हमेशा नाच-गाय करते रहते हैं।

इस संबंध में यह भी सूचित होता है कि सुखी मनुष्य दिन में एक बार ही भोजन करते हैं, जो अल्प्य सुखी व अमर्यादित होती है—उन्हें दिन भर भूख लगती है, और वे भोजन के दिवस के सदा मर्यादाहीन रहते हैं। खाने की ही मर्यादाहीन भोजन करते हैं। उन्हें उदाहरण के मनुष्य छठे आरे का मनुष्य ऐसा ही मानना चाहिए।

देवताओं के सम्बन्ध में भी यही बात है, सामान्य निर्धारणों (जो उदाहरणों को लागू करते) देवता एक दिन में भोजन की इच्छा करते हैं, किन्तु उनके परमेश्वर ब्रह्म, विष्णु, व शक्ति यदि देवताओं को भोजन की

हियाहारा मियाहारा अप्पाहारा - जे नरा ।

न ते विज्जा तिगिच्छंति अप्पाणं ते तिगिच्छणा ।^१

जो मनुष्य हितभोगी, मितभोगी एवं अल्पभोगी हैं, उन्हें वैद्यों की चिकित्सा की कोई आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि वे तो अपने आप में ही चिकित्सक (वैद्य) हैं। उनकी चिकित्सा तो सतत चल रही है।

प्रसिद्ध आयुर्वेदज्ञ वाग्भट से किसी ने पूछा कि संसार में नीरोग (स्वस्थ) कौन रह सकता है ? तो बिना किसी विलम्ब के सीधा उत्तर दिया—

हितभुक् मितभुक् शाकभुक् चैव,

शतपदगामो वामशायी च ।

हितकारी परिमित भोजन करने वाला, शाकाहारी, भोजन के बाद टहलने वाला, और बायें पसवाड़े सोने वाला—ये बीमार नहीं पड़ते।

भारत के सुप्रसिद्ध नीतिशास्त्री विदुर जी ने परिमित भोजन करने वालों के यह छह गुण बताते हुए लिखा है—

गुणाश्च षड्मितभुजं भजन्ते आरोग्यमायुश्च बलं सुखं च ।

अनाविलं चास्य भवत्यपत्यं न चैनमाद्यून इति क्षिपन्ति ।^२

जो आदमी परिमित अल्पभोजन करता है—उसका आरोग्य, आयुष्य बल और सुख बढ़ता है। उसकी सन्तान सुन्दर होती है, तथा लोग उस पर पेटूँ 'भोजन भट्ट' आदि बुरे शब्दों से आक्षेप नहीं करते।

शास्त्रों में साधु के लिए स्यान-स्यान पर इसी कारण अल्पभोजन का उपदेश किया गया है कि इससे स्वास्थ्य भी सुन्दर रहता है, आलस्य नहीं बढ़ता, स्वाध्याय, ध्यान आदि भी आनन्दपूर्वक हो सकता है। साधु का आदर्श ही है—अप्पमासी मियासणे—अल्पभासी, मितभोजन करने वाला।—अप्प-पिण्डासि पाणासि - अल्प आहार और अल्प पानी पीने वाला—अप्पाहारे, योवाहारे, मियाहारे—अल्पाहारी, स्तोकाहारी, मिताहारी ये ही उसके

१ ओपनिगुंक्ति ५७८

२ विदुरनीति ५।३४

वृत्ति का संक्षेप व आहार का संकोच होता है, इन पद्धतियों से मन इच्छित आहार नहीं प्राप्त हो सकता अतः इन्हें ऊनोदरी तप भी माना जा सकता है।

काल ऊनोदरी

उत्तराव्ययन सूत्र में काल की अपेक्षा भी ऊनोदरी का वर्णन किया गया है—जैसे

दिवसस्त पोरुसीपं चउहं पि उ जत्तिओ भवे कालो ।

एवं चरमाणो सलु कालोमाणं मुणेषव्वं ।

अहुवा तइयाए पोरिसीए उणाए धालमेसतो ।

चळ भाणूणाए वा एवं कालेण ऊ भवे ॥^१

दिन के चार पहरों में इस प्रकार का अभिग्रह करना कि मैं अमुक प्रहर में भिक्षा के लिए जावूँगा उस समय भिक्षात्र मिल गया तो भोजन कर तृणा अन्यथा उपवास करूँगा। इस में प्रत्येक पौरुषी का भी अलग-अलग भाग करके अभिग्रह किया जा सकता है—जैसे तृतीय पौरुषी में कुछ समय बाकी रहेगा तब भिक्षा के लिए जावूँगा, अथवा उसके चतुर्थ भाग या पंचम भाग (मगव) में भिक्षा के लिए जावूँगा—इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके आहार की कमी करना काल सम्बन्धी ऊनोदरी है।

उक्ताई सूत्र में इस प्रकार की प्रतिज्ञा को 'कालचरक' नाम से भिक्षा चरु के भिदों में गिना गया है। तात्पर्य दोनों का एक ही है—काल की मर्यादा करके आहार वृत्ति में कमी लाना और तप की प्रोत्साहन देना।

कुछ दृष्टियों से भिक्षा के चार दोष—क्षेत्रातिशान्त, कान्तातिशान्त, मार्गातिशान्त और प्रमाणितशान्त भी ऊनोदरी तप में लिये जा सकते हैं। क्योंकि उनसे भिक्षा के माप-माप आहार का भी संयम होता है। जैसे—

क्षेत्रातिशान्त—जैसे मूर्खोंदव के पूर्व आहार ग्रहण करना और मूर्खोंदव होने ही या नहना—क्षेत्रातिशान्त दोष है। वह भिक्षा में भी सम्बन्धित है और आहार-भोग से भी।

कान्तातिशान्त—प्रथम प्रहर का लिया हुआ आहार बीसे प्रहर में लाना

इच्छा क्रमशः दो दिन, तीन दिन, चार दिन और हजार वर्ष से होती है। सर्वार्थसिद्ध विमान के देवता जो सबसे अधिक सुखी व दीर्घ आयु वाले (३३ सागर की स्थिति वाले) होते हैं उन्हें ३३ हजार वर्ष से भोजन की इच्छा होती है।^१

क्या इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि जो जितना अधिक सुखी व भाग्य-शाली होगा उसे भोजन की इच्छा उतनी ही कम होगी। और भोजन की मात्रा भी उसकी उतनी ही अल्प होगी।

एक श्रीमंत सज्जन किसी बड़े डाक्टर के पास अपने बच्चे को दिखाने के लिए ले गये। डाक्टर ने पूछा—क्या बीमारी है? सज्जन बोले—यह खाना बहुत कम खाता है, भूख बढ़ाने की दवा दीजिए। डाक्टर ने हँसकर कहा—बुद्धिमान लड़के हमेशा ही कम खाते हैं।

यह प्रकरण यहां पर इसलिए बताया जा रहा है कि जैन धर्म ने ऊनोदरी को तप क्यों माना है, उसके क्या कारण हैं? और उससे क्या लाभ है। उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट समझ में आ जानी चाहिए, कि ऊनोदरी करने से मनुष्य नीरोग रह सकता है, सुखी रह सकता है सुखपूर्वक साधना कर सकता है। अतः स्वस्थ जीवन के लिए, सुखी जीवन के लिये और साधनामय जीवन के लिये ऊनोदरी तप की आराधना करनी चाहिए।

अन्य भेद

उत्तराध्ययन सूत्र में क्षेत्र ऊनोदरी व काल ऊनोदरी भी ऊनोदरी के भेदों में ली गई है। वहां क्षेत्र ऊनोदरी से-ग्राम नगर, पत्तन आदि में निष्काचरण करना—क्षेत्र ऊनोदरी बताई गई है। इसी प्रकार पेटा, अर्द्ध पेटा, गोमूत्रिका आदि भी क्षेत्र ऊनोदरी में सम्मिलित किये गये हैं जबकि ये सब निष्कानारी के भेद हैं, जिनकी चर्चा उगवाई मूत्र तथा भगवती मूत्र में की गई है। प्रश्न हो सकता है, जब ये निष्काचारी के भेद हैं तो उन्हें ऊनोदरी तप में क्यों गिन लिया गया? समाधान यही है कि—इन प्रकारों से भी

हों, हंसता हुआ हों या रोता हुआ, अमुक विशेष वर्ण का—काला-गोरा आदि हों, कोप मुद्रा में हों, या प्रसन्न मुद्रा में हों—इत्यादि प्रकार की भावनाओं के साथ भिक्षा दें तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा उपवास रखूंगा।” ये सब अभिग्रह दाता के भावों से सम्बन्धित है, इन्हें उववाई आदि सूत्रों में भाव अभिग्रह के अन्तर्गत बताकर भिक्षाचरी में इस का समावेश किया है।

उक्त चारों अभिग्रहों के साथ जो भिक्षा आदि करता है—उसे पर्यवचर ऊनोदरी तप करने वाला कहा है।

भाव ऊनोदरी में दाता से सम्बन्धित भावनाओं की अपेक्षा रखते हुए उववाई व भगवती सूत्र में कुछ विभिन्न प्रकार का वर्णन किया है। तप के साथ मनोविश्लेषण की दृष्टि से भी उसका अधिक महत्व है।

भाव ऊनोदरी

यहां पर भाव ऊनोदरी से तात्पर्य है—भाव सम्बन्धी ऊनोदरी। भाव का अर्थ है आन्तरिक वृत्तियां। क्रोध—मान—माया—लोभ—आदि कषायों को आन्तरिक वृत्तियां कहा जाता है। इन वृत्तियों का अर्थात् कषायों का तर्कया क्षय करना—साधक का लक्ष्य है। किन्तु साधना कोई जादू की छड़ी तो नहीं है कि घुमाई ओर कषायों का क्षय हुआ। धीरे-धीरे जैसे साधना आगे बढ़ती है, साधक का मनोबल जागृत होता है, विवेक प्रबुद्ध होता है, जैसे-जैसे कषाय क्षीण होती जाती है। कषायों की क्षीण अर्थात् दुर्बल करते रहने की मह प्रक्रिया—भाव ऊनोदरी तप माना गया है। जैसे आहार की कमी करना, जैसे ही कषायों की कमी करना—क्रोध को, मान को, माया को, लोभ को, कलह को, अधिक चिन्तने की आदत इसी के साथ-निद्रा आदि को वृत्ति को कम करते जाना—यह तब ऊनोदरी में आ जाता है। पूछा गया है कि भाव ऊनोदरी क्या है? उत्तर में बताया है—

अप्य कोहे, अप्य माणे, अप्यमाए अप्य सोहे अप्यसहे अप्यसंसे
ते तं भावो मोहरिमा ।^१

कालातिक्रांत दोष है। साधु का नियम है कि वह तीन प्रहर से अधिक काल तक अपने पास भोजन नहीं रख सकता। इससे साधु की असंग्रह वृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है, साथ ही भोजन का संयम भी किया जाता है।

मार्गातिक्रांत—अर्घं योजन से अधिक दूर आहार ले जाना—मार्गातिक्रांत दोष है। भोज्य सामग्री के प्रति गृद्धि न रहे और वह सदा साधु लिये न घूमे—इसलिए यह विधि भी आहार संयम की द्योतक है।

प्रमाणातिक्रांत—इसका वर्णन वत्तीस कवल के सन्दर्भ में किया जा चुका है, इसका सीधा सम्बन्ध ज्ञोदरी तप से जुड़ता ही है।

इसी प्रकार भिक्षु की कुछ प्रतिमाएं—जिनमें एक दत्ति आहार की एक दत्ति पानी की प्रथम सात दिन तक ली जाती है, फिर दूसरे सप्ताह में—दो दत्ति आहार दो दत्ति पानी—इस प्रकार बढ़ाते हुए सातवें सप्ताह में सात दत्ति आहार सात दत्ति पानी लेना—यह भिक्षु की सप्त सप्तमिका प्रतिमा कहलाती है। इसे अनशन तप में गिना जाता है, किन्तु इसका सीधा सम्बन्ध ज्ञोदरी तप से भी जुड़ता है। इसमें आहार का सर्वथा त्याग नहीं, किन्तु आहार की न्यूनता—कमी की जाती है। आहार पानी की कमी करना ज्ञोदरी है। इसी प्रकार अष्ट अष्टमिका तप में प्रथम आठ दिन तक एक दत्ति आहार, एक दत्ति पानी, क्रमशः बढ़ाते हुए आठवें अठ्ठाड़िये में आठ दत्ति आहार व आठ पानी की ली जाती है। नवम नवमिका और दशम दशमिका में भी इसी प्रकार नौ दिन और दश दिन का क्रम चलता है। इन तपों में आहार की न्यूनता ही प्रधान है, अतः इस अपेक्षा से इन मंत्र वृत्तियों को ज्ञोदरी तप में भी गिना जा सकता है।

भाव ज्ञोदरी का वर्णन भी दो प्रकार से किया गया है—एक में दाता के भावों की अपेक्षा से और दूसरे में अपने भावों की अपेक्षा से। पहली प्रकार की दृष्टि उत्तराध्ययन में मिलती है। वहाँ कहा है—

“भिक्षा ग्रहण के लिए जाने वाला साधु मन में यह अनिग्रह करे कि राज मुझे अमुक स्त्री, अथवा पुत्र, अलंकार से युक्त हो अथवा रहित, बालक हो या वृद्ध, अमुक विशिष्ट प्रकार के वस्त्रों से, अमुक रंग के वस्त्रों से विभूषित

अर्थात् अल्पभाषी बने । भाषा—मनुष्य की सबसे बड़ी संपत्ति है, इसके द्वारा मनुष्य अपने भावों को यथार्थ रूप में प्रकट कर सकता है । किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह इस अद्भुत संपत्ति का मनचाहा उपयोग करें । संपत्ति को उड़ने वाला बुद्धिमान नहीं होता किन्तु संपत्ति का सदुपयोग करने वाला बुद्धिमान होता है । भाषा की संपत्ति का सदुपयोग करना—वचन की कला है । इसके लिए सबसे पहली बात यह है—निरर्थक बोलने की आदत कम करें । जो मनुष्य अधिक बोलता है—वह भाषा का विवेक नहीं रख सकता । बोलते-बोलते बिना विवेक के ऊलजलूल भी बोल जाता है । और उसका फिर दुष्परिणाम आता है—इसलिए कहा गया है—वचन रतन मुख फोट है, वचन एक प्रकार का रत्न है, इसको मुख रूप तिजोरी से बाहर निकालने से पहले बहुत सोच-विचार करलो, किसलिए ? क्यों ? और कितने वचन रतन निकालने हैं यह सोचकर ही निकालो ! जितने वचन की जरूरत है उससे कम वचन से ही काम कर लेना बुद्धिमानी है, और एक की जगह दो वचन का प्रयोग करना सुस्तता है । नीतिकारों ने कहा है—

हितं मनोहारी वचोहि वाग्मिता^१

हितकर मनोहर वचन बोलना वक्तृत्वकला है । जो साधक—

मियं अबुद्ध^२ अणुषोद्ध भासए सयाणमज्जे सहई पसंसणं ।^३

विचारपूर्वक सुन्दर और परिमित शब्द बोलता है वह सज्जनों में प्रशंसा प्राप्त करता है ।

सास्त्रों में जहां भी बोलने का प्रशंसा आया है यहां प्रायः साधक के लिए यह निर्देश दिया गया है—यह कम बोले, परिमित शब्द बोले—

अप्यं भासिज्ज सुव्वए^४

सुश्रुती साधक कम से कम बोले—

निरुत्तमं वा पि न दीहएज्जा^५

१ नैपथीय चरित,

२ इन्द्रियवृत्तिका अ५५

३ सुवक्कवांग १।५।२५

४ सुवक्कवांग १।१४।२३

क्रोध को कम करना, मान को कम करना, माया को कम करना, लोभ को कम करना, शब्दों का प्रयोग कम करना, (अल्पभाषी होना) कलह कम करना—यह है भाव ऊनोदरी !

द्रव्य ऊनोदरी में जहाँ साधक जीवन को बाहर से हलका, स्वस्थ व प्रसन्न रखने का मार्ग बताया है, वहाँ भाव ऊनोदरी में जीवन की अन्तरंग प्रसन्नता, आन्तरिक लघुता और सद्गुणों के विकास का पथ प्रशस्त किया गया है ।

जीवन विकास में तथा आत्म-कल्याण में कपाय—क्रोध मान आदि सब से बाधक तत्त्व हैं । जिस जीवन में कपायों की प्रचुरता रहती है उस जीवन में आनन्द और प्रसन्नता कहीं से आयेगी । धक्कती अग्नि के पास बैठकर यदि कोई शीतल लहर की इच्छा करे तो यह एक प्रकार की मूर्खता ही है, वैसे ही कपायों की वृद्धि करके यदि जीवन में शांति की कामना करे तो वह उससे भी बड़ी मूर्खता समझनी चाहिए । कपाय का अर्थ ही है, कलुपित करने वाला । प्रज्ञापना कपाय पद (१३) की टीका में बताया है—

कलुसंति जं च जीवा तेण कसायत्ति वुच्चंति

जिससे जीव कलुपित होते हैं, आत्मा मलिन होती हैं, उन्हें, अर्थात् उन वृत्तियों को कपाय कहा जाता है । क्रोध, मान माया लोभ आदि से कितना अनर्थ होता है और इन्हें कैसे वश में किया जाय, उन पर विजय कैसे प्राप्त हो इसका विषद विवेचन प्रतिसंलीनता तप के अन्तर्गत—कपाय प्रतिसंलीनता में किया जायेगा, अतः यहां पर तो इतना ही निर्देश है कि इन क्रोश आदि की कमी करने का प्रयत्न करें । विवेक जगाकर उनके अनर्थकारी परिणामों का चिन्तन कर साधक सोचें—कपाय बढ़ते हैं तो जीवन में अशांति बढ़ती है, कपाय घटती है तो जीवन में अशांति कम होती है, शांति की लहर उठती है, यदि शांति प्राप्त करने की इच्छा है तो कपायों को कम करो । इससे शांति प्राप्त होगी—यस यही कपायों की ऊनोदरी का फल है ।

अल्प भाषण

भाव ऊनोदरी का पांचवां रूप बताया गया है—अल्पसद्—अल्पशब्द—

पूछा गया है—समझदार की निशानी क्या ?

कम बोलना, कम खाना ।

मूर्ख की निशानी क्या ?

ज्यादा बोलना ज्यादा खाना ।

कम बोलना—विद्वान का गुण है, और मूर्ख का भ्रूषण है । लुकमान हकीम ने अपने पुत्रों से कहा था कि तुम यदि समझदार हो, तो कम बोलना—इससे तुम्हारी समझदारी और अधिक चमकेगी । यदि तुम मूर्ख हो, तब भी कम बोलना—इससे तुम्हारी मूर्खता छुपी रहेगी ।

इस प्रकार 'अल्पभाषण' जीवन में अनेक सद्गुणों को जन्म देता है, मनुष्य को सम्य, विद्वान और चतुर बनाता है वहां 'वाणी का तपस्वी' भी ! शास्त्रकारों का मत है कि सिर्फ न बोलना ही मोन नहीं, किन्तु कम बोलना, विवेकपूर्वक बोलना भी मोन का एक अंग है । इस मोनव्रत की साधना 'अल्प भाषण' की साधना से प्रारम्भ की जा सकती है । पहले कम बोलने की आदत डालो, फिर मोन रहने की ।

अल्प कलह

कलह, लड़ाई, बैर-विहेय आदि की कमी करना—यह भी भाव ऊनोदरी का एक भेद है । शास्त्र में बताया है—

कलहकरो अक्षमाहिकरे^१

जो कलह करता है, वह संघ में, समाज में, परिवार और व्यक्तिगत जीवन में भी अनाति पैदा करता है । कलह करने वाले को कभी शांति और प्रसन्नता प्राप्त नहीं हो सकती । ऋग्वेद में कहा है—त खेधन्तं रयिर्नशत्^२ । कलह करने वाला जीवन में सुख, समृद्धि-लक्ष्मी व मोक्षार्थ प्राप्त नहीं कर सकता । कलह, लड़ाई करने वाले का मन भीतर में जम्निविष्ट की भांति अज्ञता रहता है, तो उसे शांति कैसे मिलेगी । मन में शांति नहीं होगी तो

१ दशार्थसरकष १

२ ऋग्वेद ७।३६।२१

थोड़े शब्दों में कही जाने वाली बात को अधिक लम्बी न करें।
नाइवेल वएज्जा^१

मर्यादा से अधिक न बोलें।

अप्यभासी मियासणे—

साधक कम बोलने वाला और कम खाने वाला हो।

जो अधिक बोलता है, वह सत्य वचन की आराधना नहीं कर सकता क्योंकि सत्य वचन और वाचालता में परस्पर विरोध है। कहा है—

मोहरिए सच्चवयणस्स पलिमंयू^२

मुखरता-वाचालता सत्य वचन का घातक है। जो वाचाल होता है— वह सर्वत्र निंदा, अपमान और तिरस्कार प्राप्त होता है। उत्तराध्ययन सूत्र में बताया है—जैसे सड़े कानों वाली कुतिया जहां कहीं भी जाती है, वहीं लोग उससे घृणा करते हैं, दुत्कारते हैं और दुत्कारने पर भी नहीं निकलती है तो डंडे मार-मार कर निकालते हैं—जो वाचाल होता है, उसकी भी संसार में यही दशा होती है—मुहरी निक्कसिज्जइ^३—वह वाचाल-लवार व्यक्ति कुतिया की तरह सर्वत्र दुत्कारा जाता है।

राजस्थानी में एक दोहा है—

बहुत बोलने वाला, बहुत वेदियों, दोष गांव अघवार।

तिण ने काई मारसी मार गयो फरतार।

बहुत बोलने वाला, बहुत वेदियों का बाप और जिसका दो गांवों में रहना हो—एक पग यहां एक पग वहां—उसे किसी को मारने की जरूरत ही क्या है, भगवान ने ही उसे मार डाला है। अर्थात् बहुत बोलने वाला— अपनी आदत से स्वयं ही बर्बाद हो जाता है, उसे बर्बाद करने के लिए किसी को कुछ प्रयत्न करने की जरूरत ही क्या है? तो बहुत बोलने वाले की बहुत बुद्धि होती है, इस कारण साधक को कम-से-कम बोलना चाहिए।

१ सूत्रकृतांग १।१।४।२५

२ स्थानांग ६।१

३ उत्तराध्ययन १।४

उपसंहार

तो कलह की भीषण लीला आज सर्व विदित है। उससे मानव जाति नष्ट हो जाती है। इसलिये भगवान ने साधक को उपदेश दिया है वह कलह को, परस्पर के जगड़े को शांत करे। शास्त्र में बताया है—साधमियों में परस्पर कलह हो जाने के बाद जब तक वापस क्षमा याचना न करे तब तक साधु को आहार पानी नहीं करना चाहिए। यदि तुरन्त क्षमा याचना न करे तो एक दिन में, पक्ष में, मास में, चातुर्मास में तथा अधिक से अधिक संवत्सरी पर तो परस्पर का कलह अवश्य ही शांत कर लें। यदि संवत्सरी पर भी कलह शांत नहीं होता तो उसकी साधुता और ध्वाकपन तो क्या, किन्तु सम्पत्त्व भी नहीं रह सकती ! जो न उद्यत्तमइ तस्स णत्थि आराहणा, जो उद्यत्तमइ तस्स अत्थि आराहणा ।^१ जो कलह शांत नहीं करता वह धर्म की आराधना नहीं कर सकता, जो कलह को शांत करता है, मन की गांठें खोल देता है वही धर्म का आराधक हो सकता है। आप जानते हैं—मन में गांठ रखने वाला 'निर्ग्रन्थ' (श्रमण) नहीं हो सकता।

तो मन की गांठें मिटाने के लिए, मन में प्रसन्नता जगाने के लिये, जीवन में धर्म की आराधना करने के लिये भाव ऊनोदरी के इस रूप की आराधना अत्यन्त आवश्यक है कि साधक—अल्प क्षो—अल्प कलह अर्थात् कलह को शांत करे।

इस प्रकार ऊनोदरी तप के ये नव भेद हुए। इनकी सम्पूर्ण आराधना से जीवन में सन्तुष्ट एक नया आनन्द प्राप्त हो सकता है। यह लोक का जीवन और परलोक का जीवन दोनों ही सुखमय बन सकता है।



धर्म की साधना कैसे होंगी ? इसलिए साधक को शांति प्राप्त करनी हो तो कलह शांत करना होगा ।

कलह होने के कई कारण हो सकते हैं—स्वार्थ में बाधा आने पर, इच्छित वस्तु न मिलने पर, अहंकार पर चोट पड़ने से तथा लेन-देन के विषय में । ये सभी बातें मनुष्य के कपायों से सम्बन्धित हैं, इसलिए प्रारम्भ में कपायों की कमी करने का उपदेश किया है । कपाय की कमी होगी तो कलह का प्रसंग आने पर भी मनुष्य अपने मन को समझाकर उसे टाल देगा । क्योंकि वह जानता है—कलह से बड़े-बड़े साम्राज्य नष्ट हो गये । कौरव-पांडवों का विशाल साम्राज्य परस्पर के कलह के कारण ही नष्ट हुआ है । नीतिकार का कथन है—

कलहान्तानि हर्म्याणि कुवाक्यान्तं च सोहृदम् ।^१

कुवचन से मित्रता का नाश हो जाता है, और कलह से कुटुम्ब का धाय । जो भारत सोने की चिड़िया कहलाती थी, और जहां बड़े-बड़े पराक्रमी राजा हुए, वह भारत भूमि म्लेच्छों, अनाथों और मुसलमानों के पैरों से क्यों रौंदी गई ? यहां का वैभव क्यों टूटा गया ? यहां के स्वर्ण-रत्नजटित मंदिरों की पवित्र मूर्तियां क्यों तोड़ी गई और क्यों लाखों हिन्दू मुसलमान बने ? क्यों हिन्दुओं का रक्त बहा और उनकी सम्पत्ता, संस्कृति, धर्म, भक्ति पूजा आक्रमण-कारियों के पैरों से क्यों कुचली गई ? सिर्फ एक ही कारण है—आपस का कलह ! फूट ! आपस के कलह से, द्वेष से कुछ हिन्दुस्तानी वीरों ने विदेशी आक्रमणकारियों को बुलाया, उन्हें सहयोग दिया—और एक दिन वे आक्रांता उन्हीं को, उनके बंधुओं को दास बनाकर, हत्या करके मानिक बन बैठे ।

जैन शासन जो एक दिन महान तेजस्वी धर्म शासन था । आज कितने टुकड़ों में बंटा है ? कितने मंत्रदायों में खण्ड-खण्ड हो रहा है ? उसका प्राचीन गौरव कहां लुप्त हो गया ? उसका कारण यही है—परस्पर का कलह ! साधुओं का कलह ! श्रावकों का कलह ! इसी से जैन धर्म के टुकड़े टुकड़े हो गये ! ओमवान जाति छिन्न-भिन्न हो गई ।

फिर वह 'तप' या 'धर्म' कैसे हो सकती है ? भिक्षाचरी 'तप' तभी हो सकती है जब वह नियम पूर्वक, पवित्र उद्देश्य से और शास्त्र-सम्मत विधि-विधान के साथ ग्रहण की जाय ! 'भिक्षाचरी तप' में हमें भिक्षा के समस्त अंगों पर विचार करना है । शास्त्र में उसकी क्या विधि है, क्या उद्देश्य है इस पर भी चिन्तन करना है !

भिक्षा के तीन भेद

पात्र और उद्देश्य की अपेक्षा से भिक्षा के अनेक भेद किये जा सकते हैं । जैसे एक दरिद्र भिक्षारी भी रोटी मांगता है—घर-घर घूमता है, और एक त्यागी तपस्वी श्रमण भी आहार की गवेषणा करता हुआ ऊँच-नीच कुलों में भ्रमण करता है, तो क्या इन दोनों की भिक्षा कभी एक कोटि में आ सकती है ? नहीं ! दोनों भिक्षुक होते हुए भी उनकी वृत्ति में आकाश पातान का अन्तर है—जैसे—"आक दूध—माय दूध अन्तर घनेरो है," आक के दूध में ओर माय के दूध में महान अन्तर है, हीरे और कांच के टुकड़े में बहुत बड़ा फर्क है वैसे ही इन भिक्षुकों की भिक्षा वृत्ति में बहुत अन्तर है ! आचार्य हरिभद्र ने तीन प्रकार की भिक्षा बतलाते हुए कहा है—

सर्वसम्पत्करी चंका पीरूपणी तयापरा ।

वृत्तिभिक्षा च तत्त्वज्ञरिति भिक्षा त्रिषोदिता ।^१

भिक्षा तीन प्रकार की है—दीनवृत्ति, पीरूपणी और सर्वसम्पत्करी ।

जो अनाथ, अपांग, आपद्ग्रस्त दरिद्र व्यक्ति मांगकर खाते हैं, वह दीन वृत्ति भिक्षा है । जो श्रम करने में समर्थ होकर, कट्टे कट्टे होकर भी काम से जो पुराकर मांगकर खाते हैं, कमाले की शक्ति होते हुए भी मांगते हैं वह 'पीरूपणी' भिक्षा है अर्थात् पुण्यत्व का नाश करने वाली है । ऐसे व्यक्ति सन्मुख में देह के भार हैं । जिनकी मांगने की आदत पड़ जाती है, और मांगने से ही पेट भर जाता है ऐसे निकम्मे आदमी कभी महान्त करना नहीं चाहते । ऐसे आदमी कहते हैं—मांग्या मिले बाणा बजा करेगा राजा ?" मांगने से ही पेट भर जाता है तो राजा की राजा या सरकार हमारा क्या बिगड़

भिक्षाचरी तप

तप के बारह भेदों में 'भिक्षाचरी' तीसरा तप है। भिक्षाचरी का अर्थ है—विविध प्रकार के अभिग्रह, (नियम संकल्प आदि) करके आहार की गवेषणा करना। भिक्षा का सीधा अर्थ होता है—वाचना, मांगना। किन्तु सिर्फ मांगना मात्र तप नहीं होता। अनेक भिखारी दर-दर हाथ फैलाते हैं, जोली पसारे घूमते हैं, "अम्मा ! दो पैसा दे दे, बाबू ! कुछ दंते जाओ !" गहनों में चारों ओर इस प्रकार की गुहार-पुकार सुनाई देगी। सड़कों पर, स्टेशनों पर, रेल में कहीं भी जाओ मित्रारियों की फौज मांगती-हुई, दीनता पूर्वक याचना करती हुई दिखाई देगी, क्या ये भीख मांगने वाले भी भिक्षाचर हैं ? इनकी भिक्षा वृत्ति क्या भिक्षाचरी तप है ! नहीं ! यह तो उल्टा पाप है ! शास्त्र में कहा है आर्षोणवित्ति वि करेड पावं^१ जो दीनता पूर्वक भिक्षा मांगता है, वह भी पाप करता है। इसलिए दीनतापूर्वक, असंयम से और सिर्फ पेट भरने की लालसा से जो भिक्षा मांगता है उस भिक्षा को वास्तव में 'भिक्षा' नहीं, 'भीरा' कहना चाहिए ! वह तो अत्यन्त निम्नस्तर की है,

इस शब्द पर जैनाचार्यों ने बहुत ही व्यापक रूप से विचार किया है और गाय की चर्या का आदर्श भिक्षु के लिए बताया है। आचार्य जिनदास और हरिभद्र आदि के विश्लेषण पर से स्पष्ट होता है कि—जिस प्रकार गाय अच्छी-बुरी घास का भेद किये बिना एक ओर से दूसरी ओर तक चरती हुई चली जाती है, वह किसी प्रकार शब्द, रस आदि विषयों में आसक्त न होकर सिर्फ उदरपूर्ति करने के लिए सामुदायिक रूप से घास चरती है, और वह भी वन की हरियाली को नष्ट किये बिना, उसे जड़ से बिना उखाड़े सिर्फ ऊपर-ऊपर से चोड़ा-चोड़ा खाती है। इसी प्रकार मुनि सरस और नीरस आहार का विचार किये बिना सामुदायिक रूप से भिक्षा के लिए चतुता है। कोई राजा या सेठ का घर आ गया तब भी और किसी गरीब का घर आ गया तब भी सभी घरों से, थोड़ी-थोड़ी भिक्षा ग्रहण कर लेता है, और स्वादिष्ट आहार आदि में आसक्त हुये बिना सिर्फ संयम यात्रा के निर्वाह के लिए ही आहार ग्रहण करता है। इसलिए मुनि की इस भिक्षा विधि को 'गोचरी' कहा गया है।

जास्यों में जहाँ भी मुनियों की भिक्षा विधि का वर्णन आता है वहाँ गरी आदर्श सामने आता है कि—

उत्तचनीयमज्जिम कुलाट^१ अहमाणे^२

उत्तच, नीच और मध्यम कुलों में नमान भाव से भिक्षा करते हुए विचरते हैं। हमका अर्थ यह नहीं है कि भिक्षा में उत्त-नीच शुद्ध-अशुद्ध का विवेक ही न रहे, जो भी घर चीन में आ जाये उन्हीं में प्रवेश कर जाये—यह तो साधु की चर्या के विरुद्ध है, विवेकहीन भिक्षा है। क्योंकि दास्य में जगह-जगह बताया है—कि भिक्षाचरी करते हुए भिक्षु को यह भी जानना चाहिए कि यह किसका घर है, कौनसा कुल है, कि कुमुनित है या अकुमुनित ? दण्यैवातिथ मूत्र में कहा गया है—

१ उत्तमद दमा वर्म ५।१३

२ से भिक्षु.....माहायत कुल विपत्तय वरिणात् अशुनविष्टे ममाने मे जाद पुन कुलाट जालिज्जा..... - भावार्थ २।१।२।४

सकती है ? और आश्चर्य की बात तो यह है आज कल ऐसे पुरुषत्व हीन मांगखोर व्यक्ति संसार में जिधर देखो उधर ही फैले हुए दिखाई देंगे । बड़े-बड़े शहरों में तो मांगना भी एक व्यवसाय बन गया है । सुबह से शाम तक मांग कर कोई पांच रुपये कमा लेता है, कोई दस ! ऐसे मंगते पेट भर कर खाते भी नहीं, मांग-मांग कर जमा करते जाते हैं । तो इस प्रकार की भिक्षा वृत्ति 'पौरुषघ्नी भिक्षा' कहलाती है ।

भिक्षा का तीसरा रूप है—सर्वसम्पत्करी । जो त्यागी अहिंसक, संतोषी श्रमण आदि अपने उदर निर्वाह के लिए माधुकरी वृत्ति से गृहस्थ के घर में सहज भाव से बना हुआ शुद्ध आहार ग्रहण करते हैं, और आहार की निर्दोष विधि से उसे खाते हैं, उन मुनियों की भिक्षा—सर्वसम्पत्करी भिक्षा है अर्थात् वह 'भिक्षा देने वाले और ग्रहण करने वाले—दोनों का ही कल्याण करने वाली है । 'सर्वसम्पत्करी' भिक्षा देने वाला, और लेने वाला—दोनों ही सद्गति में जाते हैं—*दो वि गच्छन्ति सुगइ* ।^१

भिक्षाचरी, जिसे तप कहा गया है, वह यही सर्वसम्पत्करी भिक्षा है । यह धर्म की आराधना करने वाली और मोक्ष की साधिका है ।

गोचरी और माधुकरी

'भिक्षाचरी' को शास्त्रों में कहीं-कहीं गोचरी 'माधुकारी और कहीं वृत्ति-संक्षेप' कहा गया है । ये सभी शब्द भिक्षाचरी के उच्च आदर्श को बताते हैं । उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, और आचारांग आदि आगमों में 'गोचर' शब्द का ही अधिक प्रयोग हुआ है । दशवैकालिक में इसे 'गोचरग'—गोचराग^२ कहा है । गोचर शब्द का अर्थ है—गाय की तरह चरना, भिक्षा-दन करना ।^३

१ दशवैकालिक ५।१।१००

२ दशवैकालिक ५।१।३

(स) उत्तरा ३०।२५

३ गोत्रिय चरण गोचर :—उत्तमाधममध्यमकुलेष्वरवताहिष्ठस्य भिक्षा-दनं—हारिभद्रोय टीका, पृथ १६३

(न) गोत्रिय चरण गोचरो—तथा सहादिगु अमुच्छिद्यो—अगस्त्यसिद्धार्थ

जहा वुमस्त पुप्फेसु भमरो आविपइ रसं ।

न य पुप्फं फिलामेइ सो य पीणेइ अप्पयं ।

जैसे अमर फूलों पर घूमता हुआ थोड़ा-थोड़ा उनका रस पीता जाता है, फिर उड़ जाता है, और फिर किसी अन्य फूल पर जाकर उसका थोड़ा सा रस पी लेता है । इस प्रकार थोड़ा-थोड़ा रस पीकर वह स्वयं भी संतुष्ट हो जाता है और फूलों को भी कोई हानि नहीं पहुँचाता । इसी प्रकार—महाराजसमा बुद्धा—मधुकर के समान विद्वान मुनि होते हैं, वे गृहस्थ के घर में सहज रूप में बने हुए भोजन आदि में से थोड़ा-थोड़ा ग्रहण कर अपना जीवन निर्वाह भी कर लेता है और गृहस्थ को भी कोई कष्ट नहीं होता । नियुक्तिकार आचार्यों ने बताया है—जैसे तृण के लिए वर्षा नहीं होती, हरिण के लिए तृण नहीं बढ़ते, मधुकर आदि के लिए पुष्प आदि नहीं फलते, वैसे ही साधु के लिए गृहस्थ के घर में भोजन नहीं बनता । अर्थात् जैसे वर्षा, तृण और फल-फूल अपने सहज रूप में होते हैं वैसे ही गृहस्थ के घर में भोजन भी सहज रूप में बनता है, उन भोजन में से मधुकर की भांति श्रमण थोड़ा सा अन्न ग्रहण कर लेता है ।^१ श्रमण की यह वृत्ति माधुकरी वृत्ति कहलाती है । मधुकर और गौ का आदर्श सामने रखकर जो भिक्षा पी जाती है वही भिक्षाचरी, गोचरी और माधुकरी वृत्ति कहलाती है । मधुकर की यह वृत्ति न केवल जैन परम्परा में ही, अतिसु बौद्ध परम्परा में एवं वैदिक परम्परा में भी आदर्श भिक्षा विधि मानी गई है ।^२

वृत्तिसंक्षेप

भिक्षाचरी का एक नाम है वृत्ति संक्षेप । यह नाम अपने भाव में सारंग नाम है । गोचरी में मन इच्छित आहार प्राप्त नहीं हो सकता । कभी नर्म आहार की आवश्यकता होवे पर नार्मी आहार मिल जाता है, और कभी

१ उपपत्तिवृत्ति ज - १ नि० भा० उक्तके १३०

२ धम्मपद—(पुष्पकर्म ४१६)

(ग) मत्तमधुममादमे रक्षन् पुण्यनि पट्टपणः ।

मत्तमधुमं मन्थयेन्न आदद्यात् अतिरिक्तम् ।

पडिकुट्टं कुलं न पविसे, मामगं परिवज्जए,

अचियत्तं कुलं न पविसे चियत्तं पविसे कुलं ।^१

प्रतिकुष्ट—अर्थात् निन्दित, जुगुप्सित और गहित कुल में कभी प्रवेश नहीं करना चाहिए ।^२ जो कहे कि—मुनि ! मेरे घर में मत आना, उस निषिद्ध घर में भी नहीं जाना चाहिए ! जिस घर में जाने से घर मालिक को संदेह हो कि यह साधु कहीं गुप्तचर बनकर तो नहीं आया है, ऐसे कुल में तथा जहां जाने से गृहस्थ के मन में साधु के प्रति अप्रीति उल्टा द्वेषभाव बढ़े कि कहां से आ टपके ! क्यों आ गये ! वैसे घरों में भी नहीं जाये । जहां जाने पर प्रीति, सद्भाव और शुद्ध भोजन की प्राप्ति हो सके ऐसे ही कुलों में जाना चाहिए ।

हां, तो यह विवेक तो भिक्षु को रखना ही चाहिए ! बिना सोचे-समझे किसी के घर में घुस जाना तो अनर्थकारी हो जाता है । आप कहेंगे फिर क्यों शास्त्रों में स्वान-स्थान पर यही पद दुहराये गये हैं ? इसका समाधान है—कि ऊँच-नीच-मध्यम कुल में भिक्षाटन करे । यह नहीं कि किसी बड़े सेठ के घर से तो भिक्षा ले आये, मिष्ठान्न से पात्र भर लिये, गरीब घर में—जहां सूखी रोटी मिलने की आशा होती है उसे छोड़ दिया । भले ही विचारा गरीब पलक पांवड़े बिछाये साधु जी के आगमन की राह देखता रहे । सामुदायिक गोचरी का अर्थ यही है कि साधु रस की, स्वादिष्ट भोजन की लोलुपता से रहित होकर समभाव के साथ भिक्षाचरी करे, और थोड़ा-थोड़ा आहार ग्रहण करके गोचरी करें, न कि गधाचरी ! जहां पड़े मूल्य वहीं सेम कुशल—ऐसी बात न करें ।

गोचरी के इस आदर्श को माधुकरी वृत्ति से भी तोला गया है । श्रमण को मधुकर 'मंदरे' की उपमा दी गई है । दशवैकान्तिक में कहा है—

१ ५।१।१७

२ प्रतिकुष्ट कुल दो तरह के होते हैं—मृतक और नूतक के घर अल्पकालिक प्रतिकुष्ट तथा ओम मातंग आदि पावस्तानिक—मर्बदा प्रतिकुष्ट !
—इतिभियं मयग मूतगादि, आवकहिमं अमोज्जा ओवमायंगादी ।

—जिनदास वृत्ति, पृ० १७४

होती है, वही भिक्षा भिक्षु के लिए ग्राह्य होती है। वास्तव में तो भिक्षा वही है जो सहज ही गृहस्थ के घर में प्राप्त हो जाय ! भिक्षु के लिए बनाया हुआ, खरीद कर लाया हुआ भोजन आदि भिक्षा नहीं, उपहार बन जाता है। अतः भिक्षाचरी करने वाले ध्रमण को इस प्रकार के निर्दोष आहार की ही ऐपणा करनी होती है जो वास्तव में भिक्षा हो, भिक्षा के नियमों के अनुकूल हो।

भिक्षा के दोष

भिक्षु को जो कुछ भी मिलता है वह सब भिक्षा के द्वारा ही मिलता है, अर्थात् मांगा हुआ ही मिलता है। मांगना—याचना भिक्षु की विधि है। इसलिए शास्त्र में कहा है—

सर्वं से जाइयं होइ नित्य किंचि अजाइयं ।^१

भिक्षु के पास जो कुछ भी है, वह सब याचित—अर्थात् भिक्षा से प्राप्त किया हुआ है। न रागीदा हुआ है, न अपने घर से दीक्षा लेते समय कुछ साथ में लेकर आया है। भविष्य में भी जो कुछ आवश्यकता होगी वह भी मांगने पर—दूसरों के सामने पात्र या हाथ पसारने पर ही मिलेगा ! और दूसरे के सामने हाथ पसारना—मांगना सरल नहीं है। “पाणी जो सुपसारए अतः मांगना एक परीपह है, कष्ट है।

बहुत से लोग कहते हैं साधुओं को क्या, उन्हें तो मांगा हुआ मिलता है।

ज्यां न मांगा मिले भात

ज्यां न पाई कमीरे सात !

किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि मांगना कितना कठिन है ? यदि कहता है—पर जायुं मांगू नहीं मिल देही रे पाज !

अपने लिए मांगने से तो मर जाना ही अच्छा है।

किंतु मांगू वा मांगना तो केवल मांगना ही नहीं है, कि कमी मांगा और

मधुर आहार की आवश्यकता होने पर रुखा सूखा नीरस ! किन्तु साधु उसी में संतोष करता है, अपनी इच्छा का, वृत्ति का संकोच करता है, मन का तथा स्वादेन्द्रिय का निग्रह करता है, जैसा भी मिल गया उसी में संतुष्ट होता है मन इच्छित वस्तु के न मिलने पर शोक नहीं करता—

लद्धे पिण्डे अलद्धे वा णाणु तप्पेज्ज पंडिए^१

इस प्रकार उसे अपनी वृत्तियों का कठोर संयम करना होता है। इस कारण इसे 'वृत्ति संक्षेप' भी कहा है।

वास्तव में भिक्षा एक पराश्रित चर्या है, दूसरे की इच्छा और रुचि के अनुसार बने भोजन में ही स्वयं को प्रसन्न रखना होता है, इसमें स्वादविजय की साधना करनी होती है। भिक्षा वृत्ति का उद्देश्य भी यही है कि रस—इच्छा—(स्वादवृत्ति को जीत कर जीवन यात्रा करना—

जायाए घासमेसेज्जा रस गिद्धे न सिया।^२

रस की आसक्ति छोड़कर संयम यात्रार्थ आहार की गवेषणा करे, इस कारण इसका 'वृत्तिसंक्षेप' नाम भी सार्थक है।

नव कोटि परिशुद्ध भिक्षा

यह बताया जा चुका है कि भिक्षा गाय के समान समभाव पूर्वक और मधुकर के समान दूसरों को बिना कष्ट दिये अल्प रूप में ग्रहण करनी चाहिए। तथा स्वादविजय करके ही भिक्षाटन के लिए निकलना चाहिए। इस प्रकार जैन धर्म में भिक्षा को बहुत ही आदर्श, विशुद्ध और पूर्ण अहिंसक रूप में प्रस्तुत किया गया है। भगवान महावीर ने कहा है कि—भिक्षु को ऐसी भिक्षा लेनी चाहिए जो नवकोटि परिशुद्ध हो, अर्थात् पूर्ण रूप से अहिंसक हो, भिक्षु भोजन के लिए न स्वयं जीवहिंसा करे, न करवाए और न करते हुए का अनुमोदन करे। न वह स्वयं अन्न आदि पकाये, न पकवाए और न पकाते हुए का अनुमोदन करे, तथा न स्वयं मोल लें, न लिवाए और न लेने वाले का अनुमोदन करे।^३ इन ती विधियों से विशुद्ध अर्थात् निर्दोष जो भिक्षा

१ उत्तराध्यायन २।३०

२ उत्तराध्यायन ८।११

३ नव कोटि परिशुद्ध भिक्षा पण्यत्ते—स्थानांग ६।३

के समय गृहस्थ के द्वारा लगने वाले दीप । अतः इनका निमित्त गृहस्थ होता है ।

१ आहाकम्म—आधाकर्म—साधु के लिए बनाना ।

२ उद्देशिय—ओद्देशिक—सामान्य वाचकों के लिए बनाना ।

३ पूइकम्म—पूतिकर्म—शुद्ध आहार को आधाकर्मादि से मिश्रित करना ।

४ मीसजाय—मिश्रजात—अपने और साधु के लिए एक साथ बनाना ।

५ ठवणा—रथापना—साधु के लिए अलग निकाल कर रख देना ।

६ पाहुडिया—प्राभृतिका—साधु को गांव में आया जानकर उन्हें विनिष्ट भोजन बहराने के लिए जीमणवार, पाहुने आदि का समय आगे-पीछे करना ।

७ पाओयर—प्रादुष्करण—अंधकार युक्त स्थान में दीपक आदि का प्रकाशकर भोजन आदि देना ।

८ फीय—फीत—साधु के लिए खरीदना ।

९ पामिच्च—प्रामित्य—साधु के लिए उधार लाना ।

१० परियट्ठित्त—परिवर्तित—साधु के लिए आटा-साटा करना ।

११ अभिहट्ट—अभिहूत—साधु के लिए दूर से लाकर देना ।

१२ उब्भिन्न उद्भिन्न—लिप्त पात्र का मुँह खोलकर घृत आदि देना ।

१३ मातोहइ—मानापहत—ऊपर की मंजिल से या छीके बगैरह से सीढ़ी आदि से उतार कर देना ।

१४ अच्छिज्ज—आच्छेद—दुबैल से छीग कर देना ।

१५ वणित्तिट्ठ—वनिमृष्ट—मासे की चीज बिना दूसरे साथी की आज्ञा से देना ।

१६ अजसोयरय—अजसतरय—साधु को गांव में आया जानकर अपने लिए बनाये जाने वाले भोजन में और अधिक बढ़ा देना ।

इनमें आधाकर्म सबसे बड़ा दीप माना गया है । साधु के लिए बनाया गया आहार आधाकर्म है । आहार बनाने में, रखने में जो हिता आदि होती है आधाकर्म आहार देने वाला—उस हिता का प्राप्ति होता है । इनविष

मिल गया। मांगने पर भी यदि नियमों के अनुकूल मिले तो लेवें, अन्यथा खाली हाथ लौट आवे। साधु की 'भिक्षाचरी' के नियम बहुत ही कठोर और बहुत ही सूक्ष्म हैं। उनका पूरा विचार करके ही साधु आहार आदि ग्रहण करता है। और वैसी भिक्षाचरी ही तप कहलाती है। यहां पर हम आगमों में वर्णित भिक्षाचरी के दोषों की कुछ चर्चा करेंगे ताकि उसका असली स्वरूप परिज्ञात हो सके।

साधु जो भिक्षा की याचना करता है, उसे 'एपणा' कहते हैं। 'एपणा' में तीन शब्द आते हैं—

गवेसणा—गाय की भांति आहार प्राप्त करना।

ग्रहणपणा—ग्रहण करते समय उसकी शुद्धाशुद्धि का विवेक रखना।

परिभोगपणा—आहार करते समय भोजन के दोष ढालकर समतापूर्वक प्राप्त आहार का भोग करना।

इन तीनों एपणाओं का वर्णन करते हुए उत्तराध्ययन में बताया गया है—

गवेसणाए गहणे य परिभोगेसणाय य।

आहारोवहिसेज्जाए एए तिमि विसोहए ॥

उग्गमुप्पायणं पढमे वोए सोहेज्ज एसणं।

परिभोयम्मि चउक्कं विसोहेज्ज जयं जई ॥^१

आहार, उपधि, शय्या आदि प्राप्त करते समय भिक्षु-गवेसणा, ग्रहणपणा और परिभोगपणा की शुद्धि का विवेक रहे। उद्गम के, उत्पादन के, एपणा के और परिभोग के जो-जो दोष हैं उन्हें सर्वथा दूर करता हुआ विमुद्धरीति से गोचरी करें।

(१) १६ उद्गम दोष^२—उद्गम दोष का अर्थ है—आहार की उत्पत्ति

१ उत्तराध्ययन २४।११—१२

२ आहाराकम्मुदेसिय पूइकम्मे य मोसजाए य।

ठवणा पाट्टियाए पाळोयर कीय पानिच्चे ॥

परियट्ठिए अभिट्ठे उन्निमम मानोहटे इय।

अच्छिज्जे अनिमिट्ठे अज्जोयरए य मोसजमे ॥

—पिडनिवृत्ति ६२—६३

१४ चूर्ण—चूर्ण, अंजन आदि से वशीकरण करके लेना ।

१५ योग—आहार के लिए सिद्धि आदि योग-विद्या का प्रदर्शन करना ।

१६ मूलकर्म—गभस्तंभ आदि गुह्य प्रयोग बताकर आहार लेना ।

(३) १० ग्रहणपणा के दोष^१—ये दोष आहार ग्रहण करते समय लगते हैं । इनमें साधु और गृहस्थ दोनों की मिली-भगत रहती है । अर्थात् गृहस्थ की ओर से भी ये दोष लगते हैं और साधु की ओर से भी, अतः इन दोषों के निमित्त दोनों ही हो सकते हैं ।

१ संकित - आवाकमादि दोषों की शंका होने पर भी आहार लेना ।

२ अक्षित—सचित्त आदि का संघट्टा होते हुए भी आहार लेना ।

३ निक्षिप्त—सचित्त वस्तु पर रसा हुआ आहार लेना ।

४ पिहित—सचित्त वस्तु से ढंका हुआ आहार लेना ।

५ संहृत—पात्र में पहले से रखे हुए अकल्पनीय पदार्थ को निकालकर उसी पात्र से दान देना ।

६ दायक—शरायो, गभिणी आदि दान देने के अनधिकारी से आहार लेना ।

७ उन्मिथ—सचित्त से मिथित आहार लेना ।

८ अपरिणत—पूरे तोर पर पके बिना अपक्व फाकादि लेना ।

९ लिप्त—दही, घृत आदि से लिप्त होने वाले पात्र या हाथ से आहार लेना । लिप्त हाथ पहले (सचित्त पानी से) धोने के कारण पुराकर्म दोष और बाद में धोने के कारण पश्चात्कर्म दोष होता है ।

१० छिन्नित—छोटे नीचे पड़ रहे हों, ऐसा आहार लेना ।

१ सक्ति मरिचक निमित्त,
विहित नारिक दायमुन्मीते ।

अपरिणत निरा छिन्नित,
एवम एता दान ह्येति ॥

—रिद्धिपुंक्ति

साधु की भिक्षाचरी का पहला नियम है कि वह अपने लिए बना हुआ आहार न लें। शास्त्र में तो यहां तक बताया है कि आधाकर्म आहार का एक कण भी यदि किसी भोजन में मिश्रित हो गया है तो वह आहार भी साधु न लें।

(२) १६ उत्पादन दोष^१—ये १६ दोष भिक्षा ग्रहण करते समय साधु की ओर से लग सकते हैं। इनका निमित्त मुनि ही होता है।

१ घात्री --घाय (आया) की तरह गृहस्थ के बालकों को खिला-पिलाकर हंसा-हंसा कर आहार लेना।

२ दूती—दूत के समान इधर-उधर संदेश पहुंचाकर आहार लेना।

३ निमित्त—शुभ-अशुभ निमित्त (ज्योतिष) बताकर आहार लेना।

४ आजीव—अपनी जाति, कुल आदि बताकर आहार लेना।

५ वनीपक - भिखारी की भांति गृहस्थ की चापलूसी करके आहार लेना।

६ चिकित्सा—आहार प्राप्त करने के लिए औषधि आदि बताना।

७ क्रोध—गृहस्थ पर क्रोध करना या शाप आदि का भय दिखाकर आहार लेना।

८ मान—अपना प्रभुत्व जमाकर, शेखी बघारकर आहार लेना।

९ माया—किसी प्रकार का छल कपट रचकर आहार लेना।

१० लोभ—सरस भोजन की लालसा से घूमते रहना।

११ पूर्व परचात् संस्तव—दान दाता के माता-पिता या सात-श्वसुर आदि से अपना परिचय बताकर भिक्षा लेना।

१२ विद्या—आहार के लिए किसी प्रकार की विद्या आदि साधना बताना अथवा उनका प्रयोग करना।

१३ मंत्र—मंत्र प्रयोग द्वारा आहार लेना।

१ घाई हुई निमित्त आजीव वनीपके तिगिच्छा य।

कोह माणे माया लोभे य ह्यति दस एए॥

पुच्छि पच्छा संयविज्जा मते य पुण्ण दोणे य।

उत्पायणाइ दोसा सोलनमे मूलकम्मे य॥

—विट्ठनिर्मुक्ति ४०८—४०९

कार्य में कुछ भी तपस्या नहीं करनी पड़े, मन, वचन आदि का संयम व निग्रह करने का अवसर भी न आये वह कार्य 'तप' कैसे हो सकता है ? वैदिक परम्परा में तो आधाकर्म, औद्देशिक आदि जैसे शब्द भी नहीं मिलते हैं, किन्तु बौद्ध परम्परा जो कि श्रमणों की ही एक परम्परा है और भगवान महावीर के समय में ही जिसका विकास विस्तार हुआ, उसमें भी ऐसे नियम नहीं हैं । बौद्ध ग्रन्थों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि वहां भी भिक्षु के लिए बनाया हुआ, खरीदा हुआ, लाया हुआ, आदि आहार ग्रहण किया जाता था । एक बार सिंह सेनापति ने बुद्ध को संध सहित निमंत्रित किया था और बाजार से मरे हुए पशुओं का मांस मंगवाकर उन्हें भोजन दिया था ।^१ इसी प्रकार का एक और उल्लेख है कि एक तरुण श्रद्धालु महामात्य ने बुद्ध सहित भिक्षु संध को निमंत्रण दिया । बुद्ध के साथ साढ़े बारह सौ भिक्षु थे अतः उनमें साढ़े बारह सौ थालियां तैयार करवाई और आने पर प्रत्येक भिक्षु को एक-एक थाली परोसी ।^२

इन तथ्यों से ज्ञात होता है कि बौद्ध भिक्षु आधाकर्म, औद्देशिक, अभिहृत आदि शेषों को नहीं टालते थे । भिक्षा के विषय में इतना गहरा और सूक्ष्म चिंतन सिर्फ जैन धर्म में ही किया गया है । भिक्षा के विषय में सूक्ष्म से सूक्ष्म हिंसा को यहां टाला गया है । यहां तक कि भिक्षु के निमित्त बनाया हुआ तो दूर, किन्तु अपने लिये बनाये हुए भोजन में यदि दो हिस्सेदार हों, उनमें से एक की इच्छा हो कि मैं मुनि को भिक्षा दूँ । यह मुनि से प्रापना करे कि—महाराज ! भिक्षा लीजिए । किन्तु दूसरा यदि देना न पाए और उसका मन भिक्षा देने से कष्ट पाया हो तो मुनि को चाहिए कि वह आहार भी न लें । क्योंकि ऐसा करने से एक के हृदय में रोग, अथवा य पीडा उत्पन्न हो सकती है, जो कि एक प्रकार की सूक्ष्म हिंसा ही है । इसलिये कहा है—

१ विनय विट्ठन, महाज्जिम ६।४।८ पृष्ठ २४४

२ विनय विट्ठन : महाज्जिम ६।४।४, पृष्ठ २३४

भिक्षाचरी के इन ४२ दोषों का वर्णन मूल आगमों में एक स्थान पर नहीं मिलता है। कुछ दोषों का वर्णन आचारांग, कुछ का दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, तथा प्रश्नव्याकरण एवं भगवती सूत्र आदि में अलग-अलग आता है। आगमोत्तरकालीन ग्रंथों में—जैसे पिंडनिर्घुक्ति, प्रवचन सारोद्धार, आवश्यक वृत्ति आदि में एक स्थान पर भी प्राप्त होता है।

परिभोगपणा (ग्रासपणा) के संयोजना, अप्रमाण, अंगार आदि पांच दोष बताये गये हैं, उनका सम्बन्ध भिक्षाचरी से उतना नहीं है जितना कि आहार विधि (रसवृत्ति) से है, अतः हमने उनका वर्णन रस-परित्याग के अन्तर्गत यथाप्रसंग कर दिया है।

इसी प्रकार भगवती सूत्र (७।१) में क्षेत्रातिक्रांत, कालातिक्रांत आदि भिक्षा के चार दोष बताये हैं। उनका सम्बन्ध ऊनोदरी तप से बैठता है। अतः उसी प्रसंग में चारों का वर्णन किया गया है।

श्रमण सूत्र के गोचरचर्या सूत्र में भी गोचरी के अनेक दोष और विधियों का सूक्ष्मवर्णन किया गया है। विस्तार के लिए पाठक (श्रमण सूत्र : विवेचन उपाध्याय अमरमुनि) देख सकते हैं।

इस तरह उद्गम, उत्पादन और एषणा के दोषों की कुल संख्या वयालीस होती है। ये वयालीस दोष 'भिक्षाचरी' के हैं। इन दोषों को टालकर विवेक पूर्वक भिक्षा ग्रहण करना—भिक्षाचरी है।

पाठक कल्पना कर सकते हैं कि जैन मुनि की भिक्षा के सम्बन्ध में कितने नियमोपनियम बनाये गये हैं, भिक्षा की विधि कितनी कठोर और विवेकपूर्ण है। भिक्षा विधि के सम्बन्ध में इतना गहरा विवेचन अन्य किमी भी भिक्षुक परम्परा में नहीं मिलेगा। भिक्षा लेना तो वैदिक एवं बौद्ध परम्परा में भी विहित है, किन्तु वहाँ भिक्षा के नियम बहुत मरल हैं। वहाँ पर इस प्रकार के ४२ दोषों की, नवकोटि विशुद्धि की कोई कल्पना भी नहीं है। बस, भिक्षुक ने याचना की, दाता ने जैसा भी, जहाँ से भी लाकर दे दिया, भिक्षुक ने ग्रहण कर लिया। इस प्रकार की भिक्षा बहुत ही आसान है, इसी कारण हम भिक्षा को 'तप' कहना भी कठिन है। क्योंकि नियम

इस आहार को लेने से पञ्चात्कर्म आदि दोष तो नहीं लगेगा ?^१ यदि मेहसान आदि के लिए बनाया हो तो लेने से उन्हें कमी न पड़ जाय जिससे दुबारा बनाना पड़े या उन्हें बुरा लगे, तो वह आहार भी न लेवे । किसी गर्भवती स्त्री के लिए बनाया हो, और वह खा रही हो तो उसका भोजन भी नहीं लेवे ।^२ गरीबों और भिखारियों को देने के निमित्त बनाया हो तो वह आहार भी भिक्षु के लिए अकल्पनीय है ।^३ दो साजीदरों का हो और दोनों की पूर्ण सहमति न हो तो वह भी न लेवे ।^४

इस प्रकार प्राप्त आहार की आगम के अनुसार भी एषणा करें और व्यवहार के अनुसार भी । साधु का उद्देश्य सिर्फ भिक्षा लेना, पात्र या पेट भरना मात्र नहीं है, किन्तु शुद्ध और निर्दोष भिक्षा लेना है, वह शुद्ध भिक्षा मिले तो लेवें, न मिले तो अदीन भाव के साथ पुनः साजी लौट आवे ! यह न सोने कि देखो, कैसे लोग हैं ? कंसा गांव है कि यहां भिक्षा ही नहीं मिलती ? इस प्रकार का संकल्प भिक्षु मन में ही न लावे । किन्तु यह सोने कि चलो, कोई बात नहीं, आज भोजन न मिला तो तपस्या का ही प्रसंग प्राप्त हुआ । किन्तु अपने आचार में किसी प्रकार का दोष न आने दे !

भिक्षा का काल

जितना महत्त्व और गौरव जैन धर्मण की भिक्षा का है, उतना ही उसकी विधि का भी है । विधिपूर्वक समय पर किया गया काम ही सदाहनीय होता है । यदि अच्छा कार्य भी समय चुका कर किया जाये तो उसकी प्रशंसा के स्थान पर उल्टी निन्दा ही होती है । इसीविषे कहावत है—“समय का चुना मोरा गये”—समय चुकने पर बना आदमी भी ठोकरें खाता है ।

सूत्रों में जहाँ भिक्षा के नियम आदि बताये हैं वहाँ उसका काल भी

१ दशवर्णनिक २।१।२४,

२ „ २।१।२६,

४ „ २।१।४३,

५ „ ३।१।२०

दोणं तु भुंजमाणाणं एगो तस्य निमंतए ।

विज्जमाणां न इच्छेज्जा छंदं से पडिलेहए ।^१

—दो स्वामी या भोक्ता हो, वहां एक मुनि को भिक्षा के लिए निमंत्रित करे, तब मुनि दूसरे के अभिप्राय को भी देखें, यदि उसे देना अप्रिय लगता हो तो मुनि उस भिक्षा को ग्रहण न करे ।

भिक्षा के अन्य नियम

मुनि की भिक्षा के सम्बन्ध में जैनसूत्रों में स्थान-स्थान पर बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है । आचारांग (२।१) प्रश्नव्याकरण (संवर द्वार १.१५) भगवती सूत्र (७।१) उत्तराध्ययन (२६) दशवैकालिक (५) तथा निशीथ आदि सूत्रों में भिक्षाचरी के अनेक विधि-निषेधों का बड़ा ही सूक्ष्म वर्णन प्राप्त होता है । आचारांग दूसरे श्रुतसकन्ध का प्रथम अध्ययन और दशवैकालिक का पांचवां अध्ययन तो विशेष रूप से भिक्षा विधि के वर्णन से ही भरे हैं । इस कारण इनका नाम भी 'पिडैपणा अध्ययन' प्रसिद्ध हो गया ।

वृहत्कल्प सूत्र के प्रथम उद्देशक में बताया है कि—भिक्षा के लिए जाने से पहले कायोत्सर्ग करना चाहिए । इस कायोत्सर्ग—ध्यान में यह विचार करना चाहिए कि "आज मैंने कौनसा आयम्बिल, नोवी आदि व्रत ले रखा है, मुझे कितना आहार लेना है, कैसा आहार करने का मेरा नियम है ?" इस प्रकार का चिन्तन साधक को भिक्षा के लिए जाने से पहले सावधान कर देता है कि आज मेरा अमुक संकल्प है, अतः अमुक प्रकार का रस, विषय आदि नहीं लूंगा । और सादा भोजन भी अमुक मर्यादा के अनुसार ही लूंगा ।

दशवैकालिक में बताया गया है, कि मुनि आहार के लिए जाये तो गृहस्थ के घर में प्रवेश करके वह शुद्ध आहार की गवेषणा करे, तब प्रथम वह यह जानने का प्रयत्न करे कि यह आहार शुद्ध और निर्दोष है कि नहीं?^२

१ दशवैकालिक ५।१।३७

२ दशवै० ५।१।२७

(२)—सोचना निम्नलिखित मुखे पडिमाहेज्ज मंजए— वही ५।१।५६

गया है। प्राचीन समय में भगवान महावीर के निध्न जिस समय भिक्षा करते थे उसका वर्णन भी सूत्रों में आता है। उत्तराध्यायन सूत्र के समाचारी प्रकरण में बताया गया है —

पढमं पोरिसि सज्जायं चीयं क्षाणं सियायइ ।

तइयाए भिक्खायरियं पुणो चउत्तीइ सज्जायं ।^१

मुनि पहले प्रहर में स्वाध्याय करे, दूसरे प्रहर में ध्यान करे, तीसरे प्रहर में भिक्षा के लिए जाये और चौथे प्रहर में पुनः स्वाध्याय करें !

इस विधान के अनुसार तो भिक्षा का काल तीसरा पहर ही है। तो क्या आज भी यही काल मान्य है ? इन प्रश्न के समाधान में हमें आगमों की मूल भावना को देखना चाहिए।

प्राचीन काल के नागरिक जीवन की जो विधि मिलती है, उसके अनुसार उस समय भोजन का समय प्रायः मध्याह्नोत्तर काल ही था। आज भी अनेक प्रदेशों में १२-१ बजे के समय ही भोजन किया जाता है। इसनिम्न हो सकता है कि उस समय की प्रथा के अनुसार तीसरा पहर ही भिक्षा का समय मान लिया गया हो !

उत्तराध्यायन की बृहद्वृत्ति के अनुसार यह विधान उत्तम विधि है। "उत्तमंतो हि तृतीयोऽप्येतमेव भिक्षादनमनुजातम्"—उत्तम विधि (सामान्य विधि) के अनुसार तीसरे पहर में ही भिक्षा करनी चाहिए।

किन्तु साग में आगम में यह भी कहा है—

अकातं च विपज्जिता कालं क्षातं समाधरे^२

अनापमेव। छोटकर काल—समय पर ही सब कार्य करना चाहिए। बृहद्वृत्त^३ में भी यही बात कही है—भिक्षा के समय में भिक्षा करनी

१ २६।१२

२ उत्तराध्यायन बृहद्वृत्ति २०।२१

३ दशरूपार्जुन ४।२११

४ अथ अथ काले...मनसो मयम काले ।

—बृहद्वृत्ति २।१।१४

वताया है। किस समय भिक्षा करनी चाहिए और किस समय नहीं करनी चाहिए इसका विवेक भी साधु को रखना होता है।

आचार्य जिनदास गणी ने चूर्णि में एक कथा प्रसंग देते हुए बताया है—
एक मुनि भिक्षा का काल टालकर अकाल में भिक्षा के लिए घूमता था। उस समय घरों में कहीं चौका उठ जाता, कहीं रसोई बन्ध मिलती। फल यह होता कि मुनि भूखा-प्यासा ही खाली झोली लेकर लौट आता। एकवार उसे खाली लौटते देखकर कालचारी—(समय पर भिक्षा करने वाले) मुनि ने पूछा—क्यों मुने ! भिक्षा मिली कि नहीं ?

वह बड़-बड़ाकर बोला—कैसा है यह गांव ! सब भिखारी रहते हैं यहां पर ! कहीं भी भिक्षा नहीं मिली !

इस पर वह कालचारी भिक्षु बोला—मुने ! इसमें भूल तो तुम्हारी है और गांव को दोष दे रहे हो !

अकाले चरसि भिषखु ! कालं न पडिलेहसि !

अप्पाणं च फिलामेसि सन्निवेसं च गरिहसि !

भिक्षु ! तुम समय को तो देखते नहीं हो, बेसमय में भिक्षा के लिए घूमते हो, फिर भिक्षा मिलती नहीं तो स्वयं भी तब खिन्न होते हो और गांव को भी गालियां देते हो ! तो यह दोष गांव का नहीं, तुम्हारा ही है।”

इस कथा प्रसंग को देकर बताया गया है कि भिक्षु जिस देश में रहता हो, जहां विहार करता हो उस देश के भिक्षा काल का भी ज्ञान हो और जब वहां भिक्षा का समय हो तब भिक्षा के लिए जाये !

संपत्ते भिषणकालम्मि असंभंतो अमुच्छिओ !^१

भिक्षा का समय होने पर असंभान्त अर्थात् अनाकुल और अनाशक्त भाव ने भिक्षा की गवेषणा करनी चाहिए !

यहां प्रश्न होता है कि भिक्षा का क्या कोई निश्चित समय आगमों में नहीं बताया गया है ? उत्तर है आगमों में भिक्षा का समय मूलित दिया

१ दशवैकान्तिक ५।२।५

२ दशवैकान्तिक ५।१।१

सट से जैसे तैसे तैयार होकर जाने की जल्दी करता है, इधर-उधर देखता हुआ जल्दी-जल्दी जाता है इससे न पूरी ईर्ष्या समिति देखी जाती है और न ऐपणा समिति का ही विवेक रहता है। इस कारण पहली विधि यह बताई है कि भिक्षु असंभ्रान्त—अर्थात् स्थिर चित्त हो, गंभीर होकर गजगति से धीरे-धीरे नीचे देखता हुआ भिक्षा के लिए जाये। दूसरी बात है—अमूर्च्छित भाव रहे। आहार के प्रति आसक्ति न रहे। स्वादिष्ट आहार के प्रति गृद्ध न होकर बिलकुल अनाकुल एवं अनासक्त रहे। गृहस्थ के घर में जाये तो वहाँ भी शब्द, रूप, रस आदि में मूर्च्छित न हो। घर में सुन्दर युवतियाँ भी होती हैं, कन्याएँ भी होती हैं, सुन्दर-वस्त्र आभूषण भी पहने रहते हैं। विविध पक्वान्न, मिठाइयों से बाल भरे होते हैं, भिक्षु उनकी तरफ आँख उठाकर भी न देखे। उसे तो जो वस्तु मिल रही है, वस उगी की शुद्धाशुद्धि की गवेषणा में ध्यान रहे।

अमूर्च्छा भाव को समझाने के लिए आचार्य जिनदाम ने गोवत्स का सुन्दर उदाहरण दिया है। जो इन प्रकार है—

किसी नगर में एक धनार्थ सेठ था। उसने एक गाय पाल रखी थी। उस गाय के एक बछड़ा था। सेठ की पुत्र-वधू बछड़े की बड़ी सेवा करती, उसे अपने हाथ से चारा डालती, पानी पिनाती और समय-समय पर उसकी नुमास रगती !

एक बार सेठ के घर में कोई उत्सव हुआ। बाहर से अनेकों मेहमान आये। घर के सभी लोग उत्सव की तैयारी में और मेहमानों के स्वागत-सत्कार में लग गये। उस दिन बछड़े का चारा पानी भी लोग भूल गये। सेठ की पुत्रवधू विविध आभूषणों और सुन्दर वस्त्रों में सजकर मेहमानों का स्वागत-सत्कार कर रही थी। इधर भूल ध्यान के सादे बछड़ा खाने लगा। बछड़े की आवाज सुनकर पुत्रवधू चौकी। उसे याद आया—सीढ़ी ! आज तो बिनादे बछड़े को चारा पानी भी दिया नहीं ! वह छत में चोरी। उसके पैरों के तुर्रर रग-रग कर रहे थे। सीढ़ी उसका नियंत्र रहा था। जैसे ही बछड़े के पास पहुँची और चारा पानी खाना तो वह बछड़ा जो खाने में लग गया।

चाहिए, खाने के समय खाना चाहिए और सोने के समय सोना चाहिए। देश व क्षेत्र की प्रथा बदलती रहती है, देश की प्रथा के अनुसार जब मध्याह्न में भोजन बनता था तो भिक्षा का काल भी मध्याह्न था, अब यदि देश की प्रथा दूसरे पहर में भोजन बनाने की हो गई और भिक्षु फिर भी तीसरे पहर को पकड़े रहे, उसी समय भिक्षा के लिए निकले तो वह तो अकाल चर्या हो गई ! जबकि 'अकाल चर्या' को छोड़कर काल चर्या का अनुसरण करने का स्पष्ट आदेश है। इसीलिए शास्त्रों में—'लेत्तं कालं च विन्नाय'—क्षेत्र और काल को जानकर आचरण करने की सूचना दी गई है। इन सब बातों पर विचार करने से यही प्रतीत होता है कि जिस देश में, जिस समय लोग भोजन करते हों उस समय भिक्षा के लिए निकलना भिक्षाचरी का काल है, और उससे पहले या पीछे जाना, अकाल चर्या है।

छेद सूत्रों में तो भिक्षा का काल सूर्योदय से सूर्यास्त पूर्व तक बतलाया गया है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि भिक्षु दिन भर ही भिक्षा के लिए घूमता रहे। इसका आशय यही है कि दिन के समय में जब जहाँ भिक्षा की प्राप्ति का उचित समय हो, तब वहाँ भिक्षा के लिये जाये।

भिक्षा की विधि

भिक्षा का काल प्राप्त होने पर जब भिक्षु भिक्षा के लिये जाये तो कैसे जाना चाहिये ? किस प्रकार गृहस्थ के घर में प्रवेश करना और किस प्रकार की वृत्ति रखना—यह भी एक महत्वपूर्ण बात है। शास्त्रों में इन विषयों का भी बहुत विस्तार से वर्णन मिलता है।

भिक्षा के लिये जाते हुए मुनि को सबसे पहले—असंभंतो अमुच्छिजो—असंभंत और अमुच्छिन्न होना चाहिए। भिक्षा का समय होने पर मन नचल नहीं होना चाहिए कि नहीं, सबसे पहले गृहस्थ के घर में जाकर भिक्षा ले लें। भिक्षु ने पहले अन्य कोई भिक्षु वहाँ न पहुँच जाये। यदि अन्य कोई पहुँच गया तो वह स्नादिष्ट आहार पान आदि ले जायेगा, और मैं मुँह झाकना ही रह जाऊँगा। इस विचार से मन में नचलता आती है, मन नचल होता है तो पाश आदि की डोक से प्रतिबन्धना भी नहीं कर पाता।

साधु तो स्पष्ट कहता है—“मुझे भिक्षा देने वाला किसी लालचवश नहीं, कामनावश नहीं, किंतु निस्वार्थभाव से त्यागी समझकर देवें।” इस विषय को स्पष्ट करने के लिए टीकाकार आचार्य ने एक बहुत ही सुन्दर दृष्टान्त दिया है।

मुघाजीबी

एक राजा था। एक दिन उसके मन में धर्म के सम्बन्ध में जिज्ञासा जगी कि कौन सा धर्म श्रेष्ठ है ? उसने अपने मंत्री से पूछा—मंत्रिवर ! सब धर्मों में श्रेष्ठ कौन सा धर्म है ?

तटस्वद्रष्टा मंत्री ने निवेदन किया—“महाराज ! वैसे तो प्रत्येक धर्म गुरु अपने-अपने धर्म को श्रेष्ठ और मोक्ष का साधन बताते हैं, किन्तु हमें इसकी परीक्षा करके देखना चाहिए। धर्म की पहचान गुरु होती है, जो गुरु निस्पृह होगा, दुनियादारी से जिनका कुछ लेना—देना नहीं होगा वही गुरु उत्तम होगा, और उसका बताया हुआ धर्म सच्चा तथा श्रेष्ठ होगा।”

मंत्री का कथन राजा के मन में उत्तर गया। उसने धर्म गुरुओं की चुनाने के लिए नगर में घोषणा करवाई—“राजा सभी धर्म गुरुओं को मोक्ष दान देना चाहता है, और उनमें धर्म चुनना चाहता है अतः आज सभी धर्मगुरु राज सभा में उपस्थित होंगे।”

राजा की घोषणा सुनकर बहुत से धर्म गुरु राजसभा में पहुँचे। राजा ने धर्म के दृष्टिकोण उन गुरुओं से पूछा—“आप लोग अपना जीवन निर्वाह किस तरह से करते हैं ?”

उपस्थित भिक्षुओं में से एक भिक्षु बोला—“मैं भृगु से अपना जीवन निर्वाह करता हूँ।”

दूसरे ने कहा—“मैं परी से निर्वाह करता हूँ। तीसरे ने बताया—“मैं हाथों से निर्वाह करता हूँ।” और चौथे ने कहा—“मैं लोकानुष्ठान से निर्वाह करता हूँ।”

तबसे आगे एक भिक्षु ने कहा—“मेरा क्या निर्वाह ? मैं जो मुघा-बीबी हूँ।”

पुत्रवधू की सुन्दरता और साज-शृंगार से उसे कोई वास्ता नहीं था, उसकी नजर तो बस अपने भोजन की ओर लगी, वह उसी में मस्त था।

इस दृष्टान्त के द्वारा आचार्य ने बताया है कि साधु भी गृहस्थ के घर में भोजन के लिए जाता है तो वहाँ विविध प्रकार के रूप-रस-शब्द आदि विषयों के आकर्षण रहते हैं, किंतु बछड़े की तरह उन रूपादि विषयों से उसका कोई लगाव नहीं होता, वह तो सिर्फ अपने ग्राह्य भोजन की ओर ही ध्यान देता है और उसे प्राप्त कर गृहस्थ के घर से लौट आता है। भिक्षु को गृहस्थ के घर में जाने पर इस प्रकार आसक्त रहना चाहिए।^१

भिक्षा लेते समय मुनि को गृहस्थ के सामने अपना पूर्व परिचय भी नहीं देना चाहिए कि मैं अमुक परिवार का जन्मा हूँ—मेरा अमुक घराना है। तथा नहीं दाता की स्तुति करनी चाहिए। क्योंकि ये सब चेष्टाएँ तभी होती हैं जब भिक्षु के मन में सरस भोजन प्राप्त करने का लालच होता है। भोजन की आसक्ति व रसानोलुपता ही साधक को गिराती है। इसीलिए भगवान ने कहा है—साधक जो भिक्षा से उदर निर्वाह करता है, वह भिक्षा के ऊपर ही निर्भर नहीं रहता। वह तो अपने धर्म के साधन भूत देह की पालना के लिए ही भिक्षा ग्रहण करता है। इसलिए इस प्रकार का साधक मुधाजीवी होता है। मुधाजीवी की व्याख्या करते हुए आचार्य ने बताया है—मुहाजीवी नाम जं जाति कुलादीहि आजीवण विसेसेहि परं न जीवति^२—जो जाति, कुल आदि के सहारे नहीं जीता, उसे मुधाजीवी कहा जाता है। वह तो निःसृष्टापूर्वक धर्म साधना और धर्मोपदेष्टा के लिए ही जीता है, इसी उद्देश्य से भिक्षा ग्रहण करता है। उसके मन में यह भी विकल्प नहीं होता कि भिक्षा देने वाले को मैं अमुक लाभ बताऊँ या उसका अमुक काम सिद्ध करादूँ? अक्सर लोग कहते हैं—“जिसकी गाँवे बाजरी उसकी बजाय हाजिरी” किंतु यह बात उन लोगों के लिए है जो किसी कामना से, लोभ-लालच में किसी का अन्न माते हैं। जो ‘पराने मान फोफानंद’ होते हैं वे ही इस प्रकार की वृत्ति रगते हैं। सच्चा

१ दण्डकानिक जिनदासचूनि पृ० १६७-६८

२ आचार्य जिनदास चूनि दण्डक० अ० ५

मुधादायी' अर्थात् किसी प्रकार की प्रतिफल की कामना के बिना

- १ मुधादायी का एक अर्थ यह भी किया गया है कि दाता मन में किसी प्रकार के प्रतिफल की कामना नहीं रखे कि मैं इसे भिक्षा देता हूँ तो मुझे अमुक फल की प्राप्ति हो अथवा मेरा यह कार्य भिक्षा लेने वाला सम्पन्न कर दें। इस सम्बन्ध में टीका में एक कथा है—

एक सन्यासी था। एक बार वह एक भक्त (भागवत) के घर पर पहुँचा और बोला—मैं तुम्हारे यहाँ चातुर्मास काल व्यतीत करना चाहता हूँ, क्या तुम मेरे निर्वाह का भार उठा सकोगे ?

भागवत ने कहा—आप मेरे यहाँ चातुर्मास व्यतीत करेंगे इसमें मुझे खुशी है, किन्तु मेरी एक शर्त है, यदि मेरी शर्त आपको स्वीकार हो तो आप प्रसन्नतापूर्वक रहिए।

सन्यासी ने कहा—शर्त क्या है ? भागवत ने कहा—मैं यथा शक्य आपकी सेवा करूँगा, लेकिन बदले में आप मेरा कोई भी कार्य नहीं करेंगे। क्योंकि प्रत्युपकार की भावना रखने से मेरी सेवा का फल क्षीण हो जायगा।

सन्यासी ने शर्त स्वीकार कर ली। वह उसके घर ठहर गया। भागवत भी भोजन आदि से उसकी सेवा करने लगा। एक दिन रात के समय भागवत के घर चोर आये। चोरों के ह्रास और कुछ नहीं लगा तो वे भागवत का घोड़ा चुराकर ही ले गये। जाते-जाते तबेरा होने लगा तो चोरों को भय लगा। उन्होंने घोड़ा नदी के किनारे बंध से बांध दिया और आगे चल पड़े।

अपने नियमानुसार प्रातः सन्यासी नदी किनारे स्नान करने गया। यहाँ भागवत का घोड़ा बंधा देखा तो उसे मचर देने लगे। भागवत के घर दौड़कर आया। उसे अपनी प्रतिज्ञा याद आई। इस कारण बात को यथार्थ रूप उसने भागवत से कहा—'मैं नदी किनारे बधना वस्त्र भूल आया, अतः मोकर की भेजकर सन्यासी।' भागवत ने मोकर की नदी किनारे सन्यासी का वस्त्र माने भेजा। मोकर उहाँ पहुँचा तो समझे घोड़े की नदी किनारे बंधा देखा। वह दौड़कर अपने भाविक के पास आया और सब बात कही।

भागवत सन्यासी की मदद होकर उसी तरह गया। उसने सन्यासी से कहा—महागुरु ! आपने मेरा कुछ भी काम न करने की प्रतिज्ञा
(दिन दृष्ट २५४ पृष्ठ)

राजा ने कहा 'आप लोगों के उत्तर से मैं कुछ समझ नहीं पाया । अतः स्पष्टीकरण करके समझाइए ।'

पहले भिक्षु ने कहा—“मैं कथावाचक हूँ, लोगों को कथा सुनाकर अपना निर्वाह करता हूँ । दूसरे ने स्पष्टीकरण किया मैं संदेश वाहक हूँ । यात्रा करता रहता हूँ और लोगों के संदेश डघर से डघर पहुँचाकर अपना निर्वाह करता हूँ ।” तीसरे ने बताया—“मैं लेखक (लिपिक) हूँ । अतः हाथ से अपना निर्वाह करता हूँ । चौथे भिक्षु ने कहा—“मैं लोकों को प्रसन्न करके उनका अनुग्रह प्राप्त करता हूँ उसी से मेरा निर्वाह हो जाता है ।”

सबसे आखिर में मुद्याजीवी भिक्षु बोला -- ‘मैं संसार से विरक्त निर्ग्रन्थ भिक्षु हूँ । मुझे जीवन निर्वाह की क्या चिन्ता ? निस्वार्थ बुद्धि से लोगों को उपदेश सुनाता हूँ और संयम-निर्वाह के लिए अल्प भोजन विशुद्ध रीति से लेता हूँ । मैं भोजन के लिए किसी की स्तुति-प्रशंसा नहीं करता, किसी के सामने दीखता नहीं दिखाता और न किसी को सत्य उपदेश देने हिचकिचाता हूँ । अतः मैं मुद्याजीवी भिक्षु हूँ ।’

मुद्याजीवी भिक्षु का कथन सुनकर राजा बहुत प्रभावित हुआ । उसने सिर झुकाकर नमस्कार किया और बोला—‘वास्तव में अच्छे गुरु आप ही हैं, मुझे धर्म का ज्ञान दीजिये ।’

मुनि ने राजा को धर्म उपदेश दिया । राजा प्रतिबुद्ध होकर उनका जित्प बन गया ।

मुद्याजीवी अर्थात् निस्वार्थभाव से लोगों का कल्याण कर निष्ठा प्राप्त करने वाला भिक्षु वास्तव में ही आदर्श होता है और वही भज्जा निष्ठा का अधिकारी है । ऐसे भिक्षु बहुत ही दुर्लभ होते हैं । आगम में कहा है—

कुत्तहाओ मुहादायो मुद्याजीवी वि कुत्तहा ।

मुहादायो मुद्याजीवी योवि मच्छन्ति मुगई ।

अद्विह गोवरगं तु तहा सत्तेव एसणा ।

अभिग्गहा य जे अन्ते भिष्छारियमाहिया ।^१

आठ प्रकार की गोचरी (गोचराग्र) और सात प्रकार की एणणा तथा अन्य जो अभिग्रह आदि हैं यह सब भिक्षाचारी तप है !

भिक्षाचरी के आठ भेद में छह भेद ऊनोदरी तप के प्रकरण में भी उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार बताये गये हैं । जैसे पेटिका, अधपेटिका आदि । इसके दो भेद और हैं— ऋजुगति तथा वक्रगति । इस प्रकार भिक्षाचरी के कुल आठ भेद ये हुए—

१ पेटिका—पेटी (सन्दूक) की तरह गांव के घरों के चार भाग बनाकर चौकोर गति से भिक्षा करना ।

२ अधपेटिका—आधी सन्दूक की तरह दो भाग में भिक्षा करना ।

३ गोमूत्रिका—गोमूत्र की धारा की भांति विरल टेढ़ी-मेढ़ी गति से भिक्षा करना ।

४ पतंग घोषिका—पतंगे की तरह उड़ती हुई बीच-बीच में घरों की छोड़ती हुई गति से भिक्षा करना ।

५ शंखाघतं—शंख की भांति गोल चक्करदार गति से भिक्षा करना ।

६ गत्या-प्रत्यागता—दूर जाकर वापस सीधा लौट आना, एक ओर जाते हुए गोचरी करे, दूसरी ओर आते हुए गोचरी करे ।

७ ऋजुगति—सरल गति ।

८ वक्र गति—टेढ़ी गति ।

यद्यपि भगवतो तथा उपपाई सूत्र में इन भेदों की कोई चर्चा नहीं है । न ही ऊनोदरी तप में और न भिक्षाचरी तप में ही ऐसे भेद कहीं बताये हैं । किन्तु उत्तराध्ययन में ऊनोदरी के प्रकरण इनका वर्णन है । स्नानांग सूत्र में भिक्षा के छह भेदों में भी इनकी चर्चा है ।^२ ये भेद जादव्य में भिक्षा के लिए जाने का एक प्रकार हैं । जिन गति से भिक्षा भिक्षा के लिए जाना है उनके आठ भेद करके यहाँ समझाये गये हैं ।

निस्वार्थ भाव से देने वाला और निष्काम भाव से लेने वाला—दोनों ही दाता और पात्र संतार में दुर्लभ है। ऐसे मुघादायी और मुघाजीयी दोनों ही सद्गति में जाते हैं।

भिक्षाचरी के आठ भेद

भिक्षाचरी का समय, विधि और महत्त्व बताने के बाद अब हम आगम में बताये गये भिक्षाचरी के विविध भेदों पर विचार करेंगे। उत्तराध्ययन सूत्र में भिक्षाचरी और ऊनोदरी तप के भेदों में बहुत साम्य दिखाया है, भिक्षाचरी के विविध भेदों को ऊनोदरी तप में भी ले लिया गया है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि भिक्षाचरी का मूल उद्देश्य रमना पर विजय प्राप्त करना है। मूखा-रूखा जैसा भी भोजन मिले अरसं विरसं वावि—जैसा अरस-नीरस आहार प्राप्त हो उससे ही उदर निर्वाह करके अपनी संयम यात्रा चलाते जाना यह भिक्षाचरी का उद्देश्य है। इसमें पेट भर कर भोजन प्राप्त हो भी सकता है और नहीं भी ! मन इच्छित भोजन कभी मिले और कभी न भी मिले। कभी-कभी भिक्षु स्वयं विविध अभिग्रह, संकल्प आदि करके अपने मन को अधिक निग्रहीत करने का प्रयत्न करता है। उस निग्रह में ऊनोदरी तो अपने आप होती ही है, इस कारण उन अभिग्रह आदि को ऊनोदरी तप में भी गिना गया है जिनका वर्णन ऊनोदरी तप के भेद में किया जा चुका है। और वह ऊनोदरी भिक्षाचरी के माध्यम से होती है इस कारण भगवती सूत्र (२५।७) और उववाई सूत्र (तपाधिकार) में उसे भिक्षाचरी के भेदों में गिना है। इस गणना में कोई विरोध नहीं, किन्तु भावना का साम्य ही अधिक है। अब यहां दोनों सन्दर्भों पर हम विचार करते हैं। उत्तराध्ययन में कहा है—

(पृष्ठ २५३ का शेष)

की ची, पर अब आप से रहा नहीं गया। आप अपनी प्रतिष्ठा तोड़ देंगे ! अतः अब मैं आपकी सेवा नहीं कर सकता। क्योंकि किसी से सेवा लेकर उसकी सेवा करने का फल बहुत ही अल्प होता है। अतः मैं तो निष्काम सेवा करना चाहता था।

उसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सम्बन्धी अभिग्रह, एषणा सम्बन्धी विधि और गति सम्बन्धी भेद भी सम्मिलित कर लिये गये हैं ।

तीस प्रकार के अभिग्रह

(१) द्रव्य अभिग्रह (चारक)—द्रव्य-वस्तु सम्बन्धी अभिग्रह करना । जैसे—उड़द के बाकले, भुने चने आदि अमुक द्रव्य मिलेगा तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा उपवास करूंगा । इसमें वस्तु की संख्या का भी संकल्प किया जा सकता है—जैसे दो लड्डू मिलेंगे, एक रोटी मिलेगी तो लूंगा, इससे कम या अधिक मिलेंगे तो नहीं लूंगा । यह द्रव्य अभिग्रह है । जैसे भगवान महावीर ने उड़द के बाकले लेने का अभिग्रह किया था ।

(२) क्षेत्र अभिग्रह (चारक)—अमुक क्षेत्र में आहार मिलेगा तो लूंगा—जैसे—दाता न घर के अन्दर बैठा हो, न घर के बाहर । देहली में पैर रखकर बैठा हो । जैसे चन्दनबाना के सम्बन्ध में भगवान महावीर का अभिग्रह पला—यह देहली के बीच में बड़ी हुई मिली । इसमें अनेक प्रकार के विस्तृत किये जा सकते हैं, गाँव के बाहर भिक्षा मिले, भीतर भिक्षा मिले, अमुक मुहल्ले में भिक्षा मिले तो लूंगा इस प्रकार के सभी अभिग्रह क्षेत्र अभिग्रह में आते हैं ।

(३) काल अभिग्रह (चारक)—दिन में समय सम्बन्धी अभिग्रह करना । दिन के अमुक प्रहर में, अमुक घंटा में गोबरों मिले तो लूंगा, अन्यथा नहीं । जैसे भगवान महावीर ने तीसरे प्रहर का अभिग्रह किया था ।

(४) भाष अभिग्रह—अमुक जाति, अमुक निग, अमुक पेन, अमुक भाष के साथ अमुक व्यक्ति भिक्षा देगा तो लूंगा । जैसे भगवान महावीर ने अभिग्रह किया था—राजा की कन्या हो, गिर भुंजा हो, काष्ठ पहने हो, आँखों में आँसू हो, हृदय में प्रसन्न हो—ऐसी भाषनाओं के साथ यदि भिक्षा मिले तो लूंगा ।

भाष अभिग्रह के २६ भेद उल्लेखित सूत्र में बताये गये हैं । जो संक्षेप में यों हैं :—

१. उचितत परक—भोजन तप (पापों के परक) में विरामा हुआ भोजन ग्रहण करने योग्य ।

सात ऐषणाएं (पिण्डैषणा)

पूर्व बताया जा चुका है कि दोषरहित, शुद्ध प्रासुक अन्न ग्रहण करने को ऐषणा कहते हैं। ऐषणा के तीन भेदों में एक भेद है पिण्डैषणा। इसके भी दो भेद बताये गये हैं—पिण्डैषणा एवं पानैषणा। आहार ग्रहण करने की विधि को पिण्डैषणा कहते हैं और पानी ग्रहण करने को पानैषणा। पिण्डैषणा के सात भेद ये हैं—

१ असंसट्ठा—देने वाले भोजन से बिना सने हुए हाथ तथा पाय से आहार ग्रहण करना।

२ संसट्ठा—सने हुए हाथ तथा पाय से भोजन देना।

३ उद्धडा—बटलोई से थाली आदि में गृहस्थ ने जो भोजन निकालकर रखा हो, वह लेना।

४ अप्पलेवा—जिनमें चिकनाई का लेप न लगा हो, इस प्रकार का आहार—जैसे भुने हुए चने आदि आहार लेना।

५ अवग्गहीआ—भोजनकाल के समय भोजनकर्ता ने थाली में जो भोजन परोस रखा हो, किन्तु अभी तक उस भोजन में से कुछ खाना शुरू न किया हो, वह भोजन लेना।

६ पग्गहीआ—थाली में परोस कर रखा हो, और भोजनकर्ता ने एक ग्रास उसमें से खा लिया हो, किन्तु दूसरा ग्रास न लिया हो, इस प्रकार झूठा न हुआ हो, ऐसा आहार लेना।

७ उज्जितधम्मा—जो आहार अधिक होने से, अथवा खाने, योग्य न होने से फेंकने के लिए रखा हो, फेंका जा रहा हो, वैसा फेंकने योग्य आहार लेना।

इन ऐषणा विधियों से मिशानर्या में विशेष संकोच होता है, कठोरता जाती है, साथ ही निर्दोषता भी। आचारंग सूत्र के पिण्डैषणा अध्यायन में तथा स्वानांन सूत्र (३) में पिण्डैषणा का काफी विस्तार के साथ वर्णन मिलता है।

मिशा की निर्दोषता के साथ-साथ मिशा को कठोर चर्या खाने का भी हवमें भाव रहता है। मति, संस्कार या वस्तु आदि की दृष्टि से और भी मिशाचरी के अन्य भेद हो सकते हैं और ऐसे तीन भेद उक्त्याई सूत्र में गिनाये गये हैं।

१८ पृष्ठलाभिक—दाता पूछे कि आपको किस वस्तु की इच्छा है, ऐसा प्रश्न करने पर आहार ग्रहण करना ।

१९ अपृष्ठ लाभिक—किसी भी प्रकार का प्रश्न नहीं पूछने वाले से आहार ग्रहण करना ।

२० भिक्षा लाभिक—भिक्षु को देने योग्य कुछ आहार मिलने पर लेना ।

२१ अभिक्षा लाभिक—सामान्य भोजन योग्य आहार मिलने पर लेना ।

२२ अन्यत्तायक—दूतदे रोगी के लिए लेना ।

२३ औपनिषिक—अन्य स्थान से लाया हुआ आहार लेना ।

२४ परिमित पिण्डपातिक—परिमित आहार लेना ।

२५ शूर्वेणिक—निर्दोष आहार लेना ।

२६ संख्या दत्तिक—दत्ति की संख्या निश्चित करके, जैसे—आज इतनी दत्ति मुँगा आहार आदि की संवेक्षण करना ।

इसमें एक दत्ति, दो दत्ति यात्रतु दत्ति ग्रहण करने तक के अभिग्रह किये जाते हैं । जिन्हें प्रतिमा भी कहा जाता है ।^१

यहाँ प्रश्न होता है कि भिक्षाचरी तप तो मुख्यतः माधु को लक्ष्य परके ही बताया गया है, फिर गृहस्थ इस तप की आराधना कैसे कर सकता है ? उत्तर है कि इन अभिग्रहों में कुछ अभिग्रह ऐसे हैं जो माधु की भांति गृहस्थ भी कर सकता है । माधु गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए जाता है, गृहस्थ अपने घर में बैठा हुआ भी इनको मागना कर सकता है । जैसे संख्यादत्तिक है—“पाली में एक बार जितना परोस दिया गया उतना ही भोजन कम्पेदा ।” अथवा अपृष्ठ लाभिक आदि—“जो वस्तु मुझे दिना पूछे परोस देने, या पूछकर परोसने वाली मागना ।” इसका अभिप्राय यही है कि माधु तो या गृहस्थ—यदि मन में तप की भाजना है, संवत्सि या निर्दोष करने की इच्छा हो, और भोजन का संशय करना चाहे तो अनेक उपायों से लिया जा सकता है । अभिग्रह का मूल अभिप्राय तो यही है भिक्षा चर्या के जो गटोर नियम

१ १ ज्ञानार्णव २१।२।२५ में भी कुछ अन्तर के साथ १० अभिग्रहों का उल्लेख है ।

- २ निक्षिप्त चरक—भोजन पात्र से निकाल कर अन्य पात्र में डाले हुए आहार को ग्रहण करने वाले ।
- ३ उत्क्षिप्त-निक्षिप्त चरक—रांधने के पात्र से निकालते हुए भोजन को खाने के पात्र में लेते समय मिले तो ग्रहण करने वाले ।
- ४ निक्षिप्त-उत्क्षिप्त चरक—एक-बार निकाला हुआ आहार पुनः भोजन पात्र में डालकर दूसरी बार निकाला हुआ आहार लेना ।
- ५ वर्तमान चरक—खाने के लिए थाली में परोसा हुआ आहार लेना ।
- ६ साहरिज्जमाण चरक - ठंडा करने के लिए थाली आदि में लिया हो, उसे पुनः वर्तन में डाल दिया हो, वह आहार ग्रहण करना ।
- ७ उपनीत चरक—पास में लाकर देवे, अथवा गुण-प्रशंसा करते हुए देवे ।
- ८ अपनीत चरक—सामने से दूर हटाकर लेजाकर देवे, अथवा साधु की निंदा करते हुए देवे ।
- ९ उनपीत अपनीत चरक—पहले पान में लाये, फिर दूर ले जाये, अथवा पहले प्रशंसा करे, फिर निंदा करके आहार देवे ।
- १० अपनीत-उपनीत चरक—९ का विपरीत ।
- ११ संसृष्ट चरक—आहार आदि से लिप्त हाथ व कुडली से आहार देवे तो लेना—ऐसा अभिग्रह करने वाले ।
- १२ असंसृष्ट चरक—अलिप्त हाथ से आहारादि लेने वाले ।
- १३ तज्जात संसृष्ट चरक—जो पदार्थ दे रहा है, उसी पदार्थ से हाथ लिप्त हो और तब देवे तो लेवे ।
- १४ अज्ञात चरक—अपरिचित परो से आहार लेना ।
- १५ मौन चरक—मौन पूर्वक आहार ग्रहण करना ।
- १६ रुष्टताभिष—जित वस्तु या शब्द पर सर्वप्रथम दृष्टि पड़े वही वस्तु मिले तो ग्रहण करना ।
- १७ अदृष्टताभिष - जो आहार नामने दिगार्ध न दे रहा हो, अथवा जो पहले कभी नहीं देना हो, वैसा मिले तो ग्रहण करना ।

अपने राज्य में स्थान-स्थान पर भोजन जालाएँ खुलवाई थीं, और महान-निकों (रसोदरों) को आदेश दे दिया था कि कोई भी श्रमण आहार के लिए आवे तो उसे आहार दिया करो, मैं तुम्हें बदले में उचित सत्कार दूँगा। नगर के तेल, वस्त्र आदि के विक्रेता दुकानदारों से भी राजा ने कह दिया—श्रमणों को जो भी वस्तु चाहिए वह दे दिया करो। उनका मूल्य राजकोष से दे दिया जायेगा।

कुछ श्रमण जब इस प्रकार का किमिच्छक, व प्रीत दान लेने लगे तो आर्य महागिरि को बड़ा रोद हुआ। उन्होंने आर्य सुहस्ति से कहा - “आर्य ! हमें इस प्रकार का अनैपथिक आहार नहीं लेना चाहिए !”

आर्य सुहस्ति ने समय का प्रभाव बताकर इस नियम में कुछ उपेक्षा दिखाई। कहा—राजा धर्मानुरागी है, अतः जनता भी उसका अनुकरण करती है, इसमें ऐसी ग्राह्य क्या बात है ?

आर्य महागिरि ने कहा—“नहीं ! साधु को उपवास आदि कर पारीर त्याग देना उचित है, किन्तु अनैपथिक आहार नहीं लेना चाहिए !” आर्य महागिरि के रूढ़ आग्रह के कारण श्रमणों को इस प्रकार का आहार लेने का कहा प्रतिषेध कर दिया गया।

जो इस प्रकार श्रमण प्रत्येक परिस्थिति में अपनी भिक्षाचरी को घृण्य व निर्दोष रखकर नगम मात्रा को निवाहने में प्रयत्नशील रहता है। उसका आदर्श है—आहारमिच्छे मिय भेतणिज्जे^१—

—सदा मृत्यु व ऐषणीक आहार की इच्छा रखनी चाहिए।^२ ऐषणीक आहार न मिले तो—अत्तामो त्ति न सोइइज्जा^३ अत्ताम में लोभ व विषा न करें, किन्तु ‘तत्तो त्ति अहिप्पासए’ तप का समयम विना है वह लाभकर प्रत्यक्ष रहे। यही सच्चा भिक्षाचरी तप है।

१. दत्तगोत्रधर्म १२

२. दत्तगोत्रधर्म ५१२, ५१३

३. दत्तगोत्रधर्म ५१२, ५१३

है, वे तो हैं ही, किन्तु उनके साथ अन्य और कठोर नियम आदि का बंधन लेकर मन को अधिकाधिक निग्रहीत करें। वृत्ति को अधिक से अधिक संयत बनाये !

शुद्ध एषणा का महत्व

उपयुक्त गोचरी के भेद, एषणा के भेद, एवं अभिग्रह के भेदों के द्वारा भिक्षाचरी करना, शुद्ध ऐषणिक निर्दोष आहार प्राप्त करना और मुषाजीवी होकर रहना—भिक्षाचरी तप है। इस प्रकार की भिक्षाचरी करने वाला भिक्षुक भिक्षाचरी तप की आराधना करता है। और ऐसे भिक्षुक को आहार पानी आदि का दान करना भी महान् पुण्य का कारण है। भगवती सूत्र में शुद्ध दान का महत्व बताते हुए कहा गया है^१—

आत्मा तीन कारणों से दीर्घायुष्य (सुखमय दीर्घजीवन) प्राप्त करता है—

१ अहिंसा की साधना से

२ सत्य भाषण से

३ श्रमण—ब्राह्मण को शुद्ध-निर्दोष आहार पानी देने से

दान के शुभ परिणामों की एक झलक इस उद्धरण में देती जा सकती है !

यह दान का फल उसे ही प्राप्त होता है जो उक्त रीति से भिक्षाचरी करता है। भिक्षाचरी की यह विशुद्ध मनोवैज्ञानिक विधि जैन श्रमणों के जीवन का मुख्य आधार है। यदि उक्त विधि से आहार न मिले तो श्रमण उपवास करना, तप कर के शरीर को त्याग देना श्रेष्ठ समझता है, किन्तु अविधि से दोष लगाकर भिक्षाचरी नहीं करेगा। जैन श्रमणों के सामने जब-जब भी ऐसे प्रसंग आते तो वे भूखे रह गये, किन्तु अनेकानेक आहार ग्रहण कर अपनी भिक्षाचरी को दूषित बनाना उन्हें स्वीकार नहीं हुआ। निम्नीय भाष्य^२ में एक प्रसंग बताया गया है कि जब मध्यकाल में भयंकर दुष्काल पड़े तो जैन श्रमणों को शुद्ध आहार मिलना अत्यंत कठिन हो गया। राजा तंत्रवि ने

१. भगवती सूत्र दशक ४, उद्देशक ४-६

२. निम्नीयभाष्य गुणि १६।

आज धन्य भाग्य है ! आज का दिन धन्य है जो ऐसे धर्मज मेरे घर पर भिक्षा के लिए पधार रहे हैं ।' फिर वह जहाँ बैठा हो उस आसन से उठकर उत्तरासंग करे, मुँह पर वस्त्र लगाकर मुनि की वंदना करे, सात-आठ कदम अर्थात् कुछ दूर तक मुनि को लेने के लिए सामने जाये, उन्हें वंदना कर प्रसन्नता व्यक्त करे कि हे भगवन् ! आज आपका आगमन क्या हो गया मन्त्रमुक्त मेरे घर में बल्पवक्ष आ गया है ? मुझे इतनी प्रसन्नता हुई है कि कोई अमृत पान कर लिया हो ।" इस प्रकार प्रसन्नता व्यक्त करके मुनि को अपनी भोजन शाला तक लाये, अपने हाथ से शुद्ध निर्दोष आहार की भिक्षा देवे, भिक्षा देते समय भी प्रसन्न रहे, देने के पश्चात् भी मन में प्रसन्नता अनुभव करें । और मुनि को घर से बाहर तक छोड़कर आये ।"

आगमों में अनेक स्थानों पर भिक्षा दान की यह विधि बताई गई है । ध्यातव्य का कर्तव्य है कि यह हम प्रकार से भिक्षा देवें । यह नहीं कि मुनि भिक्षा के लिए आये, गृहस्थ बापरवाही से बैठा रहे, जैसे कोई भित्तारी जाया हो, मिले तो न जाये न मिले तो गाली लौट जाये । उन्हेवा पूर्वक बापरवाही से दान देने में यह आनन्द भी नहीं मिलता और नहीं यह उत्तम फल भी मिलता है । उत्तम फल सभी मिलता है जब धुरी के, प्रेमपूर्वक दान दिया जाय । भावा के एक कवि ने घर पर आये अतिथि के स्वानन्द की विधि ब्याख्ये हुए कहा है—

देवी माना जाय, आवां आसन की उठे,
नेपां यों नेह, आदर दे नमस्सुत बैठे ।
गोन दित्तारी साँठ बोले मुग मीठी वाणी ,
पूरी मुग-मुग दाव पागै भोजन ने पाणी ।
सज्जन ऐसा जानके सीहृ उनका दाव,
हृदय को जन जानती पूरे मन को आन ॥

दान देने की अतिथि साकार की यह भावनीय परिचायी है, और निज केन दान के ही नहीं, किन्तु अन्य दानों से भी इतना दाव महान है । मातृ-भावा में ही अतिथि साकार की वाचन्य सदाचार मान्य है । हम महानन्द के दाव जन दावों हुए कहा गया है—

आचार्य कुंद कुंद ने भी यही बात कही है कि जो श्रमण भिक्षा में दोष रहित शुद्ध आहार ग्रहण करता है, वह आहार ग्रहण करता हुआ भी निश्चय दृष्टि से अणाहार (तपस्वी) कहा जाता है—

अण्णंभिवल्ल मणेत्तणमध ते तमणा अणाहारा ।^१

भिक्षा कैसे दें ?

भिक्षाचरी के प्रसंग में हमने भिक्षा की विधि, नियम और उसके महत्त्व पर तो विचार कर लिया है, अब एक बात और इस प्रसंग पर विचारणीय है कि भिक्षा कैसे दी जानी चाहिए ? आगमों में बताया गया है कि जो दान शिक्करण शुद्ध होता है, वही महान फल देने वाला होता है। दान के तीन मुख्य अंग हैं—

द्वय सुद्धेणं—द्रव्य वस्तु शुद्ध हो,

दायग सुद्धेणं—दाता की भावना शुद्ध हो,

पडिग्गाहग सुद्धेणं—ग्रहण करने वाला शुद्ध हो, दान का अधिकारी हो।

वस्तु निर्दोष हो, उद्गम उत्पादन आदि दोषों से रहित हो, तथा ग्रहण करने वाला पात्र हो, वह सच्चा त्यागी हो, और अपनी विधि के साथ नियमों के अनुकूल भिक्षा ग्रहण करें, तथा दाता की भावना पवित्र हो, निष्काम भाव से वह दान दें। तभी वह दान शुद्ध कहलाता है।

वस्तु, दाता, एवं पात्र के सम्बन्ध में हमने पूर्व में काफी विस्तार से बताया है। अब यहाँ एक बात और रह गई है कि दाता जब भिक्षु को घर पर आवा देगे तो कैसे, किस प्रकार उत्तमा स्वागत करें ! आश्रमों में स्थान-स्थान पर ऐसी घटनाएँ आती हैं जहाँ कोई श्रमण गृहस्थ के घर पर आहार की अपेक्षा करता हुआ पहुँचता है तब गृहस्थ श्रमण को घर पर आने देकर हर्षित होता है, उसका रोम-रोम काचने लग जाता है, अर्थात् ^१

१ प्रवचनसार ३/२७

२ अनुसारी एज्जमानं पामित्ता इट्ठमुद्धा, आसमासी अब्बुद्धेह —
तत्तद्वत्तं करेह, तत्तद्वत्तं पायाइं वसुण्णवत्तं —

—देखें भाता सूत्र, अंतगद, मुग्गल्लिपाक, निग्गखणिपा आदि।

रस-परित्याग तप

तप के चारह भेदों में चौथा भेद है रस-परित्याग—रस का त्याग । प्रथम तप में आहार त्याग पर विवेचन किया गया है, कुछ समय के लिए अपना जीवन भर के लिए जैनों प्रकृति ही, उस प्रकार आहार का त्याग करना प्रथम तप में बताया है । यदि व्यक्ति में इतनी प्रकृति न सामर्थ्य नहीं है कि वह निराहार रह सके, व्यवसाय आदि कर सके तो उसके लिए साधना का मार्ग अवलम्ब नहीं हो जाता ! उसके लिए भी साधना का मार्ग सूना है, प्रकृति और यदि के अनुसार साधना कर, जब का हमारा मार्ग अवलम्बना का सफल है—यह है ज्योत्स्नी तप !

ज्योत्स्नी तप की साधना हर एक व्यक्ति कर सकता है । नीची, भीरी और भीरी—हीनों ही इस तप की साधना कर सकते हैं । उसके विविध रूपों की चर्चा भी हमने इस तप के प्रकरण में की है ।

यस का तीसरा मार्ग है—शिक्षावरी ! शिक्षावरी का मुख्य अनिवार्य विधु—व्यापारी समझ ही होता है, यह वह तप जिस प्रकार में रहने विधु ही है । विधु शिक्षावरी का उद्देश्य इतना शिक्षा है कि इस तप के ज्यों

चक्षुर्बद्धात् मनोदद्यात् वाचं दद्यात् च सूनुताम् ।

अनुग्रजेदुपासीत स यज्ञः पञ्चदक्षिणः ॥^१

घर पर आये हुए अतिथि का पांच प्रकार से स्वागत करना चाहिए, अतिथि को आते देख कर प्रफुल्लित भाँखों से उसका स्वागत करे, फिर प्रसन्न मन से मीठी वाणी बोले, किस वस्तु की उसे आवश्यकता है यह जाने और उस वस्तु को देकर उसकी सेवा करे, जब अतिथि इच्छा पूर्ण होने पर वापस जाने लगे तो घर के बाहर तक उसे छोड़ने के लिए जाए—इन पाँचों विधियों से अतिथि का सत्कार करना अतिथियज्ञ की सच्ची दक्षिणा है ।

तो इस प्रकार दाता अपनी शुद्ध एवं प्रफुल्लित भावनाओं के साथ भिक्षु-श्रमण की भिक्षा देवे और भिक्षाचरी के तीन अंगों को पूर्ण करे । जब यह तीनों अंग पूर्ण होते हैं तभी भिक्षाचरी अपने पूर्ण एवं अलौकिक फल को देने में सफल होती है ।



२ मधुर—मीठा

३ आम्ल—खट्टा

४ तिक्त—तीखा

५ कायाय—कसीला

६ लवण—नमकीन

इन रसों के संयोग से भोजन मधुर बनता है, स्वादिष्ट लगता है—
जीभ को प्रिय लगता है, ताने से मन में प्रमत्तता व प्रीति उत्पन्न होती है।
सरस भोजन होने के कारण मनुष्य भूख से अधिक भी खा जाता है।

इन छह रसों के अलावा कुछ रस ऐसे भी हैं जो भोजन को स्वादिष्ट बनाने के साथ-साथ गरिष्ट व पोष्टिक भी बना देते हैं। सुषाच्य अन्न को सुषाच्य बनाते हैं। हलके आहार को भारी बनाते हैं। शक्ति व ऊर्जा (गर्भो-केलोरी) देने वाले आहार को विकारोत्प्रेषक भी बना देते हैं। भाव्यों में कहा है—

पापं रसा दितिकरा नराणं—^१

रस प्रायः दीक्षित-उत्प्रेषका पैदा करते वाले होते हैं। इसनिष्ठ उन रसों को 'विक्षति' (विषय) कहा जाता है। जैसे भी, दही, मक्खन आदि मधु व ममक आदि की भाँति रस कोई प्राकृतिक रस नहीं है, विस्तु विक्षतिजन्य ही है, जैसे दूध माँस के रस आदि की विक्षति है, दही व भी दूध की विक्षति है। मेन, तिल (विषय पदार्थ) की विक्षति है— इस कारण भी इन्हें विक्षति कहा जा सकता है।

ऐसे सुखी मे व तलवयवों वगैरे में विक्षति (विषय) की दो परिभाषायें की गई हैं। जलपार्थ निरूपण में बताया है—भी आदि पदार्थ विक्षति कर्त्री हैं क्योंकि उनके मे व मम के विचार पैदा करते हैं, विचार उत्पन्न होने से (जिस लक्ष्ये अर्थात् लक्ष्य के) मनुष्य मम में भ्रष्ट होकर विमर्ष (दुर्मति) में जाता है—भा. मे पदार्थ मेन व मम के पदार्थ की विक्षति मम विमर्ष-दोनों

की साधना वे भी कर सकते हैं जो भिक्षाचर नहीं, किन्तु गृहचर हैं। भिक्षा का मुख्य उद्देश्य है स्वाद वृत्ति की विजय ! क्योंकि भिक्षा में मनोनुकूल स्वादिष्ट भोजन प्राप्त होना दुर्लभ है। वह तो एक प्रकार का सोदा है, गृहस्थ के घर में जैसा भोजन बना होगा, उसमें भी जो शुद्ध ऐषणिक होगा, गृहस्थ देना चाहेगा और जितना देना चाहेगा—तब उतनी मात्रा में ही साधु को वह प्राप्त होगा। इसलिए स्वाद को, रसइच्छा को जीते बिना इस तप की आराधना नहीं की जा सकती। रस इच्छा का विजय, आहार का विविध प्रकार से संकोच, अभिग्रह आदि गृहस्थ साधक भी कर सकता है अतः भिक्षाचरी तप न सही, किन्तु उस तप के लक्ष्य की प्राप्ति गृहस्थ जीवन में की जा सकती है।

तप का चौथा मार्ग है—रस-परित्याग। रस परित्याग का अर्थ है—रस—स्वादिष्ट भोजन दूध, दही, घी, मिष्ठान आदि रस मय वस्तुओं का त्याग करना। यह त्याग साधु भी कर सकता है, तथा गृहस्थ भी ! उपवास आदि तप की अलग-अलग काल मर्यादा भी है किन्तु रस परित्याग तप तो जीवन भर की सतत साधना है। यह तप मन में वैराग्य भावना होने पर ही किया जा सकता है, अतः अन्य तपों से इस तप में कुछ विनिष्टता भी है, इसकी साधना हर कोई कर सकता है, किन्तु कठिन है। अतः सतत विरक्ति व आत्मदृष्टि की अपेक्षा रहती है।

रस क्या है ?

'रस' का अर्थ है, प्रीति बढ़ाने वाला—रसं प्रीति विवर्धकं—जिसके कारण भोजन में वस्तु में प्रीति उत्पन्न होती हो उसे 'रस' कहते हैं। काष्ठा में तो रस इसीलिए बताया है कि उनके कारण कथिता में प्रीति व आकर्षण पैदा होता है। जिस वस्तु की देखने में, सुनने में, चराने में मन में मधुरता, रुचिकरता और प्रीति एवं आकर्षण पैदा होता है उसे रस कहते हैं—यह वस्तु यही 'रस' है। तो रस का अर्थ हुआ—प्रीति उत्पन्न करने वाला वस्तु।

गृहस्थ

भोजन के छह रस माने गये हैं—

१. रस—कड़वा

यथा रस का संबंध निषेध है ?

शरीर यात्रा के लिए भोजन आवश्यक है, बड़े से बड़ा साधक और तपस्वी भी बिना भोजन के साधना नहीं कर सकता। इसलिए साधक को भोजन का निषेध नहीं है, वह भोजन कर सकता है भोजन करना कोई पाप नहीं है, वह भी धर्म साधना का एक अंग है, किन्तु भोजन में एक शर्त है, और वह शर्त है सात्विकता ! भोजन ऐसा होना चाहिए जो सात्विक हो, जिस पदार्थ के खाने से मन में विकार व तन में रोग, पीड़ा आदि उत्पन्न न हो। इसलिए वही भोजन करना चाहिए जो सात्विक हों, विकार-जनक न हों और संयम साधना को हूपित न करें।

शरीर के लिए पोष्टिक आहार संबंधा यजित नहीं है। क्योंकि व्यर्थमें खता व नीरस आहार शरीर को दुर्बल व खराब बना खाना है। जैसे बीसे को तेल व चूनी की जरूरत होती है वैसे ही शरीर को भी कुछ धिकमाई व शक्तिवर्धक आहार की अपेक्षा रहती है। कहा है—

पुष्ट मुराफ बिना नहीं बनता तेज विभाग।

तेल और चूनी बिना कैसे जले चिराग ?

जथा खता-मूया नीरस आहार करने में जमाती जैसा हृष्ट-दुष्ट समर्थ साधक भी रीणी हो गया—नमस्तीमुख इनका साक्षी है। अतः शरीर में विषय का संबंध निषेध भी नहीं है। यथा-यथा पोष्टिक आहार कर लिया तो उसमें कोई दोष नहीं, किन्तु निरस प्रति विषय का सेवन और प्रमाण में अधिका पोष्टिक आहार का सेवन नहीं करना चाहिए। उत्तराष्ट्रवदन (१३) में बताया है कि जो निरस प्रति मर्मादा रहित विषय आदि का सेवन करता है वह पापी समझ है।

शरीर का निषेध

साधक विषय आदि का सेवन करता है तब भी उसका उत्तम स्वरूप खाने का नहीं रहता। किन्तु शरीर को मुराज देने मात्र का उद्देश्य शरीर है। शरीर शान्त में बताया है कि जब वह अत्यंत शक्ति प्राप्त है तो उसमें समभाव रहता है। यथा आहार का सम आहार जैसा भी कुछ रीति में प्राप्त हुआ

के ही हेतु हैं—इस कारण इन्हें विगई (विकृति-विगति) कहा जाता है ।^१

विगय कितनी ?

प्राचीन ग्रंथों में विगय—के दो रूप मिलते हैं—भक्ष्य विगय अभक्ष्य विगय । विगय—विकृति पैदा करने वाली अवश्य है, किंतु फिर भी शरीर को समर्थ व कष्ट सहिष्णु बनाये रखने के लिए साधक कभी-कभी उनका उपयोग भी कर सकता है । जो विगय खाने के उपयोग में ली जा सकती हैं उन्हें भक्ष्य विगय कहा गया है ।

भक्ष्य विगय छः हैं—दूध, दही, घी, तेल, गुड़ और अयगाहिम अर्थात् पपवात्र-मिठाई आदि कढ़ाई में पकी हुई तली हुई, वस्तुएँ ।

अभक्ष्य विगय चार हैं, जिन्हें महाविगय भी कहा जाता है—मद्य, मांस मधु और नवनीत । इनमें मद्य-मांस तो सर्वथा ही त्याज्य है, साधक किसी भी स्थिति में इनका सेवन नहीं कर सकता । किंतु मधु और मक्खन विशेष स्थिति में लिये जा सकते हैं—ऐसा विधान है ।

रस तिजय ही सबसे कठिन

पाँच इन्द्रियों में 'रसनेन्द्रिय' दूसरी इन्द्रिय है । इसका काम है—रस का, स्वाद का अनुभव करना । जब भाषा पर्याप्ति मिल जाती है तो यह इन्द्रिय बोलने का भी कार्य करती है—इस प्रकार अन्य इन्द्रियों से एक-एक काम होता है, किन्तु रसनेन्द्रिय से दो काम होते हैं—रस लेना और बोलना । जीवन में दो ही महत्वपूर्ण वस्तुएँ हैं—भोजन और भाषण । रागा और बोलना—ये दोनों कार्य रसनेन्द्रिय के अधीन हैं । इन दृष्टि से भोजन-भाषण की स्वामिनी रसना इन्द्रिय है । पाँचों इन्द्रियों में इसका प्रमुख स्थान है । अन्य इन्द्रियों के विषय को जीतना आसान है, किन्तु रसनेन्द्रिय के विषयों को जीतना कठिन है । इसलिए कहा गया है—'सर्वं जितं जिते रसे ।' जिसने रसनेन्द्रिय को जीत लिया उसने संसार के मय विषयों को जीत लिया ।

१. नम मनसो विकृतिहेतुत्वाद् विगति हेतुत्वाद् वा विकृतयो, विगतयो ।

—प्रवचनमार्गोच्चार वृत्ति (प्रवाचनान्तर शब्द)

(ग) मनसो विकृति हेतुत्वाद् विगतयो । —योगशास्त्र ३ प्रश्नात् वृत्ति

भी सकता है। यदि अस्वाद नाव से आहार करता है, तो आहार करता हुआ यह केवलज्ञान भी प्राप्त कर सकता है। कुरगशुक मुनि का उदाहरण हमारे सामने है। जो आचार्य द्वारा खीचड़ी में घूकने पर भी समभाव पूर्वक आहार करते रहे और उस समय समता की साधना में इतने डूबे उठे कि खीचड़ी खाने-पाने ही केवलज्ञानी हो गए। इस घटना से यह बात स्पष्ट होती है कि आहार का लक्ष्य स्वाद नहीं, साधना होना चाहिए। यदि साधना हमारा लक्ष्य है तो भोजन भी उपकारक साधक होगा।

भोग्यपणा के पांच दोष

स्वाद वृत्ति का परिहार करने के लिए अर्थात् रस-विजय के लिए शास्त्र में परिभोग्यपणा के पांच दोष बताये हैं, जिन्हें टालकर भोजन करना साधक का परम कर्तव्य है। यदि साधक आहार करता हुआ इन दोषों को नहीं टालता तो उसका आहार करना भी पाप है और उससे उसकी साधना मलिन व दूषित हो जाती है।

भगवती सूत्र में बताया है— साधक आहार करता हुआ इन तीन दोषों का परिहार करे—

१ स इमात्—स्वादिष्ट भोजन प्राप्त करके उसके रस में मुग्ध हुआ बार-बार उस भोजन की प्रशंसा करता हुआ रातों रातों इममें मग्न का निर्मल चारित्र्य अवतर कोमल की लया निलेज हो जाता है। अर्थात् यह दोष चारित्र्य रूप हीरे को कोमल बना देता है।

२ मधुम—यदि भिक्षा में नीरस आहार ला गया हो तो उसकी निंदा करता हुआ आहार करे तो मधुम का चारित्र्य धुँवाँ हो जाता है। अर्थात् चारित्र्य जल जाता है।

३ मणोजना—भिक्षा में आहार प्राप्त कर समसौदृश्यता के कारण, मग्न को स्वादिष्ट पचाने के लिए सममें अन्य वस्तु निंदाते, जैसे मोदकपत्र के कारण दूध में लवण भिजाना, यह मणोजना दोष है। इन तीनों के कारण चारित्र्य दूषित हो जाता है।

—उसी में प्रव्रज्य रहे । ऐसा नहीं कि स्वादिष्ट सरस आहार तो चुन-चुन कर चुपचाप खाते और नीरस रुखा सूखा भोजन फेंक दे, या अन्य किसी को दे दे । शास्त्र में विधान किया गया है कि जैसा आहार भिक्षा में प्राप्त हुआ, वह लेकर सर्व प्रथम गुरु के पास आये, गुरु को दिखाकर उनसे प्रार्थना करें—“गुरुदेव ! मेरे इस भोजन में से आप कुछ भोजन ग्रहण करके कृतार्थ कीजिए ।” यदि गुरु लेना चाहें तो सम्मान पूर्वक दें, वे न लें तो फिर अपने अन्य साधियों को निमंत्रित करें—“जइ मे अणुग्गहं कुज्जा साहू हुज्जामि तारिओ”^१। यदि कोई महानुभाव मुझ पर अनुग्रह करें, कृपा करें तो मेरे भोजन में से ग्रहण कर मुझको कृतार्थ करें ।” उसके बाद यदि कोई उसका निमंत्रण स्वीकार करें तो उनके साथ भोजन करें अन्यथा अकेला ही शांत एवं प्रशांत मन से जैसा भी सरस नीरस भोजन हो स्वादरहित होकर ऐसे खाये—जैसे बिल में साँप घुस रहा हो, अर्थात् उस भोजन में स्वाद न तो रस में आसक्त न हो, किन्तु अस्वादवृत्ति के साथ खाये ।^२ साधक को आहार का निषेध नहीं है, विनय का भी सर्वथा निषेध नहीं है, किन्तु स्वाद का सर्वथा निषेध है । स्वाद वृत्ति का निषेध करते हुए आचारांग सूत्र में यहाँ तक बताया है कि—“साधु आहार करते समय यदि उस आहार में स्वाद लेने की भावना आ जाये तो उस आहार को बाईं दाढ़ से दाहिनी दाढ़ की ओर भी नहीं ले जाना चाहिए ।” स्वाद के लिए आहार को चूमना और चबाना भी दोष है । अतः स्वाद भावना से रहित होकर आहार करें वृत्ति —“अणास्तापमाणे साधयियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नाणं भवइ”^३— स्वाद न लेने से कर्मों का हल्लापन होता है, ऐसा साधक आहार करता हुआ भी तपस्या करता है ।^४ इमीलिए कहा जाता है कि साधु आहार करता हुआ सात-आठ कर्मों के बंधन को भी कर गारता है, और उन्हें दृढ-बंधन बांध

१ दण्डवैज्यानिक ५।१।६४

२ विनयनियम पल्लवग्रहणं अन्वयानेन आहारमाहारोऽ—भगवती सूत्र ७।१

३ आचारांग ८।९

४ अगमपत्र मार ३।२७

—अरे मूर्ख ! पराया अन्न खाने को मिला है तो खा ले ! शरीर पर जरा भी दया मत कर ! क्योंकि शरीर तो फिर-फिर के मिल जाता है, किन्तु पराया अन्न बार-बार नहीं मिलता ।" यह नहीं सोच पाता कि अन्न तो पराया है, किन्तु पेट तो पराया नहीं है ? तो आसक्ति वगैरे पेट की ठोंस-ठोंस कर खा नेता है, धीरे-धीरे रोगी होता है, कष्ट पाता है, अनेक प्रकार की बीमारियों से घिर जाता है और अन्त में हाथ-पाय करता हुआ मरता है ।

कुंठरीक ने एक हजार वर्ष तक संयम पाता, किन्तु आन्तर में रस-सोपुनता के कारण संयम से भ्रष्ट हुआ और अत्यधिक तरस स्वादिष्ट भोजन करके सोलह सहारोगों से आक्रांत हो मरकर नरक में गया ।

उत्तराध्ययन भूम (७) में बताया है कि मनुष्य मोह में स्वाद के कारण अपने जीवन से भी तिलवाड़ कर देता है । स्वाद और रस में आसक्ति होकर वह अपने मन को वगैरे में नहीं रख सकता, अपरूप भोजन कर देता है, उगले फिर रोग हो जाते हैं और आन्तर में रोग मृत्यु के द्वार पर ले जाकर डकेल देता है । एक प्राचीन उदाहरण देकर कहा गया है—

अपर्यं भक्ष्यं भीक्षया राजा रजतं तु हारणम् ।

अपरूप भोजन खाकर एक राजा ने जैसे अपना राज्य (जीवन साम्राज्य) भी हार दिया ।

कथा है—किमी नगर का राजा भोजन खाने का बहुत मोह में था । भोजन के बिना उसका माना भी नहीं होता । राजा ने अपने राज्य में भोजन के चढ़े-बढ़े व्योमिषे लगाये, वन-जंगल और हर जगह में भोजन पैदा हो सके ऐसी व्यवस्था की । अधिक मात्रा में भोजन खाने से भोजनरोग हो गया । बहुत कमजोर हो, किन्तु रोग जात नहीं हुआ । भोजन खाना बन्द नहीं किया, इस कारण और दया भोजन नहीं पहुँचा सकी, रोग बढ़ता गया राजा का शरीर अत्यन्त अर्धर-पीत होना लगा गया ।

सन्निधि ने एक बहुत दूर के उल्लिखित नरकात्मी को सुझाया । उसने राजा

रस परित्याग करने वाले साधक को भोजन के इन तीन दोषों को टालना जरूरी है। इसी के साथ भोजन (परिभोग्यता) के दो अन्य दोष और भी हैं—

४ अकारण—आहार करने के छः कारण बताये गये हैं उन छः कारणों के सिवाय बल-वीर्य की वृद्धि के लिये, शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाने के लिए आहार करना—अकारण दोष है।

५ अप्रमाण—ज्ञास्त्र में बत्तीस कवल—आहार का प्रमाण बताया है। उस प्रमाण से अधिक आहार करने वाला साधक 'प्रकाम रस भोजी' कहलाता है। 'प्रकाम रस भोजी' साधना से च्युत हो सकता है, व्रत से घ्रष्ट हो सकता है।

रस-लोनुपता से हानि

'रस परित्याग' एक प्रकार का अस्वाद व्रत है। इसमें स्वाद पर विजय प्राप्त करने की साधना होती है। क्योंकि स्वाद के वशीभूत हुआ साधक भोजन में आसक्त हो जाता है, वह स्वादिष्ट और सरस भोजन की खोज करता है, अपने नियम, व्रत और समाचारी को ताक में रखकर जहाँ रसदार भोजन मिलता है वहीं जा घमकता है। सब मर्यादाओं को तोड़ डालता है, और हर प्रकार से स्वादिष्ट आहार प्राप्त करने की चेष्टा करता है। उसकी लोनुपता को देखाकर लोग कहते हैं—यह साधु है या स्वाधु ! वही मिष्ठान्न पक्वान्न का नाम सुन लिया तो घूप-गिने न छाँह, सीधा वहाँ पहुँच जाता है। ऐसे रस लोनुषी व्यक्तियों के लिए ही तो कहा गया है—

साठे कोसे सापसी सोए कोसे सीरो ।

मिलिया मूं छोड़े नहीं नणद बाइ रो बीरो ।

सबसे आहार के लिए व्यक्ति साठ-गो कोस का चक्कर भी या येना है। और इसकी सीधे आसक्ति से प्राप्त किया हुआ आहार खाते समय विवेक कैसे रहेगा ? तब तो उसके सामने वही आदर्श वाक्य घूमता रहेगा—

भोजनं कुद दुबुद्धे ! मा शरीरे रयं कृद !

परान्नं दुर्लभं सोके शरीरानि पुनः पुनः ॥

—अरे मूर्ख ! पराया अन्न खाने की मिला है तो खा ले ! जरीर पर जरा भी दया मत कर ! क्योंकि जरीर तो फिर-फिर के मिल जाता है, किन्तु पराया अन्न बार-बार नहीं मिलता ।" वह नहीं सोच पाता कि अन्न तो पराया है, किन्तु पेट तो पराया नहीं है ? तो आसक्ति वश पेट को ठोंस-ठोंस कर खा लेता है, और फिर रोगी होता है, कष्ट पाता है, अनेक प्रकार की बीमारियों से घिर जाता है और अन्त में हानि-प्राप्ति करता हुआ मरता है ।

मुसलमानों ने एक हजार वर्षों तक संयम पाया, किन्तु आखिर में रस-सोपुषता के कारण संयम से झूट हुआ और अत्यधिक सरस स्वादिष्ट भोजन पकाने की वृत्ति महारोगों से आर्जित हो मरकर नरक में गया ।

उत्तराख्यमन सूत्र (७) में बताया है कि मनुष्य मोहों से स्वार्थ के कारण अपने जीवन से भी पिलवाड़ कर लेता है । स्वार्थ और रस में आसक्ति होकर वह अपने मन की वजह से नहीं रस सकता, अपरिचित भोजन कर लेता है, उससे फिर रोग हो जाते हैं और आखिर में रोग मृत्यु के द्वार पर ले जाकर दकेल देता है । एक प्राचीन उदाहरण देकर कहा गया है—

अपरिचितं भक्षणं राजा रज्जं तु हारणम् ।

अपरिचित भक्षण मात्र एक राजा ने जैसे अपना राज्य (जीवन नाशार्थ) भी हार दिया ।

कथा है—जिहो नगर का राजा आम खाने का बहुत मीठीय था । आम के बिना उसका खाना भी नहीं होता । राजा ने अपने राज्य में आम के बड़े-बड़े बगीचे बनवाये, वन लगाये और हर मनुष्य से आम लेने हो गये ऐसी व्यवस्था की । अधिक मात्रा में आम खाने से आमरोग हो गया । बहुत दवाएँ लीं, किन्तु रोग ठीक नहीं हुआ । आम खाना बन्द नहीं किया, इस कारण कोई दवा लाभ नहीं पहुँचा लगी, रोग बढ़ता गया गया हा जरीर अत्यन्त ज्वर-शीत होना लगा गया ।

मरिचों से पूरा बहुत दूर के प्रसिद्ध वैद्यराज को बुलाया । उसने राजा

रस परित्याग करने वाले साधक को भोजन के इन तीन दोषों को टालना जरूरी है। इसी के साथ भोजन (परिभोगपणा) के दो अन्य दोष और भी हैं—

४ अकारण—आहार करने के छः कारण बताये गये हैं उन छः कारणों के सिवाय बल-वीर्य की वृद्धि के लिये, शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाने के लिए आहार करना—अकारण दोष है।

५ अप्रमाण—शास्त्र में बत्तीस कवल—आहार का प्रमाण बताया है। उस प्रमाण से अधिक आहार करने वाला साधक 'प्रकाम रस भोजी' कहलाता है। 'प्रकाम रस भोजी' साधना से च्युत हो सकता है, व्रत से भ्रष्ट हो सकता है।

रस-लोलुपता से हानि

'रस परित्याग' एक प्रकार का अस्वाद व्रत है। इसमें स्वाद पर विजय प्राप्त करने की साधना होती है। क्योंकि स्वाद के वशीभूत हुआ साधक भोजन में आसक्त हो जाता है, वह स्वादिष्ट और तरस भोजन की घोख करता है, अपने नियम, व्रत और समाचारी को ताक में रखकर जहां रसदार भोजन मिलता है वहीं जा घमकता है। सब मर्यादाओं को तोड़ डालता है, और हर प्रकार से स्वादिष्ट आहार प्राप्त करने की चेष्टा करता है। उसकी लोलुपता को देखकर लोग कहते हैं—यह साधु है या स्वाधु ! कहीं निष्ठाग्न पक्वान्न का नाम सुन लिया तो घूप-गिने न छांह, सीधा वहां पहुंच जाता है। ऐसे रस लोलुपी व्यक्तियों के लिए ही तो कहा गया है—

साठे फोसे तापसी सोए कोसे सीरो ।

मिलिया मूं छोड़े नहीं नणव ब्राह्म रो बीरो ।

सरस आहार के लिए व्यक्ति साठ-सी कोस का चक्कर भी खा जाता है। और इतनी तीव्र आसक्ति से प्राप्त किया हुआ आहार खाते समय निवेक कैसा रहेगा ? तब तो उनके सामने वही आचमन बाण धूमता रहेगा—

भोजनं कुरु बुद्धं ! पा शरीरे दयां कुरु !

परान्नं पुनर्मं लोके शरीरानि पुनः पुनः ॥

छाया में बैठने में ही कोई रोगी हो जाता है।" राजा जीवन छाया में तो गया। हवा के झोंके के साथ एक पका हुआ आम नीचे आकर घड़ान से गिरा। राजा की नींद खुती। आम की मधुर और मीठी महक से राजा के मुँह में पानी छूट आया। मंत्री ने प्रार्थना की—'महाराज ! आम को फेंक दीजिये ! यह आम नहीं, आपके लिए जहर है।'

राजा मंत्री के कथन पर हँस उठा—“मंत्रीराज ! अब तो मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ। क्या चल ही रही है, यदि एक आम खा भी लिया तो क्या होगा ? दो घुराक ज्यादा ले लेंगे।”

मंत्री का जी भीतर-ही-भीतर कमजोर पड़ता चला। उसका मन हुआ, राजा के हाथ से तोकर आम को फेंक दे। सभी राजा ने आम की मुँह तक लगा लिया। मंत्री के साथ मना करने पर भी वह अपने आप घर जादू नहीं कर सका। उसने आम खाया, कुछ ही घेर में रोग पुनः बढ़क उठा। राजा और मंत्री राज्य में आमों। वैद्यराज को बुलाया। पर इन बार वैद्यराज ने हाथ साफ हाथक दिये—“अब यह रोग मेरे काम का नहीं है, मेरे पास इस भयंकर रोग की कोई दवा नहीं है।”

राजा का रोग बढ़ता गया, कोई भी उपचार नहीं लगा और एक दिन रोग की पीड़ा में कराहते हुए राजा ने प्राण छोड़ दिये।

साक्षरपत्र ने बताया है कि अधिक समासक्ति का यही परिणाम आता है। मनुष्य स्वयं का सोभी होकर अपनी जान में भी खेत जाता है और अपना ही जीव-नष्टि हो जाता है।

ऐसे समासक्त में मनुष्यकी राजा विनयस्य की घटना प्रसिद्ध है, जिसने मातृ-सौकुमार्य के कारण अपना राज्य भी छोड़ दिया। ने एक उदाहरण और यह दर्शाया है कि समासौकुमार्य से जीवन विना प्रसार नष्ट-भय हो जाता है, मनुष्य स्वयं ही अपने समास हो जाता है और स्वयं के हानि भी सो देता है। समास के प्रभाव है—

मनुष्य की निहितगुणों का

अवस्थिति काय में दिखता है।

का निदान किया—“अधिक आम खाने से ही आपको रोग हुआ है। जब तक आम खाना बन्द नहीं करेंगे कोई भी दवा नहीं लगेगी।”

राजा ने बहुत दीनता से कहा—‘वैद्यराज ! आप दवा देकर मुझे ठीक कर दीजिए ! मैं आपको मुंह मांगा इनाम दूंगा। किन्तु मैं आम खाना नहीं छोड़ सकता।’

वैद्यराज ने कहा—“यदि आम खाना नहीं छोड़ोगें तो मैं क्या, अन्यतरि भी ठीक नहीं कर सकता, फिर तो वैद्यराज नहीं, किन्तु यमराज ही ठीक कर सकता है।”

परिवार जनों ने और मंत्री आदि ने बहुत समझाया तब कहीं जाकर राजा ने आम छोड़ना स्वीकार किया। वैद्यराज ने दवा दी, राजा बीध्र हो स्वस्थ हो गया। कुछ दिन बाद फिर आम खाना शुरू कर दिया। पुनः बीमारी बढ़ी हो गई। राजा ने फिर से वैद्यराज को बुलाया। वैद्यराज ने कहा—“राजन् ! यदि जीवन चाहते हो तो सदा-सदा के लिए आम को छोड़ दो ! आम खाना क्या, आम की छाया में भी मत बैठो। तब तो तुम पूर्ण आयुष्य तक जी सकते हो और स्वस्थ भी हो सकते हो, अन्यथा तुम्हारे रोग की कोई औषधि नहीं है।”

मरता क्या नहीं करता - राजा ने हमेशा के लिए आम न खाने की प्रतिज्ञा कर ली। यही नहीं, किन्तु राज्य में समस्त आमों के बगीचे बंदवा दिने। आमों की बड़ी-बड़ी अनराईयां साफ करवा दी। राज्य की सीमा में कहीं एक भी आम का पेड़ नहीं रहने दिया। मोला—जब न रहेगा बीम तो न बजेगी बाँसुरी ! राज्य में आम का पेड़ ही न रहा तो आम आपका कहा में ? वैद्यराज ने औषधि दी, राजा फिर स्वस्थ हो गया।

एक बार सीमा पशु ने राजा अपने मंत्री के साथ मन-विहार करते मिलता। भूमता-भूमता वह पड़ोसी राज्य की सीमा तक पहुँच गया। अंत में मिलन होने से कारण सीमा पर स्थित एक आम के वृक्ष के नीचे विश्राम किया। मंत्री ने कहा—महाराज ! यह आम की छाया है ?

राजा हँसकर बोला—‘आम खाने से रोग होता है, क्या आम की

रागाउरे बडित - विभिन्नकाए,
मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे ।^१

जो मनुष्य रस में अत्यन्त गूढ़ हो जाता है वह उसमें सूचित हुआ अपने जीवन को भी अकाल में ही हार बैठता है और विनाश प्राप्त करता है। जैसे कि मांस के लोभ में फँसा हुआ मत्स्य कांटे में फँस कर अपने प्राण खो देता है।

अपार सागर के जल में सुरक्षित बैठा हुआ मत्स्य इसी तीव्र रसासक्ति के कारण अपनी जान से हाथ धोता है। जब मछली पकड़ने वाला नौहे के कांटे में मांस का टुकड़ा लगाकर वह कांटा समुद्र में डालता है तो मांस लोभी मत्स्य उसे खाने को दीड़ता है, मांस को खाते-खाते कांटा जब उसके गले में फँस जाता है तो वस वह वहीं तड़फड़ाने लगता है। मछली पकड़ने वाला तभी उस कांटे को खींच लेता है। मत्स्य पानी से बाहर आ जाता है और कुछ ही क्षणों में अपने प्राण गँवा देता है। यह फल है रसलोलुपता का। यदि मत्स्य रसलोलुप होकर मांस खाने न आता है तो किसी घावर की ताकत नहीं है कि उसे जल में से पकड़कर बाहर ले आवे। किन्तु रसासक्ति के कारण मछली ही अपनी मौत उसने बुलाती। इसलिए बताया गया है कि रसासक्ति मनुष्य अपनी तीव्र आसक्ति के कारण अकाल में ही नष्ट हो जाता है।

रसासक्ति से कामासक्ति

दूसरी बात—अधिक रसीले स्वादिष्ट व चटपटे मसालेदार गरिष्ठ भोजन से शरीर में विकार बढ़ते हैं, उन्मेजना पैदा होती है और फिर प्रहसनपं गी साधना भंग होने का यत्तरा पैदा हो जाता है। दमयैकानिक में बताया है—

एणीयं भत्तं पाणं तु विषममविचरुणं ।

प्रकील (पी) खादि से अत्यन्त गरिष्ठ आहार शरीर में तीव्र ही गर (विकार) पैदा कर देता है। मन संभल हो जाता, इन्द्रिय उत्तेजित होता, श्रम का संभल होड़ सामग्री है। भगवान महावीर ने कहा है—

आचार्य के कुछ शिष्य जो वड़े दयाली व आत्मायी थे, उन्होंने आचार्य से विहार करने की प्रार्थना की। रससोपुत आचार्य ने कहा—“कहीं भी जाओ ! माधु का घर्म तो उपयेम देना है, वहाँ बैठे भी वही काम करते हैं फिर कौन सा दोष है ?” टावमटोल का उत्तर सुनकर कुछ माधु आचार्य को छोड़कर अन्यत्र विहार कर गये। किन्तु आचार्य मधु से रससोपुतता नहीं छूटी। वे नरम स्थाविर भोजन के मोभ में पड़कर अपनी माधु भर्गादा भूल गये। गुरु दूध, दही, घी प्रणीत आहार माने लगे। इस आचरण के कारण वे माधुता में झट हो गये। अनुष्णपूर्ण कर ये उनी नगर में एक गद्य बन गये। जब जान से उन्होंने अपना पूर्व जन्म देखा तो उन्हें बड़ा पश्चात्ताप होने लगा—“मोचा ! मैं तो अपना बड़ा आचार्य या यदि भर्गादा में रहता तो कोई वैमानिक दण्ड बनता ! अब गद्य मोनि में ब्रह्म निरा। विचार किया—भर ! भरी तो जो गति हुई मो हुई किन्तु मेरे कारण अब अन्य माधु रससोपुत होकर अपना जन्म न बिगाड़ें। इसलिए यह गद्य अब सभी उधर से कोई माधु निरवता तो गद्य श्रमिता में प्रविष्ट होकर सभी जीभ बाहर निकाल देता। माधारण माधु उनमें भर जाते। एक दिन एक महात्मा माधु ने पूछा—“तुम कौन हो ? और किसविण्ण का जीभ बाहर निकाल रहे हो ?”

गद्य ने उत्तर दिया—“मैं तुम योगी का पुत्र आये मधु हूँ। रस सोपुतता के कारण मैं अपने धर्म में झट हो, इस निहाउ मोनि में आया हूँ। जीभ निरवता के पर घमाना चाहता हूँ कि इस जीभ (समाद युति) में मुझे झट विद्या, किन्तु तुम जीभ मथल लाओ !”

इस प्रकार रससोपुतता के कारण मनुष्य के योगी जन्म हो बिनार होते हैं।

रमायान के विविध रूप

संस्कृत ‘राम-परिवारात्’ शब्द में सभी प्रकार के रामों का स्थान था। राम है, किन्तु विचार जो इष्टि में राम के ‘राम-परिवारात्’ की सम्प्रदाय के अनेक रूप बनाये हैं। रामकी में माधु की विचार प्रवृत्ति करने का भी स्थान है। इसलिए यह सभी रामों का समान है वह सर्वव्यापक है। विचार का जन्म है।

के समान है। तालपुट जहर जैसे जीभ पर रखकर ताली बजाये तब तक में मनुष्य को मार डालता है, उसी प्रकार आत्मशोधक के लिए उक्त तीनों बातें विनाशकारी हैं।

ब्रह्मचर्य की नव गुस्तियों में बताया गया है कि ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले साधक को प्रणीत—अतिस्निग्ध सरस आहार नहीं करना चाहिए—

१ नो पणीयरसभोह भवइ

२ नो पाण भोयणस्स अइ मापाए आहारइत्ता भवइ^१

आगम वाणी के प्रकाश में और अपने अनुभव के आलोक में यह बात प्रायः स्पष्ट है कि इंधन से जैसे अग्नि प्रचंड बनती है, वैसे ही सरस भोजन से कामाग्नि प्रचंड होती है। अतः आत्मसाधना करने वाले, ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले साधक के लिए सचमुच में ही रसयुक्त प्रणीत भोजन—विष के तुल्य है।

निशीथ भाष्य^२ में एक उदाहरण देकर समझाया गया है कि रस सोलुप होने से साधु का यह भव ही नहीं, किन्तु भगला भव भी बिगड़ जाता है। उदाहरण इस प्रकार है—

प्राचीन समय में एक आचार्य थे—आर्य मंगु। प्रास्थों के अच्छे शाता और बड़े ही मधुर वक्ता थे। जहाँ भी जाते वहाँ उनका अच्छा सत्कार सम्मान होता। जनता में उनके प्रति दृढ़ श्रद्धा थी।

एकवार आर्यमंगु मथुरा में आये। मथुरा के श्रद्धालु जनों ने आचार्य की बड़ी भक्ति की। आचार्य की दूध, दही, धी मिष्टान्न आदि प्रतिदिन मिलने लगा। प्रतिदिन रसयुक्त मधुर भोजन करने से आचार्य का मन भी भग में मूढ़ हो गया। मधुर भोजन आदि के कारण उन्हें मथुरा भी प्यारी लगने लगी। अब तो आचार्य यहाँ जम गये। माम कल्प पूरा होने पर भी बिहार का नाम नहीं लिया। भक्तिवश लोगों ने भी कुछ नहीं कहा। साधुमार्ग पूरा हुआ। फिर भी आचार्य यहाँ से जाने को बेगार नहीं हुए।

१ जैनसाम्प्रदाय १६

२ निशीथ भाष्य १७।३२.००

आचार्य के कुछ शिष्य जो बड़े त्यागी व आत्मारथी थे, उन्होंने आचार्य से विहार करने की प्रार्थना की। रसलोलुप आचार्य ने कहा—“कहीं भी जाओ ! साधु का धर्म तो उपदेश देना है, यहां बैठे भी वही काम करते हैं फिर तीन सा शेष है ?” टांगमटोल का उत्तर सुनकर कुछ साधु आचार्य को छोड़कर अन्यत्र विहार कर गये। किन्तु आचार्य मंगु से रसलोलुपता नहीं छूटी। वे सरस स्वादिष्ट भोजन के लोभ में पड़कर अपनी साधु मर्यादा भूल गये। गूब दूध, दही, घी प्रणीत आहार खाते लगे। इस आचरण के कारण वे साधुता से छान्द हो गये। आयुष्मत्पूर्ण कर वे उसी नगर में एक रात बन गये। जब ज्ञान से उन्होंने अपना पूर्व जन्म देखा तो उन्हें बड़ा परमात्मा होने लगा— मोचा ! मैं तो इतना बड़ा आचार्य था यदि मर्यादा में रहता तो कोई वैमानिक उद्गर बनता ! अब राक्ष गोलि में आ गया। विचार किया—मेरे भेरी तो जो गति हुई भी हुई किन्तु मेरे कारण अब अन्य साधु रसलोलुप होकर अपना जन्म न बिताएँ। इसलिए यह राक्ष जब कभी उधर से कोई साधु निकलता तो राक्ष प्रतिभा में प्रविष्ट होकर संघी जीभ बाहर निकाल देता। साधारण साधु उससे डर जाते। एक दिन एक साधुसी साधु ने पूछा—“तुम क्यों हो ? और किसलिए यह जीभ बाहर निकाल रहे हो ?”

राक्ष ने उत्तर दिया—“मैं तुम लोगों का गुरु कार्य मंगु हूँ। रस लोलुपता के कारण मैं अपने धर्म से छान्द हो, इस निष्ठाट गोलि में आया हूँ। जीवन बिताने के यह यत्नाय आरुता हूँ कि इस जीभ (स्वाद वृत्ति) ने मुझे छान्द किया, किन्तु तुम लोग समझ लाली !”

इस प्रकार रसलोलुपता के कारण मनुष्य के दोनों जन्म ही बिगड़

के समान है। तालपुट जहर जैसे जीभ पर रखकर ताली बजाये तब तक में मनुष्य को मार डालता है, उसी प्रकार आत्मशोधक के लिए उक्त तीनों बातें विनाशकारी हैं।

ब्रह्मचर्य की नव गुप्तियों में बताया गया है कि ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले साधक को प्रणीत—अतिस्निग्ध सरस आहार नहीं करना चाहिए—

१ नो पणीयरसभोड भवइ

२ नो पाण भोयणस्त अइ मायाए आहारइत्ता भवइ^१

आगम दाणी के प्रकाश में और अपने अनुभव के आलोक में यह बात प्रायः स्पष्ट है कि इंधन से जैसे अग्नि प्रचंड बनती है, वैसे ही सरस भोजन से कामाग्नि प्रचंड होती है। अतः आत्मसाधना करने वाले, ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले साधक के लिए सचमुच में ही रसयुक्त प्रणीत भोजन—विष के तुल्य है।

निशीथ भाष्य^२ में एक उदाहरण देकर समझाया गया है कि रस मोलुन होने से साधु का यह भव ही नहीं, किन्तु अगला भव भी विगड़ जाता है। उदाहरण इस प्रकार है—

प्राचीन समय में एक आचार्य थे—आर्य मंगु। शान्ति के अच्छे ज्ञाता और बड़े ही मधुर वक्ता थे। जहाँ भी जाते वहाँ उनका अच्छा मतकार सम्मान होता। जनता में उनके प्रति दृष्टी श्रद्धा थी।

एकवार आर्यमंगु मधुरा में जाये। मधुरा के श्रद्धालु जनों ने आचार्य की बड़ी भक्ति की। आचार्य को दूध, दही, पी मिष्ठान आदि प्रतिदिन मिलने लगा। प्रतिदिन रसयुक्त मधुर भोजन करने से आचार्य का मन भी रस में मूढ़ हो गया। मधुर भोजन आदि के कारण उन्हें मधुरा भी प्यारी लगने लगी। अब तो आचार्य कहां जम गये। मांस कल्प पूरा होने पर भी विहाय का मांस नहीं दिया। भक्तिवश लोगों ने भी कुछ नहीं कहा। पानुर्माण पूरा हुआ। फिर भी आचार्य वहां से जाने की कोशिश नहीं हुए।

१. चरित्राध्याय १६

२. निशीथ भाष्य १७३२००

इसी के साथ वृच्छाहार—जली हुई रोटी आदि के कुछ और भी भेद मिलते हैं। किसी-किसी आचार्य ने इन ती भेदों का विस्तार कर १४ भेद भी माने हैं।

इस प्रकार भोजन में रस, स्वाद, चिकनाई आदि का त्याग करके साधक 'रस-परित्याग' तप की अनेक प्रकार से साधना कर सकता है। रसपरित्याग का मूल उद्देश्य है—भोजन के प्रति अनासक्त भाव। सरस व स्वादिष्ट भोजन प्राप्त करने की भी इच्छा न हो, और न ऐसा समुक्त भोजन खाने की लालसा हो। बल्कि भिक्षाचरी में या (गृहस्थ के लिए घर में) सहज रूप में जो भोजन प्राप्त हो गया उसे जरीर चला देने के लिए खाना। जैसे घाव पर मरहम पट्टी की जाती हो, उसी दृष्टि में भूख को शांत करने के लिए भोजन करना—यह लक्ष्य जीवन में प्राप्त करना रसपरित्याग तप की सच्ची साधना है।



कभी-कभी वह विगय ग्रहण भी कर सकता है, किन्तु नित्य नहीं। नित्यप्रति विगय का सेवन करना दोष है। इसलिए कभी-कभी विगय ग्रहण करे और कभी विगय का त्याग करे। विगय का त्याग करना रसपरित्याग तप का पहला क्रम है।

उपवाई मुद्र में इसके नौ क्रम बताये हैं—

- १ निर्वितिक—विगय का त्याग करना। विगय का वर्णन पूर्व में किया जा चुका है।
- २ प्रणीत आहार का त्याग—जिस भोजन में घृत आदि टपकता हो, जो अति स्निग्ध और बल वीर्य बढ़क भोजन हो उसका त्याग करना।
- ३ आयविल—नमक एवं विगय आदि का त्याग कर सिर्फ भुना हुआ या रंघा हुआ एक प्रकार का भोजन पानी के साथ खाना। इसमें स्वाद-विजय की विशेष भावना रहती है।
- ४ आयामस्तित्व भोई—धान्यादि के घोवण में से कुछ अंण (अथवा कण) ग्रहण कर भूख मिटाना।
- ५ अरसाहार—रसरहित भोजन करना, जैसे फीका, बिना नमक व थिना मिर्च मसाले का स्वाद रहित भोजन। जैसे उट्टर के चाकले, भुने चने, कुल्माय आदि।
- ६ बिरसाहार—जिस भोजन का रस विगद्य गया हो, चासी, केन्दाद भोजन करना।
- ७ अंसाहार—तबले आगिर्-में बना हुआ आहार लेना। अथवा पना, उरुद आदि के छिलके जो कि अंतिम चने हुए होते हैं।
- ८ पंसाहार—मद्य स्त्रीयों के रस चुसने के बाद में अंत में बना हुआ आहार लेना। चासी तथा डंठा आहार।
- ९ रसाहार—खाना बिना चुस्का हुआ भोजन। जिस भोजन में सी-जेन का छोक खादि तथा किसी प्रकार का तैय न बिखलाई न हो।

करना अर्थात् शरीर की विभूषा का त्याग करना ये कष्ट ऐसे हैं—यदि मनुष्य नहीं चाहें तो ये नहीं होते । स्वतः इनकी ओर प्रवृत्त होने पर ही ये कष्ट उत्पन्न होते हैं । केशमुञ्चन—करवाने पर ही यह कष्ट होता है । ये सब कष्ट स्वीकार किये जाते हैं । अर्थात् जैसे मेहमान को निमंत्रण देकर बुलाया जाता है वैसे ही साधक अपने धर्म, साहस और कष्टसहिष्णुता की कसौटी करने कष्टों को बुलावा देता है अतः इन्हें स्वतः स्वीकृत कष्ट कहते हैं ।

बाईस परीपह

साधक जीवन में उक्त दोनों प्रकार के कष्ट आते हैं । इन कष्टों को नष्ट करने के लिए दो शब्द प्रचलित हैं—परीपह और कायकलेश । आध्यात्मिक ज्ञान गणी महत्तर के अनुसार परीपह की परिभाषा है—

परीपहृज्जंते इति परीपहा, अहियासिज्जंति स्ति

धुपा, पिपासा, शीत उत्पन्न आदि नारीरिक कष्टों को तथा अज्ञान अन्याय आदि मानसिक कष्टों को कर्म निर्जटा की भावना के साथ सपूर्ण रूप में सहन करना परीपह है । वैसे तो कोई भी आगत कष्ट जो सम्भव रूप में सहन किया जाता है—परीपह ही मयता है । फिर भी तीन सूत्रों में निर्देश के लिए २२ परीपह बताये गये हैं, ये यों हैं—

१ धुपा परीपह—धूप

२ पिपासा—प्यास

३ शीत—ठंड-मर्दी

४ उत्पन्न—गर्मी, छुन आदि

५ अज्ञानमय—द्वंद्व, मन्दिर आदिका वादना

६ शरीर—अस्वस्थता आदि का कष्ट

७ अर्थ—कष्टों से सम्बन्धित संसार के प्रति प्रवृत्ति होना ।

८ शरीर परीपह—अज्ञानमयी धृष्टता की शक्ती का, शरीर की धृष्टता का दूर परीपह होता है ।

९ धर्म—विज्ञान मार्ग में गति काया अवलोकन का कष्ट ।

१० मेधविषयी—अवस्थागत धृष्टि के कष्ट ।

कायक्लेश तप

तप के बारह भेदों में प्रथम चार तप आहार से विशेष सम्बन्ध रखते हैं। पाँचवें तप में शरीर क्रियाओं का सम्बन्ध है अतः इस तप का नाम है काय-क्लेश तप !

कायक्लेश की परिभाषा

कायक्लेश—का अर्थ है शरीर को कष्ट देना। कष्ट दो प्रकार के होते हैं—एक प्राकृतिक रूप में स्वयं आना, देवता मनुष्य तिर्यंच आदि के उपसर्गों से प्राप्त होना। यह कष्ट, अनचाहे अपने आप आते हैं। आप सर्पों में जीत लहरें, गर्मों में ज्वर के थपड़े, वर्षा में डोंग मच्छर ऊँस आदि का कष्ट भोगे ही न चाहें किन्तु वे प्राकृतिक बीज हैं, मोक्ष के सहज कष्ट हैं वे आते ही हैं। उसी प्रकार सौंदर्य देवता उपसर्ग दे, मनुष्य आदि अपमान करें, क्रूर हिसाब पशु आदि भयभीत करें तो ये भी अनचाहे कष्ट हैं, इनकी इच्छा कोई नहीं करता, किन्तु अपने आप आ जाते हैं। ये कष्ट सस्वप्न प्राप्त कष्ट हैं।

दूसरे कष्ट है उद्योगता करने देना। कष्ट को सुखाना। जैसे बखीर आसन आदि करना, प्यास लड़ाकर बिना पड़े ही जाना। और जल में अनेक विभक्त कापीकमें करने रहना। रत्नात—आदि शरीर को मोक्ष नहीं

वृक्ष की तरह सीधे खड़े रहते हैं, कड़कड़ाती सर्दियों में भी नाक तक पानी में डूबे रहते हैं—सीधे शिर लटकते रहते हैं। किन्तु उनका देह दुःख तो महाफल नहीं, अरुपफल, अत्यन्त अल्पफल वाला माना गया है। अतः यहाँ पर 'देह दुःखं महाफलं' का भाव यही लेना चाहिये—कि जब परीयह जय उत्पन्न हों तो साधक सीधे - शरीर को उत्पन्न हुए कष्ट को प्रत्यक्ष भाव में सहन करना महान काम निजरा का कारण है अतः (अज्ञान पूर्वक देह को कष्ट देना नहीं, किन्तु) ज्ञानपूर्वक कष्ट लेना और सहता महान फलदायी है।

हम तो भी बता रहा था कि—स्व-कृत एवं परकृत दोनों प्रकार के शारीरिक-मानसिक कष्टों को सहन करना परीयह है। यहाँ कायवलेष की ध्याना परिपक्व से कुछ असमपड़जाती है। कायवलेष का अर्थ है—अपनी ओर से कष्टों को स्वीकार करना। साधक विशेष काम निजरा के लिए अनेक प्रकार के आसन, ध्यान, प्रतिमा, केल, तुषन, शरीर मोह का त्याग आदि के माध्यम से विवेक भाव को स्वीकार करता है—यह विशेष तप—ज्ञान वलेष तप है। ज्ञायम में बताये गये ज्ञाय वलेष के भेदों ने यही अर्थ संगत देखा है।

शरीर को कष्ट क्यों ?

प्रश्न होता है कि साधकों में एक और तो मान्य—शरीर को अपार नरिमा गाई है। शरीर परम दुर्लभ सम्पत्तियों में मान्य-जन्म को परम दुर्लभ माना है। विश्रामवि रहन की उपमा की है। गुरु दुर्लभ साधु तप पाया—के मोह पाये गये हैं और दुर्लभ कीम शरीर को कष्ट व विलस देते की बात यही गई है - यह तो कैसी ही बात हो गई 'शरीर को कष्ट परम साधुपार की गई बात' क्या हमें की शरीर के साथ कोई सम्बन्ध है ? कहीं तो शरीरसाधन सम्पत्तियों में साधक कहा है शरीर का देह दुःखं महाफल है इन विचारों से परस्पर मत विरोध क्यों ?

समाधान यह है कि शरीर को कष्ट देते का अर्थ शरीर का नष्ट करना नहीं, किन्तु उसका सदुपयोग करना है। शरीर ज्ञानार्थ साध नहीं है, किन्तु साधक है। यन्त्र का भाव दिया जाता है किन्तु मोहक की मध्य औपचारिक रूप से नहीं बल्कि विचार जाता है। मोहक की समझ का प्रयोग देते हैं, यन्त्र

- ११ शय्या—निवास स्थान अथवा सोने की भूमि का कष्ट ।
- १२ आश्रय—दुर्वचनों का कष्ट ।
- १३ वध—लकड़ी आदि की मार ।
- १४ याचना—भिक्षा आदि मांगना ।
- १५ अलास—सांगने पर भी नहीं मिलना ।
- १६ रोग—रोग आने पर समभाव से सहन करना ।
- १७ तृणस्पर्श—घास आदि के स्पर्श का कष्ट ।
- १८ जल—शरीर पर मैल आदि का कष्ट (अस्नान) ।
- १९ सत्कार-पुरस्कार—पूजा-प्रतिष्ठा को सम्यक् रूप से सहना—अर्थात् उन पर फूलना नहीं ।
- २० प्रज्ञा—बुद्धि का गर्व न करना ।
- २१ अज्ञान—बुद्धिहीनता अथवा अज्ञानकारी का दुःख सहन करना ।
- २२ दर्शन परीषह—सम्यक्त्व से भ्रष्ट करने वाले मिथ्या मतों का मोहक वातावरण देखकर मन को स्थिर रखना ।

ये बारह परीषह हैं जिनमें दोनों प्रकार के ही परीषह आये हैं—दूसरों के द्वारा होने वाले और अपने मन से स्वीकार करने वाले भी । इन उपमनों को, कष्टों को सम्यक् रीति से सहना परीषह है ।

शास्त्र में कहा है —

एहं पिपासं दुस्तिज्जं सौ-उहं अरइं भयं ।

अहिमाने अव्वहिओ देहदुक्खं महाफलं ।

भूख, प्यास, दुःस्त्यज्ज, सर्दी-गर्मी आदि और भय आदि कष्टों को साधन अव्यथित—अर्थात् प्रसन्न मन से सहन करें, क्लेशित न होकर कष्ट सहन करना महाफल—महान् फलें वे करने निजेंस का कारण है ।

कुछ लोग—‘देह दुक्खं महाफलं’—का अर्थ करते हैं—देह को दुःख देना महाफल है—किन्तु शास्त्र में यह अर्थ जैन दृष्टि से संगत नहीं है । देह को कष्ट देना और बात है, देह का कष्ट सहना और बात है । अशर्मा मनुष्य भी देह को कष्ट देता है, शरीर का उन्नत करता है, छट-छट मर्ति

कष्ट लेने के लिए संचार हो जाता है । यह कष्ट, उसे कष्ट नहीं किन्तु आनंद और मुक्त प्रतीत होता है । प्रसिद्ध अध्यात्मवादी चित्तक योगविजयजी ने तपोपटक में कहा है—

एष्टा चेष्टायंसिद्धौ कायसोढा ह्यनुसदा,
रत्नादिवणिवादीनां तद् यदत्रापि भाव्यताम् ॥७॥

इच्छित लक्ष्य की सिद्धि के लिए शरीर का कष्ट भी दुःखदायी नहीं लगना, रत्न आदि की प्राप्ति के लिए व्यापारी लोग समुद्रों में, पहाड़ों में जंगलों में कहाँ कहाँ भूमते हैं, अनाथ पीड़ाएँ सहन करते हैं, फिर भी उन्हें उन वातावरणों में सुगमभूति ही होती है ।

एनी प्रकार साधक भी आत्मा के लिए वीर्यित लक्ष्य—मुक्ति ! निर्द्वैत ! केवल ज्ञान ! आदि की प्राप्ति के लिए जो विभिन्न प्रकार के कायकलेन, तप जप, ध्यान आदि करता है उसमें उसे कष्ट होते हुए भी कष्टानुभूति नहीं, किन्तु आनन्दानुभूति होती है । यदि साधना में कष्टानुभूति होती हो तो वह वास्तव में साधना ही नहीं होती । रो-रोकर कष्ट उठाना तो—अपराधी का काम है, साधक का नहीं । यदि साधक कष्टों में उत्पीड़ित हो जाता है तो वह साधना उसके लिए दुःख-मयत्वा—कांटों की भेड़ बन जाती है । साधन में यत्नाया है । मन्त्रों साधन के लिए साधना का कठकाशील मार्ग भी सुगम-मयत्वा—फूलों की भेड़ होता है । फिर साधना का लक्ष्य शरीर को, कष्ट की कष्ट समझना भी नहीं, किन्तु शरीर व आत्मा के कष्टों में आत्म-मुक्ति और आत्म-निर्दि के लिए शरीर का समुद्रयोग करना ही उसका लक्ष्य रहता है ।

इसके साथ वह भी समझ लेना भी जान ले कि जैसे अपने में बहुत कष्ट, या कायकलेन किया नहीं जाता, बल्कि मरप होता है । साधक का लक्ष्य तो आत्म-सौमन्य रहना है, उस लक्ष्य के लिए सब वह प्रयत्नशील होता है जो ईद्विद कष्ट लक्ष्य अपने है और जाने नहीं है । जिस प्रकार की की दुःख करने के लिए उसे यत्नाया होता है । लक्ष्य के लिए क्या भी की जान में लक्ष्य दिया जाता है ? नहीं, उसे लक्ष्य में डाला जाता है और लक्ष्य की जान का लक्ष्य होता है । बल्कि लक्ष्य की जान का लक्ष्य लक्ष्य नहीं है, जान की भी

वचन कहने से, यथा योग्य भोजन वस्त्र आदि देने से वह प्रसन्न रहता है, और स्वामी की सेवा करने में जी जान लगा देता है। स्वामी के लिए अपने प्राण और सर्वस्व न्योछावर कर देता है। जो सेवक सब कुछ पाकर भी यदि स्वामी की सेवा में हिनकिचाहट करे, काम से मुंह घुराए तो वह सेवक वैश्रमान कहलाता है।

शरीर भी आत्मा का सेवक है, आत्मा को धर्म की साधना करने में उपयोगी है - "यह देह धर्म का साधन है" और 'मोक्ष साहण हेवस साह्वेहस धारणा—मोक्ष की साधना करने के लिए ही साधक देह को धारण करता है। अतः आत्मा मोक्ष साधना के लिए शरीर का उपयोग करता है, शरीर का पोषण भी करता है, किन्तु उसे निठल्ले घँटाए रखने के लिए नहीं, किन्तु अधिक श्रम, त्याग, तप, जप ध्यान कायोत्सर्ग आदि करने के लिए ही उसे भोजन देता है। शरीर से यह जी आध्यात्मिक सेवा ली जाती है, उसे ही हम बोलचाल की भाषा में कामक्लेश और कष्ट एवं परीपह कहते हैं। वास्तव में वह कष्ट एवं क्लेश नहीं, किन्तु शरीर का सदुपयोग है। सच्चा सेवक सेवा करने में मित्र अवश्य होता है, किन्तु फिर भी वह मित्रता अनुभव नहीं करके प्रसन्नता का ही अनुभव करता है। सेवा को कष्ट नहीं, कर्तव्य समझता है। इसी प्रकार आत्मसाधना के मार्ग में शरीर को दिया जाने वाला कष्ट वास्तव में कष्ट नहीं, किन्तु शरीर का उपयोग है। यदि यह उपयोग नहीं लिया जाता है तो शरीर बँटा टाला और कुछ उत्पात पर मक्का है। बिकारों को उत्पन्न करेगा। "निकम्मा दर्जी क्या करे, कपड़े फाड़कर सिपा करे।" अतः शरीर की मत्त श्रम में, तप जप आदि में लगाए रखना ही उसकी उपयोगिता है। इस दृष्टि में जैन धर्म ने शरीर को कष्ट देने की बात शरीर का नाश करने के लिए नहीं कही है, किन्तु उसका सदुपयोग करने के लिए ही कही है।

दुर्गती बात—मनुष्य के सामने जब कोई बड़ा आनन्द होता है, महान् लाभ की बात सामने दिखाई देती है, अपने लिए मत्त नरक की सपना होना देखता है, अपने मनो की साकार होना जाता है तो स्वयं भी उसे में बड़ा

या मोक्ष के लिए कष्ट महत्ता भी भूल है—क्योंकि जैसे किसी ने सारंगोदर के तीव्र कभी नहीं देखे, आकाश में कभी फूल बिना नहीं देखा, वैसे ही मोक्ष या परलोक किसी ने कभी नहीं देखा । इसलिए संसार में जो कुछ उत्तर है वह है—सरीर ! वर इस सरीर को साफ-सुवरा रंगो, हूट्ट पुष्ट बनाओ ! जो सुख बिना है उसका भोग करो, खाओ, पीओ और आनन्द करो (Eat, drink and be merry) वगैरह मनुष्यवाद जीवन का नार है । उनका प्रसिद्ध वाक्य है—

विद्य ! साध या साधलोचने !

यदतीतं परमादि ! तत्र ते ।

नहि भीद ! गतं निपतेते

समुदयमाद्यमिदं हि कलेषम् ।^१

हे मुनयो ! पीओ ! और खाओ ! जो पता पता वह जोड़ कर कभी आता नहीं, इसलिए अतीत अपना नहीं है, विलोपितमान भाव अपना है, वर्तमान में आनन्द ले लो ! वह सरीर जो पाप पाप भूयो का समुदाय है, सब समुदाय निरत जायेगा जो सब कुछ सही समाप्त हो जायेगा ।

जो सदाशरीर निरत होता ही सार्वत्रिक दर्शन काय्यायी है । क्योंकि सार्वत्रिकों में भी जो मत है—एक पूर्ण सार्वत्रिक दृष्टि मिथ्या सार्वत्रिक । पूर्ण सार्वत्रिक विस्तृत ही सार्वत्रिक, सदाशरीर पूर्ण सार्वत्रिक जीवन में विस्तृत करते हैं, जबकि मिथ्या सार्वत्रिक कुछ समय, मानाजित एवं सीमित प्रमाण जीवन का उपदेश करते हैं । सार्वत्रिकों का दर्शन ही सार्वत्रिक के साहजिक सार्वत्रिक माना जाता है—सैमा सार्वत्रिक के सार्वत्रिकों का मत है । अस्तु,

सदाशरीर दर्शन में सार्वत्रिक दृष्टि ही निरर्थक एवं सूखी ही माना जाता माना है । किन्तु सार्वत्रिक में वह दर्शन अधिक बल नहीं पाता । सदाशरीर सार्वत्रिक दर्शन ही सुखदायी नहीं है । सार्वत्रिक में सार्वत्रिकों को वह जीव साधना की प्रेरणा माना गया है । सदाशरीर सार्वत्रिक माना है और सदाशरीर

को तपाना चाहते हैं किन्तु धी का आधार पात्र है, इसलिए धी को तपाने के साथ ही पात्र स्वयं तपता है। कोई आपसे पूछे—भाई ! आप क्या कर रहे हैं ? तो आप जटसे कहेंगे, धी तपा रहा हूँ। न कि पात्र तपा रहा हूँ ऐसा कहेंगे ? पात्र को तपाना लक्ष्य नहीं है, वह तो स्वयं तप जाता है। उगी प्रकार आत्मा से विकारों को दूर करने के लिए, इन्द्रिय निग्रह, आसन, उपवास आदि के द्वारा तपाना तो आत्मा को ही है, किन्तु चूँकि आत्मा का आधार शरीर है—इसलिए आत्मा जब तपाचरण करता है तो शरीर को कष्ट होता है, शरीर अवश्य ही तप्त होता है, किन्तु शरीर की उस वेदना में साधक को वेदना की अनुभूति नहीं होती। तप के कष्ट को साधक कष्ट रूप में अनुभव नहीं करता, जैसे माता अपने बालक की सेवा करती हुई भी उस सेवा में कष्ट या पीड़ा का अनुभव नहीं करती, उसी प्रकार तप में शरीर को पीड़ा होते हुए भी साधक पीड़ा की अनुभूति नहीं करता, क्योंकि उसका लक्ष्य आत्मानन्द की प्राप्ति का है।

कायवलेन को दार्शनिक पृष्ठभूमि

काया को कष्ट देना, देह का दमन करना, इन्द्रियों का निग्रह करना—इन कायवलेन के पीछे एक आध्यात्मिक चिन्तन है, भारतीय अध्यात्म दर्शन की पृष्ठभूमि है।

संसार में प्रारम्भ से ही दो प्रकार के दर्शन चले आये हैं—एक जड़वादी दर्शन, दूसरा आत्मवादी दर्शन ! जड़वादी दर्शन शरीर को ही सब कुछ मानता है। शरीर से निम्न आत्मा नाम के तत्त्व की कल्पना ही उसके विमत में नहीं आती। फिर परलोक, पूर्वजन्म, पुनर्जन्म तो कहाँ से मानेगा ! उसका प्रमाण यून है—

एतत्तावानेष लोकोम मायानिन्द्रियगोचरः।

भद्रे ! यत्र परं परमं गच्छति बह्व्यूताः।

जितना लोको से दिखाई देता है, सब उसका ही यह संसार है। उसके आगे कुछ नहीं। आत्मा, परमात्मा यह सब कल्पना है। परमेश्वर

यह आत्मवादी दर्शन ही कामकलेश तप का आध्यात्मिक आधार है। इस चिंतन से शरीर के प्रति अनासक्ति, अममत्व प्रकट हुआ। शरीर को शल-भंगुर माना और उन शलभंगुर तत्त्व से जितना आत्मोत्कार हो सके उतना कर लेना चाहिए—इन भावना ने कामकलेश, इन्द्रियदमन आदि तप को महत्व दिया। जिन साधक ने आत्मा और देह का पृथक्त्व सही रूप में समझ लिया, उनके मन में देहासक्ति, देहाध्यास कम हो जाता है, फिर देह होते हुए भी यह विदेह अवस्था को प्राप्त हो जाता है। श्रीमद् राजचन्द्र के शब्दों में—
देह छूता जेहनी बसा घरते देहातीत ।

देह होते हुए भी देहातीत क्या प्राप्त करने की कला इसी आत्मसाध ने मिलती है। स्वयंकायाय की घटना हमारे सामने है, जिसके पांव नीचे मिट्टी को पकड़-पकड़ कर पानी में पीस दिया गया, तिल के पीछे की तरह ! किन्तु उन साधुओं ने मुँह में चूँ तक नहीं किया। क्यों ? आतिर देह को पीछा तो छूट हीनी ? एक मुँह चुम्बने से ही शरीर में तिलमिलाना शुरू होती है वहाँ छट्छटे शरीर को पानी में धालकर पीस देना क्या पीछा नहीं होती ? आत्मसंयम की धमकी उतार दी गई, शरीर को छीस दिया गया जैसे काचर या ककड़ी को छीलते हैं ? फिर भी ये सांत रहे ? क्या है—

त्यज्य सारी सारी भगति-वति
झूरी शरण हो,
रहा मेह जैसे तपस रह सोना परोपहा।
प्यारे मुक्ती की करम रज भारी फटक के
झरो रक्ष्यपाषाणोत्पन्न 'मुनि मिथी' बरतत है ।

भगवान् महावीर के शब्दों में, शीनें लोखरी गई, उनके पांवों के बीच में खनिज जमाकर शीर बरसाई गई, और महान् भारतीयों के शब्द मिले लगे, किन्तु फिर भी ये शक्ति-व्यक्ति आत्म-व्यक्ती मुझ में रहे। जैसे ? किस दृष्टि के रूप पर ? इसका रहस्य यही आत्मविद्या है। देह और जगत् का पृथक्त्व समझने की शक्ति है।

तो जैसे धर्म में जो आत्मकीर्ति पर इतना बल दिया गया है, परीक्षा महत्त्व का इतना उत्प्रेरक दिया गया है—उपजाव आत्मिक आधार है—आत्म-वाद। आध्यात्मिक विद्या।

आत्मा से भिन्न चिन्मयशक्ति मानना ज्ञान । कहा है—

देहोऽहमिति या बुद्धिः अविद्या सा प्रकीर्तिता ।

नाऽहं देहश्चिदात्मेति बुद्धि विद्येति भण्यते ।^१

‘मैं (आत्मा) देह हूँ’—इस बुद्धि का नाम अविद्या, अज्ञान है, और मैं देह से भिन्न चेतन आत्मा हूँ’—इस बुद्धि का नाम विद्या या ज्ञान है । यही बात आचार्य भद्रबाहु ने कही है—

अन्नं इमं शरीरं अन्नो जीवु त्ति एव फययुद्धो ।

दुक्खपरिफिलेसकरं छिद ममत्तं सरोराओ ।^२

“यह शरीर अन्य है, आत्मा अन्य है”—साधक इस प्रकार की तत्त्व बुद्धि के द्वारा दुःख एवं क्लेश देने वाली शरीर की ममता का त्याग करें ।

आत्मवादी साधक यह सोचता है—“जो दुःख हैं, कष्ट हैं, वे सब शरीर को हैं, आत्मा को नहीं । कष्ट से शरीर को ही पीड़ा हो सकती है, वष आदि से शरीर का ही नाश हो सकता है—आत्मा का नहीं—नस्त्य जीवस्स नागुत्ति”^३—आत्मा का ज्ञान दर्शनमय चिन्मयरूप है, उसको कभी कोई शक्ति नष्ट नहीं कर सकती, उसका कभी नाश नहीं हो सकता, वही मेरा स्वरूप है । शरीर तो भौतिक है, नाशमान है,

पच्छा पुरा या सइयव्वं फेणुबुध्वय सत्तिमं—

पहले या पीछे—इस जन बुदबुदे के समान नाशमान शरीर को तो त्यागना ही है । फिर कष्ट आदि से भयभीत क्यों होना ? जो कष्ट है, वह शरीर को है, आत्मा को नहीं—

योसिरे सध्वसो कार्यं न म देहे परीसहा^४

जो परीसह है, कष्ट हैं वे मुझ में नहीं, देह में है, यह देह मेरा नहीं है, इस प्रकार धिक्कार कर शरीर की ममता को, शरीर के प्रति राग भाव को छोड़ देना चाहिए ।

१ अध्यात्म रामायण, अयोध्या माण्ड ४।३३

२ आचार्यक निमुत्ति १४।१७

३ उल्लसत्तव्वय २।२७

४ आचार्यक श्रवण २।२२

तन से दैत्य का अर्थ—विकराल शरीर से नहीं, किन्तु सहिष्णु और कठोर शरीर से है। शरीर से इतना सहिष्णु हो, कि धूप, वर्षा, सर्दी आदि के भयानक कष्टों से भी विचलित न हो, और मन इतना सुन्दर, सुकुमार हो कि देवता तुल्य रहे। इसी भाव को संस्कृत की प्रसिद्ध सूक्ति में यों कहा गया है—

वज्रवादपि कठोराणि मृदुनि कुसुमादपि

वज्र से भी कठोर और फूल से भी कोमल—अर्थात् कष्ट सहने में वज्र जैसे और दया करुणा में फूल जैसे।

तो साधक को कष्टसहिष्णु होना चाहिए। और वह सहिष्णुता का अभ्यास कायक्लेश से बढ़ता है। काय क्लेश से तितिक्षा का भाव प्रखर बनता है। शास्त्र में कहा है—तितिक्षं परमं पञ्चा^१—

तितिक्षा साधक का परम धर्म है। साधक होकर तितिक्षु नहीं है, सहिष्णु नहीं है, कष्टों में धैर्य नहीं रख सकता तो वह साधना नहीं कर सकता। तप का मूल ही धृति है—तवत्स मूलं धिति^२ धैर्य, साहस और सहिष्णुता यही तप की जड़ है। इसलिए शास्त्रों में स्थान-स्थान पर सहिष्णुता का उपदेश दिया गया है—

सहिओ दुक्खमत्ताए पुट्ठो नो संज्ञाए^३

दुःख आने पर, दुःखों से घिर जाने पर भी साधक विचलित न हो।

दुक्खेण पुट्ठे धुवमायएज्जा^४

शरीर को दुःखों का स्पर्श होने पर ध्रुवता—ध्रुव के जैसी स्थिरता धारण करें।

ये सब उपदेश, शिक्षाएं और शास्त्र वचन यही बात सिद्ध करते हैं कि साधक को कष्टों के लिए स्वयं को साधना पड़ता है, सोने की भांति कष्टों की

१ सूत्र कृतान्ग १।२।२६

२ निशीथ चूषि ८४

३ आचारान्ग १।३।३

४ सूत्रकृतान्ग १।७।२६

सुकुमारता का त्याग

कार्यक्षेत्र तप का व्यावहारिक जीवन में भी बहुत बड़ा महत्त्व है। मनुष्य को कोई भी महान कार्य सिद्ध करने के लिए कष्ट तो उठाना पड़ता ही है। शुभ कार्य में अनेक विघ्न बाधाएं आती हैं—श्रेयांसि बह्विघ्नानि ! किन्तु उन विघ्नों की नदी पार करने के लिए साहस और सहिष्णुताएव नाव की आवश्यकता होती है। आत्मबल और मनोबल की जरूरत होती है। सुकुमारता और कोमलता से साधना नहीं हो सकती है—एक आचार्य ने कहा है—

अश्मा भव ! परशुमंथ !^१

जब कष्टों के तूफान मचलने लगे तो तुम अश्मा—अर्थात् पत्थर—चट्टान बनकर खड़े हो जाओ ! जब भय और आशंका की वेड़ी तुम्हारे पांवों की बांधने लगे तो कुल्हाड़ी (परशु) बनकर काट डालो। तभी तुम अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकोगे। भगवान महावीर एतने बड़े राजकुमार थे, कितने कोमल और सुकुमार थे ? किन्तु जब साधना के पथ पर बड़े तो सुकुमारता कहां गायब हो गई ? वे तो नेत्र से भी अधिक कठोर होकर कष्टों को सहने लगे। शालिभद्र कितने सुकुमार थे ? राजा श्रेणिक की गोदी में बैठने पर तो शरीर की गर्मी से उन्हें पसीना आने लगा। किन्तु साधना के पथ पर बड़े हो कितने कठोर तपस्वी बन गये ? इसका अर्थ है साधना में सुकुमारता, सुलभीयता नहीं चल सकती। सुकुमारता राजकुमारों का व अमीरों का गुण है, किन्तु साधक जीवन के लिए यह बहुत बड़ा दुर्गुण है। इसलिए शास्त्रों में स्पष्ट कहा है—

आवावयाहि चप सोमनसं^२

सुकुमारता का त्याग कर जमीर को आवापना से तपाओ !

सहिष्णुता आवश्यक

हिमो विष्णुका ने पूछा क्या—साधक कैसा होना चाहिए ?

उत्तर दिया— मन में ईश्वर, मन में देवता !

१. आश्वलायन गृह्य सूत्र १।१२।३

२. इन्द्रवज्रसूत्र २।१२

तन से दैत्य का अर्थ—विकराल शरीर से नहीं, किन्तु सहिष्णु और कठोर शरीर से है। शरीर से इतना सहिष्णु हो, कि धूप, वर्षा, सर्दी आदि के भयानक कष्टों से भी विचलित न हो, और मन इतना सुन्दर, सुकुमार हो कि देवता तुल्य रहे। इसी भाव को संस्कृत की प्रसिद्ध सूक्ति में यों कहा गया है—

वज्रज्वादपि कठोराणि मृदुनि कुसुमादपि

वज्र से भी कठोर और फूल से भी कोमल—अर्थात् कष्ट सहने में वज्र जैसे और दया करुणा में फूल जैसे।

तो साधक को कष्टसहिष्णु होना चाहिए। और यह सहिष्णुता का अभ्यास कायक्लेश से बढ़ता है। काय क्लेश से तितिक्षा का भाव प्रखर बनता है। शास्त्र में कहा है—तितिविखंपरमं णच्चा^१—

तितिक्षा साधक का परम धर्म है। साधक होकर तितिक्षु नहीं है, सहिष्णु नहीं है, कष्टों में धैर्य नहीं रख सकता तो वह साधना नहीं कर सकता। तप का मूल ही धृति है—तवस्स मूलं धिति^२ धैर्य, साहस और सहिष्णुता यही तप की जड़ है। इसलिए शास्त्रों में स्थान-स्थान पर सहिष्णुता का उपदेश दिया गया है—

सहिओ दुक्खमत्ताए पुट्ठो नो शंझाए^३

दुःख आने पर, दुःखों से घिर जाने पर भी साधक विचलित न हो।

दुक्खेण पुट्ठे ध्रुवमायएज्जा^४

शरीर को दुःखों का स्पर्श होने पर ध्रुवता—ध्रुव के जैसी स्थिरता धारण करें।

ये सब उपदेश, शिक्षाएं और शास्त्र वचन यही बात सिद्ध करते हैं कि साधक को कष्टों के लिए स्वयं को साधना पड़ता है, सोने की भांति कष्टों की

१ सूत्र कृतांग १।८।२६

२ निशीय चूर्णि ८४

३ आचारांग १।३।३

४ सूत्रकृतांग १।७।२६

सुकुमारता का त्याग

कायक्लेश तप का व्यावहारिक जीवन में भी बहुत बड़ा महत्त्व है। मनुष्य को कोई भी महान कार्य सिद्ध करने के लिए कष्ट तो उठाना पड़ता ही है। शुभ कार्य में अनेक विघ्न बाधाएं आती हैं—श्रेयांसि बहुविघ्नानि ! किन्तु उन विघ्नों को नदी पार करने के लिए साहस और सहिष्णुता रूप नाव की आवश्यकता होती है। आत्मबल और मनोबल की जरूरत होती है। सुकुमारता और कोमलता से साधना नहीं हो सकती है—एक आचार्य ने कहा है—

अश्मा भव ! परशुर्भव !^१

जब कष्टों के तूफान मचलने लगे तो तुम अश्मा—अर्थात् पत्थर—बनकर खड़े हो जाओ ! जब भय और आशंका की वेड़ी तुम्हारे पांवों को बांधने लगे तो कुल्हाड़े (परशु) बनकर काट डालो। तभी तुम अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकोगे। भगवान महावीर इतने बड़े राजकुमार थे, कितने कोमल और सुकुमार थे ? किन्तु जब साधना के पथ पर बड़े तो सुकुमारता कहां गायब हो गई ? वे तो मेरु से भी अधिक कठोर होकर कष्टों को सहने लगे। जालिभद्र कितने सुकुमार थे ? राजा श्रेणिक की गोदी में बैठने पर तो शरीर की गर्मी से उन्हें पसीना आने लगा। किन्तु साधना के पथ पर बड़े तो कितने कठोर तपस्वी बन गये ? इसका अर्थ है साधना में सुकुमारता, सुगम-जीवता नहीं चल सकती। सुकुमारता राजकुमारों का व अमीरों का गुण है, किन्तु साधक जीवन के लिए यह बहुत बड़ा दुर्गुण है। इसलिए शास्त्रों में स्पष्ट कहा है—

आपायसाहि चप सोममल्लं^२

सुकुमारता का त्याग कर शरीर को आनामना से नपाओ !

सहिष्णुता आवश्यक

दिली विचारक ने पूछा क्या—साधक कीता होना चाहिये ?

उत्तर दिया— मन में ईश्वर, मन में देवता !

१ आत्मसाधन गुरु गुरु ११२/२०३

२ अमरकविरच २४२

ठाणाइए, उक्कुडुयासणिए, पडिमठ्ठाइ, वीरासणिए

नेसणिज्जे, दंडायए लगंडसाई ।^१

कायक्लेश सात प्रकार का बताया है—कायोत्सर्ग करना, उत्कटुक आसन से ध्यान करना, प्रतिमा धारण करना, वीरासन करना, निषद्या—स्वाध्याय आदि के लिए पालथी मार कर बैठना, दंडायत—होकर खड़े रहना लगड—लकड़ी की भांति खड़े रहकर ध्यान करना ।

उपवाई सूत्र^२ में इन्हीं भेदों को विस्तार के साथ बताकर चौदह भेद कर दिये गये हैं—जो इस प्रकार है—

१ ठाणट्ठिए—कायोत्सर्ग करे ।

२ ठाणाइए—एक स्थान पर स्थित रहे ।

३ उक्कुडु आसणिए—उत्कटुक आसन से रहे ।

४ पडिमट्ठाई—प्रतिमा धारण करें ।

५ वीरासणिए—वीरासन करें ।

६ नेसिज्जे—पालथी लगाकर स्थिर बैठे ।

७ दंडायए—दंडे की भांति सीधा सोया या बैठा रहे ।

८ लगंडसाई—(लगण्डशायी) लकड़ (वक्रकाण्ठ) की तरह सोता रहे ।

९ आयावए—आतापना लेवे

१० अवाजडए—वस्त्र आदि का त्याग करे ।

११ अकंडुयाए—शरीर पर खुजली न करे ।

१२ अणिट्ठिए—थूक भी नहीं थूके

१३ सव्वगायपरिकम्मे—सर्व शरीर की देखभाल (परिकर्म) से रहित रहे,

१४ विभूसाविप्पमुक्के—विभूषा से रहित रहे ।

कायक्लेश तप में सर्वप्रथम कायोत्सर्ग की साधना पर बल दिया है इसे व्युत्सर्ग (वारहवें तप) में भी गिना गया है, वहाँ शरीर, कषाय आदि के व्युत्सर्ग

१ स्यानांग ७। सूत्र ५५४

२ उपवाई समवसरण अधिकार तप वर्णन

अग्नि में स्वयं को तपाना पड़ता है। तभी उसका साधुत्व स्वर्ण की भाँति चमकता है। आप जानते हैं—सोना तपे बिना निखर नहीं सकता, दीपक जले बिना प्रकाश नहीं फैला सकता, चन्दन घिसे बिना सुगंध नहीं फैला सकता। कहते हैं चन्दन के वृक्ष के पास जाकर खड़े हो जाओ तो भी उसकी सुगंध का पता नहीं चलेगा, सुगंध तो तब महकेगी जब वह घिसा जायेगा। मंहुदी का रंग कब खिलेगा, जब वह धारीक पीसी जायेगी। कहा है—

रंग लाती है हिना पत्थर पे घिस जाने के बाद
आवनी पाता है शोहरत ठोकरें छाने के बाद !

पत्थर भगवान की मूर्ति कब बनेगा ? जब हबोड़े और छेनी की चोटें सानेगा। विष पान करने के कारण ही शिव जी 'महादेव' कहलाये। ये व्यावहारिक बातें बताती है कि साधक कष्ट सहे बिना सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता ? एक राजस्थानी कहावत है—

बातां साटे हर मिले तो म्हांने ही कहज्यो।
मायां साटे हर मिले तो छाना-माना रहज्यो !

यदि बातें बनाने से ही भगवान मिल जाये तो हमें भी बुझा लेना, किन्तु यदि माया देना—सिर चढ़ाना पड़े तो बस चुप चाप रहना। किन्तु यह निश्चित है कि भगवान बातां किये से नहीं, माया दिये से ही मिलते हैं। इसीलिए जैन धर्म में कायक्लेश तप पर इतना बल दिया गया है कि—इस तप की साधना से साधक में महिष्णुता की ज्योति जलती है। यह वै प्रथि ममत्वभाव व मासक्ति कम होती है। और धीरता, धीरता, साहम और महिष्णुता की शक्ति प्रबल हो उठती है।

कायक्लेश के भेद

हो तो हो। कायक्लेश तप—हमारे जीवन की मोतों की भाँति विद्याभ्यास है, जगत् की मायता के अनेक रूप, अनेक प्रकार कारकों में बँटाये हैं।

स्थानांत रूप में सात प्रकार का कायक्लेश तप बताया है—

मसविष्टे कायक्लेशे पन्नते तं जहा—

नेती-धौति आदि पट्कर्मों के द्वारा शरीर का शोधन किया जाता है, फिर आसन साधना से शरीर को सुदृढ़ बनाना, मुद्राओं द्वारा स्थिरता का अभ्यास करना, प्रत्याहार द्वारा इन्द्रिय निग्रह करना प्राणायाम द्वारा श्वास प्रक्रिया पर अधिकार कर शरीर को हलका बनाना, इसके पश्चात् ध्यान और समाधि का अभ्यास किया जाता है। जैन योग साधना में इतना लम्बा कम नहीं है। वहाँ पर आसन भी बहुत कम बताये हैं और जो हैं वह सिर्फ साधना के उपयोग में आने वाले।

आसनों के भेद

योग दर्शनकार आचार्य पतंजलि ने आसन की व्याख्या करते हुए कहा है—स्थिरसुखमासनम् जिसमें सुखपूर्वक शरीर की स्थिरता रह सके वह आसन है। यह योग का तीसरा अंग है, तथा हठयोग का दूसरा। वैदिक ग्रन्थों में बताया है विश्व में जितनी जीवयोनियाँ हैं उतने ही प्रकार के आसन हैं।^१ इस दृष्टि से आसनों की संख्या भी ८४ लाख हो जाती है। संक्षेप में वे ८४ हैं। उनमें भी ३२ आसन पुरुष के लिए उपयोगी बताये हैं। ३२ में भी साधना की दृष्टि से दो आसन विशेष उपयोगी है—पद्मासन और सिद्धासन।^२

जैन आचार्यों ने यद्यपि आसन को बहुत अधिक महत्व नहीं दिया है फिर भी ध्यान में स्थिरता एवं एकाग्रता लाने के लिए उसकी उपयोगिता को स्वीकार किया है। वहाँ आसन के दो भेद किये हैं^३—

१ शरीरासन

२ ध्यानासन

शरीरासन वे हैं—जो शरीर को सुदृढ़ व स्थिर बनाने में अधिक लाभ-प्रद हैं। ऐसे आसनों की साधना में कोई महत्व नहीं है। दूसरे प्रकार के आसन हैं—ध्यानासन ! जिन आसनों में ध्यान किया जा सके। ये आसन

१ आसनानि च तावन्ति यावन्ति जीव जातयः—ध्यानविन्दूनिपद् ४१

२ ध्यान और मनोबल पृ० ४३८ (डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री)

३ जैन परम्परा में योग (मुनि नथमल जी)

पर बल दिया गया है। कायोत्सर्ग का विस्तृत वर्णन भी वहीं पर किया जायेगा। सामान्यतः कायोत्सर्ग का अर्थ है—काय—शरीर, उत्सर्ग—त्याग, शरीर का त्याग। शरीर त्याग का अर्थ—शरीर से मुक्त होना नहीं, बल्कि शरीर की ममता से मुक्त होना है। शरीर की ममता ही सबसे बड़ा बन्धन है। कायोत्सर्ग में साधक—रागद्वेष से रहित होकर अन्तर्मुख हो जाता है। आत्मचिन्तन में गहरा डूब जाता है। तब उसे शरीर की सुविधा भी नहीं रहती। शरीर को मच्छर काटते हैं, या कोई चन्दन आदि का जीतल ले कर देता है—किसी भी स्थिति में वह शरीर की चिन्ता से चिन्तित नहीं होता। कायोत्सर्ग प्रायः जिनमुद्रा (—दोनों पैरों के बीच चार अंगुल का अंतर रखकर सीधे नम अवस्था में खड़े रहना—जिन मुद्रा है) में ही किया जाता है। इसका उद्देश्य है—शरीर की ममता, एवं चंचलता को कम कर के स्थिरता पूर्वक आत्मवीन होना। योगदर्शन के अनुसार इसमें आसन और ध्यान दोनों साधनाएं एक साथ चलती हैं।

ठानाइए—का अर्थ है स्थानायत। जिस स्थान पर बैठा है तो बैठा ही रहे, गड़ा है तो गड़ा रहे—अर्थात् जिस अवस्था में साधक है उसी अवस्था में स्थिर रहकर योगों की चंचलता कम करे। इसका एक अर्थ है—व्यायु-आमल (स्वाग्नायत) लक्ष्य (डूठ) की तरह स्थिर पड़ा रहे। दोनों में मूल भाव चंचलता को रोकना ही है।

आसन की साधना

उत्तुष्टुत आसन—यह आसन का एक भेद है। आसनों की साधना भी कायबन्धन रूप में साक्षी नहीं है, क्योंकि यह मय विषयों शरीर की कल्प नहिण्ण बनाती है, उसकी विषयता एवं स्थिता को बढ़ाती है। हृदयों की मात्र भूमिकाओं में शरीर को स्थिरता एवं दृढ़ता प्रदान करने के लिए आसन एवं मुद्राओं का अन्वयण प्रयोग होता है। विविध आसन आदि के द्वारा शरीर को ही बनाया और स्थिर रखनी आदि मुद्राओं के द्वारा उसकी चंचलता को कम कर स्थिरता का अन्वयण करवा यह हृदयों की ही मुद्रा भूमिकाएं हैं। वैदिक ऋषियों में शतमीत पर बहुत अधिक बल दिया गया है। यहां पर

आचार्य हेमचन्द्र ने इसका वर्णन यों किया है —

पुतपाणि-समायोगे प्राहुस्तकटिकासनम् ।^१

जमीन से लगी हुई एड़ियों के साथ जब दोनों नितम्ब मिलते हैं तब उत्कटिकासन होता है ।

४ पद्मासन—बायीं जांघ पर दायां पैर और दायीं जांघ पर बायां पैर रखकर हथेलियों को एक दूसरे पर रखकर नाभि के नीचे रखना ।

५ वीरासन—वीरासन के कई प्रकार मिलते हैं । आचार्य हेमचन्द्र ने दो प्रकार बताये हैं—

बायां पैर दाहिनी जांघ पर और दाहिना पैर बायीं जांघ पर रखकर बैठना वीरासन है । अथवा कोई पुरुष जमीन पर पैर रखकर सिंहासन पर बैठा हो, और पीछे से उसका आसन हटा लिया जाय—तब उस बैठक की जो आकृति बनती है वह—‘वीरासन’ है ।^२

६ दंडासन—दंड की आकृति से जमीन पर इस प्रकार लेटना कि अंगु-लियां, गुल्फ (घुटने) और जांघें जमीन के साथ लगी रहें ।

७ गौवोहिकासन—गाय को दुहने जैसी स्थिति में बैठना । इस आसन से ध्यान करते हुए भगवान महावीर को केवलज्ञान प्राप्त हुआ था ।

८ पर्यकासन—पलंग का आकार बनाकर बैठना ।

इनके अतिरिक्त वज्रासन, (लगंडशायी—केवल सिर और एड़ियों का पृथ्वी पर स्पर्श हो—इस प्रकार पीठ के बल लेटना) भद्रासन आदि का भी उल्लेख कहीं-कहीं मिलता है । इनमें वीरासन आदि कठोर आसनों से मन में धैर्य आदि की जागृति होती है, तथा पद्मासन आदि सुखासन से चित्त की स्थिरता !

जैन योग साधना में किसी भी एक आसन पर अधिक भार नहीं दिया गया है । क्योंकि आसन तो मात्र शरीर को स्थिर करने का एक अभ्यास है, वह ध्येय तो नहीं है । इसलिए मुख्य बात यह है कि जिस आसन में मन

१ योगशास्त्र ४।१३४

२ योगशास्त्र ४।१२६—१२८

ध्यान साधना में उपयोगी होते हैं। शरीर को स्थिर व निश्चेष्ट बनाकर ध्यान में एकाग्रता प्राप्त करने के लिए जैन साधना में इन आसनों का महत्व है। इन आसनों को भी दो भेदों में बांटा गया है—मुद्रासन और कठोर आसन !^१ पद्मासन आदि मुद्रासन है, बीरासन आदि कठोर आसन हैं।

आगमों में जिन आसनों की अधिक चर्चा जाती है, वे आसन इस प्रकार हैं—

१ स्थानस्थिति—(कायोत्सर्ग) दोनों भुजाओं को फैला कर पैर की दोनों एड़ियों को परस्पर मिलाना या उनमें चार अंगुल का अंतर रखकर घड़ा रहना।

आचार्य हेमचन्द्र ने इसे कायोत्सर्गमन कहा है, इसका स्वरूप इस प्रकार बताया है—

प्रलम्बित भुजद्वन्द्वमूर्ध्वस्यस्यासितस्य वा।

स्थानं फायानपेक्षं यत्कायोत्सर्गः स कीर्तितः ॥^२

शरीर के समस्त का त्याग करके दोनों भुजाओं को नीचे खटका कर शरीर और मन को स्थिर करना 'कायोत्सर्गमन' है। यह आसन साढ़े होकर बैठना या कमजोरी की हालत में लेट कर भी किया जा सकता है। इस आसन की मुख्य विशेषता यही है कि मन-वचन एवं कर्म के योग अपिसृष्टि स्थिर हो जाते हैं।

२ स्थान (ठाण) स्थिर होकर प्रांत बैठना। इसमें निद्रामन भी समझा जा सकता है।

३ उत्कृष्टिकासन—दोनों पैर और निम्न भूमि से सगे रहे पंख बैठना।

उत्कृष्टं बैठना—उत्कृष्टिकासन है। पैरों पर सहित में हमकी आसना की है—अङ्गुली को भूमि पर टिका एड़ियों को ऊपर की ओर उठा कर उन पर मुद्रा समुदाय बैठना।

१ स्थानासं मूल स्थानम् ७० ३ मुद्रा २

२ अष्टांगमन ४/१३३

यदि कायक्लेश की विशेष साधना करना चाहे तो साधक मन को इतना मजबूत करलें कि खाज आये तब भी खाज नहीं करें। इसी प्रकार थूके भी नहीं।

परिकर्म और विभूषा

कायक्लेश का तेरहवां भेद है—गात्र परिकर्म का त्याग—परिकर्म का अर्थ है—शरीर की साज सज्जा आदि। परिकर्म और विभूषा में वैसे तो कोई विशेष अन्तर नहीं है, किन्तु फिर भी दो शब्द हैं, और दोनों की भावना में अन्तर भी है। परिकर्म से शरीर की साज सज्जा के ये रूप लिये जाते हैं—जैसे शरीर को पुष्ट बनाने के लिए विरेचन आदि लेना, वमन करना, नख केश आदि काटना, आँखों का मैल निकालना, दतन करना आदि। और विभूषा से स्नान करना, कपड़ों को ज्यादा उजला धोना, रंगना, आँखों में अंजन (काजल) लगाना आदि। ब्रह्मचारी साधक के लिए ये सभी कर्म अहितकारी हैं। जैसा कि पीछे भी बताया गया है—

विभूषा, स्त्री संसर्ग, और प्रणीतरस भोजन—ये तीनों आत्म-गवेपक के लिए तालपुट जहर के समान हैं। विभूषा करने वाला साधक संयम से भ्रष्ट होकर बड़े चिकने कर्म बांधता है—

विभूषा वस्तियं भिक्खु कम्मं बंधइ चिक्कणं^१

संयम से भ्रष्ट होने के अठारह कारणों में स्नान एवं विभूषा को भी दो मुख्य कारण माने हैं, अतः परिकर्म और विभूषा—सामान्य साधु जीवन के लिए भी वर्जनीय है। क्योंकि बताया गया है, साधु शरीर को नहीं, आत्मा को संवारता है, आत्मा का सौन्दर्य निखारने में ही वह जीवन भर जुटा रहता है। वही उसका अपना है। शरीर तो जड़ है, यदि शरीर की सुन्दरता पर ध्यान देना होता तो फिर संसार क्यों छोड़ता। शरीर की शोभा विभूषा करने का अर्थ है—भोगविलास की कामना करना। यह तो साधु के पतन का मार्ग है।

१ दशवैकालिक ६।६६

२ दशवैकालिक ६।८

अधिक स्थिर हो सकता हो, साधक उसी आसन का अधिक उपयोग करें।
आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

जायते येन-येनेह विहितेन स्थिरं मनः ।

तत्तदेव विधातव्यं आसनं ध्यान-साधनम् ।

ध्यान साधना के लिए किसी भी विशेष आसन का आग्रह नहीं है। जिस आसन के प्रयोग से मन स्थिर होता हो, उसी आसन का ध्यान के लिए प्रयोग किया जा सकता है।

तो यह सब आसन कायक्लेश तप हैं, क्योंकि इन आसनों की साधना से शरीर को कष्ट होता है और साथ ही उसकी चंचलता का निरोध भी !

प्रतिमा धारण करना यद्यपि अनशन तप में बताया गया है, किन्तु काय-कष्ट की दृष्टि से इस तप में भी उसे माना जा सकता है। चूँकि प्रतिमा में उपवास आदि के साथ उत्कटिकासन, लगण्डशायी, दंडायत आदि का विधान है अतः कायक्लेश तप में भी उसका समावेश हो सकता है।

कायक्लेश में आतापना और वस्त्र त्याग का भी महत्व बताया गया है। सूर्य की प्रचंड किरणों के सामने शरीर को तपाना—ताप लेना—आतापना है। और शीतऋतु में कड़कड़ाती सर्दियों में वस्त्रों का त्याग करना—अपावृता—(उवाडडए) है। सूत्र में कहा है—

आयावयंति गिम्हेतु हेमंतेतु अवाडडा ।

वासासु पडिसंलीणा संजया सु समाहिआ ॥

शीष्मऋतु में सूर्य के सामने आतापना लेना, शीतऋतु में वस्त्र त्याग कर खुले शरीर से रहना और वर्षा में एक स्थान पर स्थिर रहना—व्रण ममक आदि के परीपहों को सहन करना—यह संयत सुमाहित साधु का आचार है।

शरीर पर छुजली आये तो छुजलाए नहीं—धूके भी नहीं—यह भी कायक्लेश की विज्ञेय साधना है। सामान्यतः यह शारीरिक आवश्यकता है और साधारण दशा में माधक छुजली भी करता है, धूकता भी है। किन्तु



प्रतिसंलीनता तप

जैन आचार्यों ने आत्मा के तीन प्रकार बताये हैं—

तिपघारो सो अप्पा परमंतर वाहिरो दु हेऊणं ।^१

परमात्मा, अन्तरात्मा और वहिरात्मा ।

इन्द्रिय एवं विषयों में आसक्त आत्मा—वहिरात्मा है । उसका केन्द्र बाह्य पदार्थ होते हैं ।

अन्तरंग में आत्म संकल्प—अर्थात् अपने भीतर में ही लीन, अन्तर में स्थित होना अन्तरात्मा है । अन्तरात्मा का केन्द्र—ज्ञान दर्शन रूप आत्म शक्ति है ।

कर्म मल से सर्वथा मुक्त आत्मा—परमात्मा है ।

वहिरात्मा—संसारमुखी रहता है । भोग विलास, आदि विषय तथा क्रोध, मान आदि कषायों में सदा लीन रहने वाला आत्मा असंयमी तथा संसारासक्त कहलाता है । संसारासक्त आत्मा सदा पतन एवं विनाश की ओर ही बढ़ता रहता है । उस संसारोन्मुखी आत्मा को बाहर से मोड़कर अन्तर

परिकर्म व विभूषा वर्जन का यह अर्थनहीं है कि साधु शरीर की शुद्धि भी न रखें। शरीर व वस्त्रों को साफ स्वच्छ तथा शुद्ध रखना एक अलग बात है और उनकी विभूषा करना अलग बात है। शुद्धि व स्वच्छता के लिए तो यहां तक बताया है कि साधु मल, मूत्र, खेल, खंखार व पसीने के गीले हाथ भी खाने पीने की वस्तु को न लगाए। यह तो एक प्रकार की स्वच्छता है। स्वच्छता, सफाई रखने वाला अपने आप बहुत से रोगों से बच जाता है। लोगों में घृणा जुगुप्सा पैदा हो ऐसा वस्त्र, पात्र, शरीर आदि रखना साधु के लिए निषेध हैं। किन्तु साधु का शरीर व वस्त्र पात्र के प्रति इतना ही लक्ष्य रहता है कि वे स्वच्छ रहे, गंदे न रहे, न कि सुन्दर देखे, लोगों को आकर्षक लगे। शरीर को सुन्दर व आकर्षक बनाने की इच्छा ही वास्तव में विभूषा है, मात्र परिकर्म है—और इन दोनों दोषों से बचना काय-क्लेश तप है।

उपसंहार

यह तप साधु को लक्ष्य करके भले ही बताये गये हैं, किन्तु गृहस्थ भी इनकी साधना कर सकता है। आसन आदि के द्वारा ध्यान करना, ग्यारह उपासक प्रतिमा धारण करना, शरीर की, शिष्यों की समता कम करना, स्नान, विलेपन अंगराग आदि की मर्यादा करना जैसा कि श्रावक के चौदह नियमों में भी बताया गया है, यह सब साधना करने पर गृहस्थ भी कायक्लेश तप की आराधना कर सकता है। वास्तव में कायक्लेश तप का उद्देश्य एक ही है—शरीर के प्रति समत्व कम करना, शरीर का मोह छोड़ना—इस उद्देश्य की पूर्ति में जो भी साधन काम में आये वे सभी तप हो सकते हैं।



तो, बाहर से भीतर की ओर मुड़ना ही अन्तर्लीनता है, स्वलीनता है, और संलीनता है ।

जो स्वलीन होगा, वह बाहर से अपने आप को हटा लेगा, भोजन के प्रति, वस्त्र के प्रति, गृह एवं परिवार के प्रति, धन संपत्ति के प्रति उसकी आसक्ति कम हो जायेगी । भोग्य विषयों से वह मन को हटा लेगा, अपने आप में सिमट जायेगा, बाहर से संकुचित हो जायेगा । शास्त्र में बताया है— कुछ द्वीपों में एक पक्षी होता है । उसकी काया बड़ी विशाल व पंख बड़े लम्बे-चौड़े होते हैं । जब कहीं बैठता है तो पंखों को इतना फैला देता है कि लगता है, कोई विशाल वृक्ष टूट कर गिरा है । यदि किसी घर की छत पर बैठ जाये तो पूरे घर पर ही चंदरोवा जैसा तन जाता है । इतने विशाल उसके पंख होते हैं । किंतु जब वह उड़ता है, तो तुरन्त अपने पैरों को ऐसे सिमट लेता है जैसे कपड़ा सिमट लिया हो । जब कहीं कोई उस पर आक्रमण करने आता है, तो वह तेज आंखों से उसे दूर ही से देख लेता है और क्षणों में ही अपने विशाल पंखों को सिमट कर उड़ जाता है या फिर उस पर टूट पड़ता है । विस्तार और संकोच की इस अद्भुत क्षमता वाले पक्षी का नाम है— भारंडपक्षी ! अपने आपको संकोच व संयम करने की कला में निपुण होने के कारण शास्त्र में भारंड पक्षी का कई स्थानों पर उल्लेख आता है, और उसकी कला को आध्यात्मिक जीवन के लिए आदर्श बताते हुए कहा है— भारंडपक्षी व चरेऽप्पमत्तो^१—भारंड पक्षी की तरह साधक सदा अप्रमत्त-सावधान रहे, अपना संकोच करने में दक्ष रहे । इन्द्रियों को बाहर से सिमटा-कर गुप्त रखे ।

इन्द्रियों को, कषायों को, मन वचन आदि योगों को, बाहर से हटाकर भीतर में गुप्त करना—छुपाना इसी का नाम संलीनता है । शास्त्र में इसे 'संयम' भी कहा गया है । गुप्ति भी कहा गया है ।

१ उत्तराध्यायन सूत्र

(ख) भारंड पक्षी व अप्रमत्ता — औपपातिक सूत्र

की ओर उन्मुख करना विषय कपाय की वृत्तियों से हटाकर तप संयम की ओर बढ़ाना आत्मा को अन्तर्मुखी बनाना है। आत्मा की अन्तर्मुखता का यह प्रयत्न ही तप की भाषा में 'प्रतिसंलीनता' कहा जाता है।

स्व-लीनता, संलीनता

प्रतिसंलीनता—बाह्य तप का अन्तिम तथा छठा भेद है। इसका अर्थ है—आत्मा के प्रति लीनता। पर-भाव में लीन आत्मा को स्वभाव में लीन बनाने की प्रक्रिया ही—वास्तव में प्रति संलीनता है। इसलिए संलीनता को स्व-लीनता—अपने आप में लीनता भी कह सकते हैं।

योगीराज आनन्दधन जी एकवार किसी सुरम्य पर्वत कन्दरा में ध्यान कर रहे थे। कुछ भक्त जन उनके दर्शन करने के लिए उस जंगल में पहुँचे। जंगल का वातावरण बड़ा ही मनोहर लग रहा था, सुन्दर रम्य वृक्षावलियाँ चारों तर्फ हरियाली, विविध पक्षियों का मधुर कूजन और एक तर्फ शांत हरी भरी पर्वतमाला ! उससे कल-कल कर झरते—निर्झर ! दूसरी ओर लहरों से अठखेलियाँ करती हुई नदी ! इस मन मोहक वातावरण को देखकर भक्तजन मंत्र मुग्ध से हो गए, कुछ देर वे वही शांत वातावरण का आनन्द लेते रहे। फिर पर्वत की गुफा में पहुँचे, जहाँ योगीराज ध्यान मग्न थे। योगीराज का ध्यान पूरा हुआ। भक्तों ने प्रार्थना की—महाराज ! भीतर अधिकार में कहाँ बैठे हैं ? बाहर चलिए और देखिए कितना सुहावना वातावरण है ?

योगीराज स्मित-हास्य के साथ कुछ गम्भीर होकर बोले—भाई ! बाहर ही देखना या तो यहाँ क्यों आये ?

भक्तजन योगीराज की गम्भीर मुद्रा को एक टक देखने लगे, कुछ समझे नहीं, योगीराज क्या कह रहे हैं। योगीराज ने आगे कहा—बाहर देखते-देखते तो अनन्त जीवन बीत गये ! कुछ कल्याण नहीं हुआ। अब तो बाहर से दृष्टि हटाकर भीतर की ओर देखो, भीतर में बाहर से भी अधिक मोन्दर्य, अधिक शांति और अधिक मन मोहकता भरी पड़ी है ! जरा मुड़कर भीतर देखो तो सही !"

एक मतंग ब्रह्म था, उसमें अनेक मच्छ-कच्छ रहते थे । उस ब्रह्म के पास में ही एक मालुका कच्छ नाम का जंगल था । उसमें अनेक हिसक पशु छुपे रहते थे । एक दिन दो दुष्ट सियार शिकार की टोह में इधर-उधर घूमते हुए उस ब्रह्म के पास पहुंच गये । ब्रह्म के किनारे पर कछुए आजादी से दौड़ रहे थे । सियारों ने उन मांसल कछुओं को देखा तो मुंह में पानी छूट आया । वे धीरे-धीरे ब्रह्म के पास आये, उनके पैरों की आहट पाकर दोनों कछुए वहीं अपने हाथ-पैरों को सिमट कर गुपचुप बैठ गए । पापी सियार वहां आये, देखा तो दोनों कछुए एकदम निर्जीव निश्चेष्ट से पड़े थे । हाथ-पांव सब भीतर में सिमटे हुए, अब पकड़े भी तो कैसे ?

सियार भी तो सचमुच रंगे सियार थे । वे झाड़ियों की ओट में जाकर छुप गये और कछुए के हाथ पांव फेलाने की बाट देखने लगे । थोड़ी देर बाद एक कछुए ने आंखें खोलकर इधर-उधर देखा, कोई दिखाई नहीं दिया तो सोचा—खतरा टल गया है, सियार कहीं चले गये हैं । उसने धीरे से अपना एक पांव बाहर निकाला । तभी ताक लगाए बैठे दोनों सियार उस पर झपट पड़े । सियारों ने उसके पांव को पकड़कर नखों से उसे छील डाला, दांतों से काट डाला, धीरे-धीरे उसके चारों पांव बाहर निकले तो वे उन्हें काट-फाड़ कर खा गए, उसकी गर्दन भी नोच डाली । कछुए को खत्म कर डाला ।

अब वे दूसरे कछुए की तरफ बढ़े, लेकिन वह तो पहले की भांति—चुप-चाप पड़ा रहा, न हिला-डुला, न हाथ पांव बाहर निकाले । दुष्ट सियारों ने उसे भी नोचने की जी-तोड़ कोशिश की, मगर उसने अपने हाथ-पैर छुपाए रखे, इसलिए उसका बाल भी बांका नहीं हुआ । पापी सियार हार खाकर चले गये । फिर खतरा दूर हुआ समझकर उसने आंखें खोलकर चारों तरफ देखा, फिर धीरे से गर्दन बाहर निकाली, और एक साथ चारों पैर फैलाकर तेजगति से दौड़ा, झटपट वह अपने मतंगब्रह्म में आकर छुप गया । स्वजन-मित्रों से अपने साथी की दुर्दशा सुनाई, उसकी मृत्यु पर दो आंसू बहाकर चुप हो, गए । और वह कछुआ आनन्द से अपने घर में जीवन बिताता रहा ।

पहले कछुए की भांति जो साधक इन्द्रियों पर संयम नहीं रख सकत ।

सं-यम—शब्द का भी अर्थ है—सम्यक् प्रकार से नियंत्रण अर्थात् आत्म-निग्रह ! और गुप्ति का भी अर्थ है—इन्द्रिय आदि का गोपन करना—छुपाना, उन्हें अपने वश में रखना । आगमों में जहां साधु का वर्णन आता है, वहां उसके लिए एक शब्द खासतौर से आता है—गुप्तिदिये गुप्तेन्द्रिय ! अर्थात् इन्द्रियों पर संयम रखने वाला ! इन्द्रियों को गुप्त कैसे करता है—इसका उदाहरण देकर बताया है—कुम्भो इव गुप्तिदिया^१—कूर्म-कछुए की भांति इन्द्रियों को गुप्त रखने वाला । भारंड पक्षी की तरह कछुए को भी साधक के लिए आदर्श बताकर उसकी गोपन-कुशलता, शरीर को छुपाने, सिमेटने की कला सीखने का उपदेश किया गया है । कछुआ संयम-साधकों के लिए आदर्श रहा है, जैन, बौद्ध एवं वैदिक तीनों धर्मों में उसके उदाहरण मिलते हैं । गीता में कहा है—

यथा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्वेभ्य स्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।^२

—जैसे कछुआ सब ओर से अपने अंगों को समेट कर शांत-गुप्त होकर बैठता है, वैसे ही साधक सांसारिक विषयों से अपनी इन्द्रियों को सब प्रकार से समेट लेता है, तब उसकी प्रज्ञा-धर्मबुद्धि स्थिर हो जाती है ।

दो कछुए

भगवती सूत्र^३ एवं उववाई सूत्र में भी कहा है—कुम्भो इव गुप्तिदिये सव्यं गाय पडिसंलीणे चिद्धइ—कछुए की तरह समस्त इन्द्रियों एवं अंगोपांग का गोपन करके रहे—यह साधक का इन्द्रिय संयम, काययोग तप है । शातासूत्र^४ में दो कछुओं का दृष्टान्त दिया गया है—गंगा नदी के तट पर

१ ओपपात्तिक सूत्र

(घ) कुम्भोव्व अल्लीप पल्लीण गुत्ते —उत्तराध्ययन

(ग) जहा से कुम्भए गुप्तिदिये —शातासूत्र ४

२ गीता २।५८

३ भगवती २।१।३

४ शातासूत्र ४

शीघ्र साकार न हो जायँ । आज मनुष्य कहता है—वह स्वतंत्र है, किन्तु वास्तव में इन्द्रियों का गुलाम हो रहा है ।

इन्द्रियों की दासता में हा ! जवानी जा रही,

आज इन्सानी दिलों पर हा ! दिवानी छा रही ।

इन्द्रियों की दासता में वह इधर-उधर हाथ पांव मारता है और चारों ओर से संकट, वैचेनी व अतृप्ति का तीव्र अनुभव कर रहा है । पिछले जमाने से आज सुख सुविधाएं अधिक उपलब्ध होते हुए भी मनुष्य आज बहुत अधिक दुखी है, वैचेन है और आकुल-व्याकुल हो रहा है । इन्द्रियों के विषय भोग से तब तक उसे तृप्ति नहीं मिल सकती, जब तक वह संयम और संतोष का पाठ नहीं पढ़ेगा । उस कुछूए की भांति मनुष्य सुख व आजादी की सांस लेने के लिए अपनी इन्द्रियों को खुली छोड़ना चाहता है, किन्तु दुःख व मृत्यु रूप पापी सियार उसे झट अपने शिकंजे में दबाकर चढ़ा जाने को तैयार खड़े हैं । अतः जीवन में यदि शांति, निर्भयता और सुखमय दीर्घ जीवन की कामना है तो इन्द्रियनिग्रह, अर्थात् संयम व प्रतिसंलीनता का अभ्यास करना अत्यन्त आवश्यक है ।

प्रतिसंलीनता के भेद

प्रतिसंलीनता का भावार्थ—स्पष्ट किया गया है, इन्द्रिय, कपाय व योग आदि का संयम-संकोच एवं निग्रह करना प्रतिसंलीनता है । इस दृष्टि से प्रतिसंलीनता को संयम भी कह सकते हैं ।

संयम का सामान्यतः एक ही रूप है—अशुभ से निवृत्ति व शुभ में प्रवृत्ति । आवश्यक सूत्र में संयम के विरोधी असंयम को संग्रह नय की दृष्टि से एक प्रकार का असंयम—एग विहे असंयमे—कहा है । मन की अविरति, सीधी भाषा में मन का मोकलापन—खुली छूट यह असंयम है । असंयम का विरोधी संयम है । आगे चलकर असंयम के व संयम के भी १७-१७ भेद बताये हैं । समवायांग सूत्र में १७ प्रकार का संयम इस प्रकार बताया है—

धीरे-धीरे विषयों की ओर इन्द्रियों को खुली छोड़ देता है—वह अकाल में ही मृत्यु या विनाश को प्राप्त हो जाता है, किन्तु जो दृढ़ संयम, इन्द्रिय निग्रह और विषयों से विमुखता रख सकता है, वह कष्टों से, संकटों से बचकर अपना जीवन सुखपूर्वक बिता सकता है ।

इस कथानक के माध्यम से साधक को इन्द्रिय-निग्रह का उपदेश किया गया है और इन्द्रिय-विषयों में फँस जाने पर कैसी दुर्दशा होती है यह भी समझाया गया है ।

इन्द्रियों की यह दासता

आज का मानव पहले कछुए की भाँति इन्द्रियों की दासता में फँस रहा है । वह सोचता है, संसार में आये हैं, सब सुख सुविधाएँ मिली हैं तो खूब खाओ पियो मोज करो, (Eat Drink And be Merry) धन संपत्ति जो कुछ मिली है, वह खाने-पीने और मोज करने के लिए है । अश्लील गाने और कव्वालियाँ सुनना, चटपटे मसालेदार उत्तेजक पदार्थ खाना, मांस-मदिरा का सेवन करना उन्मुक्त भोग-भोगना—मर्यादाहीनता व निर्लज्जता के साथ स्त्री-पुरुषों का संसर्ग रखना—यह सब आज के भौतिकवादी युग की देन है । आज का मानव इन्द्रियवादी बन गया है । संयम को, इन्द्रिय निग्रह को अप्राकृतिक बताता है, और उन्मुक्त भोग को प्राकृतिक । आज के नीति-शास्त्रकारों का कथन है कि अब वह समय आ रहा है जब मनुष्य पशु से भी अधिक मर्यादाहीन और इन्द्रियभोगी बन जायेगा । तब संसार में प्रेम नाम की कोई वस्तु नहीं रहेगी—प्रेम का अर्थ सिर्फ-भोग ! उन्मुक्त भोग ! क्षणिक आनन्द होगा ! और विवाह का बंधन भी टूट जायेगा, विवाह सिर्फ कुछ पंटों का एक समझौता भर होगा । स्त्री नित-नये पुरुष को चाहेगी और पुरुष नित नयी सुन्दरियों की तोज में भटकता रहेगा—जैसे गली का कुत्ता या जंगल का मस्त बंदर ! दूध और फल-रसों के स्थान पर घराब, हॉस्की ही मुग का पेट होगा, अधनंगी वेशभूषा और पागलों के जैसा व्यवहार—अर्थात् यह आने वाले इन्द्रियवादी युग का हाल होगा । आज मनुष्य जिस तेजी से इन्द्रिय-लोभुग बन रहा है, उसे देखते हुए लगता है विचारकों की ये कल्पनाएँ नहीं

यद्यपि उत्तराध्ययन^१ में प्रतिसंलीनता के स्वरूप में सिर्फ विविक्तशयनासन को ही लिया गया है। वहां पर मुख्य दृष्टि साधक को ध्यान व समाधि के उपयुक्त एकांत स्थान की गवेषणा करने की रही है, ध्यान से संयम की वृद्धि होती है, इस कारण ध्यान व समाधि में साधन रूप विविक्तशयनासन को वहां प्रतिसंलीनता बताकर बाकी भेदों के प्रति सहज उपेक्षा बतादी गई है। किन्तु भगवती सूत्र आदि में विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है, वहां उसके सभी रूपों पर विचार किया गया है।

इन्द्रियों का स्वरूप

सर्वप्रथम इन्द्रिय प्रतिसंलीनता के पांच भेद बताये गये हैं ! इन्द्रिय शरीर की एक अद्भुत शक्ति है। विषयों को ग्रहण करने की यह एक अपूर्व शक्ति है—जिसके अभाव में शरीर सर्वथा निरूपयोगी रहता है, मुख्य बात तो यह है कि संसारी प्राणी का इन्द्रिय के अभाव में शरीर धारण करना सम्भव ही नहीं है।

प्रज्ञापना सूत्र के १५ वें पद में इन्द्रिय के सम्बन्ध में बड़ा ही वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। मुख्य रूप से इन्द्रियां दो प्रकार की हैं—द्रव्य इन्द्रिय और भावइन्द्रिय।

द्रव्य इन्द्रियां पांच हैं—श्रोत्र, नेत्र, घ्राण, जिह्वा, और शरीर ! द्रव्य इन्द्रिय के भी दो भेद हैं—निर्वृत्ति इन्द्रिय एवं उपकरण इन्द्रिय। सभी इन्द्रियों के अलग-अलग आकार होते हैं। इन इन्द्रियों के आभ्यन्तर आकार तो—प्रत्येक प्राणी में प्रायः समान होते हैं, जैसे कान का भीतरी आकार कदंब के फूल के आकार का मांस पिंड सभी जातियों में समान होता है, वैसे ही अन्य इन्द्रियों के भीतरी (आभ्यन्तर) आकार में एक रूपता होती है, किन्तु बाह्य आकार सभी जाति के प्राणियों में भिन्न-भिन्न होते हैं। मनुष्य का कान साधारण रूप में उसके शरीर से बहुत छोटा होता है, जब कि खरगोश के कान का आकार उसके लघु शरीर की दृष्टि से बड़ा होता है। हाथी के

१—५ पृथ्वीकाय आदि पांच कायों का संयम (एकेन्द्रियादि संयम)

६—९—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरीन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा का संयम ।

१० अजीव संयम—वस्त्र पात्र आदि अचितवस्तु का संयम ।

११ प्रेक्षा संयम - शुद्ध स्थान में उठना बैठना -- प्रेक्षा संयम है ।

१२ उपेक्षा संयम—पाप कार्यों का अनुमोदन न करना ।

१३ अपहृत्य संयम—विधि पूर्वक परठना ।

१४ प्रमार्जना संयम—वस्त्र पात्र आदि की ठीक प्रमार्जना करना ।

१५ मन संयम—मन का निग्रह ।

१६ वचन संयम—वचन का निग्रह ।

१७ काय संयम—काया का निग्रह ।

प्रकारान्तर से संयम के १७ अन्य भेद भी बताये गये हैं—जैसे हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचार्य एवं परिग्रह का संयम, पांच इन्द्रियों की अशुभ प्रवृत्ति का संयम । चार कपाय एवं तीन योगों की अशुभ प्रवृत्ति का संयम—यह १७ प्रकार का संयम है । संयम के आखिरी बारह भेद और प्रतिसंलीनता के प्रारम्भ के बारह भेद—एक ही गिने गये हैं—जो १२ भेद संयम के हैं, वे ही बारह भेद प्रतिसंलीनता के हैं—इससे संयम और प्रतिसंलीनता में कितनी एकरूपता है यह स्पष्ट हो जाता है । इसी आधार पर हम प्रतिसंलीनता का अर्थ संयम भी कर सकते हैं । अब आगम में वर्णित प्रतिसंलीनता के भेदों पर गहराई से विचार करना है ।

प्रतिसंलीनता चार प्रकार की है---

पटिसंलीणया चउव्विहा पणत्ता, तंजहा—

इंदियपटिसंलीणया, कप्तायपटिसंलीणया,

जोगपटिसंलीणया, विवित्तसयपासणसेवणया ।^१

इन्द्रिय प्रतिसंलीनता, कपाय-प्रतिसंलीनता, योग-प्रतिसंलीनता तथा विवित्तजन्यनाशन सेवना ।

क्या कोई स्त्री का रूप सामने आ जाये तो आँखों पर पर्दा डालकर या आँखें बन्द कर उससे वचना चाहिए ? या सूरदास की भाँति आँखें फोड़ डालनी चाहिए । आँखें खुली रहेगी तो इन्द्रियों को विषय ग्रहण से कैसे रोका जा सकता है ? फिर इन्द्रिय प्रतिसंलीनता कैसे हो सकती है ?

इन्द्रियों के सम्बन्ध में यहाँ जैन धर्म बहुत ही महत्व पूर्ण तथा विवेक युक्त दृष्टि देता है । जैन धर्म का कहना है - इन्द्रिय का कार्य सिर्फ विषय को ग्रहण करना है । यह तो एक प्रकार का कैमरा है, जैसा दृश्य सामने होगा उसमें प्रतिबिम्ब - फोटू वैसा ही आ जायेगा । उस विषय में राग-द्वेष करना, आसक्त होना या उससे घृणा करना - यह इन्द्रिय का काम नहीं । इन्द्रिय विषय की ग्राहक है--चोर नहीं । विषयों का चोर है मन !

मन पापी मन दुष्ट है, मन विषयों का चोर ।

मन के मत न चालिए पलक-पलक मन ओर ॥

मन ही विषयों को पकड़ता है, अच्छे रूप को देखकर उस पर मोह करता है, बुरे रूप को देखकर घृणा करता है । इन्द्रियों के साथ विषय का भले-बुरे रूप में जो सम्बन्ध बनता है वह मन के कारण बनता है, इसलिए इन्द्रियों को नहीं, किन्तु मन को उन विषयों से रोकना चाहिए । शास्त्र में कहा है—

न सक्का न सोळं सद्दा सोतविसयमागया ।

राग दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खु परिवज्जए ।^१

यह कभी सम्भव नहीं है कि कानों में पड़ने वाले अच्छे या बुरे शब्द सुने ही न जाएं । शब्द तो कानों में अवश्य ही प्रवेश करेंगे । किन्तु उन शब्दों को नहीं, किन्तु शब्दों के प्रति होने वाले राग-द्वेष रूप मनके विकल्प को रोकना चाहिए । इसी प्रकार आँखों के समक्ष आये हुए मनोज्ञ या अमनोज्ञ रूप को नहीं देखा जाय यह सम्भव नहीं है, किन्तु उस रूप के प्रति राग-द्वेष नहीं करना चाहिए । क्योंकि रूप तो चक्षु का विषय है ही—

कान का आकार—सूप जैसा लंबा चौड़ा होता है—इन्द्रियों के आकार की यह भिन्नता निर्वृत्ति इन्द्रिय के कारण होती है !

उपकरण इन्द्रिय का अर्थ है इन्द्रिय की शक्ति । श्रोत्र इन्द्रिय में सुनने की शक्ति, घ्राण इन्द्रिय में सूँघने की शक्ति । इस प्रकार इन्द्रियों की शक्ति उपकरण-इन्द्रिय कहलाती है ।

भाव इन्द्रिय—आत्मशक्ति रूप है, उसके भी दो भेद हैं—कर्मों के क्षयोपशम से इन्द्रियों की प्राप्ति होती है । जिस प्राणी के जितने रूप में जिस कर्म का क्षयोपशम होगा—उसे उतनी ही इन्द्रियों की प्राप्ति होगी । इन्हीं कर्मों के कारण एकेन्द्रियत्व—पंचेन्द्रियत्व आदि की प्राप्ति होती है । अतः कर्मविरण के क्षयोपशम को—लब्धि-भावइन्द्रिय कहा जाता है । उसके पश्चात् इन्द्रिय के उपयोग—व्यापार रूप जो आत्मशक्ति की प्राप्ति होती है—वह उपयोग भाव इन्द्रिय कही जाती है । आँखों आदि से देखने की आत्मिक शक्ति—यही उपयोग इन्द्रिय है ।

श्रोत्र इन्द्रिय से शब्द आदि सुने जाते हैं चक्षु इन्द्रिय से रूप आदि देखे जाते हैं । घ्राण-नाक से गंध आदि का ग्रहण । जिह्वा—जीभ से रस (मधुर-कटु) आदि का अनुभव होता है ! स्पर्श का अर्थ यहाँ शरीर है । शीत—उष्ण आदि स्पर्श का वेदन शरीर से होता है—इस प्रकार पांच इन्द्रियों के द्वारा २३ प्रकार के विभिन्न विषयों का ग्रहण होता है जिन्हें इन्द्रिय के २३ विषय कहे गये हैं ।

इन्द्रिय विषयों में आत्मिक वर्जन

यहाँ प्रश्न होता है—इन्द्रिय का कार्य ही है—विषय का अनुभव करना । सुन्दर असुन्दर आदि कोई भी रूप सामने आयेगा तो आँखें तुरन्त उस रूप को देखेगी । भला बुरा, कोई शब्द आयेगा तो कान जट से उनकी ग्रहण करेगी । सुगन्ध-दुर्गन्ध आदि कोई पदार्थ नास में आयेगा तो नाक तुरन्त उसका अनुभव करेगी । मट्टा मीठा आदि रस जीभ में स्पर्श होगा तो उसका रसास्वादन भी जीभ करेगी, ठंडा-गर्म आदि स्पर्श होगा तो शरीर उसका अनुभव करेगा ही, फिर इन्द्रिय संयम व प्रतिगमनीयता का मतलब क्या हुआ ?

भोगवादी बन जाता है। स्वादिष्ट वस्तुएं खाता है, आलीशान विल्डिगों में डनलप के गद्दों पर पर सोता है, मोटरों में दौड़ता है और कहता है—“बस यह तो सब अनासक्त भाव से परमार्थ के लिए कर रहा हूँ।” सचमुच में अनासक्ति के साथ यह वंचना है, प्रवंचना है। यदि आसक्ति नहीं है तो शरीर को आराम देने वाली वस्तुओं की खोज क्यों करते हो ? उन साधनों का उपयोग क्यों करते हो ? सुख के समस्त साधनों का उपयोग करना और अनासक्ति का ढोंग करना। प्रभु को समर्पण करके परमार्थ के लिए भोगना—यह सब नाटकीय शब्दावली है, जो भोगवादी प्रवृत्ति से पैदा हुई है। इसलिए जैन धर्म में प्रतिसंलीनता के दो अर्थ किये हैं—पहला यह है कि इन्द्रियों को संयत रखना। विषयों की ओर दौड़ाना नहीं।

पहले विषयों का उपयोग करो, फिर अनासक्ति का ढोंग रचो इससे तो अच्छा है, पहले उनका उपयोग करो ही मत ! वस्त्र को पानी में डालकर सुखाने की बात करने से अच्छा है, गीला करो ही मत ! क्योंकि इन्द्रियां इतनी बलवान हैं, इतनी सूक्ष्म रस ग्राहिणी हैं कि एक बार जिस विषय का आनंद ले लेती है, उस विषय से जल्दी से हटती नहीं, विषय सामने से हट गया फिर भी उसकी स्मृति मन से नहीं निकलती। आचार्यों ने कहा है—

इन्द्रिय धुत्ताण अहो, तिल तुस मित्तं पि देसु मा पसरं ।

अहं दिस्सो तो नीओ जत्थ खणो वरिस कोडिसमो !

इन्द्रिय (विषय) रूपी धूर्तों को तिल भर भी प्रश्रय मत दो, क्योंकि तिल भर प्रश्रय पाकर वे मेरे जितनी जगह बना लेते हैं और क्षण भर का अवकाश पाकर क्रोड वर्ष तक पत्ता नहीं छोड़ते। इसलिए प्रारंभ में इनको प्रश्रय दो ही मत !

संग त्यागो !

एक किसान का बालक पहाड़ की तलहटी में भेड़ें चरा रहा था, प्रातः काल का समय था। रात को बहुत वर्ष पड़ी थी, चारों ओर वर्ष जम रही

चक्षुस्स रुवं ग्रहणं वयंति
 तं राग हेउं तु मणुत्तमाहु ।
 तं दोस हेउं अमणुत्तमाहु
 समो य जो तेसु स वीयरारो ।^१

चक्षु रूप का ग्रहण करता है । वह रूप यदि सुन्दर है तो राग का हेतु है और असुन्दर है तो द्वेष का हेतु । जो उस रूप में राग और द्वेष नहीं करके समभाव रखता है—वही वीतराग है । इन्द्रिय प्रतिसंलीनता का यही अर्थ शास्त्रों में बताया है—

सोइंदिय विसयप्पयार निरोहो, वा सोइंदिय विसयपत्तेसु वा अत्थेसु रागदोस विणिग्गहो ।^२

—श्रोत्र इन्द्रिय को विषयों की ओर दौड़ने से रोकना, तथा श्रोत्र गत विषयों में राग-द्वेष नहीं करना—यह है श्रोत्र इन्द्रिय प्रतिसंलीनता !

इन्द्रिय प्रतिसंलीनता : दो रूप

इसमें दो बातें बताई गई हैं—(१) इन्द्रियों को विषयों की ओर दौड़ाना नहीं । विषयों की ओर उन्मुख नहीं होना ।

(२) तथा सहज रूप में जो विषय इन्द्रियों के साथ जुड़ गये हैं उन विषयों में राग-द्वेष रूप विकल्प न करना ।

कुछ विद्वानों का कथन है—जीवन में कुछ भी करो, खाओ, पीओ, रस आदि का उपभोग करो, सुखपूर्वक जीवन जीओ—बस, उनमें आसक्त मत बनो—गीता में कहा है—असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरवः^३—अनासक्त भाव से कर्म करने वाला परमपद को प्राप्त हो जाता है, अतः बग जीवन में समस्त कर्मों का एक ही शास्त्र है—“कर्म करो, किन्तु आसक्त मत बनो !”

आजकल इस दृष्टि का गलत उपयोग होता है, व्यक्ति सुखवादी या

१ उत्तराध्ययन सूत्र ३२।२२

२ भगवती सूत्र २५।७

३ गीता ३।१६

भोगवादी बन जाता है। स्वादिष्ट वस्तुएं खाता है, आलीशान बिल्डिंगों में डनलप के गद्दों पर पर सोता है, मोटरों में दौड़ता है और कहता है—“बस यह तो सब अनासक्त भाव से परमार्थ के लिए कर रहा हूँ।” सचमुच में अनासक्ति के साथ यह वंचना है, प्रवंचना है। यदि आसक्ति नहीं है तो शरीर को आराम देने वाली वस्तुओं की खोज क्यों करते हो ? उन साधनों का उपयोग क्यों करते हो ? सुख के समस्त साधनों का उपयोग करना और अनासक्ति का ढोंग करना। प्रभु को समर्पण करके परमार्थ के लिए भोगना—यह सब नाटकीय शब्दावली है, जो भोगवादी प्रवृत्ति से पैदा हुई है। इसलिए जैन धर्म में प्रतिसंलीनता के दो अर्थ किये हैं—पहला यह है कि इन्द्रियों को संयत रखना। विषयों की ओर दौड़ाना नहीं।

पहले विषयों का उपयोग करो, फिर अनासक्ति का ढोंग रचो इससे तो अच्छा है, पहले उनका उपयोग करो ही मत ! वस्त्र को पानी में डालकर सुखाने की बात करने से अच्छा है, गीला करो ही मत ! क्योंकि इन्द्रियां इतनी बलवान हैं, इतनी सूक्ष्म रस ग्राहिणी हैं कि एक बार जिस विषय का आनंद ले लेती है, उस विषय से जल्दी से हटती नहीं, विषय सामने से हट गया फिर भी उसकी स्मृति मन से नहीं निकलती। आचार्यों ने कहा है—

इंदिय धुत्ताण अहो, तिल तुस मित्तं पि देसु मा पसरं ।

अह दिन्नो तो नीओ जत्थ खणो चरिस कोडिसमो !^१

इन्द्रिय (विषय) रूपी धूर्तों को तिल भर भी प्रश्रय मत दो, क्योंकि तिल भर प्रश्रय पाकर वे मेरे जितनी जगह बना लेते हैं और क्षण भर का अवकाश पाकर झोड वर्ष तक पल्ला नहीं छोड़ते। इसलिए प्रारंभ में इनको प्रश्रय दो ही मत !

संग त्यागो !

एक किसान का बालक पहाड़ की तलहटी में भेड़ें चरा रहा था, प्रातः काल का समय था। रात को बहुत वर्ष पड़ी थी, चारों ओर वर्ष जम रही

चखुस्स रुवं गहणं वयंति

तं राग हेउं तु मणुसमाहु ।

तं दोस हेउं अमणुसमाहु

समो य जो तेसु स वीयरारो ।^१

चक्षु रूप का ग्रहण करता है । वह रूप यदि सुन्दर है तो राग का हेतु है और असुन्दर है तो द्वेष का हेतु । जो उस रूप में राग और द्वेष नहीं करके समभाव रखता है—वही वीतराग है । इन्द्रिय प्रतिसंलीनता का यही अर्थ शास्त्रों में बताया है—

सोइंदिय विसयप्पयार निरोहो, वा सोइंदिय विसयपत्तेसु वा अत्तेसु रागदोस विणिग्गहो ।^२

—श्रोत्र इन्द्रिय को विषयों की ओर दौड़ने से रोकना, तथा श्रोत्र गत विषयों में राग-द्वेष नहीं करना—यह है श्रोत्र इन्द्रिय प्रतिसंलीनता !

इन्द्रिय प्रतिसंलीनता : दो रूप

इसमें दो बातें बताई गई हैं—(१) इन्द्रियों को विषयों की ओर दौड़ाना नहीं । विषयों की ओर उन्मुख नहीं होना ।

(२) तथा सहज रूप में जो विषय इन्द्रियों के साथ जुड़ गये हैं उन विषयों में राग-द्वेष रूप विकल्प न करना ।

कुछ विद्वानों का कथन है—जीवन में कुछ भी करो, खाओ, पीओ, रस आदि का उपभोग करो, सुखपूर्वक जीवन जीओ—बस, उनमें आसक्त मत बनो—गीता में कहा है—असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरयः^३—अनासक्त भाव से कर्म करने वाला परमपद को प्राप्त हो जाता है, अतः बस जीवन में समस्त कर्मों का एक ही शास्त्र है—“कर्म करो, किन्तु आसक्त मत बनो !”

आजकल इस दृष्टि का गलत उपयोग होता है, व्यक्ति सुखवादी या

१ उत्तराध्ययन सूत्र ३२।२२

२ भगवती सूत्र २५।७

३ गीता ३।१८

इसलिए इन्द्रिय प्रतिसंलीनता की पहली साधना है—इन्द्रियों को विषयों की ओर जाने से रोके । उन इन्द्रियों को अन्य विषयों में जोड़े । जैसे आँखों को शास्त्र पढ़ने में, कानों को शिक्षा, तत्त्व ज्ञान के उपदेश सुनने में, जीभ को सद्गुणों का कीर्तन करने में, प्रभु भजन गाने में । आधुनिक मनोविज्ञान का भी यह सिद्धान्त है कि मन को रोका नहीं जा सकता, किन्तु उसकी गति बदली जा सकती है । अशुभ से शुभ की ओर विषयांतर किया जा सकता है । फ्रायड जैसे काम-विज्ञानवेत्ताओं का भी यह अनुभव है कि मन को, काम शक्ति को ऊर्ध्व मुखी बनाकर उसका अच्छा उपयोग भी किया जा सकता है । विषयों की भूख, सेवा, स्वाध्याय, लेखन आदि कार्यों से दूसरी ओर मुड़ जाती है और उसका प्रवाह ऊर्ध्वमुखी, जीवन विकासकारी बन जाता है । साधना की प्रथम भूमिका पर यही क्रम अपनाया जा सकता है ।

विषय—प्रति संलीनता को प्रथम साधना होने के बाद दूसरी साधना है—इन्द्रियों के समक्ष आये हुए प्रस्तुत विषयों में राग-द्वेष का संकल्प नहीं करना । यह साधना अभ्यास जन्य है, कुछ कठिन है । इसमें मन को विवेक एवं वैराग्य से स्थिर रखना पड़ता है । जैसे गीत आदि मधुर शब्द कानों में आ रहे हों तो साधक सोचता है—

सर्वं विलंबियं गीयं—ये सब गीत विलाप मात्र हैं, सर्वं नट्टविडम्बना—
ये सब नाटक, सिनेमा केवल विडम्बना मात्र है । इसीप्रकार विषयों के दुष्परिणामों की भी विचारणा की जाती है—सब्वे फामा दुहावहा—सभी विषय, काम दुःखदायी हैं !

वीतरागता के तीन सोपान

विषयों में मध्यस्थता रखने के तीन साधन है—इन्हें वीतरागता के तीन सोपान भी कह सकते हैं—

१ विषयों की क्षणभंगुरता का ज्ञान

२ विषयों के दुष्परिणामों का चिंतन

३ आत्म-स्वरूप में रमण की वृत्ति

संसार के समस्त विषय—भोग्य पदार्थ क्षणभंगुर हैं, अभी जो सुन्दरी

थी। उस ठंडक में एक सांप भी ठिठुर कर वेसुध पड़ा था। किसान के बच्चे ने सांप को देखा, कुतूहल वश पास में आया। सांप तो बिल्कुल सिकुड़ा हुआ पड़ा था, उसने लकड़ी से हिलाया फिर भी सांप हिला डुला नहीं। बच्चे ने सोचा—सांप मरा हुआ है। चलो इसे घर ले चलें, बच्चों को डरायेगें, खेलेंगे उसने सांप को उठाकर अपनी थैली में डाल लिया।

वह सांप वास्तव में मरा नहीं था, ठंडक के मारे सिकुड़ गया था, भूच्छित हो गया था। बालक घूमता-घूमता वहां पहुंचा जहां दस-पांच अन्य बरबादे भी बैठे आग ताप रहे थे।

बालक ने थैली गोदी में रख ली और आग तापने लगा। भीतर में सांप ठंड से ठिठुरा हुआ था, कुछ आग की गर्मी पहुंची, कुछ बालक के शरीर की गर्मी, वह पुनः होश में आया, चैतन्य हुआ और थैली में हिलने लगा। बालक ने देखा, थैली में हिल क्या रहा है? उसने खोलकर जैसे ही देखा, सांप ने उछल कर डंक मारा! बस विचारा बालक वहीं ढेर हो गया।

तो यह मन भूच्छित हुआ सांप है। जब तक विषय विकार की गर्मी नहीं पहुंचती वह मरा हुआ सा शांत प्रतीत होता है, किन्तु जैसे ही विषयों की संगति होती है विषयों के आनन्द को रसानुभूति होती है, बस विकारों का सांप फुंकारने लग जाता है। रसानुभूति करके फिर अनासक्त रहना—बहुत कठिन है, साधारण साधकों के वश की बात नहीं, इसलिए पहली बात यह है कि उस रसानुभूति से मन को दूर ही रखना चाहिए। गीता में कहा है—

बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ।

इन्द्रियों का समूह इतना बलवान् है, कि विद्वान् को भी, विचारशील पुरुष को भी चंचल बना देता है। विषयों की हलकी सी स्मृति भी मन में आसक्ति (संग) पैदा कर देती है, आसक्ति से काम, क्रोध, गम्माह, स्मृति सांग और अंत में सर्वनाश के कगार पर अहम्मा पहुँच जाता है।

१ गीता २।६० ६३

(स) मरणासन्न दशा में भी विषयों की स्मृति, सुख व स्वयंभवात्माना मनुष्य को कैसे चंचल कर देती है इसके लिए देखें—मुमुक्षुभक्तिका सारथी की कथा— निजीय भाष्य - भा० २३५२

नारकीय यातना ! घोर कष्ट ! वेदना ! वस यही है विषय भोग का फल !

ये भोग क्षण भर सुख देने वाले हैं, और फिर दीर्घकाल तक कष्टों की कुंभी में पचाने वाले । ये अनर्थ की खान है—

खणमेत्त सुक्खा बहुकाल दुक्खा

खाणी अणत्थाण उ काम भोगा ।^१

ये काम भोग—ताल पुट जहर के समान हैं—

काम भोगा विसं तालउडं जहा ।^२

इस प्रकार विषयों की असारता एवं उनके कटु परिणामों का चिन्तन करने से विषयों के प्रति राग-द्वेष नहीं आता, तथा मध्यस्थ भाव रखा जा सकता है । इन्द्रियों की आसक्ति से प्राणी किस प्रकार कष्ट पाता है, इसके उदाहरण रोजमर्रा के जीवन में हमारे सामने आते ही हैं । हम देखते हैं—दीपक की लौ पर मुग्ध हुए पंतलों किस प्रकार आ-आकर प्राण लुटा देते हैं ! परवाने जलकर खाक हो जाते हैं—यह रूप की आसक्ति का परिणाम है । वैसे ही स्वरों की मधुरता, वीणा नाद की आसक्ति में फंसा हरिण शिकारी के रूप में अपने पीछे छोड़ती मीत को कहाँ देख पाता है ? इसीलिए कहा है—

सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं

अफालियं पावइ से विणासं ।

रागाउरे हरिणमिगे व मुढे

सद्दे अत्ति समुवेई मच्चु ।^३

शब्दों के विषय में अत्यंत मूर्च्छित होने वाला प्राणी अकाल में अपने प्राणों से हाथ धो बैठता है । जैसे मृग-भोलाभाला हरिण, शब्दों में गृद्ध होकर अतृप्ति के साथ मृत्यु के मुँह में चला जाता है !

इसी प्रकार रस के वश हुआ मत्स्य—मछली, कांटे में लगे मांस को खाने छोड़ती है और वही कांटा उसके गले की कटार बन जाती है । गंध लोलुप

१ उत्तराध्ययन १४।१३

२ उत्तराध्ययन १६।३

३ उत्तराध्ययन ३२।३७

हजारों लाखों तरुणों का मन मोह रही है, कामी पुरुष जिसपर अपना सर्वस्व निछावर कर रहे हैं—वही सुन्दरी जवानी ढलने के बाद, लोगों की घृणा पात्र हो जावेगी। कोई उसकी तर्फ देखेगा भी नहीं। नगर सुन्दरी वासवदत्ता, जिस पर किसी समय अंग मगध के राजकुमार निछावर हो रहे थे, बड़े-बड़े सामंत जिसकी एक कृपा कटाक्ष के लिए तरसते थे, वही जब कुष्ठ रोग से पीड़ित हुई तो नगर के बाहर उकरड़ी पर कूड़े की तरह फेंक दी गई और लाखों मक्खियाँ और कीड़े उस पर भिनभिनाने लगे ! यह है शरीर की सुन्दरता का अन्तिम परिणाम ! इसी प्रकार जो मधुर स्वादिष्ट भोजन किया जाता है, जिसके रसास्वादन के लिए मनुष्य अपने प्राण भी दे देता है, पेट में जाकर उसका क्या परिणाम होता है ? मल-मूत्र के रूप में कैसी दुर्गन्ध मय उसकी परिणति होती है ? तीर्थङ्कर मल्लिनाथ ने गृहस्थ जीवन में अपने रूप पर आसक्त छहों राजाओं को जब एक मोहन गृह में बिठाया और उस कुंभी का द्यकन खोला-जिसमें रोज एक-एक ग्रास भोजन डालती थी। तो उसकी दुर्गन्ध से राजाओं का दम घुटने लग गया। मल्लिनाथ ने समझाया—“यह तो वही सुगन्धित भोजन है, जो मैं प्रति दिन करती थी। किन्तु पेट में जाने के बाद वह कितना घिनौना और दुर्गन्ध मय बन जाता है कि उसकी दुर्गन्ध से ही सिर फटने लग जाता है।”

इस प्रकार भोग्य वस्तुओं की क्षणभंगुरता का विचार करने से मन उनसे विरक्त हो जाता है। वे विषय सामने आने पर भी साधक का मन विलम्बित चंचल नहीं होता !

दूसरा साधन है—भोगों के दुष्परिणामों का चिन्तन ! संसार के भोग-किम्पाक फल के समान है, खाने में मधुर ! परिणाम में प्राणघातक !

जहाँ किम्पाक फलाणं परिणामो न सुन्दरी ।”

जैसे किपाक फल खाने में मोठा लगता है किन्तु उसका फल होता है—मृत्यु। उसी प्रकार विषयों, भोगों का परिणाम सदा अहितकर होता है।

पांच भेद

इस तरह इन्द्रिय प्रतिसंलीनता के यह पांच भेद बताये गये हैं—

१ श्रोत्र इन्द्रिय के विषयों के प्रति मन को जाने से रोके, तथा विषय समक्ष आने पर उनमें राग-द्वेष न करें ।

२ इसीप्रकार चक्षु इन्द्रिय को भी विषयासक्ति एवं राग—द्वेष से रोकें ।

३ घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय एवं स्पर्शनइन्द्रियों के विषयों के प्रति भी मन का निरोध करें एवं इन्द्रियों सम्बन्धी विषय सामने अपने पर उनमें राग-द्वेष न करें ।

इसका सार यही है कि इन्द्रियों के जो विषय हैं, वे संसार में सदा से रहे हैं, रहेंगे, कोई उन विषयों को मिटाना चाहे तो यह विल्कुल असंभव बात है। वे विषय समाप्त भी नहीं हो सकते, और इन्द्रियों के समक्ष आये बिना भी नहीं रह सकते—इसलिए साधक यही कर सकता है कि स्वयं विषयों की ओर दौड़े नहीं, और प्राप्त विषयों में आसक्त होकर राग-द्वेष न करें। जैसे स्वयं की प्रशंसा सुनने, कोई मधुर संगीत सुनने के लिए वह उत्सुक न हों, और यदि ऐसे शब्द कहीं से कानों में आते हों तो उनमें राग द्वेष न करें। मधुर रस का भोजन प्राप्त करने की स्वयं लालसा न करे, यदि सहज भाव में सरस भोजन मिल गया हो तो उसे राग-द्वेष रहित होकर उपयोग में ले लें। यही इन्द्रिय—प्रति संलीनता है ।

कषाय प्रतिसंलीनता

कषाय की परिभाषा और स्वरूप

प्रतिसंलीनता के चार भेदों में प्रथम इन्द्रिय प्रतिसंलीनता का वर्णन करके फिर कषाय-प्रतिसंलीनता का विवेचन किया गया है। कषाय—शब्द जैन परिभाषा का शब्द है—इसका अर्थ है—अन्तर की कलुषित वृत्तियाँ। जैन आचार्यों ने कहा है—

कलुसंति जं च जीवं तेण कषायं ति वुच्चंति^१

भ्रमर की कहानी भी संसार जानता है। जो फूलों की मधुर सौरभ के पीछे पागल होकर अन्य कुछ भी विचार नहीं करता, फूलों की कलियों में जाकर छुप जाता है, और संध्या समय कली मुझाकर वन्द हो जाती है, भोला भंवरा भीतर ही कैद हो जाता है, कोई उस फूल को तोड़ डालता है, भोला कुचला जाता है, वींधा जाता है मर जाता है। स्पर्श विषयासक्त हाथी का भी यही हाल होता है - वह हथिनी के स्पर्श हेतु उसके पीछे-पीछे दौड़ता है, बीच में कहीं खाड़ में (जो उसे पकड़ने के लिए ही बनाई जाती है) गिर पड़ता है, भूख प्यास से व्याकुल हुआ वह निर्बल-क्षीण हो जाता है और मस्त हस्ती सांकलों से बांध लिया जाता है। कवि ने कहा है—

कुरंग मातंग पतंग भृंग-मीना हुता पंचभिरेव पंच ।

एक प्रमादी स कयं न हन्याद् यः सेवते पंचभिरेव पंच ।

मृग, हाथी, पतंगा, भ्रमर और मछली ये विचारे सभी—अपनी-एक-एक इन्द्रिय के कारण कष्ट पाते हैं। एक ही इन्द्रिय की आसक्ति उन्हें जीवन भर कष्टदायिनी सिद्ध होती है तो जो पांचों इन्द्रियों के विषय में आसक्त हो जाता है उसका क्या हाल होगा ? वह कितने कष्ट पायेगा ? कितनी वेदनाएँ झेलेगा ? इसका कोई अता-पता भी नहीं !

तो इस तरह भोगों के दुष्परिणामों का चिन्तन कर उनके प्रति मन की लालसा, मन का आकर्षण कम करें। भोगों से मन को हटाये ! यह भोग विरक्ति की दूसरी साधना है।

वीतराग भाव की प्राप्ति की तीसरी साधना है—आत्म-स्वरूप रमण।

साधक परभाव से पराङ्मुख रहकर सदा निज स्वरूप में ही रमण करता रहता है, आत्मा के सिवाय उसका अन्य कोई केन्द्र ही नहीं रहता अतः अन्य कितनी विषय में उसे कोई आकर्षण भी नहीं रहता अप्पा अप्पम्मिरओ—आत्मा आत्मा में ही रमती रहती है, जड़ वस्तु 'पर' होती है, इसलिए वह 'पर' में कोई आनन्द व रस का अनुभव करे भी कैसे ? इस दशा में वैराग्य, विषय-विमुक्तता सहज में आती है, हाँ इसकी भूमिका में उक्त दोनों कारण बलपूर्वक रहते हैं, किन्तु तीसरी दशा प्राप्त होने के बाद पूर्व वस्तुओं का चिन्तन कर वैराग्य जगाने की जरूरत नहीं रहती। यह सहज वैराग्य होता है।

को रागात्मक माना है, क्रोध एवं अहंकार को द्वेषात्मक !^१ इस प्रकार राग और द्वेष मिलकर सम्पूर्ण कपाय कहलाते हैं। तो यह कपाय ही कर्म रूप वृक्ष की जड़ है, बीज है। कपाय ही जन्म मरण की जड़ को सींचता है—सिंचति मूलाई^२ पुणःभवस्स ।^३ कपाय जीवन में सद्गुणरूपी, विवेकरूपी लता को जला डालने वाली अग्नि है—कसाया अग्निणो घुत्ता^३ मनुष्य को उन्मत्त बनाने वाली मदिरा है, मादकता है, प्राचीन आचार्यों की भाषा में—पिशाचा इव रागाद्याश्छलयन्ति मुहुर्मुहुः^४—पिशाच की तरह, भूत-प्रेत की तरह ये कपाय प्राणी को बार-बार छलते रहते हैं, भ्रम में डालते हैं, विवेक भ्रष्ट बनाते हैं। जैन धर्म के महान तत्त्वज्ञानी भाष्यकार आचार्य जिनभद्र गणी ने तो कपायों के कटु परिणाम बताते हुए यहां तक कह दिया है—

जं अज्जियं चरित्तं देसुण्णए वि पुव्व कोडीए ।

तं पि कसायमेत्तो नासेइ नरो मुहुत्तेणं ।^५

देशोनकोटि पूर्व तक कठोर साधना के द्वारा जो शुद्ध चारित्र्य पाला है, उसका महान फल अन्तर्मुहूर्त भर के कपाय से नष्ट हो जाता है। जैसे हजार मन दूध को खटाई की एक बूँद फाड़ डालती है, लाखों मन भोजन को जहर का एक कण भी विपाक्त बना डालता है, वैसे ही जीवन के अनन्त-अनन्त सद्गुणों को कपाय-नष्ट भ्रष्ट कर डालता है।

कपाय एक प्रकार का तीव्र विष है, इसके संस्पर्श से, हलके से आसेवन से भी आत्मा पतित हो जाता है, अन्तर वृत्तियां कलुषित हो जाती हैं, इसलिए शास्त्र में बताया है कि आत्म गुणों का विकास चाहने वाले साधक को सर्व-प्रथम कपाय को नष्ट करना चाहिए। कपाय को जीतने वाला सब को जीत लेता है—

१ प्रज्ञापना पद २३।१— दोसे दुविहे—कोहे य माणे य ।

रागे दुविहे—माया य लोभे य ।

२ दशवैकालिक ८।४०

३ उत्तराध्ययन २३।५३

४ योग शास्त्र

५ निशीथभाष्य २७६३

जो आत्मा को कलुपित-मलिन करता है, वह मानसिकभाव और वृत्ति कपाय कहलाती है।

अन्तर वृत्तियाँ जब मलिन होती हैं, तो जीव कर्म करता है। कर्म से जीव दुखी होता है, और फिर संसार में परिभ्रमण करता है—इसलिए जीव के दुःखों का एवं संसार भ्रमण का निमित्त होने के कारण कपाय की इस आशय की अन्य व्युत्पत्तियाँ भी की गई हैं। दिगम्बर आचार्य वीरसेन ने बताया है—

दुःख शस्यं कर्मक्षेत्रं कृषन्ति फलवत्कुर्वन्ति इति कपायाः^१

जो दुःख रूप धान्य को पैदा करने वाले कर्मरूपी खेत को कर्षण करते हैं, उन्हें फलवान बनाते हैं—वे क्रोध, मान माया आदि भाव कपाय कहलाते हैं। आचार्य भद्रबाहु ने कहा है—

संसारस्स उ मूलं कम्मं तस्स वि हुंति य कप्पाया।^२

संसार का मूल कर्म है, और कर्म का मूल है कपाय। भगवान् महावीर ने अपने अन्तिम प्रवचन में मुनियों को संबोधन करके स्पष्ट कहा था, 'मनुष्य दुखों से घबराता है। पर यह नहीं सोचता कि इन दुखों का मूल क्या है? इस दुःख रोग की जड़ कहाँ है? दुःखों का कारण है—जन्म-मरण। जन्म-मरण क्यों होता है? कर्म के कारण! यदि कर्म मुक्त हो गए, तो फिर जन्म-मरण नहीं होगा? बीज जल गया तो वृक्ष हरा-भरा नहीं हो सकेगा। जन्म-मरण का, मृत्यु चक्र का मूल कारण है कर्म—कम्म च जाई मरणस्स मूलं^३ तो सब दोष कर्म पर आगया, अब यह देखिए कि यह कर्म जो सब रोगों की जड़ है, जन्म-मृत्यु का चक्र चलाता है, वह कर्म कहाँ से पैदा होता है! कर्म तो घुद चोर है, इस चोर को जन्म देने वाली माँ कौन है? जरा गहरा विचार करने लो तुरन्त आपके ध्यान में आवेगा—रागो य दोसो धि य कम्म बीयं—इस कर्म का बीज है राग और द्वेष! कपाय! चार कपायों में माया और लोभ

१. देखिए धवला टीका, (श्रमण सूत्र पृ. २५०)

२. आचार्यसं निर्मुक्ति १८६

३. उत्तराध्यायन ३२।७

हुई रहती हैं जैसे मदिरा का नशा चढ़ा हो। दुर्वासा ऋषि की भांति जब देखो तभी क्रोध में लाल !

२. कुछ मनुष्य राख से ढँकी अग्नि की भांति ऊपर से शांत दीखते हैं, किन्तु जैसे ही कटुवचन, अपमान आदि की हवा का एक झोंका लगा कि शांति की राख उड़ जाती है और उनका जाज्वल्यमान रूप सामने आ जाता है। ऊपर से शांत, शीतल दीखते हैं, किन्तु क्रोध का प्रसंग आते ही अपने को रोक नहीं सकते, बस, दूध की भांति ऊफन जाते हैं, सोड़ावाटर की बोतल की तरह ऊफान खा जाते हैं। पं० बनारसीदास जी, जो आगरा के निवासी थे, और जैन धर्म के बहुत गहरे विद्वान थे उनके जीवन का एक संस्मरण है। एकवार एक महात्माजी उनके गांव में आये। लोगों ने बनारसीदास जी के पास महात्मा जी की बहुत प्रशंसा की, कहा—बड़े ही शांतस्वभावी है। बनारसीदास जी उनके के पास गये। उनका नाम पूछा, महाराज ! आपका शुभ नाम क्या है ?

महात्मा जी ने गंभीरता के साथ कहा —“इस आत्मा का तो कुछ भी नाम रूप नहीं, यह तो नामातीत है, देह को लोग शीतलदास कहते हैं।”

कुछ देर बातचीत करने के बाद बनारसीदास जी ने कहा—महाराज ! आपने नाम तो बताया था, लेकिन मैं भूल गया एक बार फिर कृपा कीजिए।

इस बार महात्माजी थोड़े तेज हो गए और बोले—बताया था न, शीतल दास !

हां ! हां ! महाराज ! याद आगया ! बनारसीदास जी बोले। बातचीत करके उठने लगे तो फिर नाम पूछ बैठे। इस बार महात्मा जी की आंखें लाल हो गईं, बोले—“दिमाग में क्या गोबर भरा है ? दो बार बता दिया फिर भी याद नहीं रहा ! सुनले मेरा नाम है शीतलदास !”

क्षमा मांगकर बनारसीदास जी जीना से नीचे उतरे, कुछ देर इधर उधर टहलकर फिर महात्मा जी के पास आये। बोले—“महाराज ! मैं तो फिर नाम भूल गया, एकवार फिर बता दीजिए।”

जे एगं नामे से बहुं नामे^१

जो एक कपाय रूप शत्रु को अपने समक्ष झुका लेता है, वह बहुत से आत्मशत्रुओं को झुका लेता है, उन्हें जीत लेता है। इसलिए साधक कपायों के निरोध का सतत प्रयत्न करता रहे, कपायों से आत्मा को बचाता रहे—यही सच्ची कपाय प्रतिसंलीनता है।

अन्तरंग दोष

कपाय के चार भेद बताये हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ।^२ ये चारों प्राणी के हृदय में उत्पन्न होते हैं। इनका निवास कहीं बाहर नहीं, भीतर ही है। साधारण भाषा में हम कहते हैं—क्रोध आ गया, लोभ आ गया! पर वास्तव में आया कहाँ? कौन से रास्ते से, किधर से आया? यह तो भीतर ही बैठा था, यह दानव मन के भीतर छुपा था, थोड़ा सा प्रसंग मिला कि बस हुंकारने लग गया—जैसे पानी में गंदगी नीचे दबी रहती है, पत्थर फेंका कि उठकर ऊपर आ गई। इसी प्रकार क्रोध भी मन में छिपा रहता है, कोई भी प्रसंग पाकर जागृत हो उठता है।

इसलिए शास्त्र में इन्हें आध्यात्म दोष^३ कहा है। अर्थात् आत्मा में पैदा होने वाले ये चार अन्तरंग दोष हैं। इनमें क्रोध सबसे पहला है—

तीन धोणी : क्रुद्ध, शांत, प्रशांत

क्रोध—अन्तरंग की उष्मा है, गर्मी है। वैसे यह गर्मी हर एक मनुष्य में थोड़ी-बहुत माया में रहती ही है, किन्तु फिर भी कुछ लोग बहुत क्रोधी होते हैं, कुछ शांत! तीन तरह के मनुष्य बताये गये हैं—

क्रुद्ध, शांत और प्रशांत!

१. कुछ मनुष्य अंगारों की भांति हमेशा क्रोध से जलते रहते हैं, किसी भी समय देखलो, कुछ भी बात कर लो बस, क्रोध में आगें लग

१ आचारंग ३।४

२ स्वार्थांग ४।२ तथा दशवैकान्तिक ८।४०

३ क्रोहं च माणं च तेह्य मानं लोहं चउत्थं च अज्जस्यदीप्ता ।

स्वामीजी—‘ठीक कह रहा हूँ ! मैं इस संसार में मनुष्यों को बन्धन में डालने के लिए नहीं, किन्तु मुक्त कराने के लिए आया हूँ ।’

तो यह तीसरी श्रेष्ठ श्रेणी है। क्रोध के हजारों प्रसंग आने पर भी वे शांत प्रशांत रहते हैं।

क्रोधोत्पत्ति के कारण

क्रोध-प्रतिसंलीनता में दो बातें कही गई है—

कोहोदय निरोहो वा उदयप्पत्तस्स वा कोहस्स विफलीकरणं

१ क्रोध के उदय को रोकना

२ उदय में आये हुए क्रोध को विफल—फलहीन बना देना।

क्रोध का उदय रोकने के लिए यह भी समझना जरूरी है कि क्रोध का उदय क्यों होता है और उसके कटुफल कितने घातक होते हैं।

कर्म सिद्धान्त की दृष्टि में

जैन दर्शन कार्य-कारणवादी दर्शन है, उसका कथन है—प्रत्येक कार्य का कुछ कारण भी अवश्य होता है। यह कार्य-कारणवाद ही कर्म सिद्धान्त की आधार भूमि है। कार्य हमें स्पष्ट दिखाई देता है, कारण उसके पीछे छुपा रहता है। इस दृष्टि से आत्मा में क्रोध का उदय होने रूप जो कार्य होता है, उसका कारण है—कर्म ! आठ कर्मों में मोहनीय कर्म सबसे मुख्य व सबका नेता माना गया है। मोहनीय कर्म की प्रकृतियों में चारित्रमोहनीय के दो भेद हैं—जिसमें कपाय मोहनीय के १६ भेद बताये हैं और नौ कपाय मोहनीय के ९। नौकपाय मोहनीय कपायभाव का उत्तेजक होता है। हां तो १६ कपाय मोहनीय के भेदों में प्रत्येक कपाय के—चार-चार भेद करके १६ भेद बताये गये हैं। क्रोध कपायमोहनीय के उदय से आत्मा में कपाय भाव का उदय होता है। जिस आत्मा में कपाय मोहनीय का जितना उदय होगा उसी के अनुसार उसके क्रोधोदय में भी तरतमता रहती है। यह क्रोधोत्पत्ति का दार्शनिक कारण है।

व्यावहारिक दृष्टि में

स्थानांग मूत्र में सामान्यतः क्रोधोत्पत्ति के चार कारण बताये हैं—

१ क्षेत्र—स्थान आदि के कारण क्रोध की उत्पत्ति हो सकती है।

वस, इसवार महात्माजी का पारा खूब तेज हो गया। पास ही में हाथ में लेने की छड़ी पड़ी भी, उठाकर बोले—देवकूफ ! तीन-तीन बार नाम बताया फिर भी याद नहीं रखा ! सिर में पत्थर भरे हैं ? ठहर अभी बताता हूँ ! छड़ी पटक कर बोले—सुनले ! मेरा नाम है शीतलदास ! शीतलदास !

धनारसीदास जी हंसकर बोले—महाराज ! वस अब नहीं भूलूंगा ! अब पता चल गया—तुम्हारा असली नाम शीतलदास नहीं, क्रोधीदास है।

तो यह दूसरी श्रेणी के मनुष्य होते हैं, जो पहले शांत दीखते हैं और बाद में क्रोध में भाभड़ाभूत हो जाते हैं।

३. तीसरी श्रेणी के प्रशांत मनुष्य होते हैं—जो हमेशा महासागर की तरह प्रशांत रहते हैं। उन्हें कितने ही दुर्वचन कहो, अपमान करो, ढंके मारो, पत्थर मारो फिर भी कभी क्रोध नहीं करते। भगवान महावीर की तरह, मैतार्य, गजसुकुमाल और हरिकेशीवल मुनि की तरह लोग उन्हें मरणाति कष्ट भी देते हैं फिर भी उनकी दृष्टि में वही शांति का अमृत छलकता रहता है, मन में शीतल लहरें उठती रहती हैं—इन्हीं के लिए शास्त्र में कहा है—

महप्पसाया इसिणो हवंति,

न ह्यमुणी फोचपरा हवंति ।

ऋषिजन महान प्रसाद वाले होते हैं, वे कभी भी क्रुद्ध नहीं होते ! महासागर में जब भी पत्थर फेंको तब भी वह शीतल लहरें उछाल कर आपको शांत करने का प्रयत्न करेगा, आग नहीं उगलेगा। इसी प्रकार ऋषिजन, महापुरुष प्रोध करने वाले पर भी शांति की वर्षा करते हैं, प्रेम का उपदेश देते हैं। स्वामी दयानन्द जी को कुछ दुष्ट लोगों ने घायल कर दिया था, तब यहाँ के थानेदार ने बदमाशों को पकड़कर स्वामी जी के सामने हाजिर किया—‘स्वामी जी ! इन बदमाशों को आप जो कहें वही सजा दूँगा। कहिए क्या सजा दूँ ?’

चोट की पीड़ा अनुभव करते हुए भी स्वामीजी शांति के साथ बोले—“थानेदार साहब ! इन लोगों को छोड़ दो।” थानेदार ने साथ थानेदार ने कहा—‘स्वामी जी ! यह क्या कह रहे हैं ?’

होकर क्रोधोन्मत्त हो उठे और मन-ही-मन शत्रु संहार में जुट गये । गौशालक के कटुवचनों से (मजाक से) वैश्यायन वाल तपस्वी क्रुद्ध हो उठा था और उस पर तेजोलेश्या छोड़कर भस्म कर डालने को तत्पर हो गया ।

२ स्वार्थपूर्ति में वाधा पड़ने से—मनुष्य स्वार्थ-प्रिय होता है, अपना स्वार्थ साधने के लिए गधे को भी वाप बना लेता है, और जब कोई उसके स्वार्थ में वाधा पहुँचाता है तो वह उसे पथ का रोड़ा समझ कर हटा देने को क्रोधाकुल हो उठता है—रावण को विभीषण ने बहुत समझाया था, सीता को लौटा दे । वह उसकी दुष्चेष्टा को पूरी नहीं होने देना चाहता था, तब रावण विभीषण जैसे भाई पर भी क्रुद्ध होकर उसे राज्य से निकाल देता है । सोमिल ब्राह्मण ने गजसुकुमाल को साधु बने देखा तो सोचा—मेरी पुत्री का जन्म इसने बिगाड़ दिया, बस, इस क्षुद्र स्वार्थ ने उसे क्रुद्ध कर दिया और महा तपस्वी के सर पर अंगारे भर दिये !

३ अनुचित व्यवहार के कारण—मनुष्य सदा ही सम्मान और योग्य व्यवहार की अभिलाषा रखता है, वह न अपना अपमान सह सकता है, और न अपने परिवार, देश और धर्म का । जब उसकी आँखों के सामने अपनी इज्जत, अपनी मां वहनों की इज्जत, देश व धर्म का गौरव मिट्टी में मिलता दीखता है तो वह क्रुद्ध सिंह की तरह हुंकार उठता है । यादव कुमारों ने द्रुपदायन ऋषि का अपमान किया, तो ऋषि ने क्रुद्ध होकर द्वारिका को भस्म कर डालने का संकल्प कर डाला । औरंगजेब की सभा में जब उसके सेनापति—ने राठौड अमरसिंह को कहा कि ये राजपूत लोग 'गवार' हैं तो 'ग' तो कहा, और 'वार' कहने ही नहीं पाया कि चमनमाती कटार निकल पड़ी और सेनापति की गर्दन उड़ा गई । यह क्रोध अनुचित व्यवहार व अपमान के कारण उत्पन्न हुआ ।

४ बहम के कारण—कभी-कभी मनुष्य बहम का शिकार हो जाता है । कुछ ऐसी बातें सुनता है, दृश्य देखता है जो वास्तव में सही नहीं होते, कान और आँख उसे धोखा दे जाते हैं, भ्रम से बुद्धि विपरीत हो जाती है और वह क्रोध में आकर अनर्थ कर डालता है । भ्रम में भी अनुचित व्यवहार, भय,

२ वस्तु—घर अथवा उपयोग में आने वाली सचित्त-अचित्त आदि वस्तु के कारण क्रोध उत्पन्न हो सकता है।

३ शरीर—शरीर के कारण—क्रूर शरीर, शरीरगत रोग आदि के कारण क्रोध की उत्पत्ति होनी संभव है।

४ उपधि—उपकरण, वस्त्र, पात्र आदि के कारण क्रोध आ सकता है। इसी के साथ क्रोध के चार निमित्त और बताये हैं—जैसे

१ आत्म-प्रतिष्ठित—कभी कभी अपनी भूल के कारण ही क्रोध आ जाता है।

२ पर-प्रतिष्ठित—कभी दूसरे की भूल, दुर्वचन आदि के कारण क्रोध आ जाता है।

३ तदुभय-प्रतिष्ठित—अपनी भूल भी रहे और दूसरे का निमित्त भी। दोनों मिलने से क्रोध आ जाता है।

४ अप्रतिष्ठित—बिना किसी निमित्त के ही क्रोध की उत्पत्ति हो जाती है।

वास्तव में इन शास्त्रीय कारणों के साथ कुछ व्यावहारिक कारण भी हैं जिनके कारण मनुष्य क्रोध करता है, मन में क्रोध की उत्पत्ति होती है। पांच कारण ऐसे हैं, जिन्हें हम क्रोधोत्पत्ति में निमित्त पाते हैं—

१ दुर्वचन के कारण—कटुवचन कहने से क्रोध आ जाता है। शास्त्र में बताया है—कटुवचन वैर का कारण होता है—“वाया वुस्तानि धेराणु वंधीणी”^१—दुस्तक वचन से वैर बंधता है। कटुक कठोर वचन कानों में तीजे झूल से चुभते हैं, उनसे मन उद्विग्न हो उठता है—“कनं गया दुम्मणिं जणंति”^२—ऐसे कटुक, कठोर मर्मघातक, व्यंग्य वचन सुनने से क्रोध बहुत उठता है, जैसे दुर्गोधन के दुर्वचनों से श्री कृष्ण को क्रोध आ गया था। दुर्गुण हूत के दुर्वचन सुनकर प्रसन्नचन्द्र राजपि जैसे ध्यानयोगी भी ध्यानभंग

१ स्वानांग सूत्र ४।१।२४६

२ दशर्वकालिक ६।३।७

३ “ ६।३।७

प्रिय-अप्रिय व्यवहार को, वचन को सहन करके क्रोध को असत्य करना चाहिए। अर्थात् क्रोध आ जाये तो उसे फलहीन कर डालना चाहिए। क्रोध का फल है—हिंसा ! क्रोधी व्यक्ति दूसरे की भी हिंसा करता है और अपनी भी। जितनी हत्याएं, व आत्महत्याएं होती हैं उनमें मुख्य कारण क्रोध ही रहता है।

क्रोध को विफल कैसे करें ?

मनोविज्ञान की दृष्टि से क्रुद्ध मनुष्य एक दम हत्याएं करने पर उतारू नहीं होता। क्रोध का वेग जैसे-जैसे प्रबल होता है वैसे-वैसे मनुष्य आगे उत्तेजना पूर्ण अवस्था में पहुँचता रहता है। उत्तेजना का आखिरी रूप है हत्या। हत्या, क्रोध की चौथी व अंतिम श्रेणी (परिणति) है। क्रोध की चार परिणतियां ये हैं—

१ सर्वप्रथम क्रोध आने पर मनुष्य का शरीर कंपने लग जाता है, हाथ पैर फूल जाते हैं, सांस तेज हो जाती है, आँखें लाल-लाल अंगारों सी जलने लगती है, वाणी लड़खड़ाने लगती है।

२ क्रोध की दूसरी अवस्था में मनुष्य हाथ पैर पीटने लगता है, अपना सिर फोड़ लेता है, कपड़े फाड़ लेता है, शरीर को नाँच डालता है। बकवास व गाली गलौज करने लगता है।

३ तीसरी अवस्था में मारपीट करने लगता है, तोड़-फोड़ करने पर उतारू हो जाता है, आग लगा देता है, दूसरों का नुकसान करने लगता है।

४ क्रोध की चौथी दशा है—हत्या ! जिस पर क्रोध आता है उसकी हत्या करने पर उतारू हो जाता है, वह नहीं मिले तो उसके सम्बन्धी जनों की हत्या कर डालता है, कभी-कभी हत्या करने पर भी उसका क्रोध शांत नहीं होता तो वह आत्महत्या भी कर लेता है। बहुत से व्यक्ति क्रोधोन्मत्त होकर साधनों के अभाव में, भय आदि के कारण दूसरों की हत्या नहीं करते किन्तु वे क्रोधोन्मत्त हुए अपनी ही हत्या (आत्म हत्या) कर लेते हैं।

क्रोध को अफल—करने का अर्थ है—यदि क्रोध का उदय होगया है, प्रथम दशा में क्रोध पहुँच गया है तो अब उसे दूसरी अवस्था में पहुँचने से

आदि कारण होते हैं। साँप सिंह आदि कभी-कभी भय व बहम—कि यह मुझे मारेगा—इसी कारण क्रुद्ध होकर मनुष्य पर झपटते हैं। भैरव मुनि पर सुनार ने बहम कर लिया कि मेरे स्वर्ण यव इसी ने चुराये हैं जबकि उन्हें तो कोई मुर्गी जी समझकर खा गई थी। इसी बहम के कारण वह मुनि पर क्रुद्ध हो उठा और उनकी मृत्यु का कारण बना। पुरुषसिंह नाम के राजा के मन में मंत्री पालक ने यह बहम पैदा कर दिया था कि यह राजकुमार राज्य हड़पने के लिए आया है। इसी बहम ने राजा को कि कर्तव्य-विमूढ़ बना दिया, क्रोध में आकर उसने मुनियों को पापी पालक के हाथ सौंप दिया—इन्हें जैसी सजा देना चाहो दो। यह चौथा कारण है।

५ विचार भेद के कारण—प्रत्येक मनुष्य के विचार कुछ न कुछ भिन्न होते हैं। जब एक दूसरे पर अपने विचार थोपने का प्रयत्न होता है तो संघर्ष खड़ा होता है, संघर्ष द्वन्द्व का रूप धारण कर लेता है, विचार भेद के कारण क्रुद्ध होकर आपस में हाथा पाई करते हैं, मारपीट और हत्या तक कर डालते हैं। स्वतन्त्रता का मूल कारण भी विचार भेद ही है। नक्सलवाद का तांडव, अगणित निरपराधों के खून से जिसका इतिहास लिखा गया है मूलतः विचार भेदजन्य संघर्ष ही है। इन कारणों के अलावा अन्य भी अनेक कारण हो सकते हैं जिनके कारण मनुष्य का खून गर्म हो उठता है, बुद्धि में अशंतुलन आ जाता है, कर्तव्य—अकर्तव्य का विवेक भूल जाता है और वह बड़े-बड़े अनर्थ कर डालता है।

जिन कारणों से क्रोध का उदय होता हो, उन कारणों से बचना चाहिए, उन कारणों का निवारण करते रहना चाहिए, और काम्प के मूल में रही हुई भूल को पकड़ना चाहिए। इसमें क्रोध का उदय कम होता है, क्रोध पतला पड़ जाता है। यदि क्रोध आ भी गया तो उसे विफल करने में गहृयता मिलती है। शास्त्र में कहा है—मनुष्य को अपनी प्रतिभा को, मर्कट्य को सदा सत्य करना चाहिए और क्रोध को व अहंकार को अतन्य ! फोहं असत्त्वं कुर्विज्जा धारेज्जा विवमत्थियं^१।—

रोक लेता है, कुशल वैद्य देह में फैलते हुए सर्प विष को औषधि के द्वारा शांत कर देता है वैसे ही भिक्षु चढ़े हुए क्रोध को (फल परिणति से रोककर) शांत कर देता है ।^१

जैसे दौड़ती हुई गाड़ी के सामने यदि कोई मनुष्य, या गाय-भैंस आदि आ जाते हैं तो ड्राइवर तुरन्त गाड़ी को ब्रेक लगाकर रोकने की चेष्टा करता है, यदि उस समय गाड़ी को न रोका जाय तो तुरन्त दुर्घटना हो जाती है । इसी प्रकार चढ़ते हुए क्रोध को रोकना चाहिए, वना वह भी कोई दुर्घटना कर डालेगा । क्रोध को विफल करने के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने अनेक उपाय बताये हैं—

भगवान् महावीर ने कहा है—उवसमेण हणे कोहं^२—क्रोध को शांति (उपशम) से जीतना चाहिए ।

चीनी संत कन्फ्यूसियस का कथन है—क्रोध उठे तब उसके नतीजों पर विचार करो !

वाईविल में लिखा है—क्रोध करने में विलम्ब करना विवेक है, और शीघ्रता करना मूर्खता ।

इस्लाम धर्म के प्रवर्तक मुहम्मद साहब का कहना है—‘ गुस्सा आने के समय बैठ जाओ ! फिर भी शांत न हो तो लेट जाओ ।’

सैनेका नामक विदेशी विचारक ने लिखा है—क्रोध का एक ही इलाज है—विलम्ब !

कहते हैं—अमेरिका में एक प्रोफेसर को क्रोध बहुत आता था । वह स्वयं अपनी इस आदत पर बहुत दुःखी था, पर कोशिश करके भी वह क्रोध के समय अपने पर काबू नहीं रख पाता था । एक बार प्रोफेसर ने अपने किसी मनोचिकित्सक मित्र से कहा—मेरी यह आदत कैसे छूटे । मित्र ने एक सलाह

१ यो उप्पतितं विनेति कोधं विसठं सप्प विसंज्व ओसघेहि ।

—सुत्तनिपात १।१।१-२

२ दशवैकालिक ८।३६

रोके, क्रोध ज्यों-ज्यों बढ़ता है उसके फल लगते हैं। अतः उसे आगे की दशा में पहुँचने से रोकना, यही वास्तव में क्रोध को विफल—फलहीन करने का अर्थ है।

जैन सूत्रों की टीका में एक कुलपुत्र (क्षत्रिय पुत्र) की कथा आती है। किसी क्षत्रिय पुत्र को उसके दुश्मन ने मार डाला था। क्षत्रिय पुत्र का भाई अपने भाई की हत्या सुनकर आग बबूला हो उठा। उसका धून खोलने लग गया। वह हाथ में तलवार लेकर अपने भाई की हत्या का बदला लेने चल पड़ा। उसने प्रतिज्ञा की—‘जब तक भाई के हत्यारे को पकड़ न लूँ—नैन से दम नहीं लूँगा। छह महीने तक वह जंगल, पहाड़, नदी-नाले—सर्वत्र भटकता रहा। आखिर में हत्यारा पकड़ा गया। कुलपुत्र ने अपनी लगलपाती तलवार उठाकर उसे मार डालना चाहा, किन्तु हत्यारे ने—‘मुझे मैं प्राण का तिनका लेकर उसके चरण पकड़ लिए ! दीनतापूर्वक बोला—“मुझे जीवित छोड़ दो ! मैं तुम्हारी काली गाय हूँ। मुझे शरण दो।”

कुलपुत्र की तलवार रुक गई। वह असमंजस में पड़ गया। क्या करें। मारे तो शरणागत की हत्या हो, न मारे तो वधु-घात का बदला कैसे लें ? वह समस्या में उलझ गया। हत्यारे को मां के समक्ष ले जाकर राड़ा किया—और पूछा—मां ! मैं क्या कहूँ ? उसे मार कर अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करूँ या शरणागत की रक्षा कर क्षत्रिय धर्म को निवाहूँ ?

मां ने कहा—‘बेटा ! अपने क्रोध को असफल करो। क्रोध को फलहीन करना ही मनुष्य का धर्म है। इसी में तुम्हारे क्षत्रियधर्म की शोभा है।’ मां की शिक्षा से कुलपुत्र ने वधुघातक को अभय दान देकर छोड़ दिया। वह अपने छह महीने के उग्र क्रोध को पी गया। तो यह है क्रोध को विफल करने का एक उदाहरण ! क्रोध को पी जाना—उठते हुए क्रोध को उसी प्रकार दबा देना जैसे तीव्र होते रोग को दवा देकर दबा दिया जाता है, उकलते हुए हृम को जल का छीटा देकर शांत कर दिया जाता है। सारागत बुद्ध ने कहा है—

जैसे कुलपुत्र मारुति दीड़ते हुए अश्व को लगान मीनार उदास में जाते

तो यह और भी विडम्बना की बात है कि त्यागी वैरागी व ज्ञानी कहलाने वाले अज्ञानी लोगों से ज्यादा क्रोध करें। क्रोध की तो शुरूआत ही अज्ञान व मूर्खता से होती है। इसलिए साधक को, तप की आराधना करने वाले को तो क्रोध का सर्वज्ञा ही परित्याग करना चाहिए। नीतिकारों ने कहा है—

हरत्येक दिनेनैव ज्वरं षाण्मासिकं बलम् ।

क्रोधेन तु क्षणेनैव क्रोटिपूर्वाजितं तपः ॥

एक दिन का ज्वर (बुखार) छ महीने में प्राप्त की हुई शक्ति को नष्ट कर देता है, और एक क्षण भर का क्रोध-क्रोड़ पूर्व की तपस्या को भी मिट्टी में मिला देता है। क्रोध से कितने अनर्थ उत्पन्न होते हैं इस सम्बन्ध में कहा गया है —

गती खोटी पावे भव भ्रमण आगे बढ़त है,

अहो सिंहादि की प्रकट पशु योनि मिलत है ।

तपस्या को वाले, सफल गुण व्हाके खिसकते ।

अच्चंकारी भट्टा सरिस बन छोड़ो, प्रियवरो !

क्रोध से मनुष्य की गति—यह, जन्म और पर जन्म विगड़ जाते हैं--अहो वयइ कोहेण—क्रोधी हमेशा नीची-से नीची गति प्राप्त होता है, तपस्या का फल जलकर भस्म हो जाता है, गुण समूह नष्ट हो जाता है। इस लिए क्रोध के कुफल को समझकर अच्चंकारी भट्टा की तरह अपने क्रोध को जीतो।

शरीरशास्त्री लोगों ने अनुमान लगाया है कि एक स्वस्थ मनुष्य दिन में साढ़े नौ घंटा तक कठोर श्रम करने पर जितनी थकावट अनुभव करता है, साढ़े नौ घंटा के श्रम में उसकी जितनी शक्ति क्षीण होती है, उतनी शक्ति पन्द्रह मिनट के क्रोध में क्षीण हो जाती है।

एक तोर : तीन शिकार

क्रोध शरीर को भी नष्ट करता है, मन को भी दुर्बल बनाता है और आत्मा को तो कलुषित करता ही है।

दी, सलाह के अनुसार प्रोफेसर ने अपने नौकर को कहा "मुझे जब कभी गर्म देखो, तब खाली लिफाफा दिखा दिया करो।"

वस, जब कभी प्रोफेसर को क्रोध आता नौकर खाली लिफाफा दिखा देता—प्रोफेसर लिफाफे को देखते ही सोचने लग जाता—क्रोधी का दिमाग इस खाली लिफाफे की तरह होता है, वस, इस विचार से धीरे-धीरे उसकी आदत छूट गई।

चीन में आज भी एक लोकोक्ति प्रसिद्ध है, क्रोध आने पर एक गिलास पानी पीलो। तथा क्रुद्ध अवस्था में किसी के पत्र का उत्तर मत दो।

यह सब विचार व साधन अनुभव से देखे जा सकते हैं और जिस साधन से क्रोध की कमी हो, वह अपनाना चाहिए। कुल मिलाकर सारांश रूप में क्रोध को विफल करने के दो उपाय हमारे सामने आये हैं। (१) क्रोध के दुष्परिणामों पर विचार करना और (२) आत्मचिंतन करना। आत्मचिंतन से मतलब है—मनुष्य : एक ओर क्रोध की निकृष्टता समझे क्रोध की चांडाल, राक्षस, अमेध्य, मूर्खता आदि विशेषण दिये गये हैं, इनका अर्थ है क्रोध सबकी दृष्टि में एक परम अपवित्र वस्तु है। दूसरी ओर अपने स्वरूप का—विचार करे कि यह आत्मा एक परम पवित्र वस्तु है, इसका और ईश्वर का स्वरूप एक समान है, तो फिर पवित्र आत्मा को क्रोध रूप अपवित्रता से, मंदगी से दूषित क्यों करे ? इस प्रकार के आत्मचिंतन से क्रोध का नशा दूर हो जाता है।

ऐसा भी नहीं है कि क्रोध सिर्फ अज्ञानी व संसारी मनुष्य ही करते हैं, किन्तु बड़े-बड़े ज्ञानी व साधक भी इस रोग से ग्रस्त पाये जाते हैं। ऐसा तो जाता है कि गृहस्थ से भी अधिक साधु सन्यासी व तपस्वीजनों में क्रोध अधिक तीव्र रूप से भड़कता है। इसीलिए तो संत तुलसीदास जी ने कहा है—

‘तुलसी’ इस संसार में गाढ़ा सताईस रोग।

सात गाढ़ा संसार में चैराग्यां में बीस !

इस संसार में सताईस गाढ़ा क्रोध है, जिसमें सात गाढ़ा क्रोध संसारी मनुष्यों में हैं और बीस गाढ़ा चैरागी व खपागी नाम धरने वालों में है।

है कि—खाली थैली में ही हवा भरती है, खाली—गुणहीन व्यक्ति अपने को गुणवान दिखाने के लिए अभिमान करता है, स्वयं को बड़ा प्रदर्शित करने की चेष्टा करता है। बिच्छू तिल भर जहर के कारण पूँछ ऊँची रखकर चलता है—

मणिघर विष अणमाव, धारे पण नाणं मगज ।

बिच्छू पूँछ वणाव, राखे सिर पर राजिया ।

किन्तु सांप भयंकर विष रखते हुए भी कभी अपने विष का प्रदर्शन नहीं करता। इसका अर्थ यही है कि अहंकारी के जीवन में सद्गुणों का विकास नहीं हो सकता। क्योंकि ज्ञान तभी आता है जब मनुष्य किसी का विनय करके सीखता है। कहा है—

न हंस के सीखा है, न रोके सीखा है

जो कुछ भी सीखा है, किसी का होके सीखा है

अभिमानी किसी का हो नहीं सकता, क्योंकि वह अपने को ही सबसे बड़ा समझता है। अंग्रेजी में एक कहावत है जिसका भाव है—अहंकारी का कोई ईश्वर नहीं होता, ईर्ष्यालु का कोई पड़ोसी नहीं होता और क्रोधी का कोई अपना नहीं होता। अभिमानी राह चलते बैर-विरोध खड़ा कर लेता है—
कहा है—

बनालेते बैरी चलत-मग मारी सटक से,

मरगे कुत्तों से, रिपु जन पछाड़े पटक से ।

तजे वो सद्बुक्ति विनय गुरु भक्ति चल वसी,

नमे कंसे सूखा तरुवर विचारो हृदय से ।

युक्ति और न्याय की बात मानता नहीं, अपनी ही बात को सत्य सिद्ध करने की चेष्टा करता है, 'मेरी मुर्गी की तीन टांग' वाली कहावत चरितार्थ करता है। गुरुजनों का विनय व सम्मान जैसे भूल ही जाता है। मकोड़े की तरह अकड़ में 'टूटे पण झुके नहीं' टूट जाता है, नष्ट हो जाता है किन्तु विनय और नम्रता नहीं सीख सकता ।

‘मिथी’ देख विचार कर एक तीर, त्रय कष्ट ।

तन को, मन को, ज्ञान को, क्रोध करत है नष्ट ।

लोग कहते हैं ‘एक तीर से दो शिकार’ लेकिन क्रोध तो ऐसा दुष्ट है कि एक तीर से तीन शिकार करता है, वह तन को, मन को और ज्ञान (आत्मा) को-तीनों को ही नष्ट कर डालता है । तो, ऐसे दुष्ट क्रोध के उदय का निरोध करना, और उदय में आये हुए क्रोध को फलहीन कर देना—यह है क्रोध प्रतिसंलीनता तप ।

मान से हानि

क्रोध जिस प्रकार प्रीति का, प्रेम एवं स्नेह का नाश करता है उसी प्रकार मान—विनय का नाश करता है—माणो विणय नासणो^१ । नम्रता-जीवन का सबसे बड़ा सद्गुण ही नहीं, किन्तु समस्त सद्गुणों की जननी भी है । यदि जीवन में नम्रता नहीं रही तो फिर कहना चाहिए—सद्गुणों के विकास की वहाँ कोई सम्भावना भी नहीं रही । इसलिए कहा है -

अभिमानो के हृदय में क्या सद्गुण का काम ।

फटी जेब में क्या कभी टिक सकते हैं दाम !

फटी जेब में पैसे नहीं टिक सकते, छिद्रवाले घड़े में पानी नहीं टिक, सकता, उसी प्रकार अभिमानो के हृदय में सद्गुण नहीं टिक सकते । भगवान महावीर ने तीन व्यक्तियों को ज्ञान पाने के अव्योम्य (अपाय) बताया है । उनमें सबसे पहला नंबर है—अभिमानो ।^२ अहंकार करने वाला चाहे कितना बड़ा शास्त्राभ्यासी हो, वास्तव में तो उसे अज्ञानी ही कहा गया है । भगवान ने कहा है - बाल जणो पणम्मइ^३—अभिमान वही करता है, जो अज्ञानी है । जो विद्वान है, कुलीन है, शास्त्रों का रहस्य समझता है, यह कभी अहंकार नहीं करता—विद्वान् कुलीनो न करोति मयं—विचारकों का यह कथन सत्य

१ दशवक्कलिक ८।३८ ।

२ तीन को ज्ञान नहीं देना—अहंकारी, कदाग्रही और समलोभुष को ।

—स्य्यायोग ३ ।

३ सूत्रकृत्याग १।११।२

अभिमान की चौथी बुराई है—मनुष्य अहंकार में अपने को बड़ा समझता है और दूसरों को छोटा—तुच्छ ! स्वयं बलहीन, रूपहीन, गुणहीन होने पर भी मानता है कि मैं तो बल में बाहुबली हूँ, रूप में सनत्कुमार हूँ, और सब गुणों का खजाना मैं ही हूँ । दूसरा बलवान है, वह भी तुच्छ है, कमजोर है, दूसरा रूप में देव कुमार हैं, अप्सरा है फिर भी अभिमानी की नजर में वह रूप हीन है । अहंकारी हमेशा—अन्नं जणं पस्सति विवस्मूयं^१ दूसरों को परछाईं मात्र (प्रतिबिम्ब) समझता है, बलिष्ठ पुरुष को भी गोवर-गणेश समझता है । अभिमानी सोचता है—

संसार में बुद्धिमान कौन ? जो मेरी तरह सोचे

संसार में मूर्ख कौन ? जिसके विचार मुझ से न मिलें ।

आदर्श क्या है ? जिस पर मैं चलूँ !

जगत में श्रेष्ठ कौन ? 'मैं'

उसके हृदय में 'मैं' के सिवाय और कोई ध्वनि ही नहीं उठती । जितनी श्रेष्ठता है, सब उसमें हैं बाकी सब संसार तुच्छ है, गुणहीन है । वह सोचता है "दुनियां में डेढ़ अक्कल है—एक मेरे पास, आधी बाकी दुनिया के पास ।" राजस्थानी में कहावत है, अभिमानीनि स्त्री सोचती है—“म्हांसूँ गोरी जिकें ने पीलिये रो रोग” इस प्रकार अभिमानी व्यक्ति दो भूलें एक साथ करता है, स्वयं को अधिक बुद्धिमान समझ कर, और दूसरे बुद्धिमानों को मूर्ख समझ कर । वह घमण्ड में दूसरों का अपमान करता है, उन्हें तुच्छ शब्द कहता है । आप जानते हैं, अपमान का कड़वा घूंट कोई व्यक्ति पी नहीं सकता । अंग्रेजी कहावत है—इनसल्ट इज मोर देन आप्रेशन—(Insult is more then operation) अपमान का नस्तर आप्रेशन के नस्तर से भी अधिक दुःखदायी व पीड़ा कारक है । अपमानित व्यक्ति फिर बदला लेने की चेष्टा करता है, इस प्रकार घेर विरोध व दुश्मनी की लम्बी शृंखला चालू हो जाती है ।

अभिमान की इन चारों बुराइयों का विचार करके मनुष्य को अभिमान का त्याग करना चाहिए और अभिमान के कारणों से बचना चाहिए ।

अहंकार—मान का सबसे पहला दुष्परिणाम है कि—अहंकारी कभी ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता । सद्गुणों का विकास नहीं कर सकता । बाहुवली एक वर्ष तक खड़े तपस्या करते रहे, किन्तु केवल ज्ञान प्राप्त नहीं कर सके ।

दूसरी बुराई है अहंकारी मनुष्य अपना आपा भूल जाता है । अपनी तुच्छ शक्ति को भी विश्व की महान शक्ति मानने लगता है । अंग्रेजी के हास्य रस के प्रसिद्ध लेखक मार्कट्वेन ने एक जगह लिखा है—“अक्सर मुर्गों, जिसने सिर्फ अण्डे को जन्म दिया है, ऐसे ककड़ाती है जैसे किसी नक्षत्र को जन्म दिया हो ।” राजस्थानी भाषा में कहा गया है—“कुत्तो जाणे म्हारे ही पाण गाडो घाले है”—अहंकारी मनुष्य अपनी ओकांत को नहीं समझ सकता । कहावत है —“मिजाज बादशाह का, ओकांत भट-भूजे की”—अहंकार के नशे में वह अपनी शक्ति का अधिक मूल्यांकन करता है, इसी कारण उसका पतन व विनाश हो जाता है ।

अहंकार की तीसरी बुराई है—अपनी शक्ति का, ज्ञान का अभिमान करने से मनुष्य उस शक्ति को भी खो बैठता है । ज्ञान का अभिमान करने से ज्ञान नष्ट हो जाता है, बल का अभिमान करने से बल । सद्गुणों का अभिमान करने से सद्गुणों का नाश हो जाता है । महाभारत में उल्लेख है—पांडव जब संन्यास लेकर हिमालय पर चढ़े तो कुछ दूर जाने पर वे हिमालय से नीचे गिरते गये । नकुल के मन में अपने रूप का गर्व था इस कारण वह हिमालय की ऊपरी चोटी पर चढ़ नहीं सका । महेन्द्र को अपने ज्योतिष ज्ञान था, अर्जुन को बाण-विद्या का, भीम की भुज-बल का अभिमान था इस कारण कोई भी हिमालय पर नहीं चढ़ सके यौन ही में रह गये । निरपेक्ष धर्म-पुत्र निरभिमान थे इस कारण वे और उनका कुता (धर्म स्त्री) दोनों स्वर्ग में पहुँचे । इन कथानक का सार यह है कि गुण का अभिमान करने से भी मनुष्य अपने गुणों को खो बैठता है । जैन दर्शन का कर्म सिद्धान्त यही बात कहता है कि जो मनुष्य जिस विषय का अभिमान करता है, वह अगले जन्म में उस विषय में हीन कर्म का संकलन करता है । उत्तमोत्तम का अभिमान करने से तीन योग का बंधन होने के अनेक उदाहरण जैनग्रन्थों में मिले पाते हैं ।

श्रुत मद—ज्ञान का, शास्त्रअभ्यास का अर्थात् विद्वत्ता का अभिमान !

लाभ मद—इच्छित वस्तु के मिल जाने पर अपने लाभ का अभिमान

ऐश्वर्य मद—ऐश्वर्य अर्थात् प्रभुत्व, वैभव तथा सत्ता का अभिमान ।

अभिमान को कैसे जीते ?

अभिमान के इन आठ कारणों पर तथा इसी प्रकार के अन्य कारणों पर विचार करके यह देखना चाहिए कि मनुष्य जिन बातों का अभिमान कर रहा है वह कितनी असार व तथ्यहीन है ! ऊँचा कुल व गोत्र जाति, प्राप्त कर मनुष्य अहंकार करता है कि मैं इतने बड़े खानदान का हूँ । इतने ऊँचे कुल का हूँ ! पर क्या उसका यह सोचना सही है ? यह कुल व जाति किसका है ? आत्मा का या शरीर का ? शरीर तो जड़ है, सबका एक समान है । और आत्मा का कोई कुल नहीं, जाति नहीं ! फिर तू जो ऊँच गोत्र का अभिमान कर रहा है वह कितनी बार नीच गोत्र में जाकर उत्पन्न हुआ कुछ पता है ? शास्त्र में कहा है—

असङ्ग उच्चागोए असङ्ग नीयागोए

णो हीणे णो अदरित्ते ।^१

यह जीव अनंतवार उच्चगोत्र में जन्म ले चुका है, अनन्तवार नीच गोत्र में उत्पन्न हो चुका है, अतः फिर कौन तो हीन है ? और कौन उच्च ! अर्थात् हर आत्मा नीच कुल में उत्पन्न हो चुका है—फिर ऊँच कुल का अभिमान किस बात का ?

मनुष्य इस शरीर का अभिमान करता है, धन का, बल का अभिमान करता है ; पर वह अहंकार कितने दिन चलेगा ? शरीर तो आखिर सभी का जलकर राख हो जायेगा । सभी की हड्डियाँ मरघट में इधर-उधर पैरों से रलती हैं, चाहे राजा हो या रंक ! एक कवि ने कहा है—

एक दिन हम जा रहे थे सैर को

इधर था शमसान उधर फ़रिस्तान था ।

मदस्यान

वैसे तो कोई भी वस्तु अभिमान का कारण बन सकती है, तुच्छ से तुच्छ मनुष्य के पास भी ऐसे कारण हो सकते हैं जिन पर वह अभिमान करे, अकड़ जाये। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ने लिखा है—“धूआं आसमान से और राख पृथ्वी से शेखी बघारते हैं कि हम भी अग्निवंश के हैं।” यदि अभिमान का और कुछ कारण न मिले तो व्यक्ति यही सोचकर अभिमान करने लगता है कि यह संसार तो मेरे ही आधार पर चलता है, मैं न होता तो दुनियां टिक ही नहीं सकती। गुजराती कहावत है—“टींटोड़ी पग ऊँचा करने सुबं, ते आम घारे के आकाश मारा पग पर ज अद्धर रहलुं छै” तो इस तरह कोई भी कारण, निमित्त, हेतु ऐसा मिल सकता है जिस पर अहंकारी व्यक्ति फूल उठे। किन्तु मुख्यतः आठ कारण ऐसे बताये गये हैं जिनमें प्रायः सभी अहंकार के कारण खोजे जा सकते हैं। वे ये हैं—

अट्ठमयट्ठाणे पणत्ते तंजहा—

जातिमए कुलमए बलमए रूपमए

तवमए मुयमए लाभमए इत्तरियमए ।^१

मद के आठ स्थान बताये गये हैं। स्थान का अर्थ—निमित्त है। अथवा आश्रय भी कह सकते हैं। आचार्य अमरदेव ने स्थान का अर्थ ‘आश्रय’ ही किया है, अर्थात् ये आठ बातें मनुष्य के अहंकार का आश्रय-आधार हो सकती हैं। वे आठ मदस्थान ये हैं—

जाति मद—ऊँची और श्रेष्ठ जाति (मातृवंश) का अभिमान।

कुल मद—ऊँचे कुल (पितृवंश) का अभिमान।

बल मद—बल का अभिमान।

रूप मद—रूप-सौन्दर्य का अभिमान।

तप मद—उच्च तपस्वी होने का अभिमान।

१. स्थानाणि सूत्र २।१०६

२. मदस्य अभिमानस्य स्थानानि—आश्रयाः मदस्थानानि—मदवादाणि कुणि

राजा को उसकी तटस्थवृत्ति पर बड़ा आश्चर्य हुआ। राजा ने उससे पूछा तो भूतपूर्व प्रधानमंत्री ने बताया —“कुर्सी के आने जाने में प्रसन्नता और दीनता कैसी ? सम्मान तो गुणों से होता है, यदि गुण मुझ में होंगे तो आप और जनता कुर्सी छूटने पर भी मेरा सम्मान करेंगे, गुण नहीं है तो कुर्सी मिलने पर भी अधिक दिन टिकेगी नहीं ? फिर प्रधानमंत्री बनने का अभिमान कैसा ? और पद से हटने का दुःख कैसा ।”

वास्तव में विनम्र व्यक्ति तो अधिकार प्राप्त कर और अधिक विनम्र होता है। उसका स्वभाव सदा ही विनयशील रहता है ? गीतम गणधर इतने ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित होकर भी कितने विनम्र ! और कितने मधुर स्वभाव के थे ? क्योंकि उनके स्वभाव में, हृदय के कण-कण में विनम्रता रमी हुई थी !

तो उक्त तीन प्रकार से हम अभिमान को विजय कर सकते हैं और मान-प्रतिसंलीनता तप की आराधना कर सकते हैं। क्रोध की भांति मान प्रतिसंलीनता में भी दो बातें बताई गई हैं—मान के उदय का निरोध करें व उदय प्राप्त मान को विफल बना दें।

माया से दूर रहो

माया—तीसरा कपाय है। मायामोहनीय कर्म के उदय से मनुष्य माया में प्रवृत्त होता है।

साधारणतः माया का अर्थ है दुरंगा व्यवहार—मन में और तथा वचन में और—बाहर-भीतर का दुरंगापन—यह माया की पहचान है। राजस्थानी भाषा में माया का स्वरूप बताते हुए कहा है—

तन उजला, मन सांवला बगुला कपटी भेल।

यां सू तो कागा भला बाहर-भीतर एक।

ऊपर से उजलापन दिखाना और मन में कलुष भाव—पाप छिपाए रखना—यही माया है—कपट है, धोखा है तथा छल है !

क्रोध व अभिमान से भी माया को अधिक खतरनाक बताया गया है—
क्योंकि वे दोनों प्रकट दोष हैं—क्रोध व मान स्पष्ट दिगई देते हैं—मनुष्य

एक हड्डी ने पांव से लिपट कर यूँ कहा—

अरे देख के चल ! हम भी कभी इन्सान थे ।

तो शरीर, धन, वादि की अंतिम दशा यह होती है ! फिर किस बात का अहंकार ! प्रभुता में रावण जैसे भी समाप्त हो गए । सनत्कुमार जैसों का रूप भी क्षण भर में विकृत हो गया तो फिर तेरी क्या विसात है ? इस प्रकार धन-वीचन बल-वैभव आदि की असारता का अनुभव कर मनुष्य को चाहिए कि वह हृदय को निरभिमान, विनयशील बनाए ।

अभिमान को जीतने का पहला उपाय है, जिन कारणों से मन में अभिमान जगे उन कारणों की असारता एवं क्षणभंगुरता का विचार करें ।

अभिमान के समय अपने से ऊँचे व्यक्ति को देखो, जो वैभव व ज्ञान आदि में अपने से अधिक हुए हैं उनका विचार करें । यदि ज्ञान का अहंकार आता है तो सोचिए क्या आप गौतमस्वामी से भी अधिक बड़े ज्ञानी हैं ? बुद्धि व चातुर्य का अहंकार जगता है तो सोचिए—क्या आप अभयकुमार व चाणक्य से भी अधिक बुद्धिमान व चतुर हैं ? तप का अभिमान उभरता है तो विचार करिए—क्या धन्य अणगार से भी अधिक उग्र तपस्वी आप हैं ? क्या शालिभद्र से अधिक वैभवशाली, बाहुबलि से भी अधिक चतुरशाली, नंदीपेण से भी अधिक सेवाभावी हैं ? यदि नहीं, तो फिर आपका अभिमान व्यर्थ है, झूठा है ! इस अभिमान के समय हमेशा ऊपर—अपने से बड़ों को देखना चाहिए । इस चिंतन से अभिमान जैसे ही मन जाता है जैसे हवा जलने से पानी की बर्फ गल जाती है । अभिमान को दियत करने का यह दूसरा उपाय है ।

तीसरा उपाय है स्वभाव से मरु ! विनय होता है । विनयशील व्यक्ति संगति आदि मिलने पर भी अहंकार नहीं करता किन्तु और अधिक विनय होता है । चीन के शाओ धर्म में बताया गया है कि एक राजा ने अपने मंत्री को तीन बार प्रधानमंत्री बनाया और तीन बार ही प्रधान पद से हटाया । किन्तु जब उसे प्रधानमंत्री बनाया गया तो कभी उसके पहरे पर मर्ग की नज़र देना नहीं पगती और हटाया तो कभी शीनका में दुःखतापा नहीं ।

फट जाता है, वैसे ही कपटाई से मन फट जाते हैं। कपटी मनुष्य किसी का मित्र हो ही नहीं सकता। यहां तक कि भगवान भी कपटी से मित्रता नहीं रख सकते। और न उसका विश्वास भी कर सकते हैं ?

माया के दुष्फल

शास्त्रों में माया को शल्य कहा है, जैसे तीखा कांटा, भाला व तीर शरीर में चुभ जाता है तो उसकी पीड़ा समूचे शरीर में कसकती रहती है, दर्द सालता रहता है, वैसे ही कपट करने वाले की आत्मा में—किया हुआ कपट कांटे की तरह सालता रहता है। न केवल इस जन्म में ही, किन्तु—जन्म-जन्म में। सूत्र में यहां तक बताया है कि मास-मास खमण की तपस्या करने वाला भी यदि माया कपट करता है तो उसे तपस्या का सुफल मिलना तो दूर रहा, किन्तु उलटा अनन्त-अनन्त जन्मों तक वह संसार में दुःखों को भोगता है—

जे इह मायाइं मिज्जइ आगंता गब्भाय णंतसो ।^१

माया के तीन दुष्परिणाम बताये गये हैं—

१ मित्रता का नाश

२ विश्वास का नाश

३ परलोक में दुर्गति

माया कपट करने वाले की गति—परलोक विगड़ जाता है। शास्त्र में कहा है—माया गई पडिग्घाओ^२—माया से सद्गति का नाश होता है। आचार्य उमास्वाति ने कहा है माया तैर्यग् धोनस्य^३—माया तिर्यच गति को देने वाली है, पशु बांके होकर तिरछे चलते हैं इसका कारण है, माया का दुष्फल ! 'तिर्यच गति के चार कारणों में प्रथम दो कारण माया के ही बताये हैं—माइल्लयाए तियडिल्लयाए^४—माया कपट करने से, धूर्तता पूर्ण व्यवहार करने से प्राणी मरकर तिर्यच योनि में जन्म लेता है।

१ सूत्रकृतांग २।२।६

२ उत्तराध्ययन ६।५४

३ तत्त्वार्थ सूत्र ६।२७

४ स्यानांग ४।४

तुरन्त पहचान लेता है, किन्तु माया को पहचानना बड़ा कठिन है। यदि पहचान लिया तो फिर माया ही कैसी? अतः माया को गूढ़ दोग बताया है। मायावी अपने भावों को छिपाकर ऊपर से बड़ा सीधा सादा, मधुर भाव प्रदर्शित करता है, उसके लिए कहा है—

मुख ऊपर मिठास, घट मांहि लोटा घड़े

इसलिए माया को समझ पाना कठिन है, यह जितनी गूढ़ है, उतनी ही अधिक पापानुबन्धी है। गांधी जी कहते थे—‘दंभ (माया) छूट की उजली पोशाक है।’ असत्य स्वयं नंगा होता है, माया की उजली पोशाक पहन कर वह सभ्य समाज के बीच बैठने लायक हो जाता है। धर्म ग्रन्थों में माया को अत्यन्त निकृष्ट व धर्म को भ्रष्ट करने वाली बताया गई है—

माया करण्डी नरकस्थ हण्डी ।

तपो विषण्डी गुरुतस्य भण्डी ।

माया नरक की पिटारी है, तप को राखित करने वाली और धर्म को बदनाम करने वाली है।

स्वार्थ साधने के लिए, विषय वासना की पूर्ति के लिए, दूसरों से सत्ता अधिकार आदि हड़पने के लिए आज माया का गुलम-गुला प्रयोग हो रहा है। आज की राजनीति-माया कपट, छल-छद्म, धोखा और फरेब की एक जीती जागती तस्वीर है। मनुष्य कितना गूढ़ व कितना दंभी हो रहा है। क्षण-क्षण में कितने रूप, कितने चेहरे बदलता है और कितनी खोलियां खोलता है—यह आज की राजनीति की गंदी नीति में देखा जा सकता है। इसी दंभ व धूर्तता के कारण आज कोई किसी का विन्यास नहीं करता। कोई किसी का मित्र नहीं होता। माया—ऐसी तेज कैंची है जिसकी पहली धार में मित्रता के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं और दूसरी धार में विन्यास—मित्रदे-मित्रदे होकर बिखर जाता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा है—माया मित्रानि नामेह^१—माया मित्रता का नाश करती है। जैसे गटार्दे से दूध

प्रकार माया रूप विष वृक्ष को फलवान बनने से पहले, अर्थात् माया आचरण में आने से पहले ही उसे रोक दें । यह माया प्रतिसंलीनता तप है !

लोभ सर्व नाशक है

जैन धर्मके प्राचीन ग्रंथ उपदेश माला में कहा गया है—

लोभ मूलानि पापानि रसमूलानि व्याधयः

स्नेह मूलानि शोकानि त्रीणि त्यक्त्वा सुखी भवेत् ॥

सब पापों की जड़-लोभ है ।

सब रोगों की जड़-स्वाद है ।

सब शोकों की जड़-स्नेह है ।

इन तीनों को त्याग करने वाला सुखी होता है ।

इसीलिए संसार में 'लोभ पाप का बाप' कहा जाता है । पुराने संत कहा करते हैं—

अठारे पापों का परम-पितु लोभी लचक है,

गई शुद्धी बुद्धि अगणित दुःखों में गचक है ।

करे हत्या चोरी दनकर अघोरी फिरत है,

महा मिथ्या भाषी विषय-अभिलाषी गरत में !

अठारह पापों का बाप लोभ है—लोभी की शुद्धि-बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, लोभ के वश हुआ मनुष्य हत्या, चोरी जैसे घृणित और क्रूर कर्म करने को तत्पर हो जाता है, झूठ बोलना उसके लिए साधारण बात है । वास्तव में—मनुष्य कितना ही चतुर हो, वक्ता हो, राजनीतिज्ञ हो, किन्तु यदि लोभ की माया अधिक होती है तो वह लोगों की दृष्टि में हीन हो जाता है, उसके सब गुण ढंक जाते हैं । जैसे लहसुन में समस्त गुण हैं, वह रसायन है, किन्तु एक उग्रगंध के कारण उसके समस्त गुण दब जाते हैं और लोग उसे हेय मानते हैं । बहुत से धर्मों में आज भी लहसुन खाना मना है । तो कहने का अर्थ है कि —निखिल रसायनमहितो दोषेणैकेन निन्दितो भवति—समस्त रसायन का मूल लहसुन जैसे उग्र गंध के कारण निन्दित होता है, वैसे ही समस्त गुण विभूषित पुरुष भी एक लोभ के कारण लोगों की दृष्टि में हीन

कपट—अगले जन्म में तो पशुत्व देता ही है, किन्तु इस जन्म में भी उसे विवेक हीन, क्रूर एवं वक्राचारी बना देता है। इसलिए विवेकवान् मनुष्य को माया का सर्वथा त्याग करना चाहिए। यहां तक कि धर्म और पुण्य करने के लिए भी कपट सेवन नहीं करना चाहिए। ज्ञातामूत्र में मल्लिप्रभु का उदाहरण देकर बताया गया है—धम्म विसए वि सुहुमा माया होइ—अणत्थाय^१—धर्म के विषय में की हुई थोड़ी सी माया भी महान् अनर्थ करने वाली होती है।

माया विजय

ऐसी दुर्जय एवं अनर्थकारी माया को जीतने का एक ही साधन है—सरलता ! जब तक हृदय सरल नहीं होगा, कपट को जीता नहीं जा सकता। सरल हृदय पाप नहीं करता, यदि करता है तो तुरन्त उसे स्वीकार कर उसका प्रायश्चित्त कर लेता है। सरलता-छुपाना नहीं जानती। वह बाहर-भीतर एक जैसा व्यवहार करती है, इसलिए जहां सरलता होती है, वहां माया ठहर ही नहीं सकती। जहां सरलता होगी, वही सत्य होगा, जहां सत्य होगा वही प्रकाश होगा, आनन्द होगा और मोक्ष होगा। इसलिए एक शब्द में कहा जा सकता है मोक्ष का मूल-सरलता है, धर्म का आधार सरलता है—सोही उज्जुभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई^२—सरल की आत्मा शुद्ध होती है और शुद्ध हृदय में ही धर्म टिक सकता है। इसीलिए जात्य में कहा है—माया भज्जय भावेण^३—माया को, कपट को सरलता से जीतो।

माया प्रविर्गतीनता में भी दो बातें बही गई हैं—माया के उदय का निरोध करना, अर्थात् माया नहीं करना और माया का संकटय मन में आया हो तो उसे कार्यमग्न में परिणत न करना, किन्तु विवेक य आत्मपूर्यक विचार करके माया के संकल-विकल को फल हीन बना देना। जैसे विप के अंगुर को सूख रूप में कपने से पहले ही उग्राद डालना अच्छा होता है, वही

१ ज्ञातामूत्र १।८

२ उतराण्णवण

३ दग्गवेकाविकार ८।३६

संतोष से लोभ को जीतो

लोभ को जीतने का एक ही मार्ग है और वह है—संतोष ! लोहं संतोसओ जिणे—लोभ को संतोष से जीतो । आग को शांत करने के लिए पानी की आवश्यकता है, भूख मिटाने के लिए रोटी की और रोग मिटाने के लिए औषधि की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार लोभ को जीतने के लिए संतोष ही एक मार्ग है ।

संतोष से मन की लाससाएं, आशाएं कम होती हैं । वासना पर काबू पाया जाता है । विषयों से विरक्ति होती है, और जो वस्तु प्राप्त है उसी में आनंद का अनुभव किया जाता है । इस प्रकार संतोष के तीन फल सिद्ध हुए—

१ लालसाओं की कमी

२ विषयों से विरक्ति

३ प्राप्त सामग्री में आनन्द

हम अनुभव करते हैं और शास्त्र में भी बताया है कि मन की लालसाएं, आकाश के समान अनन्त हैं, असीम है^१, सागर तल की भांति अपार है, कोई उन्हें भरना चाहे तो वैसा ही असंभव काम है जैसे सागर जैसे गड्ढे को मिट्टी से भरना । इच्छा वस्तु से नहीं भरी जा सकती है । रोटी खाने से पेट भर सकता है, लेकिन मन नहीं भर सकता, मन तो तभी भरेगा—जब अन्य वस्तु-मिष्टान आदि की इच्छा नहीं रहेगी, और जो रूखी-सूखी रोटी मिले, उसी में आनन्द अनुभव होगा । योगदर्शनकार पतंजलि ऋषि ने कहा है—संतोषादनुत्तमः सुखलाभः^२ जो सुख, धन, संपत्ति, अधिकार और प्रभुत्व से प्राप्त नहीं हो सकता वह सुख—“सर्वोत्तम सुख संतोष से प्राप्त होता है । संतोषी के सामने समस्त वैभव तुच्छ होते हैं—मुत्तोएणं अकिचणं जणयइ^३—निर्लोभता से हृदय में अकिंचन भाव—अर्थात् भोग्य वस्तु को तुच्छ व सारहीन समझने की बुद्धि जग जाती है, इससे भौतिक वस्तुओं का आकर्षण कम हो जाता है ।

१ इच्छा हु आगास समा अणंतिया—उत्तराध्ययन

२ योग दर्शन २।१२

३ उत्तराध्ययन २।१४७

एवं निन्दित समझा जाता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा है—
लोहो सव्वविणासणो—लोभ सब गुणों का विनाश करने वाला—विध्वंसक है।
यह वह चूहा है, जो रात-दिन सद्गुणरूपी वस्त्रों को कुतर-कुतर काटता
रहता है। लकड़ी में दीमक लग जाती है तो लकड़ी को भीतर-ही-भीतर
से खोखला कर डालती है। वैसे ही लोभ की दीमक जिस-जिस जीवन में
लग गई उसे भीतर-ही-भीतर घुनती जायेगी और जीवन सद्गुणों से हीन,
सूना और खोखला हो जायेगा। लोभी मनुष्य लोभ में इतना बहरा हो जाता
है कि धर्म, पुण्य, सेवा, कर्तव्य और स्नेह की कोई पुकार उसके कानों में
नहीं पहुँच पाती। इसलिए लोभ को सद्गुणों का संहारक कहा है।

लोभ प्रतिसंलीनता का साधक लोभ के दुर्गुणों को समझ कर उसे दूर से
ही छोड़ने का प्रयत्न करता है। जब कभी उसके मन में लोभ की लहर उठती
है तो वह सोचता है—मैं गलत रास्ते पर चल रहा हूँ। यह कांटों का रास्ता
है, इस पर चलने से मुझे कष्ट होगा, पीड़ा होगी और आखिर महाविनाश के
खड्गे में जा गिरूँगा। इतिहास के अनेक उदाहरण उसके सामने निरपट की
भांति आकर बोलने लगते हैं अमुक ने लोभ किया तो उसका नाश हुआ,
अमुक लोभ के कारण अकाल में ही मृत्यु के मुँह में चला गया, अमुक लोभी
ने जीवन भर इतने कष्ट झेले।

ज्ञानी तापस सूर कवि, कीविद पुन अनगार ।

केहि की लोभ विदम्बना कीन्ह न एहि संसार ।^१

फिर लोभ से इस लोक में ही नहीं, किन्तु परलोक में भी कष्ट उठाने
पड़ेंगे—लोहाओ दुहाओ भयों लोभ से दोनों जन्म में भय, कष्ट और पातना
सेलनी पड़ती है।

इन प्रकार यह लोभ के उदय को रोकता है, मन से लोभ की भावना
दूर कर मन को निर्लोभ, संतुष्ट व माँग बनाता है।

१ रामचरित मानस,

२ उत्तराखण्ड २।४४

अर्थ क्या है—इसे समझने के लिए जैन एवं वैदिक ग्रन्थों का सूक्ष्म अवलोकन करना चाहिए ।

योगदर्शन के प्रणेता महर्षि पतंजलि ने कहा है—योगश्चित्तवृत्ति निरोधः^१—चित्त वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं । गीता में समता को योग कहा है—समत्वं योग उच्यते ।^२ बौद्ध आचार्यों ने—कुशल प्रवृत्ति अर्थात् सत्प्रवृत्ति को—कुशल प्रवृत्तिर्योगः योग कहा है । जबकि जैन परिभाषा में योग का अर्थ इनसे प्रायः भिन्न ही है । यद्यपि भगवान महावीर के पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने योग के अर्थ को कुछ संशोधित कर वैदिक परिभाषा के निकट लाने का प्रयत्न किया है, जैसा कि आचार्य हरिभद्र सूरि ने कहा है—

मोक्षेण ज्ञेयणाओ, जोगो सव्वोपिधम्म ववहारो ।^३

—जो आत्मा को मोक्ष के साथ जोड़ता है वह सभी धार्मिक व्यवहार योग है । आचार्य हेमचन्द्र ने भी योग को इसी परिभाषा में बिठाया है—मोक्षोपायो योगः^४—मोक्ष का जो उपाय है, वही योग है । किन्तु प्राचीन आगमों में 'योग' शब्द का अर्थ कुछ दूसरा ही है । वहाँ—योग की परिभाषा तो नहीं मिलती, किन्तु योग के तीन भेद मिलते हैं—मनोयोग, वचन योग तथा काययोग । इनसे यह स्पष्ट होता है कि—कायवाङ्मनो व्यापारो योगः^५—शरीर, वचन एवं मन का व्यापार—इनकी हलन चलन रूप प्रवृत्ति को योग कहा गया है । मन की प्रवृत्ति को मनोयोग, वचन की प्रवृत्ति को वचनयोग तथा काया की प्रवृत्ति को काययोग कहा गया है । इन योगों की प्रवृत्ति शुभ एवं अशुभ दोनों प्रकार की हो सकती है, अतः योग शुभ भी होता है तथा अशुभ भी ! अन्य परिभाषाओं में तथा आगम की इन परिभाषा

१ पातंजल योग दर्शन १।२

२ गीता २।४८

३ योगविशिका

४ अभिधान चिन्तामणि १।७७

५ जैमिनिद्वयान्त दीपिका ४।२६

(ग) देखिए—तत्त्वार्थ सूत्र ६।१ से ४ तक

कहते हैं संवत् १३१३ में पंढरपुर में एकदंपती रहते थे जो बड़े ही संतोपी थे। पति, पत्नी से अधिक संतोपी था तो पत्नी पति से भी बढ़कर ! एक बार दोनों कहीं जा रहे थे। पति (रांका) आगे-आगे चल रहा था। रास्ते में एक रूप्यों की थैली पड़ी दिखाई दी। उसने सोचा—“शायद किसी की गिर पड़ी होगी। इसे देखकर कहीं पत्नी (वांका) का मन न चले” अतः उसने थैली पर धूल डाल दी ! पीछे-पीछे आती वांका ने देखा तो बोली—क्या कर रहे हो ? सकुचाते हुए रांका ने कहा—थैली पड़ी थी, किसी का मन बिगड़े नहीं अतः धूल डाल रहा हूँ। वांका (पत्नी) ने गम्भीर होकर कहा—“मिट्टी पर मिट्टी डालने की जरूरत क्या है ? आप इसे धन समझते ही क्यों हैं ? यह तो मिट्टी है !”

तो यह संतोष की चरम स्थिति है, लोभ विजय की पराकाष्ठा है—जब सोने में और मिट्टी में, तृण में और मणि में समान बुद्धि बन जाती है—तब लेट्टू कंचणा^१ मिट्टी के ढेलों में और सोने के टुकड़े में श्रमण समान वृत्ति रखते हैं। यह वृत्ति संतोष से आती है, लोभ की जीतने से आती है। और लोभ की जीतने का तरीका है—भोग्य वस्तु को असार एवं महत्व हीन अकिंचन—तुच्छ समझना !

संतुष्ट व्यक्ति के हृदय में यदि कभी कभार लोभ की लहर उठ आती है तो वह तुरन्त उसका निग्रह भी कर लेता है। लोभ के पीछे दीड़ता नहीं, किन्तु मन को मोड़ लेता है। क्योंकि उसे अनुभव है—सुख वस्तु में नहीं, आत्मा में है। लोभ करने से अधिक दुःख होगा, जैसे गुजली को गुजलाने से अधिक जलन होती है, अतः द्रष्टाओं को गुजली मिटाने का तरीका यही है कि उन्हें छेड़ा ही न जाय। यही परम संतोष का मार्ग है। लोभ प्रतिमंतीनता की साधना है।

योग प्रतिमंतीनता

योग की परिभाषा

प्रतिमंतीनता तप का तीसरा भेद है—योग प्रतिमंतीनता। योग का

—मनोयोग प्रतिसंलीनता तीन प्रकार की है—जैसे

अकुशल मन का निरोध,

कुशल (शुभ) मन की प्रवृत्ति,

मन को एकाग्र करना

मन के रूप

मन का अर्थ है—चिन्तन-मनन करने की शक्ति । दार्शनिकों ने मन की सैकड़ों प्रकार की परिभाषाएँ की हैं, उनके भंवरजाल में उलझने से कुछ पल्ले पड़ने वाला नहीं है । मुख्य बात यह है कि कान, नाक, जीभ, आदि इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान, तथा अनुभव मनन करने की जो चिद्शक्ति है वह मन है । मन एक प्रकार से इन्द्रिय—एवं आत्मा के बीच की कड़ी है ।

मन के अनेक रूप हैं, किसी समय मन चंचल रहता है, किसी समय स्थिर । कभी वह क्रूर एवं अशुभ विचारों की गंदी नाली में बहता रहता है, कभी शुभ संकल्पों की पवित्र धारा में । मन कभी साधु बन जाता है, कभी शैतान ! कभी भगवान में लीन हो जाता है और कभी विषय-वासना के कीचड़ में । इस तरह मन के अनेक रूप हमारे सामने आते हैं । वैसे साधारणतः मन चार प्रकार के बताये गये हैं—अर्थात् मन की ये चार अवस्थाएँ होती हैं ।

१ चंचल मन—कामी, लोभी, विषय वासना में फंसे हुए मनुष्यों का । सत्ता, धन आदि की प्राप्ति के लिए तोड़-फोड़ आदि में संलग्न मन 'चंचल मन' है ।

२ मुर्दा मन - आलसी निष्क्रिय व्यक्तियों का मन मुर्दामन होता है । उसमें न सांसारिक विषयों की प्राप्ति की उमंग होती है और न प्रभु भजन, सच्चित्तन की लीनता । एक प्रकार से वह शांति तो चाहता है किन्तु सचेतन शांति नहीं, उद्यान की रमणीय शांति नहीं, किन्तु श्मशान की वीरस शांति ही उसको प्रिय लगती है । इसलिए मुर्दामन कहा है ।

३ शांत मन—यह मन सच्चित्तन में, प्रभु भजन स्तवन आदि में तथा

में यही बहुत बड़ा अन्तर है, अन्य सब परिभाषा योग को शुभ एवं मोक्ष का साधक ही मानती है, जबकि आगम की परिभाषा के अनुसार योग—शुभ-अशुभ दोनों प्रकार का होता है, शुभ योग पुण्य का कारण है, अशुभ योग पाप का ।^१

प्रश्न हो सकता है—योग की परिभाषा में इतने बड़े अन्तर का कारण क्या है ? उत्तर है - जैन आगम योग को मात्र एक प्रवृत्ति रूप मानते हैं, प्रवृत्ति के अर्थ में ही वहां योग शब्द का व्यवहार हुआ है जबकि अन्य विद्वानों ने योग को आध्यात्मिक साधना के रूप में माना है । जैन आगमों में इसीलिए 'योग-निरोध' को संवर व मोक्ष माना है, क्योंकि शुभ-अशुभ योगों का संयथा निरोध होने पर ही आत्मा पूर्ण रूप में स्वरूप दशा में स्थिर होती है, और स्वरूप दशा में स्थिर होना ही मोक्ष है । इस दृष्टि से जैन परिभाषा का यह अन्तर स्पष्ट हो जाता है कि योग—एक प्रवृत्ति है, चंचलता है, व्यापार है । इसीलिए यहां योगों की प्रवृत्ति को अशुभ से हटाकर शुभ (कुशल) व्यापार में लगाना और शुभ-अशुभ दोनों व्यापारों का निरोध करना—इसे ही प्रति-संलीनता तप कहा गया है ।

तीन भेद

योग प्रतिसंलीनता तप तीन प्रकार का है—

- १ मन योग प्रतिसंलीनता
- २ वचन योग प्रतिसंलीनता
- ३ काय योग प्रतिसंलीनता

मन आदि प्रत्येक योग के तीन-तीन भेद बताये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—

मनयोग पञ्चसंलीनता तिथिहा—पञ्चता तंजहा—

अकृमलमन निरोहो वा

कृमलमन उदोर्ण वा

मज्जता वा एगलीभावकरण

जैसे नदी की धारा सदा बहती है वैसे ही मन सदा गतिशील रहता है। हां, नदी की धारा हमेशा ही नीचे की ओर बहती है, जबकि चित्त नदी की धारा कभी नीचे और कभी ऊपर—दोनों ओर ही बहती है। इसलिए महर्षि-पतंजलि ने चित्त रूप नदी को 'उभय-वाहिनी' बताया है—चित्तनदी नाम उभयतो वाहिनी, वहति कल्याणाय, वहति पापाय च। चित्त नाम की नदी कभी ऊपर की ओर—पुण्य के लिए, शुभ कर्म के लिए बहती है तो कभी नीचे की ओर पाप की तर्फ बहती है। दोनों ओर इसका मुंह है इसलिए यह द्विमुखी धारा है। आरण्यक में कहा है—

मनोहि द्विविधं प्रोषतं शुद्धं चाऽशुद्धमेव च।

अशुद्धं कामसंपर्कच्छुद्धं काम विवर्जितम्।^१

मन दो प्रकार का है—शुद्ध और अशुद्ध। कामनाओं से सहित मन अशुद्ध है और कामनाओं से रहित मन शुद्ध है।

पानी का प्रवाह जिस प्रकार सहजतया नीचे की ओर ही बहता है उसी प्रकार मन भी सहजतया अशुभ विचारों की ओर अधिक बहता है। बुरे संकल्प, अशुद्ध विचार अनायास ही मन में आ जाते हैं, जैसे वृक्ष पर पक्षी बिना बुलाये ही आकर बैठ जाते हैं, उसी प्रकार मन में अशुभ विचार भी बिना बुलाये, बिना किसी प्रयत्न के अपने आप आ जाते हैं। यह तो प्रकट सत्य है कि मन कभी विचारशून्य नहीं रहता। मन को विचारों से खाली करने की बात—सहज रूप में अनुभवगम्य नहीं है। साधारण साधक के लिए वह संभव भी नहीं है, अतः जैन दर्शन में तथा योगदर्शन में भी सर्वप्रथम मन का परिष्कार करने की विधि पर ही बल दिया है। अशुभ विचारों से मन को हटाना, मन की कलुषता का प्रक्षालन करना और शुभ विचारों की ओर उसे मोड़ देना—मनोनिग्रह की प्रथम भूमिका यही है। इसे ही मन का संयम कहा है।^२

१ मंत्रायणी आरण्यक ६।३४—६

२ मणसंजमो नाम अकुसलमणपिरोहो कुसलमणउदीरणं वा।

—आचार्य जिनदास, दशवैकालिक चूणि १

सत्कर्म में लगा रहता है। इस मन में सक्रियता भी होती है और शांति भी ! आनन्द एवं प्रसन्नता का अनुभव करता हुआ यह मन सदा शांत रहता है।

४ स्थिर मन—समाधि ध्यान आदि में शांति के साथ स्थिर हुआ योगी जनों आदि का मन स्थिर मन या एकाग्र मन कहलाता है।

कुछ भेद के साथ आचार्य हेमचन्द्र ने भी मन की चार अवस्थाओं का वर्णन किया है—

इह विक्षिप्तं यातायातं श्लिष्टं तथा सुतीनं च ।

चेतश्चतुःप्रकारं तज्ज्ञैः समत्कारकारि भवेत् ।^१

१ विक्षिप्तमन—चंचल, विषयों में भटकता हुआ मन !

२ यातायातमन—उपर-उपर दौड़ता हुआ मन । कभी भीतर में जाकर स्थिर होता है और कभी फिर बाहर आकर विषयों में भटकने लगता है। इस चित्त में कुछ-कुछ आनंद की भी अनुभूति होने लगती है।

३ श्लिष्टमन—भीतर में स्थिर हुआ। आत्मानुभव के कारण आनन्द एवं प्रसन्नता में लगा हुआ यह चित्त प्रायः आध्यात्मिक विषयों में स्थिर हुआ रहता है।

४ सुतीनमन—आत्मानुभव में अत्यन्त लीन समाधिस्य चित्त ! ये अवस्थाएँ चित्त के क्रमिक विकास की सूचित करती हैं, साथ ही मन उत्तरोत्तर स्वरूप, आत्मनिष्ठ एवं शुद्ध होता हुआ जब अष्टम दशा में पहुँचता है तो परम योगी का पद प्राप्त कर लेता है।

पहले शुद्धीकरण, फिर स्थिरीकरण

यह निश्चित बात है कि मन ध्यान से भी अधिक चंचल है। इसका निग्रह करना, इसे पकड़ना वायु को पकड़ने से भी अधिक दुष्कर है—
वायोऽपि सुषुप्तेः^२—इसीलिए कहीं इसे बन्दर या चंगन, कहीं मोड़ें या दुस्लाहरी, लेज दीड़ने वाला,^३ कहीं समुद्र की लहर-या अस्थिर व तीव्रगामी बताया गया है।

१ योगशास्त्र १.२.२ में ४

२ गीता ६.३४

३ उत्तराध्यायन २३ । योगशास्त्र उत्तमिष्ठ २१२

घड़ाम से गिर पड़ा, राजकुमार के प्राण तो बच गये, लेकिन इस जंगल में वह अब अकेला बे-सहारा हो गया, वापस जाये तो कैसे ? और लंगड़े घोड़े को सिर पर उठाकर कैसे ले जाय ? जो घोड़ा वाहन था, वह अब वाह्य बन गया, राजकुमार सिर पर हाथ घरे बैठा सोच रहा था ।

दूसरे राजकुमार ने भी घोड़े को रोकने की बहुत चेष्टा थी, किन्तु जब वह कैसे भी नहीं रुका तो वह स्वयं ही घोड़े से कूद पड़ा । कूदते ही उसकी टांग टूट गई, घोड़ा भी वहां ठहर गया ।

तीसरे राजकुमार ने भी घोड़े को रोकने की चेष्टा की, ज्यों-ज्यों रोकने की चेष्टा की, घोड़ा तेज से तेज दौड़ता गया । आखिर उसने घोड़े की रास—(लगाम) ढीली छोड़ दी, जैसे ही लगाम ढीली छोड़ी, घोड़ा वहीं रुक गया, राजकुमार नीचे उतर कर छाया में विश्राम करने लगा । कुछ देर बाद उसने अपने भाइयों की खोज की, तो एक भाई अपनी टांग तोड़े बैठा मिला तो दूसरा घोड़े की टांग तोड़कर बैठा मिला ।

जो साधक इन्द्रिय एवं मन को वश में करने के लिए उन्हें नष्ट करने, बेहोश करने तथा नशे-पते के द्वारा मूर्च्छा देने की बात करते हैं वे घोड़े की टांग तोड़ते हैं । यदि घोड़े को अपंग कर दिया तो फिर वह घोड़ा आपको कहीं भी नहीं ले जा सकेगा, जहां भयंकर जंगल में ले जाकर डाल दिया उस वही पड़े रहोगे । दूसरे सवार की भांति कुछ साधक मन व इन्द्रियों को बिल्कुल खुला छोड़ देने की बात कहते हैं । उन्हें यह घोड़ा कहां लेजाकर पटकेंगा और कितना नुकसान करेगा कुछ पता नहीं ? उन्हें जीवन यात्रा के सर्वथा-अयोग्य ही बना देगा ! इसलिए तीसरे घुड़सवार की भांति मन को ढीला छोड़कर उसे दौड़ने से रोकना चाहिए । मन को कहां पर रोकना, कसना और कहां पर ढीला छोड़ना—जो साधक इस कला में निपुण होगा वही मन को प्रशान्त बनाकर समाधिस्थ कर सकता है ।

मन को कैसे मोड़े ?

मन के दुस्साहसिक उत्पथगामी घोड़े का सुपथ पर लाने के लिए क्या करना चाहिए ? यह प्रश्न साधक जीवन के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है ।

कुछ साधक सबसे पहले मन को एकाग्र करने की बात करते हैं, किन्तु यदि मन शुद्ध नहीं हुआ तो एकाग्रता से क्या लाभ होगा ? मछली को पकड़ने के लिए दगुला भी एकाग्र होता है, चूहे पर ताक लगाकर बिल्ली भी एक चित्त होकर बैठी रहती है—क्या यह एकाग्रता नहीं है ? किन्तु यह एकाग्रता भी घातक अशुद्ध एवं पाप मय है । इसलिए जैन दर्शन पहले मन के परिष्कार की बात कहता है । फिर एकाग्रता की ! शुद्ध मन ही एकाग्रता रूप ध्यान—चित्तन कर सकता है ।

तीन घुड़सवार

भारतीय साधकों में कुछ हठयोगी साधक मन को मारने की बात भी कहते हैं । नशा करके, भाँग, गांजा चरस आदि के द्वारा मन को विचार-शून्य करने के प्रयत्न करते हैं ! मन को मूर्च्छित कर के तल्लीनता का आनन्द अनुभव करना चाहते हैं । किन्तु यह साधना का गलत तरीका है । मन को मूर्च्छित करने से, इन्द्रिय आदि को काट देने से मन स्थिर नहीं हो सकता, वह तो एक प्रकार का मुर्दा मन हो जायेगा । मन अपंग हो गया, मूर्च्छित हो गया तो फिर शुभ कार्यों में भी वह गतिशील नहीं होगा ? अच्छा घुड़सवार वह नहीं है जो घोड़ा वन में नहीं जाये तो उसकी टांग थोड़कर संगड़ा ही कर दे, घुड़सवार तो वह है जो अपनी कुशलता से घोड़े को वन में करे, अपने कानू में रहे ।

किसी राजा के तीन पुत्र थे । तीनों ही घुड़सवारी के बहुत शौकीन थे । एकवार राजदरबार में बहुत से विदेशी घोड़े आये । राजा ने तीनों राजकुमारों के लिए एक-एक सुन्दर घोड़ा चरीद कर उन्हें दिया । राजकुमार बहुत प्रसन्न हुए । तीनों ही अपने-अपने घोड़ों पर चढ़कर सैर करने निकले ।

घोड़े दोढ़े तो कुछ ही धान में हवा में गिरते हुए बहुत दूर जा निकले । रोक्ने के लिए जैसे राम रोक्ते वैसे घोड़े और तेज ! और अधिक तेज दोढ़ने लगे । राजकुमारों का मन फूटने लगा । पहले ने सोचा—यदि घोड़े ने कहीं मारुहे मे, मारुहे मे मिरा दिया तो शायद पर खन जावेगी, इसलिए जैसे भी हो इसे रोककर लौटे उत्तरना चाहिए । और कोई उपान न देखकर उसने अपनी तलवार निकाली और घोड़े की टांग काट डाली । घोड़ा वहीं

से मन और अधिक दीड़ने लगता है और न रोकने से शांत हो जाता है ।

जैसे मदोन्मत्त हाथी को रोका जाए तो वह उस ओर ज्यादा तेजी से दीड़ना चाहता है, और उसे न रोका जाय, तो वह अपने इस विषय को प्राप्त कर सहज रूप में शांत हो जाता है । यही स्थिति मन की है ।

धारा बदल दो

मन को विषयों से रोकने से अधिक विषयोन्मुख बनता है, और खाली छोड़ने पर भी विषयों का चिंतन करता है ! इसलिए उसे शुद्ध बनाने का यही एक उपाय है कि उसे शिथिल कर दिया जाय, अर्थात् उसे रोकने के बजाय उसका मार्ग बदल दिया जाय । नदी का प्रवाह रोकने पर बाढ़ का भयंकर रूप धारण कर अधिक विनाशकारी हो सकता है, यदि खेतों की ओर, तथा शुष्क भूमि की ओर उसका प्रवाह बदल दिया जाय तो वही विनाश निर्माण में बदल सकता है । अवारितं शान्तिमुपयाति से आचार्य का यह अभिप्राय नहीं है कि मन को विषय भोगों की खुली छूट दे दी जाय ! खूब भोग भोगे ! यदि ऐसी ही बात होती तो फिर स्वयं आचार्य क्यों मन का संयम करते ? क्यों साधना, भक्ति और ध्यान योग में प्रवृत्ति करते ? मन तो विषयों को भोग कर स्वयं ही शांत हो जाता ? किन्तु ऐसा मानना स्पष्ट ही मूर्खता होगी । मन को रोकना नहीं का अर्थ यह है कि मन की गति में आगे चढ़ान मत लगाओ, किन्तु उस की धारा को बदल दो ! अधोगामी धारा को ऊर्ध्वगामी बना दो, अशुभ संकल्पों को शुभ संकल्पों में बदल दो ! जिस मन में मिट्टी, कंकर भरे हैं, उसमें हीरे-जवाहरात भर दो ।

मन की शुद्धि के लिए जैन धर्म में अनेक प्रकार की साधनाएं बताई गई हैं । ध्यान व एकाग्रता की साधना से पहले अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाएं बताई है, मैत्री, प्रमोद, करुणा, व माध्यस्थ्य भाव की साधना बताई गई है, यह भावना को शुद्ध व उदात्त बनाने की ही प्रक्रिया है । इन भावनाओं में संसार के विषयों के प्रति वैराग्य मन चित्तन होता है, दूसरों के गुण, फलंध्य पालन आदि पर प्रसन्नता अनुभव की जाती है—एक प्रकार मन में शुभ विचारों का उदय होता है, अशुभ विचार दब जाते हैं ।

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व इसी प्रकार का एक प्रश्न केशीकुमार श्रमण ने गणधर इन्द्रभूति गौतम से किया था—

अयं साहसिओ भीमो दुट्ठस्सो परिधावइ ।

जंसि गोयम आरुढो कहं तेण न होरसि ?

हे गौतम ! यह घोड़ा बड़ा दुस्ताहसिक और दुष्ट स्वभाव वाला है, तुम उस पर आरुढ़—सवार हो, तो क्या तुम्हें वह घोड़ा कोई कष्ट नहीं देता ?

गौतम ने उत्तर दिया—

मणो साहसिओ भीमो दुट्ठस्सो परिधावइ ।

तं सम्मं तु निगिण्हामि धम्म सिवसाइ कंयणं !^१

मन का यह साहसिक—दुष्ट घोड़ा है, बड़ा ही चंचल व तेज ! मैं धर्म शिक्षा रूप लगाम से उसे अपने वश में किये रखता हूँ । इसलिए यह मुझे कोई परेशान नहीं करता, जिधर भी उसे थोड़ाना चाहता हूँ वह उधर ही दौड़ता है ! घोड़ा अपने मन से नहीं, किन्तु नवार के मन से चले, वश-दामी में सवार की दक्षता है । वही सच्चा अस्वारोही है !

गौतम स्वामी ने मन के घोड़े को मोड़ने का, वश में करने का यह तरीका बताया है—धर्म शिक्षा ! धर्म शिक्षा का अर्थ है—विवेक ! सद्चिन्तार, उच्चमनस्कत्व ! मन को सुविचारों में रोक्ने का यही एक तरीका है—सद् विचार !

आचार्य हेमचन्द्र ने मन को प्रायः बनाने का साधन बताते हुए कहा है—

चेतोऽपि यत्र यत्र प्रयतन्ते सो ततस्ततो धारणम् !

अधिकीभयति हि वाशितमथारितं नातिमुपयति !

मत्तो हस्ती यत्नाद्रिषदार्थमाणोऽपिषयी भयति पश्यद् ।

अनियारितस्तु क्षामान् समया साम्यति मनसद्भूत्^२

—मन दिन-दिन विषयों में प्रयुक्त होता हो, उनके उसे कदापु रोकने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए । क्योंकि बलपूर्वक—तुदायह के साथ रोकने

१ उगसाधम्मन सूत्र २३।१७-१८

२ योगसाधन १२।२७-२८

की प्राप्ति बताई गई है। अतः पहले मन का शुद्धीकरण करके फिर स्थिरीकरण किया जाता है, यही मन प्रतिसंलीनता के तीन भेदों में स्पष्ट किया गया है—कि सर्वप्रथम मन को अशुभ विचारों में जाने से रोको, फिर उसे शुभ विचारों से पवित्र बनाओ, शुभ भावना के द्वारा निर्मल बनाओ और उसके बाद किसी एक शुभ ध्येय पर उसे एकाग्र करो। एकाग्रता का विशेष सम्बन्ध ध्यान से है अतः इस विषय की चर्चा अधिक विस्तार के साथ ध्यान प्रकरण में ही की गई है।

मन शुद्ध, तो वचन शुद्ध

वचनयोग प्रतिसंलीनता के भी तीन प्रकार बताये गये हैं—

१ अकुशल वचन का निरोध।

२ कुशल वचन का प्रवर्तन।

३ वचन का एकत्रीभाव—अर्थात् मीन का आलंबन।

मन की तरह वचन भी एक अद्भुत शक्ति है। इन दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। मन यदि राजा है तो वाणी उसका दूत है। मन यदि ध्वजा है तो वाणी उसका दंड है। वैदिक ग्रन्थों में कहा गया है—

मनसा हि सर्वान् कामान् ध्यायति

वाचा हि सर्वान् कामान् वदति ^१

सर्वप्रथम मन से ही अभीष्ट पदार्थों का ध्यान किया जाता है, फिर वाणी उस ध्यान व संकल्प को बाहर में व्यक्त करती है। मनुष्य पहले सोचता है, चिंतन संकल्प करता है, फिर उसे वाणी द्वारा प्रकट करता है, बोलता है, इसलिए हमारे जीवन व्यवहार में मन और वाणी का पूर्वापर सम्बन्ध है।

मन एव पूर्वं रूपं वायुत्तररूपम्^२

मन पूर्व रूप है, वाणी उत्तर रूप है। मन में जो बात होगी, वही वाणी द्वारा प्रकट होगी। मन के कुएं में विचारों का जैसा पानी होगा, वाणी के

१ ऐतरेय आरण्यक १।३।२

२ सांख्यिक आरण्यक ७।२

कुशलीकरण

अनेक ग्रन्थों में विचार प्रवाह को शुभ बनाने के लिए ज्ञान, भक्ति एवं कर्म—तीन साधन मुख्य रूप से बताये गये हैं। ज्ञान से वस्तु की असारता का चिन्तन करने पर मन विषयों से स्वयं हट जाता है, भक्ति मार्ग में इन्द्रियों के विषयों की सात्विक तृप्ति होती है—जैसे संगीत सुनने का शौक है तो प्रभु भक्ति के गीत सुनना, प्रभु के रम्य रूप का अन्तर्बोधों द्वारा दर्शन करना इत्यादि। कर्म मार्ग के द्वारा—मन को सतत कर्मशील—कार्य में जुटाए रखना, सेवा, सहयोग परोपकार आदि के कार्यों में लगे रहने से मन भी उसी प्रकार के विचारों में रमता है। इस तरह उक्त, सोलह भावनाएं तथा ज्ञान योग, भक्ति योग एवं कर्म योग की साधना के द्वारा—मन योग प्रतिसंजीवना की जा सकती है। इन्हीं उपायों से, अकुशल मन का निरोध अर्थात् अशुभ विचारों की रुकावट और कुशल मन की प्रवृत्ति शुभ विचार प्रवाह की वृद्धि की जा सकती है। संक्षेप में मन को प्रकटित करना, शुभ भावना करने की आवस्यता जानना, यही मन का कुशलीकरण है।

एकाग्रता

मन प्रतिसंजीवना का तीसरा रूप है—मन को एकाग्र करना। यह स्मरण रखने की बात है कि अकुशल मन—अशुभ विचार प्रवाह में डीढ़ता हुआ मन यदि उन अशुभ आनंदजन पर स्थिर भी हो जाना है तब भी यह स्थिरता, एकाग्रता कोई लाभजनक नहीं होती, क्योंकि एकाग्रता स्वयं में नाश्य नहीं, मान एक साधन है, नाश्य तो है 'एकाग्रता के द्वारा प्राप्त होने वाला आनन्द ! समाधि ! उसलिप् बहा गया है—मुक्तिवो चित्त' समाधिपूर्वतः^१ मुक्ति का (प्रगल्भ विचारशील का) चित्त ही एकाग्र होता है। बौद्ध धर्म के योगविषयक प्रसिद्ध कृत्य विमुद्धिमणो में कहा है—कुशल चित्तकायता समाधि^२ कुशल-अर्थात् चित्त चित्त की एकाग्रता ही समाधि है। एकाग्रता का मुख्य समाधि प्राप्त करना है, इसलिप् एकाग्र के द्वारा आनन्द और समाधि

१ दीपनिकाय १।२

२ विमुद्धिमणो २।२

की प्राप्ति बताई गई है। अतः पहले मन का शुद्धीकरण करके फिर स्थिरीकरण किया जाता है, यही मन प्रतिसंलीनता के तीन भेदों में स्पष्ट किया गया है—कि सर्वप्रथम मन को अशुभ विचारों में जाने से रोको, फिर उसे शुभ विचारों से पवित्र बनाओ, शुभ भावना के द्वारा निर्मल बनाओ और उसके बाद किसी एक शुभ ध्येय पर उसे एकाग्र करो। एकाग्रता का विशेष सम्बन्ध ध्यान से है अतः इस विषय की चर्चा अधिक विस्तार के साथ ध्यान प्रकरण में ही की गई है।

मन शुद्ध, तो वचन शुद्ध

वचनयोग प्रतिसंलीनता के भी तीन प्रकार बताये गये हैं—

१ अकुशल वचन का निरोध।

२ कुशल वचन का प्रवर्तन।

३ वचन का एकत्रीभाव—अर्थात् मीन का आलंवन !

मन की तरह वचन भी एक अद्भुत शक्ति है। इन दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। मन यदि राजा है तो वाणी उसका दूत है। मन यदि ध्वजा है तो वाणी उसका वंड है। वैदिक ग्रन्थों में कहा गया है—

मनसा हि सर्वान् कामान् ध्यायति

वाचा हि सर्वान् कामान् वदति १

सर्वप्रथम मन से ही अभीष्ट पदार्थों का ध्यान किया जाता है, फिर वाणी उस ध्यान व संकल्प को बाहर में व्यक्त करती है। मनुष्य पहले सोचता है, चिंतन संकल्प करता है, फिर उसे वाणी द्वारा प्रकट करता है, बोलता है, इसलिए हमारे जीवन व्यवहार में मन और वाणी का पूर्वापर सम्बन्ध है।

मन एव पूर्वं रूपं वागुत्तररूपम् २

मन पूर्वं रूप है, वाणी उत्तर रूप है। मन में जो बात होगी, वही वाणी द्वारा प्रकट होगी। मन के कुएं में विचारों का जैसा पानी होगा, वाणी के

१ ऐतरेय ब्राह्मणक १।३।२

२ सांख्यभाष्य ब्राह्मणक ७।२

कुशलीकरण

अनेक ग्रन्थों में विचार प्रवाह को शुभ बनाने के लिए ज्ञान, भक्ति एवं कर्म—तीन साधन मुख्य रूप से बताये गये हैं। ज्ञान से वस्तु की असारता का चिन्तन करने पर मन विषयों से स्वयं हट जाता है, भक्ति मार्ग में इन्द्रियों के विषयों की सात्विक तृप्ति होती है—जैसे संगीत सुनने का शौक है तो प्रभु भक्ति के गीत सुनना, प्रभु के रम्य रूप का अन्तरन्वेषों द्वारा दर्शन करना इत्यादि। कर्म मार्ग के द्वारा—मन को सतत कर्मशील—कार्यों में जुटाए रखना, सेवा, सहयोग परोपकार आदि के कार्यों में लगे रहने से मन भी उसी प्रकार के विचारों में रमता है। इस तरह उक्त, मोलह भावनाएं तथा ज्ञान योग, भक्ति योग एवं कर्म योग की साधना के द्वारा—मन योग प्रतिमंलीनता की जा सकती है। इन्हीं उपायों से, अकुशल मन का निरोध अर्थात् अनुभ विचारों की रुकावट और कुशल मन की प्रवृत्ति शुभ विचार प्रवाह की वृद्धि की जा सकती है। संक्षेप में मन को प्रशिक्षित करना, शुभ भावना करने की आदत डालना, यही मन का कुशलीकरण है।

एकाग्रता

मन प्रतिमंलीनता का तीव्रतर रूप है—मन को एकाग्र करना। यद् स्मरण रखने की बात है कि अकुशल मन—अनुभ विचार प्रवाह में दोड़ना हुआ मन यदि उस अनुभ आलंबन पर स्थिर भी हो जाता है तब भी यह स्थिरता, एकाग्रता कोई लाभजनक नहीं होती, क्योंकि एकाग्रता स्वयं में मान्य नहीं, मान्य एवं माधन है माध्य तो है। एकाग्रता के द्वारा प्राप्ता होने वाला आनन्द ! समाधि ! इसलिए कहा गया है—'सुगिनो चित्तं समाधीयति'^१ मुक्तों का (प्रशस्त विचानशील का) चित्त ही एकाग्र होता है। बौद्ध धर्म के योगविषयक प्रसिद्ध कार्य विमुद्धिमगो में कहा है—'कुशल चित्तं कण्ठता समाधि'^२ कुशल-सर्वात् स्थित चित्त की एकाग्रता ही समाधि है। एकाग्रता का लक्ष्य समाधि प्राप्त करना है, उन्नीविष्ट आनन्द के द्वारा आनन्द और समाधि

१ दीपनिकाय १।२

२ विमुद्धिमगो ३।२

कारी सत्य भी असत्य का ही बंधु माना गया है। असत्य के चार भेद बताये गये हैं—^१

१ सद्भाव प्रतिषेध—आत्मा-पुण्य-पाप आदि तत्त्वों की सत्ता का निषेध करना, इन्हें नकारना।

२ असद्भावोद्भावन—जो तत्त्व नहीं है, उसे तत्त्व बताना—जैसे हिंसा में धर्म बताना।

३ अर्थान्तर—अपने गौरव के लिए, सम्प्रदाय आदि के मोह से तथा अपनी गलत विचारधारा को पुष्ट करने के लिए शास्त्र का अर्थ बदलना।

४ गर्हा—दूसरों की निन्दा एवं अपमान युक्त वचन बोलना।

ये चार भेद आचार्य हरिभद्र ने सूचित किये हैं—इनमें नास्तिकता, हिंसा, पर-निन्दा, अहंकार युक्त वाणी एवं साम्प्रदायिक अभिनिवेश को स्पष्ट रूप से असत्य घोषित किया है। इस प्रकार की भावना से जो वाणी बोली जाती है वह सब असत्य की कोटि में आती है।

मूल आगमों में असत्य के दस भेद और कहे गये हैं। जैसे—

दस बिहे मोसे पणत्ते—तं जहा^२

कोहे माणे माया लोहे पिज्जे तहेव दोसे य।

हास भये अवखाइय उवघातनिस्सिए दसमे।

असत्य दस प्रकार का है—क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेष एवं हास्य तथा भय के वश होकर कथन करना, कहानी आदि के मिथ तथा हिंसा के निमित्त कथन करना—इन दस कारणों में सभी कारण ऐसे हैं जिनके वश होकर व्यक्ति सत्य बात कहे तब भी वह असत्य ही है। क्रोध, लोभ आदि के वश हुआ व्यक्ति जो वाणी बोलता है, उसके पीछे उसका विवेक नहीं रहता, ज्ञान नहीं रहता कि वह क्या बोल रहा है तथा उसके बोलने का क्या परिणाम होगा? वह विवेकहीन वचन बोलता है, और विवेकहीन, ज्ञानरहित

१ द्वावैकालिकअध्ययन ४. टीका

२ स्थानांग सूत्र १०। प्रज्ञापना, भाषापद ११

डोल द्वारा वही पानी बाहर आयेगा। मन में यदि शुभ विचार होंगे, तो वाणी द्वारा शुभ शब्द, मधुर बोल बाहर में आयेंगे जिन्हें सुनकर श्रोता प्रसन्न होंगे, यदि मन में अशुभ विचार होंगे तो वाणी में भी अभद्र शब्द, कटुक वचन ही बाहर आयेंगे जिन्हें सुनने वाले का मन दुःखी और संतप्त हो जायेगा। इसलिये पहले मन प्रतिसंलीनता बताई गई है, फिर वचन प्रतिसंलीनता।

अशुभ वचन योग

वचन प्रतिसंलीनता में सर्वप्रथम अशुभ वचन विकल्प का निरोध करना होता है। शास्त्र में भाषा के चार भेद बताये हैं सत्य, असत्य, मिश्र और व्यवहार। इन में असत्य और मिश्र दो प्रकार की भाषा अशुभ है। असत्य भाषा एक प्रकार का जहर है। किन्तु मिश्र भाषा भी—सत्य और असत्य का मेल होने से जहर ही है। दूध शक्ति और पुष्टि देने वाला होता है, किन्तु यदि उसमें जहर मिल गया हो तो यही दूध प्राण नाशक भी हो जाता है। इसीप्रकार जिस सत्य भाषा में असत्य का थोड़ा सा मिश्रण हो गया हो, वह सत्य भाषा भी जहर मिले दूध की तरह स्वादय्य होती है। प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान फ्रैंकलिन का कथन है—“आधा सत्य अवतर महान झूठ होता है।” पूर्ण झूठ से भी मिश्रित झूठ अधिक परतन्तक होती है। इसलिये असत्य एवं मिश्र भाषा को अशुभ भाषा मानी गई है।

अशुभ वचन के लक्षण

सत्य की तरह असत्य की परिभाषा भी बड़ी व्यापक है। सामान्यतः यथार्थ वचन को सत्य और अवयार्थ वचन को असत्य कहा जाता है। जो वस्तु ऐसी है, उसे सत्य रूप में कहना असत्य है। कही-कही—तहना कुछ और करना कुछ—अपने भासद अपने करेद ति मुसायाओ^१—सचनी करनी का भेद भी मुसनाद-असत्य माना गया है। किन्तु यह सब असत्य की परिभाषाएं एक वैसीय है। जैन धर्म में सत्य-असत्य का बड़ा महत्त्व विद्यमान है। यही—निर्ग अयसार्थ वचन ही असत्य नहीं, किन्तु हृदय की कष्टकारी, अस्मिन्, शिषा-

युक्तचन व, दूसरे के दिल पर चोट लगाने वाला वचन, किसी का मजाक व निंदा करने वाला वचन, भ्रम फैलाने वाला वचन - यह सब असत्य व अशुभ वचन है, सत्य के साधक के लिए त्याज्य है।^१ इसके अतिरिक्त अधिक बोलना^२ निरर्थक वकवास करना, तथा मर्मघातक बोलना^३ तू-तू जैसे अभद्र शब्दों का प्रयोग करना,^४ तुच्छ तथा अशिष्ट भाषा बोलना^५ कलह व झगड़ा बढ़ाने वाला वचन (भले ही सत्य क्यों न हों)^६ ये सब प्रकार के वचन—असत्य एवं अकुशल वचन हैं। तथागत बुद्ध ने भी असत्य वचन के चार रूप बताते हुए कहा है—झूठ, चुगली, कठोर वचन और वकवास ये—चारों प्रकार के वचन मिथ्या वचन है।^७

अकुशल वचन निरोध में इन सब प्रकार के वचनों का त्याग करना चाहिए, तथा विवेक पूर्वक, विचार कर सत्य वचन बोलना चाहिए। जैन आचार्यों ने तो यहां तक कहा है कि—जिस भाषा को बोलने पर चारित्र्य की शुद्धि होती हो, वह भाषा सत्य है, इसके अतिरिक्त जिस भाषा के प्रयोग से चारित्र्य दूषित होता हो, वह भाषा चाहे सत्य ही क्यों न हो, असत्य ही मानी जावेगी।^८ भाषा-प्रयोग में शब्दों का महत्व नहीं, भावना और विवेक का महत्व है। हां शब्दों का प्रयोग करते समय भी उसकी सुन्दरता, श्रेष्ठता और उपयोगिता पर ध्यान देना चाहिए। शास्त्र में कहा है—

दिद्वंमियं असंदिद्धं पडिपुन्नं विअजियं

अयंपिर मणुव्विगगं भासं नित्तिरअत्तवं।^९

१ दशवैकालिक ७।५४

२ सूत्रकृतांग १।१४।२३

३ उत्तराध्ययन १।२५

४ सूत्रकृतांग १।६।२७

५ सूत्रकृतांग १।२४।२१

६ दशवैकालिक १०।१७

७ मज्झिमनिकाय ३।१७।१

८ दशवैकालिक चूणि ७ (जिनदास)

९ दशवैकालिक ८।४६

वाणी कभी सत्य नहीं हो सकती ! यथार्थ होते हुए भी उसे सत्य का राज-मुकुट नहीं पहनाया जा सकता ! इन भेदों से स्पष्ट होता है कि असत्य का परिवार रावण के परिवार (कुन्वे) की भांति कितना लम्बा चौड़ा है ।

सत्य की परिभाषा

यद्यपि आचार्य पतंजलि^१ ने सत्य की परिभाषा बहुत सीमित कर दी है—
 “सत्यं यथायं वाङ् मनसे यथादृष्टं यथानुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ् मनस्वेति
 जैसा देखा— सुना, समझा हो, दूसरों को कहते समय मन वचन का वैसा ही
 प्रयोग करना सत्य है ।” किन्तु सत्य की परिभाषा इस छोटी परिधि में नहीं
 बन्ध सकती । वास्तव में इन सब से ऊपर सत्य वह है जो सब जगत् के लिए
 हितकारी हो । जैसा महर्षि व्यास जी ने कहा है—

यद् भूतहितमत्यन्तं एतत् सत्यं वचो मनः ।

जो समस्त प्राणियों के लिए अत्यन्त हितकारी हो, वही सत्य है । जैन
 धर्म में भी वही सत्य, सत्य माना गया है जो समस्त जगत का कल्याण करने
 वाला हो, जिसमें मन की, वाणी की, शरीर की भीर आचरण की सरमता
 एवं पवित्रता हो^२ उसे ही सत्य की सीमा में प्रवेश करने का अधिकार दिया
 है । इसलिए यह निश्चित सत्य है कि जो कथन क्रोध आदि क्लृप्ति विचारों
 से दूषित हो, वह सत्य देवता के मन्दिर में नहीं चढ़ सकता, जैसे कि दूषित
 अन्न व सड़े गले-पुष्प फल आदि देव मन्दिर में नहीं चढ़ सकते ।

जैन सूत्रों में रक्षान-स्थान पर असत्य एवं अकुशल वचन के लक्षण बताते
 हुए कहा गया है अपनी प्रशंसा, और दूसरों की निंदा करना यह भी असत्य
 का ही एक रूप है ।^३ क्रोध आदि की आशुनता में कुछ कहना भी असत्य
 वचन है ।^४ साधक — पापकारी कार्यों की प्रशंसा करते वाला वचन, मंदग

१ पातञ्जल योग दर्शन, साधना पद ३, भाष्य

२ महाभारत, द्वापराय, ३२.६।१३

३ रक्षानां गृह ४।१ सत्य के पार भेद-वेदिए ।

४ प्रत्यक्षाद्वचन सूत्र २

५ यथार्थवाचिक सूत्र ७।७

इस प्रश्न का सीधा समाधान यही है—कि मुनि—सावद्य वचन अर्थात्-पापकारी वचन का त्याग करता है, अशुभ वचन का परिहार करता है, इसलिए अशुभ एवं सावद्य वचन का त्यागी, सावद्य वचन के लिए मौन रखने के कारण उसे 'मुनि' कहा जाता है। यह मौन जीवन भर के लिए होता है अतः 'मुनिव्रत' भी जीवन भर के लिए सार्थक होता है।

मौन का दूसरा अर्थ है—वचन योग का निरोध। वचन योग का सर्वथा निरोध छषस्य दशा में संभव नहीं है, वहां तो सिर्फ भाषा-प्रयोग अर्थात् शब्द प्रयोग का ही निरोध हो सकता है। शब्दों का उच्चारण मुख से न किया जाये, यह प्रचलित मौन का अर्थ है। इसमें भी कई प्रकार के मौन होते हैं—कुछ मौन व्रत में शब्द-प्रयोग का तो त्याग किया जाता है, किन्तु आंख, हाथ आदि के संकेत, करके भावों को प्रकट करना, लिखकर जताना आदि चालू रहते हैं और कुछ मौनव्रत में संकेत आदि का भी सर्वथा त्याग कर दिया जाता है।

वचन प्रतिसंलीनता के तीसरे भेद में मौन का दूसरा अर्थ ही ग्राह्य है। क्योंकि सावद्यवचन का त्याग रूप मौन तो अकुशलवचन निरोध में ही आ जाता है, उसको बार-बार कहने की कोई जरूरत नहीं रही, अतः यहाँ पर अकुशल वचन, एवं कुशलवचन दोनों का निरोध रूप ही मौन अभिप्रेत है—ऐसा हमारा अनुमान है।

काय-संकोच

वचन प्रतिसंलीनता के बाद काय प्रतिसंलीनता तप का वर्णन आता है। काय प्रतिसंलीनता का अर्थ है—काया का संकोच—अर्थात् कायसंयम! हाथ, पैर, नाक, आंख, कान आदि शरीर के प्रत्येक अंग का संयम रखना, इन्हें विषयों की तरफ जाने से रोकना तथा सेवा, भक्ति, परोपकार आदि कार्यों में लगाना यह काय-संयम है। शास्त्र में कहा है—

हृत्पसंजए, पायसंजए वायसंजए संजए इन्द्रियस्त।

अज्झप्प रए सुसमाहिप्पया सुत्तत्वं च विद्याणइ जे सन्निप्पु ।^१

आत्मवान साधक जो भाषा बोले—वह दृष्ट (अनुभव की हुई, देखी हुई) हो, संक्षिप्त हो, सन्देह रहित हो, परिपूर्ण (अधूरी, तोड़ मरोड़ की हुई न) हो, और स्पष्ट हो। किन्तु साथ में यह भी ध्यान में रखे कि वह बात, यह भाषा वाचानता से रहित हो, तथा उसे सुनने पर किसी का मन उद्धिग्न होता हो वंसी न हो ! यह भाषा सब को हितकारी तथा सब को प्रिय हो—यद्गुण बृद्धे ह्यिमाणुलोमिषं ऐसी भाषा का प्रयोग करना यह कुशल वचन की उदीरणा है।

मीन का अर्थ

वचन प्रतिसंलीनता का तीसरा भेद है—वचन योग को एकत्र करना। जैसे मन को स्थिर करना तथा मन का निरोध करना—एकाग्रता कहलाती है वैसे ही वचन की स्थिरता एवं वचन योग का निरोध करना मीन कहलाता है। कुशल वचन बोलना वचन (भाषा) समिति है, तथा अकुशल वचन का निरोध करना एवं मीन करना वचनगुप्ति। कहीं-कहीं पर आचार्यों ने कुशल वचन-निरवय वचन को दोनों ही रूप दिये हैं।

जैसा कि आचार्य संधदासगणि ने कहा है—

कुशल वद उदीरंतो जं वदगुत्तो वि समिओ वि ।^१

कुशल वचन (निरवय वचन) बोलने वाला वचन समिति का भी पालन करता है और वचन गुप्ति का भी !

वचन गुप्ति एक प्रकार का मीन है ! फिर प्रश्न होता है क्या—बोलना भी मीन हो सकता है ? हाँ, जैन आचार्यों ने मीन के दो अर्थ दिए हैं—

१ मावय वचन न बोलना—मीन है

२ वचन का सर्वथा निरोध करना—मीन है।

मुनि शब्द की व्याख्या करते हुए कहा जाता है—मीनाद् मुनिः मीन धारण करने से मुनि होता है। तो क्या मुनि कभी बोलता ही नहीं ? या जब मीन रखे तब वह मुनि कहलाए और जब मीन न रखे तब मुनि न कहलाए ? अथवा मीन दिना रखे ही मुनि का प्रमाण पत्र उन्हें दे दिया जाय ?

यह पूजा भी है

शरीर अवयवों का संकोच करने वाला प्रसंगानुसार चार बातों में निपुण हो सकता है ।

१ सभा आदि में शिष्टता सम्यता के रूप में

२ गुरुजनों के समक्ष विनय-भक्ति के रूप में

३ प्रभु के समक्ष पूजा के रूप में

४ अपने आप के समक्ष संयम साधना के रूप में

सम्यता का प्रसंग ऊपर बताया जा चुका है । विनय के सम्बन्ध में आगमों में स्थान-स्थान पर बताया गया है—गुरुजनों के सामने पैर फैलाना, हाथ फैलाना, बार-बार उठना-बैठना, आंखें मटकाना, बीच में बोलना, यह सब अविनीत शिष्य के लक्षण हैं । विनीत शिष्य शरीर की इन चंचल वृत्तियों को त्याग कर, गम्भीरता के साथ—पसायपेही—गुरुजनों की प्रसन्नता का ध्यान रखता है ।^१

शरीर आदि का संकोच करने से ही प्रभु पूजा या प्रभु भक्ति रूप उपासना की जा सकती है । हाथ, पैर, सिर आदि का संकोच करके उन्हें विधिपूर्वक प्रभुचरणों में झुकाना—यह वन्दना की विधि है, इसे भक्ति एवं पूजा कहा गया है । आवश्यक सूत्र के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य नमि ने कहा है—**कर-शिरः पादादि सन्यासो द्रव्य संकोचः (द्रव्यपूजा) भाव संकोचस्तु विशुद्ध मनसो नियोगः ।**^२—हाथ पैर सिर आदि को स्थिर करना द्रव्य संकोच अर्थात् द्रव्य पूजा है और मन को विशुद्ध कर प्रभु भक्ति में लीन करना—भाव संकोच—अर्थात् भाव पूजा है । यही बात आचार्य अमितगति ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ श्रावकाचार में कही है—

यच्चोविग्रह-संकोचो द्रव्य पूजा निगद्यते !

तत्र मानस संकोचो भावपूजा पुरातनः ।^३

१ उत्तराध्यायन १।१८-१९-२०,

२ श्रावकाचार

भिक्षु कौन है ? भिक्षु को पहचान क्या है ? इसके उत्तर में बताया है—जो हाथों को संयत रखता हो, पैरों को संयत रखता हो, वचन को और इन्द्रियों को संयत रखता हो, अध्यात्मभाव में लीन रहता हो, और शास्त्रों के ज्ञानाभ्यास में जिसकी आत्मा सदा प्रसन्न रहती हो वह भिक्षु है !

यहां हाथ-पैर वचन व इन्द्रिय का संयम साधु की पहचान बताई गई है। हाथ-पैर इन्द्रिय आदि का संयम सभ्यता के लिए भी बहुत आवश्यक है। मनुष्य किसी सभा में या गुरुजनों आदि के समक्ष बैठा है, वहां भी यदि वह बार-बार हाथ-पैर हिलाता है, कभी पालची मार कर, कभी पैर पैलाकर और कभी पांव दबाकर अलग-अलग आसन बदल कर बैठता है तो यह असभ्यता समझती जाती है। आसन की स्थिरता, ठीक आसन से बैठना यह सभ्यता का नियम है। इसी प्रकार इधर-उधर आंखें फाड़ना, बार-बार सांसें भींचना-खोलना भी असभ्यता की निशानी है। आंखों को शांत व स्थिर रखकर सभा आदि में बैठने से व्यक्ति की गम्भीरता व संयमशीलता की झलक मिलती है। बैठने-उठने-चलने-देखने में जितना संयम होता है, व्यक्ति उतना ही गम्भीर और महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसके विपरीत अंगों की चंचलता उनके छिछलेपन, वचकाने स्वभाव तथा मानसिक अस्थिरता की सूचक होती है। स्थिर आसन, शिष्ट आसन और शिष्ट भाषण - कम ज्ञान वाले व्यक्ति को भी अधिक ज्ञानी प्रदर्शित कर सकते हैं। अतः शरीर के अवयवों का संयम रक्षना सभ्यता की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। दशवैकालिक सूत्र में बताया है —

हृत्प पायं च कायं च पणिहाय जिह्विण् ।

अन्तरीण गुत्तो नित्तिण् सगासे मुदणो मुज्जो ।

गुरु जनों के समीप बैठने वालों की किम तरह से रहना चाहिए ? इसका स्पष्ट वर्णन करते हुए कहा है—हाथ को, पैर को, शरीर को (मुद्रा भाग आदि को) कभी इन्द्रियों को मुक्त रखाकर अर्थात् उन्हें ठीक रूप से रखकर गुरुजनों के समीप बैठना चाहिए। इस प्रकार से अपनी शिष्टता भी प्रदर्शित होती है, गुरु जनों का विनम्र भी होता है और संयम की भावना भी हो जाती है।

काय पर संयम करने से । शरीर एवं मन को अपने अनुशासन में रखने से तथा उन्हें सदा परम विशुद्ध भाव में जोड़े रखने से ।

काय प्रतिसंलीनता में शरीर के बाह्य संकोच पर ही अधिक बल दिया गया है, इसलिए कछुए का उदाहरण देकर बताया है—कछुआ जैसे अपने अंगों का गोपन करके, संकोच करके सदा निराबाध रहता है, वैसे ही साधक विषय वासनाओं के बीच अपने शरीर का गोपन करके रहे ताकि उनके चंगुल में न फँसे । जैसे कपड़ा खूला होने से शीघ्र ही पानी में पड़ने से भीग जाता है, किन्तु वही खूब कसकर गेंद जैसा बना दिया गया हो और फिर पानी में गिरे तो जल्दी से भीग नहीं सकता । इसी प्रकार काय प्रतिसंलीनता में रहा हुआ साधक आसानी से विषयों के वासना रूप पानी में नहीं भीग सकता ।

विविक्त शय्यासन प्रतिसंलीनता

अनगार फौन ?

प्रतिसंलीनता तप का चौथा भेद है—विविक्त शयनासन सेवना । इस तप का सम्बन्ध साधक के आवास-निवास से हैं । साधक संसार में रहता है, शरीर धारण करता है, शरीर के लिए आहार पानी भी ग्रहण करता है, वस्त्र पात्र आदि भी रखता है, और रहने के लिए आश्रय-आवास आदि की भी गवेषणा करता है । चूँकि जैन साधु का रूप अनगार का है । अनगार का अर्थ है—न विद्यते अगारं-गृहं यस्य सः अनगारः जिसके पास अपना कोई घर (अगार) नहीं, वह अनगार है । अनगार के पास न अपना कोई घर, नठ, आश्रम व विहार होता है, और न वह अपने निये कहीं घर, आश्रम आदि धनवाता है । न किसी आश्रम आदि के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ता है । इस तरह यह प्रत्येक दृष्टि-से अनगार—गृह मुक्त होता है ।

आश्रम और प्रासाद

भारतीय ऋषियों की परम्परा में वैदिक और श्रमण ऋषियों की दो परम्परा चली आ रही है । वैदिक ऋषि गृहस्थायण व आश्रम में निवास करते थे । प्रत्येक प्रमुख ऋषि अपना स्वतन्त्र आश्रम, विस्तृत उद्यान बगेरा रखते,

वचन एवं शरीर का संकोच करना द्रव्य पूजा है, तथा मन का संकोच करना भाव पूजा है ।

काय-संकोच में संयम की साधना तो स्पष्ट है ही । क्योंकि इन्द्रियों का निग्रह संयम है, शरीर को सात्विक दृष्टि से कष्ट देना, तपाना यह तप है । शब्द, रूप, रस आदि मनोमुग्धकारी विषयों का आकर्षण सामने आने पर उनकी तर्फ देखना नहीं, मन नहीं करना, आकृष्ट नहीं होना यह अनासक्ति भाव है । स्वर्ग की अप्सराएं अपना अद्भुत सौन्दर्य वितरती हुई स्वर्ण-सी दमकती अधोमल्ल देह लेकर सामने खड़ी हो जाएं, मन को मुग्ध कर देने वाले हास-भाव, हास्य, लास्य और गीत-नृत्य करती रहे फिर भी उनकी तर्फ बांध उठा कर देखना नहीं, मधुर गीतों की धून पर कानों को तनिक भी उस ओर जाने न देना कितना बड़ा आत्म-संयम है ? कहा जाता है— एक तपस्वी नदी के तट पर शांत वातावरण में भ्रमण कर रहा था । तभी एक सुन्दर रमणी शृंगार लक्ष्मी मुपुल का लोकार करती हुई उधर से आई । तपस्वी को देखकर वह कामागस्त हो गई, हास्य भाव करके वह प्लव जोरों से हंसी । उसके दूषिणा दांत तपस्वी की नजर में पड़ गए । उसने वहां से अपनी दृष्टि खींचली जैसे मूर्ख की किरण पड़ने से आँखें बंदकर ली जाती है । रमणी आगे चली गई । कुछ देर बाद रमणी का पति उसकी खोज करता हुआ उधर आया । तपस्वी को वहाँ माने पर बैठा देखकर उसने पूछा, महाराज ! इधर से मनोहर यन्त्राभूषण पहनी हुई कोई एक सुन्दरी निकली क्या ? उसके उत्तर में वह तपस्वी सापक बोला—

नाभिजानानि हस्वी या पुरितो वा इतो गतो ।

अपि च अट्टिसंघाटो गच्छतेस महापथे ।^१

मुझे नहीं मालूम इधर से कोई स्त्री या पुरुष कौन गया है, हाँ इस मार्ग से एक अट्टिखो का समूह तो अवश्य निकला है, (उसके उज्ज्वल दाग दिखाई देने के)

तो वह है इन्द्रियों का अदभुत संयम ! यह संयम सद्यता है इन्द्रिय एवं

काय पर संयम करने से । शरीर एवं मन को अपने अनुशासन में रखने से तथा उन्हें सदा परम विष्णुत्व भाव में जोड़े रखने से ।

काय प्रतिसंलीनता में शरीर के बाह्य संकोच पर ही अधिक बल दिया गया है, इसलिए कछुए का उदाहरण देकर बताया है—कछुआ जैसे अपने अंगों का गोपन करके, संकोच करके सदा निरावाध रहता है, वैसे ही साधक विषय वासनाओं के बीच अपने शरीर का गोपन करके रहे ताकि उनके चंगुल में न फँसे । जैसे कपड़ा खुला होने से शीघ्र ही पानी में पड़ने से भीग जाता है, किन्तु वही खूब कसकर गेंद जैसा बना दिया गया हो और फिर पानी में गिरे तो जल्दी से भीग नहीं सकता । इसी प्रकार काय प्रतिसंलीनता में रहा हुआ साधक आसानी से विषयों के वासना रूप पानी में नहीं भीग सकता ।

विविक्त शय्यासन प्रतिसंलीनता

अनगार कीन ?

प्रतिसंलीनता तप का चौथा भेद है—विविक्त शयनासन सेवना । इस तप का सम्बन्ध साधक के आवास-निवास से है । साधक संसार में रहता है, शरीर धारण करता है, शरीर के लिए आहार पानी भी ग्रहण करता है, वस्त्र पात्र आदि भी रखता है, और रहने के लिए आश्रय-आवास आदि की भी गवेषणा करता है । चूँकि जैन साधु का रूप अनगार का है । अनगार का अर्थ है—न घिघते अगारं-गृहं यस्य सः अनगारः जिसके पास अपना कोई घर (अगार) नहीं, वह अनगार है । अनगार के पास न अपना कोई घर, मठ, आश्रम व विहार होता है, और न वह अपने लिये कहीं घर, आश्रम आदि बनवाता है । न किसी आश्रम आदि के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ता है । इस तरह वह प्रत्येक दृष्टि-से अनगार—गृह मुक्त होता है ।

आश्रम और प्रासाद

भारतीय ऋषियों की परम्परा में वैदिक और श्रमण ऋषियों की दो परम्परा चली आ रही है । वैदिक ऋषि गृहत्याग का आश्रम में निवास करते थे । प्रत्येक प्रमुख ऋषि अपना स्वतन्त्र आश्रम, विद्यालय, उद्यान चर्चरा रखते,

वचन एवं शरीर का संकोच करना द्रव्य पूजा है, तथा मन का संकोच करना भाव पूजा है ।

काय-संकोच में संयम की साधना तो स्पष्ट है ही । क्योंकि इन्द्रियों का नियम ही संयम है, शरीर को सात्विक दृष्टि से कष्ट देना, तपाना यह तप है । शब्द, रूप, रस आदि मनोमुग्धकारी विषयों का आकर्षण सामने आने पर उनकी तर्फ देखना नहीं, मन नहीं करना, आकृष्ट नहीं होना यह अनासक्ति भाव है । स्वर्ग की अप्सराएं अपना अद्भुत सौन्दर्य बिखेरती हुई स्वर्ण-सी यमकती अर्धनग्न देह लेकर सामने खड़ी हो जाए, मन को मुग्ध कर देने वाले हाव-भाव, हास्य, लास्य और गीत-नृत्य करती रहे फिर भी उनकी तर्फ आँच उठा कर देखना नहीं, मधुर गीतों की धुन पर कानों को तनिक भी उस ओर जाने न देना कितना बड़ा आत्म-संयम है ? कहा जाता है— एक तपस्वी नदी के तट पर शीत वातावरण में भ्रमण कर रहा था । तभी एक सुन्दर रमणी शृंगार लक्ष्मी मुपुत्र का संकार करती हुई उधर से आई । तपस्वी को देताकर वह कामाक्षी हो गई, हाव भाव करके वह पृथ्वी जोरों से हँसी । उसके दूधिया दाँत तपस्वी की नजर में पड़ गए । उसने वहाँ से अपनी दृष्टि सींचनी जैसे मूर्ख की किरण पड़ने से आँखें बंद कर ली जाती है । रमणी आगे चली गई । कुछ देर बाद रमणी का पति उसकी खोज करता हुआ उधर आया । तपस्वी को वहाँ मार्ग पर बैठा देताकर उसने पूछा, महाराज ! उधर से मनोहर वस्त्राभूषण पहनी हुई कोई एक सुन्दरी निकली क्या ? उसके उत्तर में वह तपस्वी सापक बोला—

नाभिजानामि इत्थी वा पुरितो वा इतो गतो ।

अपि च अद्वितीयो गच्छतेन महापथे ।^१

मुझे नहीं मालूम उधर से कोई स्त्री वा पुरुष कौन गया है, हाँ इस मार्ग में एक इन्द्रियों का समुद्र तो अवश्य निकलता है, (उसके उत्तरे दाँत दिखाई देने से)

तो यह है इन्द्रियों का अत्यन्त संयम ! यह संयम मरणा है इन्द्रिय एवं

की शालाओं में ठहरते थे, वहीं ध्यान समाधि लगाकर साधना करते थे और फिर तीर्थकरत्व प्राप्त करने के बाद प्रायः नगर के बाहर स्थित उद्यानों या किसी विशेष परिस्थिति में आपणशाला एवं खाली सभागृहों में ही ठहरते थे। यही परम्परा समस्त तीर्थकरों की रही है।

आवास क्यों नहीं ?

जैन गृहस्थ साधकों ने अपनी अध्यात्म साधना के लिए उपाश्रय, पोषण शाला एवं मन्दिर आदि का निर्माण अवश्य किया है, मन्दिर में अपने मुक्त भगवान को भी बिठाया है, किन्तु अपने जीवित भगवान के लिए, अथवा जीवित श्रमण के लिए उसने कभी किसी आवास का निर्माण नहीं किया — यह जैन धर्म का एक सैद्धान्तिक सत्य है।

जैन श्रमण अपने लिए आवास आदि का निर्माण क्यों नहीं करवाते — इसके उत्तर में सिद्धान्त-सम्मत दो तथ्य हैं—

१ गृह निर्माण आदि में होने वाली हिंसा।

२ गृह आदि के साथ जुड़ने वाला ममत्व बन्धन।

यदि साधु अपने लिए गृहनिर्माण आदि करवाता है, उद्यान, विहार व प्रासाद आदि बनवाता है तो उस निर्माण में होने वाली जीवहिंसा आदि का प्रेरक कारण एवं निमित्त श्रमण होता है, अतः वह भी हिंसा का भागी होता है, जो कि उसके अहिंसा महाव्रत के सर्वथा प्रतिकूल है।

दूसरा कारण है, जो श्रमण अपने लिए आश्रम, मठ आदि बनवावेगा उसका मन भी उसमें अवश्य आसक्त होगा। उसके साथ ममत्व भाव रहेगा, ममत्व भाव परिग्रह है, जो कि अपरिग्रही श्रमण धर्म के विपरीत है।

इन दो सैद्धान्तिक कारणों से प्रारम्भ से आज तक जैन श्रमण अपने लिए आवास आदि के निर्माण का त्यागी रहा है।

भगवान महावीर के जीवन का एक प्रसंग है कि जब वे माघना कान्त के प्रथम वर्ष में दूरज्जंतक पाण्ड्यो के आश्रम में आये और वहाँ के कुम्भपति के आग्रह से उस आश्रम की पल्लकुटी में वासुमान किया। वासुमान के कुछ ही दिन बीते थे, वस्तुतः नहीं हो रही थी, भूखी गले आश्रम की पाण्ड्यो

वहाँ अनेक ऋषि, मिथ्य व गी-मूग आदि आश्रय पाते थे । प्राचीन भारत में अनेक बड़े-बड़े ऋषियों के आश्रम व तपोवनों का वर्णन महाभारत, भागवत एवं उत्तरवर्ती काव्यों में मिलता है । आश्रमों का वातावरण बड़ा प्राकृतिक सुपमा युक्त, मनोहर, शांत एवं साधना के अनुकूल रहता था । किन्तु ऋषियों का भावात्मक (रागात्मक) सम्बन्ध भी उन आश्रमों के साथ उतना ही गहरा जुड़ा हुआ था जितना किसी राजा का अपने राजमहल या श्रेष्ठी का अपने हर्म्य के साथ । गृहत्याग कर आश्रमवास स्वीकार किया और वहाँ भी यदि समत्व जुड़ गया तो फिर एक छोटा घर छोड़ बड़ा घर बनाने जैसी बात हो गई । फिर घर और आश्रम में अन्तर क्या रहा ?

वैदिक ऋषियों की भांति बौद्ध श्रमणों ने भी आश्रम परंपरा को अपनाया । बुद्ध के युग में स्थान-स्नान पर बड़े-बड़े आराम और विहारों का निर्माण हुआ । गृहपति अनाथपिटक का जेतवन और विजाता मृगारमाता द्वारा सत्ताईस करोड़ स्वर्ण मुद्रा खर्च करके बनवाया हुआ महाप्रासाद बौद्ध इतिहास में आज भी प्रसिद्ध है । बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार अनाथपिटक ने मोहरें बिछाकर भूमि को सरीदी दी—अर्थात् आराम बनाने के लिए श्रावस्ती के राजकुमार ने १८ करोड़ में भूमि सरीदी और फिर ८ करोड़ रुपये निर्माण में खर्च किए ।^१ बौद्ध परम्परा में श्रमणों के लिए विहार एवं प्रासाद का निर्माण एक बहुत ही महत्व पूर्ण पुनीत कृत्य समझा जाता रहा है ।

अनिकेत जैन श्रमण

जैन श्रमण परम्परा उक्त दोनों परम्पराओं से सर्वथा भिन्न रही है । किसी भी जैन राजा या सम्राट् गृहस्थ ने अपने तीर्थंकरों या श्रमणों के आश्रम के लिए किसी आश्रम, विहार या प्रासाद का निर्माण किया हो—ऐसा उल्लेख इतिहास में नहीं मिलता । भगवान महावीर अनेक बड़े-बड़े नगरों में घूमते रहे, बालुमार्ग भी बिखारे, किन्तु कहीं पर भी उनके लिए किसी प्रासाद या विहार का निर्माण नहीं हुआ । वे अपने साधना काम में तो भूमि पृथ्वी के, समतान में, पृथ्वी के सीमे, खंडहरों में, या कुम्हार, कुत्तार, मुरार आदि

निकेयमिच्छेज्ज विवेकजोगं

समाहिकामे समणे तवस्ती ।^१

समाधि की कामना रखने वाला श्रमण तपस्वी ध्यान आदि साधना के लिए ऐसे निकेत-आवास की खोज करे जो कि सर्वथा विवेक योग्य हों ।

विवेक योग्य आवास का अर्थ काफी गहरा है । टीकाकार आचार्यों ने बताया है, जहां स्त्री—पशु—नपुंसक आदि का वास न हो, जहां गृहस्थ की घर सम्बन्धी बातें, कोलाहल आदि सुनाई न दें तथा स्त्री—पुरुष के मिलन आदि की क्रियाएं जहां से दृष्टिगोचर नहीं, तथा जिस स्थान पर रहने से किसी को द्वेष, अप्रीति एवं अविश्वास न हो, तथा जो स्थान साधु के लिए न बनाया गया हो वह स्थान विवेकयोग्य माना जाता है । ऐसे स्थान को विविक्त शयनासन कहा गया है ।

विविक्त शयनासन की व्याख्या करते हुए शास्त्र में बताया गया है—

एगंतमणावाए इत्थी पसु विवज्जिए ।

सयणासनत्तेवणया विविक्त सयणासनं ।^२

—एकांत और अनापात—जहां अधिक लोगों का आना जाना न हों, स्त्रियों, पशुओं, तथा नपुंसक आदि से रहित हो, ऐसे स्वच्छ, शांत स्थान में शयन आसन करना—विविक्त शयनासन है ।

विविक्त शयनासन की दो दृष्टियां

विविक्त शयनासन के पीछे दो दृष्टियां मुख्य रूप से रही हैं—पहली मुख्य दृष्टि है ब्रह्मचर्य की साधना ! दूसरी दृष्टि है—साधक को मुरझीनता से बचाकर स्वावलम्बन, कष्टसहिष्णुता एवं निर्भय तथा निर्भयता भाव की ओर अग्रसर करना ।

ब्रह्मचर्य की साधना के लिए ऐसे एकांत स्थान की नितांत आवश्यकता रहती है जहां वा वातावरण स्वच्छ हो, शांत हो, निर्विकार हो । जिनमें

१ उत्तराध्यायन ३२।४

२ उत्तराध्यायन ३०।२८

झोपड़ियों का घास खाने झपटती ! आश्रमवासी परित्राजक दड़े लेकर गावों को भगाते, मारते और अपनी-अपनी झोपड़ी की रक्षा करते । किन्तु भगवान महावीर तो अपनी झोपड़ी में ध्यान लगाए खड़े रहे । गावें उनकी झोपड़ी को नाक करने लगी तो परित्राजकों ने कुलपति से पिकायत की—“यह मूक तपस्वी कौन है, कैसा है ? गावें इसकी झोपड़ी को खा रही है और यह उन्हें भगाता तक भी नहीं ? कैसा है वह तपस्वी ।”

कुलपति ने महावीर से कहा—‘कुमार बर ! यह उदामीनता किस काम की ? एक पक्षी भी अपने घोंसले की रक्षा करता है, आप क्षत्रियकुमार होकर भी अपनी झोपड़ी की रक्षा नहीं कर सकते ?”

भगवान महावीर मौन रहकर सब सुनते रहे। वे सोचने लगे—“मैंने राजमहल को भी अपना नहीं समझा, उसकी भी रक्षा का मोह नहीं हुआ तो अब इस झोपड़ी की रक्षा का मोह कैसा ? क्या इस झोपड़ी की रक्षा के लिए मैं अपनी ध्यान समाधि का त्याग करदूँ ? भगवान महावीर आश्रम को छोड़कर अन्यत्र विहार कर गये ।^१

ऐसी घटनाओं से भगवान महावीर ने साधुओं की आश्रम व विहार के प्रति कितनी नमस्व भावना होती है यह स्पष्ट अनुभव किया होगा । यह अपनी झोपड़ी के लिए साधना को बिसरा कर गावों को भगाने लग जाता है और उसे ही अपना घन मान बैठता है ।

तो इस प्रकार की नमस्व भावना के कारण साधु अपनी साधना में भ्रष्ट न हो। इसीलिए भगवान महावीर ने साधु को समझाया—मृदुमुक्त रहने की शिक्षा दी । अपने लिए किसी मृदु आदि का निर्माण करवाने का स्पष्ट विरोध किया ।

विशेषयोग्य आश्रम

प्रत्यक्ष होता है जब साधु अपने घर का त्याग कर देता है, और साधना करने के लिए तथा मृदु आदि बनवाने वाली भी चित्त बला रहे ? इनके उत्तर में सारथ में कहा है—

हो जाता है ?^१ शीतल जल अग्नि का स्पर्श पाने पर क्या गर्म नहीं हो जाता है ? फिर मनुष्य ही ऐसा कौन सा अजीव पदार्थ है, जिस पर संसर्ग का, वातावरण का, असर न पड़े ! मन भी तो आखिर चंचल स्वभाव वाला है हो सकता है वातावरण को पाकर वह चंचल हो उठे ! वस्तु कीचड़ में गंदा होने के बाद सफाई करने से तो यही अच्छा है कि पहले ही कीचड़ से बचा जाय ? प्रक्षालनाद् हि पंकस्य श्रेयो दूराद् विवर्जनम् ।

मन भटकने के बाद उसे स्थिर करने का प्रयत्न करना पड़े, इससे तो यही अच्छा है कि मन को पहले ही उस मलिन व विकारपूर्ण वातावरण से दूर रखा जाये । इसीलिए मानव मन के रहस्यवेत्ता पुरुषो ने साधक को विविक्त शयनासन का उपदेश किया है । कहा है—

विविक्ता सेज्जासणजंतियाणं,

ओमासणाणं वनि द्वंद्विआणं ।

न राग सत्तु धरिसेद्द चित्तं,

पराद्वो वाहिरियोसहेहि ।^२

जैसे अच्छी व उपयुक्त औपधि के द्वारा यदि रोग की जड़ ही काट दी जाय तो वह रोग पुनः शरीर पर आक्रमण नहीं कर सकता इसी प्रकार अल्प आहार करने वाले, इन्द्रियों पर संयम रखने वाले और विविक्त शयनासन का सेवन-अर्थात् शुद्ध वसति में रहने वाले साधक को राग रूप मनु आक्रांत नहीं कर सकता ।

यदि कोई अहंकार करे कि मैं बहुत बड़ा तपस्वी हूँ, जानी हूँ, मैं कहीं भी रहूँ तो जल में कमल की तरह निर्लेप रह सकता हूँ । स्थियों के रंग-रास के बीच में भी मैं अपने ब्रह्मचर्य की अखंड अस्तित्व रख सकता हूँ, तो हो सकता है कि उसका अहंकार नश्य हो, किन्तु यदि मन चंचल हो उठा तो

१ जह् नाम महारत्नमितं नागरत्नमितं कमेण संपत्तं

पाणिः लोपभावः भेदपदोपाधुमविषं ।

—आचार्य भद्रबाहु, आवश्यकनि० ११२७-२८

२ उत्तरा ध्येयन ३२।१२

आदि का आवागमन कम हों। विषय वासना को जगाने वाले चिन्म, आदि उत्तेजक कारण वहाँ न हों।

यहाँ प्रश्न खड़ा हो सकता है कि जैन धर्म तो भाववादी धर्म है, उसमें भावों पर ही अधिक महत्त्व दिया गया है, वस्तु, स्थान आदि गौण होते हैं, फिर यहाँ ब्रह्मचर्य के लिए स्थान बीच में क्यों अटक गया ! यदि साधक का मन निर्विकार है तो स्थूलिभद्र जैसे गणिका की निद्रशाला में चीमारे में रहकर भी निर्विकार रह गये, और मन कच्चा है, तो मिह गुफा में चार मास बिताने वाला साधक गणिका की निद्रशाला में एक दिन में ही पिघल गया। निवृत्त रागस्य गृहं तपोवनं - वीतराग के लिए तो घर ही तपोवन है, "गग चंगा तो कटोती में गंगा", फिर स्थान को इतना महत्त्व क्यों दिया गया ?

इसका समाधान करते हुए जैन आचार्यों ने कहा है—

वाएण विणा पोओ

न चएह महण्यं तरिअं !

अच्छे से भरपूर जलपान (नाय) भी क्या हुआ के बिना कभी महासागर में तैर सकता है ? नहीं ! वैसे ही शान्ति और अल्प मोह वाला साधक भी बिना योग्य साधनों के समार सागर को नहीं तर सकता—

निउणो वि जीय पोओ

तय संजम माउअ विहूणी^१

आत्मा रूप कुशल नायिक भी तप संजम प्रज्ञानमें आदि रूप पवन के बिना भय सागर को कैसे तर सकते हैं ? साधक को साधन तो चाहिए ही, साधन की अपेक्षा करने वाला साधक साधनों के अभाव में कितनी दूर चला सकेगा ? समर्थ, अनिष्ट जलपान भी पार पट जाने पर कितनी दूर बौढ़ नकेगा ?

साधना में ज्ञान, धर्म, स्थान की, गति की साधन समे हैं। उनके महत्त्व का मन पर प्रभाव होता ही है। नरिये वह मयूर व हनका जल तप समुद्र के स्थान पर है नाय मिल जाता है सो क्या वह भी समर्थ नहीं

स्त्रियों के बीच में ब्रह्मचारी कितने दिन अपना ब्रह्मचर्य अखिलित रख सकता है ? इसीलिए ब्रह्मचर्य व्रत की पांच भावनाओं में पांचवी भावना में कहा है—ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ स्त्री-पशु-नपुंसक आदि से रहित शुद्ध स्थान में रहे, क्योंकि केवली—भगवान ने कहा है—वहां रहने से हो सकता है कभी उसके मन में चंचलता, उन्माद, मोह या उत्तेजना आदि के रूप में शांति भंग करने वाला भेद उत्पन्न हो जाय, अतः पहले ही उसे उस स्थान का त्याग कर देना चाहिए ।^१ कहा तो यहां तक गया है कि—

कामं तु देवीहि विभूसियाहि
न चाहया खोपइजं तिगुत्ता ।
तहा वि एगंतहियं ति नच्चा
विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो ।^२

यदि वह ब्रह्मचारी परम संयमी हों, देवांगनाएँ भी उसके चित्त को क्षुब्ध न कर सकती हों, फिर भी साधु-ब्रह्मचारी को स्त्रियों आदि से रहित एकांत स्थान में ही रहना उचित है ।

अभय साधना के योग्य आवास

विविक्त शय्या में दूसरी दृष्टि है—साधक को निर्भयता एवं साहसिकता का अभ्यास करना । भ. महावीर के युग में विशाल प्रासादों में, विहारों में सुख-सुविधा के साधनों की भी होड़ लग गई थी । बौद्ध सन्नों में विद्याया के प्रासाद निर्माण की घटना बड़े गौरवपूर्ण शब्दों में गाई गई है । जब प्रासाद का निर्माण संपन्न हो गया तो विद्याया की एक सहेली ने बुद्ध के आराम कक्ष में बिछाने के लिए एक बहुमूल्य (एक महत्त्व मुद्रा का) गलीना गरीया और विद्याया को दिखाते हुए कहा—यह सुन्दर मुलायम गलीया मैं एक आराम गृह (एक कमरे) में बिछाना चाहती हूँ । विद्याया कुछ नहीं बोली, यह सहेली को प्रासाद दिखाने के लिये ले गई और कहा— जहां तुम जगह गानी

१. ध्याचारीन मूत्र २ श्रुत स्कंध १२वां भावनाखण्डन

२. उत्तराखण्डन ३२।१६

उस वातावरण में उसकी क्या दशा होगी ? जो दशा विल्ली के सामने चूहे की होती है, क्या वह दशा उस साधक की उन सुन्दरियों के झुंड के बीच नहीं होगी ? भगवान महावीर जैसे मानव मन के गहरे अनुभवियों ने कहा है—

जहा विरातावतहस्त भूते

न भूतपाणं वसही पतत्या ।

एमेव इत्यो नितपस्त मज्जे

न वंमपारिस्त लमो निवासो ।^१

जैसे विल्लियों के घर के पास चूहों का रहना घतरे से गाली नहीं है, उसी प्रकार स्त्रियों के बीच में ब्रह्मचारी का रहना सतरे से भरा हुआ है ।

विल्ली चाहे चूहे को कितना ही अभयदान दें, और चूहा भी मन में कितना ही डेर बना रहे किन्तु यदि वह विल्ली के साथ मिलता है तो पता नहीं किस समय उसके शिर घनरे की प्रंटी बज उठे । राजस्थानी में एक कहावत है भूली विल्ली ने बिल में छुपे चूहे को देखाकर कहा —

इस बिल कैरा ऊंदरा उस बिल में आ जाय !

साग दफा यूँ रोक्का बेठो-बेठो लाय !

भातजा ! तुम इस बिल में निकलकर उन दिन में जाने जाओ ! इतनी भी दूर के तुम्हें पता रहने दूँगी, जीवन भर बैठे-बैठे गाना ! विल्ली की बात सुन चूहा बोला—

नू घोड़ी, भाड़े घनो जीवन जीया मांय !

विच मांही गटको दुर्घे कही मासी ! कुण लाय !

मोसी ! इतनी भी मोड़ी उमर का इतना ज्यादा भाड़ा देने वाला नामद कुम्हार के बेटा कोई उधार नहीं मिलेगा ! किन्तु इस से कुछ चालों में ही जीवन पर समयवार सदकी है, यदि शीघ्र ही मैं ऐसा पटारा ही साजसज्जाम ला जाऊँ ! तो फिर वे लाने रहने जीवन सखिया !

तो विल्ली के घर में चूहे दिवने इस गैर क्या सकते हैं ? उसी प्रकार

—“वे भिक्षु आरामों में, उद्यानों में, देवमन्दिरों में, सभाओं में, पानी की प्याऊ में, मुसाफिरखानों में और ऐसे ही स्त्री पशु नपुंसक रहित स्थानों में रहकर प्रासुक एषणीय पीठ, फलक, शय्या-संस्तारव आदि की याचना करके रहते ।^१ और भी इस प्रकार के स्थान देखिए—

सुसाणे सुन्नागारे वा ख्वमूले वा एगओ ।

पइरिवके परकडे वासं तत्थाभिरोयए ।^२

—साधु ऐसे स्थानों में रहना पसन्द करें जो सूने हों, श्मशान में, वृक्ष के नीचे, जंगल में और बहुत एकांत में हो, तथा जो साधु के निमित्त से नहीं बनाया गया हो ।

आचारांग सूत्र में बताया गया है “भगवान महावीर कभी श्मशान में, कभी सूने घरों में, कभी वृक्ष के नीचे, कभी प्याऊ में, कभी घास के ढेर की छाया में, कभी लुहार की शाखा में इस प्रकार के भयजनक, कष्टदायी और उपसर्गकारी स्थानों में रहते थे ।”^३

ऐसे स्थानों में रहने का स्पष्ट कारण यही है कि साधक का मन भय से मुक्त हो जाए । जो स्वयं अभय होगा, वही अभय की साधना कर सकेगा । बताया गया है—शून्य गृह आदि स्थानों में रहने से साधु को अनेक भय, उपसर्ग आदि उत्पन्न होते हैं, वहां पर वह अपनी साधना में भयभ्रान्त, चंचल एवं उद्विग्न न हो—

उवणीयतरस्स ताइणो भयमाणस्स विविक्कमासणं ।

सामाइयमाहु तस्स जं जो वप्पाण भए ण दंतए ।^४

जो विविक्त आसन आदि की सेवना करता है ऐसे साधु को जब तिर्यच, मनुष्य एवं देवसम्यन्धी उपसर्ग आते हैं तब वह उनमें स्थिर रहे । जो अपने आपको भयभीत नहीं करता, वही सामायिक-समाधि की साधना कर सकता है ।

१ उचयार्द सूत्र तप धर्मानं

२ उत्तराध्यायन ३५।६

३ आचारांग २।२

४ मूलसूत्रांग १।२।२।३

मिले वही बिछा दे। सहेली देखकर चकित हो गई कि पूरे आराम में उसके गलीचे से भी बहुत कीमती और मुलायम गलीचे बिल्ले हैं। आसिर उसके आग्रह पर एक पैर पीछे का ह्यान खाली कर वहाँ लथि का गलीचा बिछाया गया।

उक्त प्रसंग से हमें पता चलता है भिक्षुओं के विहार उस समय राज-प्रासादों से होड़ लेने लग गये थे। सुख-सुविधा के, आराम के अनेक साधन वहाँ जुटाये जाते होंगे और कलस्वरूप भिक्षुओं में सुखशीलता भी बढ़ती गई होगी, इसके विपरीत भगवान महावीर ने ऐसे सुन्दर व श्रमस्थानों पर रहने का स्पष्ट निषेध किया है—

मणोहरं चित्तहरं मल्लघवणवासियं ।

साकवाडं पंडुश्लोयं मणसा वि न पत्यए ।^१

—मुनि ऐसे आवास की मन में भी इच्छा न करे, जो मनोहर हो, चित्त आदि से सज्जित हों, माना और पूष से सुगन्धित हों, तथा कपाट सहित एवं श्वेत चंदरीये वाला हो। क्योंकि ऐसे स्थानों पर रहने से यह आरामपराय हो सकता है, तप, ध्यान और समाधि से दूर रहने लग जायेगा। उनमें ऐश्वर्य भोग की भावना भी जग सकती है। अतः भगवान महावीर ने साधक को सुखशीलता का त्याग कर सादृश और अभय की भावना की ओर अग्रसर करने के लिए, रहने के ऐसे स्थानों का निर्देश दिया है जहाँ आराम से रहने के लोभ न हो, किन्तु सामान्य रूप से रहने योग्य भी कोई साधन उपलब्ध नहीं होते थे। इससे निश्चित ही भिक्षु, श्रमण ब्रह्म-महिषु बनने और उनमें स्वाध्यायमयन की भावना बढ़ती जाती। साधु के रहने योग्य जिन स्थानों का नाम निर्देश शास्त्रों में जाता है उनमें यह भी पता चलता है कि ऐसे स्थानों में यही साधक रह सकता था जो गिर पर कचन गडग कर पत्र से निवृत्त हो। मृदु का सामना करने का साधक जिसमें होना वही ऐसे स्थानों पर जाकर रुका होकर ध्यान मुद्रा धारण करता। निरिक्तमनस के योग्य स्थानों का उल्लेख करते हुए बताया गया है—

आभ्यन्तर तप का स्वरूप :

३

१ प्रायश्चित्त तप

बढ़ते जाओ :

भूल करने की आदत

प्रायश्चित्त की परिभाषा

दण्ड और प्रायश्चित्त

प्रतिसेवना बनाम दोषसेवन के कारण

प्रायश्चित्त के भेद

आलोचना बनाम दोष स्वीकृति

आलोचना से लाभ

आलोचना कौन कर सकता है ?

प्रायश्चित्त किसके पास ?

आलोचना के दोष

प्रतिशमन : पापों का प्रक्षालन

प्रतिशमन का प्रतिष्ठान

इस प्रकार विविक्तशयनासन साधना की दो मुख्य दृष्टियाँ आगम में मिलती हैं—

- १ ग्रहाचर्य की सुरक्षा
- २ अभय भाव की साधना

इन्हीं दोनों दृष्टियों की आराधना करता हुआ साधक विविक्त शयनासन प्रतिसंलीनता तप की उपासना कर सकता है। इसमें मन, वचन एवं शरीर तीनों ही योगों की, इन्द्रियों की प्रतिसंलीनता समाहित हो जाती है।

इस प्रकार अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी (वृत्तिसंक्षेप) रसपरित्याग, कायवलेषा और प्रतिसंलीनता—यह छह बाह्य तप का वर्णन समाप्त होता है।



जप का स्वरूप

धर्मकथा भी स्वाध्याय है

चार प्रकार की धर्मकथा

५. ध्यान तप

चंचल मन

मानसिक एकाग्रता का साधन : ध्यान

ध्यान की परिभाषा

ध्यान की दो धाराएं

आर्तध्यान का स्वरूप व लक्षण

क्रूरता प्रधान रौद्रध्यान

धर्मध्यान का स्वरूप

धर्मध्यान के लक्षण व आलंबन

चार अनुप्रेक्षाएं

धर्मध्यान के अन्य प्रकार

पिण्डस्थध्यान व धारणाएं

धारणाओं के चित्र

पदस्थध्यान का स्वरूप

वदध्यायति तद्भवति

सिद्धचक्र

लक्षरध्यान

बीजाक्षर : शब्द व संकेत

रूपस्थध्यान

रुपातीतध्यान

शुक्लध्यान का स्वरूप

शुक्लध्यान के चार लिंग व आलम्बन

सच्चे मन से नो : 'मिच्छामि दुःखार्हं'
 'मिच्छामि दुःखार्हं' : शब्द और भाव
 प्रायश्चित्त : आगे का यम
 उपसंहार

२ विनय तप

विनय को तप क्यों कहा ?
 विनय के तीन अर्थ
 अनुशासन
 आत्मसंयम व शील
 सम्पत्ता व तद्व्यवहार
 विनय का फलार्थ
 विनय की महिमा
 विनय के सात प्रकार
 दर्शनविनय और अनाशातना
 विनय और चापलूसी
 उपसंहार

३ वैष्णव तप

वैष्णव तप का महत्त्व और साम
 सेवा बड़ी या भक्ति ?
 सेवा का उद्देश्य
 वैष्णव तप के दस प्रकार
 वैष्णव तप की विधि

४ स्वाध्याय तप

स्वाध्याय की परिभाषा
 स्वाध्याय का महत्त्व
 स्वाध्याय के नाम
 स्वाध्याय के सात प्रकार

प्रायश्चित्त तप

बढ़ते जाओ !

एक कठियारा था, जंगल से लकड़ियां काटकर लाता, पेट पालता । कई पीढ़ियों से यही धंधा चल रहा था और यही हाल भी ! रोज लकड़ियां काटना, दो-चार जाना कमाना और रुखी-सूखी खाकर सो जाना । विचारा दरिद्रता में जन्मा था और दरिद्रता की चक्की में ही पिस्ता जा रहा था ।

एक दिन उसे एक सत्पुरुष मिला । कठियारे का हाल-बेहाल देखकर उसे दया आई । उसने पूछा—तुम क्या काम करते हो ?

धीनता पूर्वक कठियारा बोला—“रोज लकड़ियां काटना, बेचना और रुखी-सूखी खाकर दिन गुजारना ! बस यही काम करता हूं मैं ।”

सत्पुरुष ने पूछा—“लकड़ियां किस जंगल में कहीं काटते हो ?”

कठियारे ने बताया—“यहीं, पास में जंगल है, यही मरे चाप से लकड़ियां काटो यो, यही में काटता हूँ ।”

सत्पुरुष ने कहा—“तुम कुछ आगे बढ़ो ! जाने के जंगल में जाकर लकड़ी काटो ।”

कठियारा उस दिन कुछ आगे गया, उसे बरफटी सूखी लकड़ियां मिली ।

चार अनुप्रेक्षाएँ

उपसंहार

६ व्युत्सर्गं तप

निर्ममत्वं करी साधना- व्युत्सर्गं

व्युत्सर्गं का स्वरूप

गण-व्युत्सर्गं के सात हेतु

कायोत्सर्गं

देहबुद्धि का विसर्जन

कायोत्सर्गं में ध्यान

कायोत्सर्गं के चार प्रकार

व्युत्सर्गं के अन्य भेद

भावव्युत्सर्गं के तीन रूप

उपसंहार



प्रायश्चित्त तप

बढ़ते जाओ !

एक कठियारा था, जंगल से लकड़ियां काटकर लाता, पेट पालता । कई पीढ़ियों से यही धंधा चल रहा था और यही हाल भी ! रोज लकड़ियां काटना, दो-चार आना कमाना और रुखी-सूखी खाकर सो जाना । विचारा दरिद्रता में जन्मा था और दरिद्रता की चक्की में ही पिंसा जा रहा था ।

एक दिन उसे एक सत्पुरुष मिला । कठियारे का हाल-बेहाल देखकर उसे दया आई । उसने पूछा—तुम क्या काम करते हो ?

दीनता पूर्वक कठियारा बोला—“रोज लकड़ियां काटना, बेचना और रुखी-सूखी खाकर दिन गुजारना ! बस यही काम करता हूँ मैं ।”

सत्पुरुष ने पूछा—“लकड़ियां किस जंगल में कहाँ काटते हो ?”

कठियारे ने बताया—“यहाँ, पास में जंगल है, यही मरे बाप ने लकड़ियां काटी थी, यही मैं काटता हूँ ।”

सत्पुरुष ने कहा—“तुम कुछ आगे बढ़ो ! आगे के जंगल में जाकर लकड़ी काटो ।”

कठियारा उस दिन कुछ आगे गया, उसे थपटी मूसी लकड़ियां मिली ।

चार अनुप्रेक्षाएं

उपसंहार

६ व्युत्सर्ग तप

निर्ममत्व की साधना- व्युत्सर्ग

व्युत्सर्ग का स्वरूप

गण-व्युत्सर्ग के सात हेतु

कायोत्सर्ग

देहवृद्धि का विसर्जन

कायोत्सर्ग में ध्यान

कायोत्सर्ग के चार प्रकार

व्युत्सर्ग के अन्य भेद

भावव्युत्सर्ग के तीन रूप

उपसंहार

जो आगे बढ़ता है, वह चन्दन की लकड़ियाँ प्राप्त कर लेता है, जो गहरा उतरता है वह मोतियों से झोली भर लेता है ।

तप का मार्ग, साधना का पथ किनारे बैठे रहने का नहीं है, जो किनारे-किनारे घूमता है, जंगल के बाहर-बाहर शोधता है उसे कुछ नहीं मिलता, किन्तु जो इस तपोमार्ग पर आगे से आगे बढ़ता रहता है, और आगे ! खूब गहरा उतरता जाता है, वह आत्मदर्शन रूप चन्दन, स्वरूपदर्शन रूप मोती प्राप्त कर लेता है । इसीलिए जैन धर्म में तप की विधि—बाहर से भीतर की ओर बढ़ती है । अन्तर्मुखी होती है । तप का क्रम इसी प्रकार बताया गया है कि साधक निरन्तर आगे से आगे एक तप से दूसरे, दूसरे से तीसरे तप की ओर सतत बढ़ता ही जाता है और चन्दन एवं मोती प्राप्त कर लेता है ।

वाह्य तप का वर्णन हमने पिछले प्रकरण में किया है । साधक वाह्य तप तक आकर ही नहीं एक जाता, वह वाह्य से आभ्यन्तर की ओर गतिशील होता है । सद्गुरुदेव उसे प्रेरणा देते हैं—साधक ! और आगे बढ़ ! आभ्यन्तर में गहरा उतरता जा ! वह तुझे वह मिलेगा, जो आज तक नहीं मिला । अनन्त अनन्त जन्मों में जो नहीं मिला, वह खजाना मिल जायेगा । जरा आगे बढ़ता जा । तप की गहराई में उतरता जा ! देखा !

आभ्यन्तर तप में मन की विशुद्धि, सरलता और एकाग्रता की विशेष साधना होती है । वाह्य तप की साधना से साधक अपने तन को, मन को साफ़ लेता है, सहिष्णु बना लेता है और उसका संशोधन कर लेता है । विशुद्ध मन जोध ही स्थिर हो सकता है, विनम्र हो सकता है, ध्येय में लीन हो सकता है, और सब समस्या से मुक्त भी हो सकता है—इसीलिए वाह्य तप से आभ्यन्तर तप की ओर बढ़ने की ये छह सीढ़ियाँ जैनधर्म में बताई गई हैं । वाह्य तप की भाँति आभ्यन्तर तप की भी छह सीढ़ियाँ बताई गई हैं जिनमें सबसे पहली सीढ़ी है—प्रायश्चित्त ।

भूल करने की आशय

कहा जाता है भूल करना मनुष्य का स्वभाव है, यदि स्वभाव न कहे तो यह तो बहर बहूँता—भूल करना मनुष्य की आशय है । हम जब तक सद्गुरु

रोज की अपेक्षा आज उसकी लकड़ी दुगुने भावों में चिकी । दूसरे दिन फिर वही सत्पुरुष मिला । उसने फिर वही बात कही—“कुछ आगे बढ़ो !” कठियारा और आगे गया, आज और अच्छी लकड़ी मिली । गौं रोज-रोज बढ़ आगे बढ़ता गया, अब उसे बढ़िया इमारती लकड़ियां मिलने लगीं । एक भारी में ही उसे महीने भर की कमाई होने लगी । सत्पुरुष ने फिर उसे एक दिन प्रेरणा दी । रुको मत ! और आगे बढ़ो ! कठियारा जंगल में खूब दूर चला गया । आज उसे चन्दन के वृक्ष मिले । उसने ज्योंही वृक्ष को काटा, सारा जंगल चन्दन की सौरभ से महक उठा । कठियारा बहुत प्रसन्न हुआ । एक भारी बांधकर वह ले गया और बाजार में बेचा तो वस उसके जन्मभर की दरिद्रता दूर हो गई !

एक आदमी समुद्र के किनारे बैठा मीनों और पकिए चीनता रहता । बाजार में उसे बेचकर चार-छः आने कमा लेता और बने बचाकर अपना पेट भर लेता । एक दिन किसी सत्पुरुष ने उसे पूछा—समुद्र के किनारे बैठे क्या करते हो ?

उत्तने कहा— मीनों और पकिए बटोरता हूँ ?

कब से ?

यह तो मेरा पुरतनी पंथा है !

कभी समुद्र में गहरे नहीं उतरे ?

नहीं !

सत्पुरुष ने कहा— जरा गहरे उतरों ! देखो तो मही !

यह समुद्र में कुछ नीचे उतरा । उसे काफी मूल्यवान् समुद्रज शीपें मिलीं । उसे दुगुने पैसे भी मिल गये । सत्पुरुष ने फिर प्रेरणा दी—और गहरे उतरों ! वह गहरा उतरता गया । समुद्र के गर्भ में मूल्यवान् वस्तुएँ सातवें गया । पीरे-पीरे एक दिन उसने बहुत गहरा मोता लगाया—उसके हाथ अमूल्य मोती और रत्नों का ढेर पड़ गया । एक ही समय के मूल्य में उसकी जीतियों की मर्यादा दूर हो गई ! सच ही—

जिन सोझा जिन पाद्यों गहरे पानी पेंठ ।

वे ओरी दू दुन गई रही जिनारे बेंठ ।

प्रायः पापं विनिदिष्टं चित्तं तस्य विशोधनम् ।^१

—प्रायः का अर्थ है पाप और चित्त का अर्थ है उस पाप का विशोधन करना । अर्थात् पाप को शुद्ध करने की क्रिया का नाम है—प्रायश्चित्त !

एक अन्य आचार्य के मतानुसार —‘प्रायः’ नाम अपराध का है । उनका कथन है —

अपराधो वा प्रायः चित्तं—शुद्धिः । प्रापस चित्तं—प्रायश्चित्तं—अपराध-विशुद्धिः ।^२

- अपराध का नाम प्रायः है और चित्त का अर्थ है—शोधन ! जिस क्रिया से अपराध को शुद्धि हो वह प्रायश्चित्त है ।

प्राकृत भाषा में प्रायश्चित्त को पापच्छित्त कहा जाता है । ‘पापच्छित्त’ शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य कहते हैं—

पापं छिदद् जम्हा पापच्छित्तं ति भण्णइ तेण ।^३

—‘पाप’ नाम है ‘पाप’, जो पाप का छेदन करता है अर्थात् पाप को दूर कर देता है, उसे कहते हैं—पापच्छित्त ।

दण्ड और प्रायश्चित्त

प्रायश्चित्त की इन शब्द-परिभाषाओं में यही स्पष्ट होता है कि पाप की विशुद्धि के लिए, दोष की विशुद्धि के लिए जो क्रिया—(पश्चात्ताप एवं तपस्या) की जाती है उसे प्रायश्चित्त कहा है । मनुष्य प्रमादवश अनृचित कार्य कर लेता है, दोषसेवन कर लेता है, अपराध कर लेता है । किन्तु जिसकी आत्मा जागरूक होती है, धर्म-अधर्म का विवेक रखती है, परमोक्त-मुगार की भावना जिसमें होती है, वह उस अनृचित आवरण के प्रति, मन में पश्चात्ताप करने लगता है, वह दोष काटने की भांति उसके हृदय में घटकने लगता है, और शीघ्र से शीघ्र वह उन दोष की शुद्धि करने का प्रयत्न करता है । गुह्यनों के नमथ अपना दोष प्रकट करता है, उनसे उनके लिए प्रायश्चित्त की प्राप्ति करता है, और गुह्यन उसे जो प्रायश्चित्त योग्य

१ समंस्तुत ३, अधिकांश

२ नायकाक्षर १५२३

३ संयमात्त मटीया विवरण १५३

अवस्था में बैठे हैं, असावधानी और विस्मृति का दोष दूर नहीं हुआ है, तब तक कोई दोष तब ही नहीं, कोई भूल न हो— यह कैसे कहा जा सकता है ? और बहने पर मानेगा भी कौन ? क्योंकि मन-वचन एवं शरीर का योग गरिष्ठदात्मक है, चंचल है, उसमें कहीं भी कपाय भाव का मिश्रण हुआ कि फिर दोष तब बिना नहीं रहेगा । कोई यह कहे कि मैं दिन रात धर्ममय विचारों में ही रहता हूँ, मुझसे कोई दोष नहीं हो सकता, कोई भूल नहीं हो सकती, तो उस छद्मस्थ का यह दावा घेता ही है कि अंधा कहे— मैं कभी ठोकर नहीं खाता ।

जैन धर्म और भारत का, विश्व का प्रत्येक धर्म, विचारक यह मानता है कि मनुष्य ने भूल होती है, दोष होते हैं, किन्तु साथ ही उस भूल को सुधार भी जा सकता है दोष को विमृद्धि भी की जा सकती है । वस्त्र पर मैल का पक्का लग सकता है, शरीर में रोग हो सकता है, किन्तु समझदारी इसमें है कि पक्का गुरस्त माफ कर दिया जाय । रोग की निवृत्ति करके शरीर को स्वस्थ बना लिया जाय । इसीलिए कहा जाता है—भूल करना सरल है, भूल को स्वीकार करना, कठिन है, भूल का सुधार करना और भी कठिन है । किन्तु बड़ा आदमी यही है, सत्पुरुष या साधक यही है जो यह कठिन कार्य कर सकता है । जैन धर्म में इस भूल सुधार को, दोष-विमृद्धि को बहुत महत्व दिया है, यहां तक कि इसे आभ्यन्तर तप मान लिया है । दोष-विमृद्धि के लिए प्रायश्चित्त करने वाले को महान् तपस्वी माना गया है, इससे इन कामों की महत्ता स्पष्ट हो जाती है । अन्य तपों की तरह प्रायश्चित्त तप के नियम में भी जैन धर्म ने बहुत महत्ता नितन दिया है ।

प्रायश्चित्त की परिभाषा

राजसीनि में दिए प्रकार अपराध के लिए दंड का विधान है, तब भीषि में इसी प्रकार दोष के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया गया है । प्रायश्चित्त दोष की विमृद्धि के लिए होता है । उसकी परिभाषा समझने पर उसका स्वरूप व उपयोगिता भी काफी स्पष्ट हो जावेगी ।

प्रायश्चित्त—मैं दो गलतों का शोध है—प्रायः ; विस्त । आचार्य ने बताया

उसका कर्ज चुकाने के लिए गांधी जी ने घर से एक तोला सोना चुराया और दुकानदार का कर्ज चुका दिया। कर्ज तो चुक गया, किन्तु चोरी के पाप से हृदय भीतर ही भीतर झुलसने लगा। पश्चात्ताप से हृदय बैचेन हो उठा, जैसे भीतर में भयंकर आग जल रही हो। वे अपनी इस पीड़ा को सह नहीं सके। मन हुआ अभी जाकर पिताजी के चरण पकड़ लें और अपराध स्वीकार कर क्षमा मांग लें। किन्तु पिता के सामने जाने में शर्म भी आती थी, आखिर एक पत्र लिखकर उन्होंने अपनी चोरी की घटना बताई। स्वयं को धिक्कारा और भविष्य में कभी भी ऐसा अपराध न करने का दृढ़ संकल्प किया। समझदार पिता ने भी उन्हें प्रेमपूर्वक माफी दे दी। इस पश्चात्ताप के बाद गांधीजी ने कभी भी पुनः चोरी नहीं की। यह है पश्चात्ताप रूप प्रायश्चित्त का परिणाम ! दंड में ऐसा हृदय परिवर्तन नहीं हो सकता। इसलिए शास्त्रों ने साधक को अपने दोष का स्वयं प्रायश्चित्त करने के लिए प्रेरित किया है। अन्तःप्रेरणा से प्रेरित साधक जब गुरुजनों के समक्ष आता है तभी गुरुजन उसे प्रायश्चित्त देते हैं।

प्रतिसेवना घनाम दोष-सेवन के कारण

मछलि भ्रूज करना, अपराध करना, दोष सेवन करना मनुष्य की सामान्य मनोवृत्ति है। जैन मनोविज्ञान के अनुसार हर सामान्य प्राणी इन मनोवृत्ति का शिकार होता है, कोई भी संतारी मनुष्य कभी भी अपराध कर सकता है, किसी की कोई गारंटी नहीं क्योंकि किस समय उसके मन में प्रमाद व कपाम का उदय प्रयत्न हो उठे, और वह दोष सेवन करने इसका कोई समय निश्चित नहीं है। हां, विवेकी, ज्ञानी मनुष्य इन कपाम आवेग पर कुछ नियंत्रण कर सकता है, अविवेकी इन प्रवाह में लकड़ी की तरह बह जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान भी यही बात मानता है कि उसे से बड़ा और छोटे से छोटा कोई भी प्राणी भ्रूज व अपराध कर सकता है।

भ्रूज व दोष दृग्भाव नहीं है, वह आत्मा का विभाव है। जैसे भोग, मोह-पुनर्मा आदि सगैर के विकार हैं, वैसे ही अपराध, दोष आदि मानस-मन के विकार हैं। विकार दबे हुए रहते हैं, किन्तु कोई-न-कोई कारण निपटते ही वे जागृत हो उठते हैं। जैन मनोविज्ञान के आचार्यों ने मन से इन विकारों के

मनसो है वह कता देते हैं, कि, तुम इस योग-विमूढ़ि के लिए अनुभवात्मक का तपस्वरूप करो ! वन, संशय में यही प्रायश्चित्त की प्रक्रिया है ।

राजनीति में अपराधी को दंड दिया जाता है, यही अपराधी स्वयं अपने अपराध को स्वीकार भी नहीं करता, यदि स्वीकार भी से तो उसके प्रति दण्डात्मकता का भ्रान्ति नहीं होता । भ्रान्ति भी हो तब भी यह उसके लिए दंड की भाँति नहीं लगता । दंड मिल भी जाता है तो प्रसन्नता और इमानदारी के साथ दण्डका पातन नहीं करता । जबकि अस्वात्म नीति में दोषी स्वयं प्रायश्चित्त सहज करता है, पाप के प्रति उसके हृदय में तीव्र भ्रान्ति होती है, और प्रायश्चित्त लेकर वह अपने-आप को हलका, प्रसन्न और पवित्र अनुभव करने लगता है । प्रायश्चित्त और दंड में यह बहुत बड़ा अन्तर है । इसी कारण भारत के मनरत धर्मग्रन्थों में साधक के लिए प्रायश्चित्त का व्यवस्था किया है, दंड का नहीं । दंड बाह्य में अटक कर रह जाता है, वह अंतर्गत की स्वयं नहीं कर सकता । दंड अपराधी के मन को शक्तहीन नहीं करता, प्रायश्चित्त योग-सेवी के अन्तर्हृदय को सदगद्गद कर देता है । दंड में दण्डात्मकता की ओर से दण्डात्मकता और भय का भाव बढ़ाया जाता है, इसलिए अपराधी दंड पाकर भी और ज्यादा उद्विग्न, व घुंष्ट बन जाता है । जबकि प्रायश्चित्त में दुःखता की ओर से कमता, स्नेह एवं वात्सल्य का भाव दिखाया जाता है, दण्ड बाह्य प्रायश्चित्त लेकर दोषी भावुक, विनीत एवं निरादर बनता है । यह सरल और प्रसन्न रहता है । दंड पीता जाता है, प्रायश्चित्त हृदय में स्वीकार लिया जाता है । इसलिए दंड और प्रायश्चित्त में काफी अन्तर है । वास्तव में मार्ग में योग-विमूढ़ि के लिए प्रायश्चित्त स्वीकार लिया जाता है । वास्तव में जब अपने अपराध के प्रति स्वयं भुक्त करने लगता है तब उसके मन में दण्ड अपराध से भुक्त होने का संकल्प लगता है, परमात्मन द्वारा दंड अपनी भुक्त पर आगु बढाया है और भविष्य में दंड अपराध से कमरे के लिए दंड प्रविष्ट होता है ।

मौखी जी ने अपनी आत्मवक्ता में लिखा है कि दण्डन में जहाँसे किसी दुःखान्तर के कुछ उपायों का बोध हो । दुःखान्तर और दण्डन का कारण ।

साधक-जीवन में जब ये चार प्रकार की आपत्तिवाँ आती हैं तो न चाहते हुए भी विवश होकर उसे अपने कल्प के विपरीत आचरण करना पड़ता है। ऐसे समय में हिंसा, जलतरण, विद्या प्रयोग, आदि करके स्वयं की, संघ की एवं राष्ट्र की रक्षा करनी पड़ती है। उसमें दोषसेवन से आनन्द व सुख प्राप्ति की भावना नहीं, किन्तु संयम व संघ रक्षा की भावना रहती है। इसीलिए बृहत्कल्प भाष्य के कर्ता आचार्य संघदास गणी ने 'प्रतिसेवना के दो मूल भेद कर दिये हैं—

रामद्वेषाणुगता तु दप्पिया कप्पिया तु तदभावा ।

आराधतो तु कप्पे, विराधतो होति दप्पेण ॥^१

रामद्वेषपूर्वक की जाने वाली प्रतिसेवना दपिका है और रामद्वेष से रहित (आपत्ति काल में परिस्थितिवश निषिद्ध आचरण करने पर) प्रतिसेवना कल्पिका है। कल्पिका प्रतिसेवना में संयम की विराधना नहीं है, किन्तु दपिका में निश्चित ही संयम की विराधना है।

आपत्तिप्रतिसेवना में आचार्य के उक्त कथन की आधार मानकर ही भाष्य ग्रन्थों में निहृ का वधकरना आदि अनेक अपवाद भागों का उल्लेख किया है।

६ मज्झित प्रतिसेवना—ग्रहण करने योग्य आहार आदि में मंका या मंदर हो जाने पर भी उसे ग्रहण करना।

७ सहसाक्षर प्रतिसेवना—सहसा अकस्मान् कोई कार्य उपस्थित हो गया तो उस समय बिना सोचे-समझे निरुप विवश आचरण कर लेना।

८ भय प्रतिसेवना—भय ने अनुचित आचरण करना। जैसे—लोक विद्रोह तथा अपमान, संग्राम आदि के भय से झूठ बोलना आदि।

९ मद्रोष प्रतिसेवना—विषी व्यतिवृत्त द्वेष आदि के कारण ईर्ष्या,

१. बृहत्कल्पभाष्य ४२४।।तिमोष भाष्य ३६३

२. यह आचार्य का अपना मत है, इसमें कई प्रकार के संशय भी हैं।

साधना होने के अनेक कारण बताये हैं। उन कारणों से प्रेरित होकर मनुष्य योग भजन करता है, अपराध करता है। साधना की भाषा में उस योग भजन की प्रतिमेयता (प्रतिमेयता) कहा जाता है। साधनों में प्रतिमेयता के दस प्रकार बताये गये हैं—

दश-व्यसादशनाभोगे आदरे आपत्तीति यः ।

तस्मिन्ने सत्सङ्गकारे भव-व्यसोसा य योगिना ॥^१

यों, प्रसाद अनाभोग, आसुर, आपत्ति, संकित, सत्साकार, भव, प्रद्वेग जैसे विषयों—इन दस कारणों से होने वाली संगम की विराधना (योग-भेदना) प्रतिमेयता कहलाती है।

१ दशप्रतिमेयता— अर्थकार, सर्व आदि के कारण जो योग भजन किये जाते हैं और उन कारण संगम की विराधना होती है उसे दश प्रतिमेयता कहते हैं।

२ प्रसाद प्रतिमेयता— मद्यपान, विषद, कनाय, निद्रा एवं विक्रिया—इन पाँच प्रकार के प्रसाद के भजन में होने वाली संगम विराधना।

३ अनाभोग प्रतिमेयता— अनाभ के भजन होने वाली संगम विराधना।

४ आसुर प्रतिमेयता— भुख, प्यास आदि किसी चीज़ से व्याकुल होकर जो भजे संगम की विराधना।

५ आपत्तिप्रतिमेयता— किसी प्रकार की आपत्ति, उपद्रव या सकट आदि पर भजन का भजन करने में होने वाली संगम विराधना।

आपत्ति पाँच प्रकार की मानी गई है—

इच्छावृत्ति—मायुष, विपरीत साहचर्य आदि न मिलना।

रोसावृत्ति—अच्छी समुद्र पीर आदि भयंकर स्थानों में रहना पड़े जब।

बाधवृत्ति— दुश्मन आदि बड़ बड़ा दुःख।

आध्यात्मिक क्रोधाद हो आना, शरीर में पीर या पीर आदि सब आते हैं।

है, इसमें दोष सेवन कर साधक वापस उसकी आलोचना कर अपने विधि मार्ग में लौट आता है ।

उक्त कारणों से जो दोष सेवन होता है, साधक उसके लिए मन में पश्चात्ताप आदि भी करता है, और जहां, जब, जिसप्रकार के प्रायश्चित्त की विधि होती है, वह पूर्ण कर आत्मा को शुद्ध बनाता है ।

प्रायश्चित्त के भेद

यद्यपि दोष विशुद्धि रूप प्रायश्चित्त मूलतः हृदय का परिवर्तन ही है । किन्तु दोष व अपराध की गुरुता, तथा स्तर को ध्यान में रखकर उनके अनेक भेद भी किये गये हैं । कभी-कभी साधक से बहुत सामान्य अपराध होता है, और वह तुरन्त उसके लिए पश्चात्ताप करने लग जाता है । उस पश्चात्ताप से ही उसकी शुद्धि हो जाती है, अन्य किसी प्रकार के तपश्चरण की आवश्यकता नहीं रहती । किन्तु कभी-कभी अपराध बहुत भारी होता है, साधक उसके लिए पश्चात्ताप तो जरूर करता है किन्तु उस दोष की शुद्धि के लिए कुछ तपश्चरण आदि की भी आवश्यकता होती है । यदि अपराध पर परमात्ताप न हो, उसको स्वीकार न करे तो उस स्थिति में अपराधी को प्रायश्चित्त नहीं दिया जा सकता चूंकि जो दोष स्वीकार करने को भी तैयार नहीं, उसका हृदय शुद्ध कहाँ है ? सरल कहाँ है ? जब हृदय सरल नहीं तो प्रायश्चित्त उसकी क्या विशुद्धि कर सकेगा ? प्रायश्चित्त कोई जल तो नहीं है जो सब कूड़ा कचरा अपने आप बहा दे, अग्नि तो नहीं है, जो अपने-आप सब कुछ जलाती जाए, हाँ जब भी है, अग्नि भी है, किन्तु घर का बंधा हुआ जल है, मूलों की बंधी अग्नि है, जब जल बहाओ तभी सफाई होगी, अग्नि जलाओ और उसमें सबकी शाली यह तभी भरम होगी । हाँ तो, इस प्रकार अपराध का प्रकार, और अपराधी को मनोभावना पर ही प्रायश्चित्त का निर्णय किया जाता है, इसीलिए विविध दृष्टियों से विचार कर जैन आगमों में प्रायश्चित्त के दस भेद बताये हैं । जैसे—

प्रतिस्पर्धा के वन किसी पर झूठा कलंक आदि लगाना । कपाम आदि के कारण संन्यस की विराधना भी इसी के अन्तर्गत मानी जाती है ।

१० विमर्श प्रतिसेवना - ज्ञान-वृद्धकर, विचारपूर्वक दोष सेवन करना— जैसे शिष्य आदि की परीक्षा के लिए झूठे प्रश्न पूछना, दोष स्वीकार कराने के लिए धमकाना, झूठा आरोप लगाना आदि ।

आचार्यों ने बताया है कि इन दस कारणों से प्रेरित हो साधक अपने चारित्र्य में दोष लगाता है, अथवा दोष लग जाता है । इन दसों कारणों को भी चार कारणों में अन्तर्हित कर दिया गया है—जैसे— १ उनेशा, २ विषमता, ३ अज्ञान और ४ भावी त्याग ।

दर्प, प्रमाद और द्वेष के कारण जो दोष लगाए जाते हैं, उनमें प्रायः विषम, कपाम की परिणति ही मुख्य रहती है, और उस कारण संन्यस के प्रति उनेशा का भाव अधिक रहता है ।

भय, आपत्ति और संकित में, यद्यपि चारित्र्य के प्रति उनेशा का भाव तो नहीं रहता, किन्तु निकट परिस्थिति आ पहुँचने पर उसकी विषमता—संरुट दशा को पार कर निराशाय स्थिति में पहुँचने का प्रयत्न रहता है— अथवा द्रोह परिस्थिति की विषमता कहा जा सकता है । परिस्थिति से निवृत्त होकर ही साधक अन्त्याद मार्ग का सेवन करता है । किन्तु उसमें भावना उत्पन्न मार्ग—विधि मार्ग नष्ट पहुँचने की हो रहती है ।

अनाभोग और सहसाकार में अज्ञान दशा अन्त्यागमने में दोष लगता है तथा विमर्श में भावी त्याग का विचार कर ज्ञान-वृद्ध कर दोष लगाया जाता है । चारित्र्य की उनेशा, विषमता तथा अज्ञान आदि न होने पर भी किसी स्थिति का नहीं रहस्य जानने का भावी त्याग की दृष्टिगत साधक ही वह विमर्श प्रतिसेवना की जाती है ।

इस प्रकार इन दस कारणों में से कभी कोई, कभी कोई कारण जीवन व्यवहार में ऐसा आ सकता है, जब साधक अपने निषम के प्रतिकूल मर्मादा की साधक विमर्श प्रतिसेवना कर लेता है । यह आवश्यक—प्रतिसेवना कहा जाता

कार्य नहीं है। पर-निन्दा तो हर कोई कर सकता है, दूसरों के दोष देखना सरल है, किन्तु अपना दोष देखना और अपनी निन्दा करना बहुत कठिन है—

दोष पराए देखकर चले हसंत हसंत।

अपने पाद न आवहि जाका आवि न अंत !

अपना दोष तभी नजर आता है जब मन में पाप का भय होता है, दोष के प्रति पश्चात्ताप एवं श्लान्ति होती है तथा मन सरल होता है। इसलिए आलोचना में सर्वप्रथम बात हृदय की सरलता है। बालक जैसा सरल हृदय करके अपने दोषों को गुरु के समक्ष प्रकट कर देना चाहिए। बहुत से पाप ऐसे होते हैं, जिनका और कोई प्रायश्चित्त नहीं होता, सरलतापूर्वक प्रकट करने से ही उनका प्रायश्चित्त हो जाता है, उन दोषों की शुद्धि हो जाती है। आचार्य ने बताया है—

जह वालो जंपंतो पञ्जमकजं च उज्जयं भवई ।

तं तह आलोएज्जा माया मय-विप्पमुक्को उ ।^१

बालक—जो भी उचित या अनुचित कार्य कर लेता है वह सब सरल भाव से कह देता है। उसके मन में कोई दुराव-छिन्ताय या कष्ट नहीं होता। एक कहावत प्रसिद्ध है कि—किन्नी माह्व से कोई सज्जन मिलने को आया। बाहर से आवाज लगाई। माह्व भीतर बैठे थे, बच्चे को कहा—जाओ ! कह दो, पिताजी यहां नहीं हैं।

बच्चे ने आकर कहा—पिताजी ने कहा है—पिताजी यहां नहीं हैं !

आप देखिए—पिता ने बच्चे को झूठ बोलना सिखाया पर बच्चा तो झूठ बोलने में भी सरल रहा—उमने कह दिया—“पिताजी ने कहा है—कि पिताजी यहां नहीं हैं।”

आलोचना से लाभ

जो हृदय की इतनी सरलता जब होती है कि कुछ भी छिपाना नहीं, जो झूठ हो, वह खुशीखुशी से सरल स्पष्ट साफ हो ! न माया, न दम

- १ आलोचनारिहे आलोचनाहं
- २ पडिक्कमणारिहे—प्रतिक्रमणाहं
- ३ तदुभयारिहे—तदुभयाहं
- ४ विवेणारिहे—विवेकाहं
- ५ विउत्तमणारिहे—व्युत्सर्गाहं
- ६ तयारिहे—तपाहं
- ७ छेदारिहे—छेदाहं
- ८ मूलारिहे—मूलाहं
- ९ अनयट्ठणारिहे—अनयस्याप्याहं
- १० पारंत्तियारिहे—पाराञ्चिकाहं

आलोचना बनाम दोष-स्वीकृति

यम प्रागश्चित्त में सबसे पहला प्रागश्चित्त—आलोचना है। आलोचना शब्द आज के युग में बहुत व्यापक और प्रसिद्ध शब्द है। किसी भी विषय में मुक्ताधीनी करना, टीका-टिप्पणी अथवा किसी की कोई गुण—दोष सम्बन्धी बातें करना आलोचना कहा जाता है। किन्तु जैनधर्म के प्राचीन ग्रंथों में आलोचना का कुछ दूसरा ही अर्थ मिलता है। वहाँ दूसरों के गुण-दोष की समीक्षा से तो कोई प्रयोजन ही नहीं, वह तो अस्वात्मपापी वर्णन है, स्वयं की रक्षणा और स्वयं का सुधार करना ही वहाँ मुख्य प्रयोजन है। इसलिए आलोचना का अर्थ भी वही यही किया है—“अथवा दोष मरन मत्त मे मूरखत्तों के समक्ष प्रकट कर देना आलोचना है।” आचार्यों ने कहा है—

भा—अभिधिपिता मरुसदोषाणां, सोचता—गुणदुरयःप्रकाशना—
आलोचना^१—मदम में जो कोई दोष मरु मत्त हो, उसकी मूरखत्तों के समक्ष
जागर निरूपण मत्त मे प्रकट कर देना—मूरखेव ! गुण मे मरु दोष हो मत्ता
है—इस प्रकार दोष प्रकट रूप मे स्वीकार कर लेना आलोचना है।

आलोचना—एक प्रकार की आत्म-निर्देश है। आत्म-निर्देश हमारा मरु

अपनी तबियत का ध्यान रखना चाहिए, रोग हो जाने के बाद यदि कोई सोचे कि अब डाक्टर या वैद्य के पास जावूंगा और लोगों को पता चलेगा तो लोग मुझे 'रोगी' 'बीमार' समझेंगे यदि ऐसा सोचकर कोई अपना रोग छिपा कर बैठा रहे, तो क्या वह स्वस्थ व प्रसन्न रह सकता है ? स्वस्थता तभी रहेगी जब रोग दूर हट जायेगा, उसका उपचार किया जायेगा, इसी प्रकार जीवन में निर्दोषता और प्रसन्नता भी तभी जायेगी जब दोष को प्रकट कर उसका प्रायश्चित्त किया जाये ! जीवन में उल्लास, मन में हनकापन और हृदय में निर्मलता तभी प्राप्त होती है जब व्यक्ति का अन्तरजीवन निर्दोष हो । गौतम स्वामी के प्रश्न पर भगवान् महावीर ने बताया है कि आलोचना करने से नायक माया, निदान एवं मिथ्यादर्शन रूप तीन शक्तियों को निकालकर दूर कर देता है, कांटा निकालने से जैसे मुख — अनुभव होता है, वैसे ही ये शक्त्य दूर हो जाने से हृदय में अपूर्व मुकानुभूति होती है, सरलता और निर्दोषता आती है तथा अन्तर-आत्मा—चित्ते हुए कमल की भांति प्रसन्नता एवं उल्लास से गमक उठती है ।^१

आलोचना करने वाले के मन में पहले यह संकल्प जगता है कि यदि मैं कृत पापों की आलोचना नहीं करूंगा तो मेरा इहलोक भी निन्दित होगा, पर-लोक भी निन्दित होगा तथा मेरे ज्ञान—दर्शन—साधित्र भी दूषित हो जायेंगे—इसलिए मुझे अपने पाप की आलोचना कर जीवन को यशस्वी तथा ज्ञान-दर्शन आदि को निर्दोष बनाना चाहिए ।^२

आलोचना क्यों कर सजता है ?

आलोचना करने वाले का हृदय कोमल होता है, भावुक और विनम्र होता है, वह अपने इहलोक एवं परलोक के मन्दन्य में बहुत ही विवेकशील रहता है । वह सोचता है, यदि मैंने कृतपाप की आलोचना नहीं की, उन्हे क्षमने की चेष्टा की तो मेरी इस जीवन की समस्त सारथता, उपमाता, योग-

१ उल्लासदर्शन २६४

२ स्यानाम सूत्र ११३

और न अहंकार ! यस सोधा सरल होकर अपना दोष स्वीकार कर लेना ! यह है आलोचना । कृत पापों की आलोचना जब तक नहीं की जाती तब तक हृदय में एक मल्य (काँटा) रहता है । उस अवस्था में बिना आलोचना किए ही यदि मृत्यु हो जाय तो यह साधक धर्म का विराधक हो जाता है ।^१ यदि आलोचना की भावना जग गई, मन सरल हो गया और आलोचना नहीं कर पाया तो उस स्थिति के लिए—आचार्य भद्रबाहु ने तो यहाँ तक कहा है कि सरल मन से आलोचना करने की भावना जगने पर भी साधक की पाप विलुद्धि हो जाती है । यदि कोई पापों की आलोचना करने के लिए गुरु के समक्ष जाता हो, बीच रास्ते में किसी आकस्मिक कारण से मृत्यु हो जाये तो वह आलोचनोन्मुख साधक (आलोचना ग्रहण किये बिना भी) आराधक हो होता है^२ क्योंकि उसकी भावना सरल और पाप के प्रति पर्याप्तता की थी । आमुष्ण क्षय हो जाने के कारण वह आलोचना कर नहीं पाया, किन्तु हृदय उसका सरल हो गया था, सरलता के कारण मुक्ति तो अपने आप ही हो चुकी थी ।

भगवान् महावीर ने बताया है कि मनुष्य पाप करके जब तक मन में पाप के प्रति आसक्ति रहता है, उसे पाप नहीं समझता या 'पाप' समझकर भी यह सोचता है कि इसे किये बिना मेरा काम नहीं चलेगा तब तक उसके मन में पाप के प्रति धृष्टा पैदा नहीं होती और वह पाप का प्राप्तिमत्ता भी नहीं कर सकता ।^३ यदि कोई सोचे कि दोष को स्वीकार करने में लोगों में मेरी कीर्ति, मन, प्रतिष्ठा एवं मान-सम्मान घट जायेगा, लोग मुझे दोषी कहने लग जायेंगे अतः अपना दोष स्वीकार नहीं करना चाहिए, ऐसा मनुष्य अपने झूठे अहंकार में अंधा हुआ रहता है । यदि मान-सम्मान घटने का दर रस, तो पहले दोष भोजन करना ही नहीं चाहिए था । पाप करने काय ही विधान हो सकता है । जिसे स्वतन्त्र की विद्या हो उसे पहले ही

१ भगवती सूत्र १०।२

२ आराधक नियुक्ति ४

३ स्वामिान सूत्र २।२ (आलोचना करने न करने के लिये तीन कारण देते)

वह क्रोध नहीं करता, किन्तु अपने दोष की हर स्थिति में क्षुब्ध करना चाहता है ।

८ दान्त—इन्द्रियों का दमन करने वाला—प्रायश्चित्त रूप में कठोर तपश्चरण आदि मिलने पर भी उसका पालन करने को तैयार रहता है, इन्द्रिय-विषयों की अनासक्ति के कारण वह प्रायश्चित्त से न तो डरता है और न अन्य प्रकार की लोलुपता रहती है अतः ऐसा व्यक्ति आलोचना कर सकता है ।

९ अमायी—सरल हृदय वाला व्यक्ति कभी अपने पापों को छिपाता नहीं । वह खुले दिल से हर समय अपना दोष स्वीकार करने को तैयार रहता है

१० अपरचात्तायी—अपना दोष स्वीकार कर लेने पर जिसके मन में कभी पश्चात्ताप नहीं होता कि मैंने ऐसा क्यों स्वीकार कर लिया ? यदि छुपाया रखता तो क्या हो जाता ? इस प्रकार आत्मोन्ना के बाद में अनुताप न करने वाला आलोचना कर सकता है, और आलोचना करके वह हृदय में हलकापन अनुभव करता है ।

इन इन कारणों पर सूक्ष्म विचार किया जाय तो अनुभव होगा कि प्रत्येक कारण ऐसा है जो व्यक्ति के अन्तर्हृदय को कुरदता रहता है । इनमें से कोई भी गुण यदि किसी में होगा तो पहले तो वह पाप की ओर बढ़ने में ही संकोच करेगा, भूल, अज्ञान या परिस्थिति उस पाप कर लिया तो वह फिर पुनः पाप नहीं पैठ सकता, उसका हृदय भीतर-ही-भीतर मेरित करता रहेगा कि सन्त ! गुरुजनों के समक्ष ! अपना पाप प्रकट कर और उनका प्रायश्चित्त ले ! इस प्रकार उक्त कारणों ने व्यक्ति का मन दोषस्वीकृति के लिए, प्रायश्चित्त के लिए एक भूमिका बना देता है और यह स्वयं प्रायश्चित्त लेने तैयार हो जाता है ।

प्रायश्चित्त किसके पास ?

कोई जो इस प्रकार के प्रायश्चित्त अनाये गुरु है उनमें कुछ प्रायश्चित्त ऐसे हैं, जो मन में पश्चात्ताप बन लेने मात्र में ही पूरे हो जाते हैं । ये प्रसिद्ध-

कलेश, केशलोच आदि कठोर कष्ट सहन की सब क्रियाएँ बेकार हो जायेगी, परलोक में न केवल मैं साधना की दृष्टि से दरिद्र ही रहूँगा, किन्तु पुरुष वेद को खोकर स्त्री वेद का भी बन्धन कर लूँगा। इस प्रकार का विवेकमय चिन्तन कर साधक आलोचना के लिए मन को तैयार कर लेता है।

आलोचना करने वाले की मनोवैज्ञानिक स्थिति का चित्रण करते हुए शास्त्र में बताया है कि निम्न दस गुणों से सम्पन्न व्यक्ति कृत पाप की आलोचना करने में कभी पीछे नहीं हटता। वे दस गुण ये हैं—

- १ जातिसम्पन्न—उत्तम जाति वाला—वह व्यक्ति प्रथम तो ऐसा बुरा काम करता नहीं, जिससे लोक निंदा और आत्मा दूषित हो, यदि भूल से कर लेता है तो शुद्ध मन से उसकी आलोचना के लिए भी प्रस्तुत रहता है।
- २ कुलसम्पन्न—उत्तम कुल वाला—वह व्यक्ति जो भी प्रायश्चित्त लेता है उसे पूरा पालता है, तथा पुनः दोष सेवन नहीं करने का संकल्प भी कर लेता है।
- ३ विनयसम्पन्न—विनयशील व्यक्ति भूल करने पर वहाँ की बात मान कर उसका प्रायश्चित्त कर लेता है।
- ४ ज्ञानसम्पन्न—जिसके हृदय में ज्ञान होगा वह जानता है कि मोक्ष-मार्ग की आराधना के लिए क्या करना चाहिए और क्या नहीं! अकार्य कर लेने पर तुरन्त उसकी शुद्धि कर लेनी चाहिए।
- ५ दर्शनसम्पन्न—श्रद्धासम्पन्न व्यक्ति भगवान की वाणी पर विश्वास रखता है, वह समझता है कि शास्त्रों में दोष के लिए जो प्रायश्चित्त की विधि बताई है वही हृदय की शुद्धि करने में समर्थ है।
- ६ चारित्र्यसम्पन्न—उत्तम चारित्र्य वाला व्यक्ति अपने चारित्र्य को निमग्न रहने के लिए दोषों की आलोचना करता है।
- ७ क्षान्त—क्षमाशील व्यक्ति में इतना धैर्य होना है कि दोष के कारण उसे दुश्मनों की घटकार, धिक्कार व भयंसा आदि मिलने पर भी

कभी ऐसा प्रसंग आवे कि उनमें से कोई भी न मिले तो ग्राम या नगर के बाहर जाकर पूर्व-उत्तर दिशा में मुंह कर, विनम्रभाव से हाथ जोड़कर अपने अपराधी व दोषों का स्पष्ट उच्चारण करना चाहिए और अरिहंत-सिद्ध भगवंत की साक्षी ने अपने आप प्रायश्चित्त लेकर मुक्त हो जाना चाहिए ।”^१

यह तो हुई एक विशेष परिस्थिति की बात ! वैसे सामान्य नियम यह है कि आलोचना किसी बहुश्रुत गंभीर धर्मण के पास करनी चाहिए । जैसे न्यायाधीशपद के लिए अनेक प्रकार के अध्ययन, अनुभव आदि की श्रेणी रखी जाती है, जो अनुभवी हो, अनेक विषयों का विद्वान हो, गंभीर हो, अपराधी के साथ पक्षपात व रिश्तत आदि का शिकार न होता हो, उसे ही न्यायाधीश के महान पद पर विद्याया जाता है, वैसे ही धर्मसंघ में आलोचना देने वाला एक प्रकार का न्यायाधीश होता है । प्राचीन राज्य व्यवस्था में तो न्यायाधीश को ‘धर्माध्यक्ष’ कहा जाता था । वास्तव में न्याय और धर्म में बहुत ही नजदीक का सम्बन्ध है, ‘सत्य’ दोनों की ही मूल कड़ी है । तो धर्मसंघों में भी आलोचना देने वाला, योगी का अपराध सुनने वाला कुछ विनिश्चित होना चाहिए । धर्म में आलोचना देने वाले की आठ विशेषताएं बताई गई हैं—

१ आचारवान्—आचार संपन्न हो ।

२ आधारवान्—(अवधारणानुक्त)—उसकी स्मृति स्थिर हो, सुनी हुई बात को ठीक से कहने करे और उस पर गंभीरतापूर्वक विचार करने वाला हो ।

३ स्वयंशुद्धान्—आत्म, श्रुत, आशा, धारणा और जीत-व्यवहार इन पाँचों स्वयंशुद्धों का शाखा हो, तथा प्रवृत्ति-निवृत्ति, उत्तम-अपराध आदि का उचित प्रवर्जन करने वाला हो ।

४ अप्रधीरक—अपराधी नज्मायम अपने दोषों की छिपाने की चेष्टा करे तो वह मारु पक्षी आदि में उसकी मारना शुरू करके उसे उचित आलोचना कराने वाला हो ।

क्रमण ! किन्तु वाकी कुछ प्रायश्चित्त जो है, वे गुरुजनों आदि की साक्षी से ही किये जाते हैं। प्रायश्चित्त कर्ता चाहे अल्पज्ञानी हो, अथवा शास्त्रों का घुरंघर, किन्तु जो प्रायश्चित्त गुरु साक्षी से करना हो उसे तो वैसे ही उनके समक्ष जाकर करना चाहिए। यह नहीं कि "मुझे तो सब शास्त्रों का ज्ञान है, मुझे किसी के पास जाने की क्या जरूरत है ?" यदि ज्ञानी के मन में ऐसा विचार आता है तो इसका कारण है - उसे दूसरों के समक्ष शोष प्रकट करने में लज्जा या अपमान का अनुभव होता है, यदि ऐसी भावना है तो फिर सरलता कहाँ ? बिना सरलता के प्रायश्चित्त कैसा ? दूसरी बात यह है कि अच्छे से अच्छा वैद्य भी अपना इलाज स्वयं नहीं करता। कहा है—

जह सुकुसलो वि विज्जो अन्नस्स फहेइ अत्तणो चाहि ।

विज्जुवएसं सुच्चा पच्छा सो कम्ममायरइ ।

छत्तीसगुण समन्नागएण, सुट्ठ वि व्यवहारकुसलेण ।

पर सखिया विसोहि तेण वि अवस्स फायट्वा ।^१

जैसे परम निपुण वैद्य भी अपनी बीमारी दूसरे वैद्य से कहता है और उससे ही चिकित्सा करवाता है, उस वैद्य के कहे अनुसार कार्य करता है, वैसे ही आचार्य के छत्तीस गुणों से युक्त एवं ज्ञान क्रिया—व्यवहार आदि में विशेष निपुण होने पर भी पाप की विमृष्टि दूसरों की साक्षी से ही करनी चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से हृदय की सरलता का परिचय मिलता है, तथा दूसरों को भी सरल एवं विमृष्ट होने की प्रेरणा मिलती है।

जैन आचारशास्त्र के प्रमुखा सूत्र व्यवहार सूत्र में इस विषय का स्पष्ट उल्लेख किया है कि आलोचना किसके पास करनी चाहिए ? बताया गया है—“सर्व-प्रथम आलोचना अपने आचार्य, उपाध्याय के पास करनी चाहिए। ये न हों तो सांभोगिक बहूश्रुत साधु के पास, उनके अभाव में समान रूप वाले बहुश्रुत साधु के पास, उनके अभाव में पच्छाकट्टा (जो साधुपन स्थापन कर श्रावक प्रथम प्राप्त रहा हो किन्तु पूर्ण पालन में सफल पालने से प्रायश्चित्त विधि का ज्ञान हो, जिनके, जिनके) श्रावक के पास, उसका भी अभाव हो तो जिनभक्त गुरु आदि देवों के पास अपने दोषों की आलोचना करनी चाहिए। अगर

आलोचना के दोष

भगवतीसूत्र में आलोचना के सभी पहलुओं पर काफी गंभीरता के साथ विचार किया गया है। जहाँ आलोचना न करने के दुष्परिणाम दिखाये गये हैं, वहाँ आलोचना कर लेने के सुखद फल का भी वर्णन किया है। आलोचना लेने वाले और देने वाले की मानसिक गंभीरता, विवेकशीलता और सरलता का वर्णन है, वहाँ यह भी बताया है कि बहुत से व्यक्ति मन सरल न होने पर भी लोगों में अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए, विश्वास पैदा करने के लिए और गुरुजनों की प्रशंसा रखने के लिए आलोचना करने का अभिनय किया करते हैं। इसलिए वे आलोचना करने में भी कपट और चालाकी से काम लेते हैं। शास्त्रकार ने उनकी इन चालाकी व धूर्तता को आलोचना का दोष बताया है। भगवतीसूत्र में बताया है कि यदि मन में सरलता न हो तो आलोचना करने में भी वे इस प्रकार के दोष लग जाते हैं—

१ आकंपयित्वा—आलोचना लेने वाला यह सोचे कि जिसके पास आलोचना कर रहा हूँ पहले उनकी सेवा आदि करके उन्हें प्रसन्न कर लूँ ताकि वे प्रसन्न होकर मोड़ा प्रयत्नचत नेंगे।

यह एक प्रकार की दिव्यता देने जैसी मनोवृत्ति है। ग्यायाचीन की जैसे पहले रिश्ता देखकर अपने पक्ष में करने की चेष्टा की जाती है वैसे ही गुरुजनों की सेवा आदि करके। इस मनोवृत्ति को आलोचना प्रथम दोष माना है।

२ अनुमानश्रुता—पहले छोटे दोष की आलोचना करके यह अनुमान करने की चेष्टा करना कि आचार्य आदि बड़े बीमा देते हैं। कम देते हैं, या ज्यादा हैं। अथवा प्रायश्चित्त के भेदों को पूछ कर पहले अनुमान करना कि मुझे किसका कष्ट मिलेगा, उसके बाद आलोचना करना।

३ दिव्यं (हाउ)—जिस दोष की किसी ने देना किया हो, उसी की आलोचना करना, चाकी की न करना।

४ चापरं (सूत्र)—जिस बड़े-बड़े लोगों की आलोचना कर दिया।

- ५ प्रकुर्वक—आलोचित अपराध का तत्काल प्रायश्चित्त देकर अपराध की शुद्धि कराने में समर्थ हों। क्योंकि जब दोषी अपने दोष व अपराध का प्रायश्चित्त मांगता हो तो फिर उसमें विलंब नहीं करना चाहिए। शीघ्र ही प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करें।
- ६ अपरित्नाधी—आलोचना करने वाले के दोषों को दूसरे के सामने प्रकट नहीं करने वाला हों। क्योंकि आलोचना करने वाला अपने गुप्त रहस्य प्रकट कर उनका प्रायश्चित्त लेता है, यदि आलोचना देने वाला गंभीर न होकर छिछला हो, तो वह उसके दोषों को दूसरे के समक्ष प्रकट कर देगा। जिससे लोगों में उसकी हीलना हो सकती है। और फिर उसके समक्ष कोई अपना गुप्त दोष प्रकट करना नहीं चाहेगा। इसीलिए शास्त्र में विधान है कि आलोचना दाता आलोचना करने वाले के दोषों को दूसरे के समक्ष प्रकट करदे तो उसे भी उतना ही प्रायश्चित्त आयेगा जितना कि दोष की आलोचना करने वाले को। इसका स्पष्ट अर्थ है—किसी के दोष का उद्घाटन करना भी बहुत बड़ा दोष है।
- ७ निर्वापक—यदि किसी ने दोष गुप्त कर लिया हो, किन्तु शरीर से अलग हो, बीमार हों, उसकी शुद्धि हेतु जो प्रायश्चित्त रूप तपश्चर्या आदि दिया जाय उसे वह पूरा निर्वहण कर सकें तो उसे थोड़ा-थोड़ा करके प्रायश्चित्त देने और उसकी शुद्धि कराएँ।
- ८ अपायवर्गी—यदि कोई दोष करके उसकी आलोचना करने में संकोच करता हो, तो उसे दोष छिपाने एवं आलोचना न करने के मास्त्र-वर्णित पुण्यविधायक समझा कर आलोचना करने के लिए तैयार करने में निपुण हों।^१

इस तरह आलोचना देने वालों में भी ये विशेषताएँ होनी चाहिए ताकि आलोचना करने वाला प्रसन्नता एवं विश्वासपूर्वक उसके पास आलोचना कर सके और स्वयं के दोषों में मुक्त हो सकें।

विकल्प छोड़ देने चाहिए। कहावत है—“जखल में सिर दे दिया तो फिर मूसल से क्या करना ?” तो जब मन को, आत्मा को दृढ़ बना कर दोष मिटाने की तैयारी कर ही ली तो फिर जो भी दंड मिले उससे क्या करना ?

इस प्रकार प्रायश्चित्त के दस भेदों में यह प्रथम भेद हुआ आलोचना। आलोचना के सम्बन्ध में जैन धर्म ने बहुत सूक्ष्मरीति से विचार किया है, सिर्फ विचार ही नहीं, किन्तु इसे जीवन-व्यवहार का प्रमुख अंग माना है। श्रत्येक जैन चाहे वह श्रावक हो, या श्रमण, जीवन में पद-पद पर अपनी आलोचना—अर्थात् आत्मा-लोचन—आत्मनिरीक्षण करता रहता है। सामान्यिक लेते हुए सबसे पहले वह अपने पूर्वकृत पापों की आलोचना, निंदा, और नहीं करता है। पापों के प्रति घृणा (गृही) करना—यही तो जैन धर्म का मूल तत्त्व है। उसका कहना है, पापी से नहीं पाप से घृणा करो। पापी की नहीं, पाप की आलोचना करो। इन प्रयोग में भगवती मूर्त का एक निम्न प्रकरण बड़ा ही प्रेरणाप्रद है।

एकबार पार्श्वसंतानीय कात्यायनेश्वरपुत्र नामक अणभार ने भगवान् महावीर के स्वयंश्रोत्रियों से पूछा— क्या आप सामान्यिक को जानते हैं ? सामान्यिक का अर्थ आत है आत्मको ? यदि नहीं जानते हैं तो फिर कैसे स्वयंश्रोत्रि हैं आप ? कैसे जानते हैं ?

स्वयंश्रोत्रियों ने कहा—“अणभार ! हमें सामान्यिक का अर्थ आदि मय आत है ! हम मय आत्म जानते हैं। कात्यायनेश्वर पुत्र बोला—तो फिर क्या है सामान्यिक का अर्थ ? सामान्यिक का अर्थ क्या है ?

स्वयंश्रोत्रि—जाना ही सामान्यिक है, आत्मा ही सामान्यिक का अर्थ (प्रयोजन) है। इस पर कात्यायनेश्वरपुत्र अणभार बोले—यदि ऐसा ही है तो तोप मान आदि कणाय भी तो आत्मा में रहे हुए हैं, उनको निन्दित-कृत्य क्यों करते हैं ? स्वयंश्रोत्रियों ने महावीर होकर कहा—अर्थ ? संस्र के (जगत्) तो उसकी निंदा करते हैं। क्योंकि उस श्रोत्रि (पापी) की निंदा करना, नहीं—उससे दूरा करना—यही तो मरम है, यही संस्र का प्रयोजन है—मरम

५ सुहृद्यं (सूक्ष्म)—छोटे-छोटे दोषों की आलोचना करना ।

४-५ वें दोष में शायद यही दिखाने की मनोवृत्ति रहती है कि "जो बड़े बड़े दोषों की आलोचना करता भी नहीं शर्मिया या नहीं डरा, वह छोटे-छोटे दोषों को क्यों छुपावेगा ? तथा जो छोटे-छोटे दोषों की आलोचना कर लेता है वह बड़े दोष को कैसे छिपा सकता है" दूसरों के मन पर इस प्रकार प्रभाव डालने के लिए यह दोनों प्रकार की धूर्तता की जाती है ।

६ छत्रं (प्रच्छन्न)—लज्जालुता का प्रदर्शन करते हुए गुप्तस्थान में जाकर आलोचना करे और इतना धीरे व अस्पष्ट बोलें कि आलोचना देने वाला पूरा सुन भी न सके ।

७ सहासतयं (शब्दाकुल)—दूसरों को सुनाने के लिए कि देखो मैं आलोचना कर रहा हूँ—जोर-जोर से बोलकर आलोचना करना ।

८ बहुजण (बहुजन)—लोगों में अपनी पाप-भीरता का प्रदर्शन कर प्रशंसा प्राप्त करने के लिए एक ही दोष की अनेक व्यक्तियों के पास जाकर आलोचना करना ।

९ अव्यक्त (अव्यक्त)—ऐसे अगीताथं साधु के पास जाकर आलोचना करना—जिससे यह भी शांत न हो कि किस अतिचार का क्या प्रायश्चित्त दिया जाता है ।

१० तत्सेवी (तत्सेवी)—जिस दोष की आलोचना करनी हो, उसी दोष का सेवन करने वाले आचार्यों आदि के पास जाकर इस भावना से आलोचना करना कि ये स्वयं भी इस दोष के सेवी होने के कारण कुछ अधिक न कह सकेंगे तथा प्रायश्चित्त भी कम देंगे ।^१

आलोचना करने वाले को इस दोषों से बचकर सरल व निष्पात मन से आलोचना करनी चाहिए । क्योंकि जब दोष की शुद्धि करने का हृद संकल्प कर लिया हो तो फिर कुछ शंका जितना देगे या लोग क्या कहेंगे आदि में मग्न

अपवित्र दुनियां से निकलकर पुनः अपने पवित्र भाव लोक में आगमन किया जाता है—उसे जैन परिभाषा में प्रतिक्रमण कहते हैं। आचार्य हरिभद्र सूरि ने प्रतिक्रमण की भावात्मक परिभाषा करते हुए लिखा है—

स्वस्थानाद् यत्परंस्थानं प्रमादस्य वशगतः !

तत्रैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते ।

—आत्मा प्रमाद के वश होकर अपने शुभयोग से गिर जाता है, और अशुभ योगों में चला जाता है। तब फिर से अशुभयोग को छोड़कर शुभ योग में आना—पर-स्थान से पुनः स्वस्थान में लौट आना—इसी का नाम है—प्रतिक्रमण।

आचार्य हेमचन्द्र ने भी प्रतिक्रमण की ऐसी ही व्याख्या की है। उनका कथन है—प्रतीपं क्रमणं—प्रतिक्रमणं। शुभ योगेष्वोऽशुभयोगान्तरं क्रान्तस्य शुभेषु एव क्रमणात् प्रतीपं क्रमणं—अर्थात् शुभ योगों से अशुभ योगों में गये हुए अपने आपको पुनः शुभ योगों में लौटा लाना—प्रतिक्रमण है।

मद्येपि में प्रतिक्रमण का अर्थ है—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कपाय, अशुभ योग-रूप पर-भाव में जब कभी आत्मा चला जाता है तो उसे तुरन्त अपने स्वभाव में सम्मिलित, संतुष्ट, अप्रमाद, क्षमा आदि अपने पूर्व शुभ योग में ले आना—अशुभ से शुभ की ओर मोड़ लेना, पर-भावन से स्व भाव में ले आना—इस विधा का नाम प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण में माया अपने पापों का स्वयं निरीक्षण करता है, वह पृथगत जात स्थान में बैठकर संख्या व प्रत्यक्षानुभव की दृष्टि लेता है मन को स्थिर करने के अपने दिन भर के कृत्यों का निरीक्षण करता है कि आज मैंने क्या-क्या शुभ कार्य किये और क्या-क्या बुरे ? दिन कागों में मेरी आत्मा मग्न होगी है, मेरे जब हृदि ही ही ऐसे क्षण में क्यों किये किये ? इस प्रकार वह मनीषा के साथ अपना आत्म-निरीक्षण करता है, जो-जो दोष, पाप, अपराध उसके भाव में आये हैं उस पर वह अपने हृदय में परमात्मक आकाश है, मिथ्यात्व दुःख है—वेदा है और पुनः उस पापों को नहीं करने का संकल्प लेता है। इस प्रकार माया अपने कर्मों में जो दोष रूप छिद्र हो गये हैं उनके

संजमे... गरहा वि यं णं सव्वं दोसं पविणेति, सव्वं वासियं परिण्णाए^१—गर्हा (आत्म-निरीक्षण और पापों के प्रति घृणा) यही संयम है, इसी से सब दोषों का प्रक्षालन होता है तथा सब बालभाव (मूर्खता—अज्ञान) दूर हो जाते हैं।” स्वविरो के इस उत्तर से अणगार कात्तास वेसिय पुत्र को पूर्ण समाधान हो गया।

तो आपने देखा कि पापों के प्रति गर्हा, निंदा और आलोचना—गर्ही संयम का मुख्य-प्रयोजन है, और उसकी यही उपलब्धि भी है। आलोचना के द्वारा—गर्हा का—पापों के प्रति घृणा का गुरुजनों के समक्ष उसको स्वीकार करने का मार्ग प्रणस्त होता है।

प्रतिक्रमण : पापों का प्रक्षालन

आलोचना के बाद दूसरा प्रायश्चित्त है—प्रतिक्रमण। प्रतिक्रमण—जैन जीवन चर्या का एक अत्यंत महत्वपूर्ण और अति आवश्यक अंग है। इसीलिए जीवन में अवश्य करने योग्य कार्यों में इसकी गणना कर इसको ‘आवश्यक’ कहा गया है।^२ अनुयोग द्वार मूत्र में साधु एवं श्रावक के लिए छह आवश्यकों का विधान किया गया है, वहां चौथा आवश्यक कृत्य है—प्रतिक्रमण। प्रतिक्रमण—एक प्रायश्चित्त भी है, आवश्यक कृत्य भी है। यह एक प्रकार का स्नान है, दोषों का प्रक्षालन है। साधक जिस क्रिया के द्वारा आत्मनिरीक्षण, आत्म-परीक्षण एवं पश्चात्ताप के द्वारा अपने किये हुए दोषों, अपराधों एवं पापों का प्रक्षालन कर शुद्ध हो सकता है—उस का एक ही मार्ग है प्रतिक्रमण !

प्रतिक्रमण का अर्थ

जीवन में जो पाप स्वयं किये जाते हैं, दूसरों से करवाये जाते हैं, तथा दूसरों के द्वारा किये हुए पापों का अनुमोदन किया जाता है—उन सब पापों की निवृत्ति के लिए जो मानसिक पश्चात्ताप किया जाता है, पापों की

१ भगवती सूत्र १।६

२ अनुयोग न सावगण न अयस्सं कायस्य हवइ अस्सा—अनुयोगद्वार सावगणक अधिकार

वाल के जीवन में नहीं टिक सकता । क्योंकि वह किसी दूसरे के डर से, नालच या दबाव से प्रतिक्रमण नहीं करता, किन्तु आत्मा को शुद्ध करने के लिए ही करता है, जो भूल होती है उसे सच्चे दिल से स्वीकार करता है और उसे दूर करने का भी प्रयत्न करता है । वह एक बार नहीं, किन्तु दिन में दो बार इस एकरूपता की साधना करता है । दिन में होने वाली समस्त भूलों को सायंकालीन प्रतिक्रमण के समय दूर हटाकर जीवन को पवित्र व सम-रूप बनाया जाता है और रात में होने वाली भूलों को प्रातःकालीन प्रतिक्रमण के समय दूर कर जीवन की विविधता व अनेकता पिटाई जाती है । मन-वचन-कर्म की एकरूपता प्राप्त की जाती है । जीवन में जहाँ-जहाँ उसे दोष, अनेकता के दाग दिखाई देते हैं उन्हें आत्मालोचन के जल से धो-धोकर सम्पूर्ण वरुण को एकदम स्वच्छ व निर्मल बना लेता है ।

प्रतिक्रमण को जीवन की छायरी कहा जा सकता है । जीवन का यही-साता कहा जा सकता है । जैसे लोग अपनी छायरी में ईमानदारी के साथ रोज-मर्रा की घटनाएं निखते हैं, फिर उन पर चिंतन करते हैं जो भूल प्रतीत होती है, गलतियाँ खनती हैं उन्हें सुधारने का प्रयत्न करते हैं । यही-साते में लाभ और हानि का हिसाब लगा जाता है, फिर हानि होने के कारणों पर विचार कर उन्हें दूर किया जाता है और लाभ कमाने का प्रयत्न भी । प्रति क्रमण से भी जीवन में यही होता है, भूले प्यार में आने पर व्यक्ति उन भूलों को सुधारने की चेष्टा करता है, दुखारा भूले न करने का संकल्प करता है और इससे जीवन को निर्दोष बना लेता है ।

सच्चे मन से तो 'मिथ्यामिदृशकर्म'

प्रतिक्रमण से तब के प्रति परकायापन कर को प्रायश्चित्त किया जाता है उसे जैन भाषा में 'मिथ्यामिदृशकर्म' कहा जाता है । किसी भी प्रकार की दारोगिक, शारीरिक और मानसिक भूल ही उसे पर दोष हो जाने पर मादक मन से परकायापन के साथ करता है—'मिथ्यामिदृशकर्म'—अर्थात् भेदादक मन, भेदादक मन, भेदादक मन ।

यह प्रश्न ही सत्यता है कि क्या 'मिथ्यामिदृशकर्म' कोई ऐसा दोष है,

द्वारा पाप रूप जल आत्मा में आ रहा था उन छिद्रों को पुनः रोक देता है। जैसे नाव के छिद्र रोक देने से नाव में पुनः पानी नहीं भरता, घर की छत आदि वर्षा में चूने लग जाती है तो उस पर सीमेंट आदि का प्लास्टर करने से उनका टपका (चूना) बन्द हो जाता है। इसी तरह कृत पापों का प्रतिक्रमण कर लेने से व्रतों के सब छिद्र रुक जाते हैं और आत्म-भवन सुरक्षित हो जाता है। भगवान् महावीर से गौतम स्वामी ने जब पूछा कि भगवन् ! प्रतिक्रमण करने से आत्मा को किस फल की प्राप्ति होती है, आत्मा को इससे क्या लाभ होता है ? तो भगवान् महावीर ने बताया पट्टिक्रमणेण वर्गच्छिदाहं पिहेड^१—प्रतिक्रमण करने से व्रतों के दोष (अतिक्रम-व्यतिक्रम-अतिचार आदि) रूप जो छिद्र हो गये हों, वे पुनः बन्द हो जाते हैं, उन छिद्रों का निरोध हो जाता है। छिद्रों का निरोध होने से आश्रय का भी निरोध हो जाता है। कर्म आने का रास्ता भी रुक जाता है।

तो प्रतिक्रमण का यह फल है कि—इससे व्रतों की शुद्धि हो जाती है, कर्म आने के द्वार बन्द कर दिये जाते हैं, कर्म द्वार (आश्रय) निरोध होने से फिर मुक्ति कितनी दूर रहती है ? अर्थात् धीरे-धीरे जीव मुक्ति की ओर बढ़ता जाता है।

दूसरी बात यह है—प्रतिक्रमण करने से मनुष्य में आत्मनिरीक्षण की आदत पड़ती है, आत्मनिरीक्षण करने से साधक आत्म-दर्शन की ओर बढ़ता है, वह अपनी भूलों को, दुर्बलताओं को दूर कर आत्मा को शुद्ध, मुक्त और स्वस्थ बना सकता है।

प्रतिक्रमण करने वाले के मन-वचन और कर्म में विभेद—अन्तर, नहीं रहता। जीवन में एक रूपता आती है। जो बात मन में होगी वही उसके वचन में आयेगी, और वही बात उसके कर्म में साकार होगी—यह नहीं दि-

‘मन मेता, तन ऊज्जता कपटो बुगता भेय’

—यह कपट, यह बुगता वृत्ति, बाहर भाँवर का कर्म, प्रतिक्रमण करने

दुष्कण्डं । और वह बार-बार दबाता जाता, साधु चीखता तो कुम्हार फिर कह देता - मिच्छामि दुष्कण्डं ।

बाल साधु बोला—यह क्या ! मारते जाते हो और 'मिच्छामि दुष्कण्डं' लेते जाते हो ! कुम्हार ने भी हंसकर कहा ! महाराज—जैसा तुम्हारा मिच्छामि दुष्कण्डं' वैसा ही मेरा 'मिच्छामि दुष्कण्डं' !

तो ऐसा मिच्छामि दुष्कण्डं लेने से क्या लाभ है ! यह तो उलटा धर्म का उपहास है । जिस 'मिच्छामि दुष्कण्डं' के साथ मन में पश्चात्ताप की लहर न उठे वह 'मिच्छामि दुष्कण्डं' आत्मा को मुक्त नहीं, किन्तु और अधिक अजुड़ बना देता है । इसलिए प्रतिश्रमण रूप 'मिच्छामि दुष्कण्डं' योग्यते ममय सत्त्वे मन से बोलना चाहिए, बाणी के साथ हृदय भी बोलना चाहिए तभी यह सत्त्वा प्रायश्चित्त होता है ।

मिच्छामि दुष्कण्ड : शब्द और भाव

'मिच्छामि दुष्कण्डं' बोलकर, पाप का प्रायश्चित्त कर यदि पुनः उसी दोष का सेवन किया जाता है तो यह एक प्रकार का झूठ और दम्भ हो जाता है । साधार्म भद्रबाहु ने कहा है—

जं दुष्कण्डं तं मिच्छा तं धेयं नितोष्य पुनो पापं ।

परत्तप्य मुक्तायार्द्धं माया नियदो पसंगो य ।

जो एक बार 'मिच्छामिदुष्कण्डं' लेकर भी यदि फिर उस पाप का आचरण करने लगता है तो वह प्रत्यक्ष ही झूठ बोलता है, दम्भ का आचरण करता है । एक और 'मिच्छामि दुष्कण्डं' दूसरी ओर फिर वही दोष ! वही घोड़ा वही मीन ! एक प्राचीन आचार्य धर्मदान गणी ने तो इस प्रकार का आचरण करने वाले को शपथ ही मिच्छादृष्टि भी कह दिया है—

जो अहाधर्मं न कृणुत मिच्छादृष्टो तज्जुहो सती ?

१. भावार्थक श्रुति (आचार्य विमलदास गणी)

२. भावार्थक श्रुति ५८५

३. उपदेसभाष्य ५८५

छूमंतर है कि जिसे बोलते ही सब पाप साफ हो जाये, दोष दूर हो जाय ? वास्तव में ऐसी कोई बात नहीं है कि मुंह से 'मिच्छामि दुक्कडं' कहने से ही पाप धुल जाते हों, पाप शब्द से नहीं, मन से धुलता है। 'मिच्छामि दुक्कडं' के साथ जो मन का पश्चात्ताप होता है, पाप के प्रति घृणा, और भविष्य में उसे पुनः न करने की दृढ़ संकल्प होता है उसी में यह शक्ति है कि वह शब्द उच्चारण करने पर पापों का सफाया कर डालती है ! मंत्र में भी शक्ति तभी जागृत होती है जब उसके पीछे मनोबल रहता है, मंत्र मुंह से बोलते जाये और मन कहीं रमता रहे तो क्या केवल मंत्रोच्चार से सिद्धि मिल जायेगी ? नहीं ! इसी तरह 'मिच्छामि दुक्कडं' शब्द के पीछे अन्तरमन का पश्चात्ताप रहता है, उसी महाशक्ति के कारण पाप का प्रदालन हो सकता है !

यदि मुंह से 'मिच्छामि दुक्कडं' बोलते जाय और बार-बार वही आचरण करते जाय तो इससे कोई शुद्धि नहीं होती। यह तो उलटा धर्म का उपहास है, साधना का मजाक है। पुराने आचार्यों ने एक उदाहरण देकर बताया है कि केवल शान्दिक मिच्छामि दुक्कडं कैसा निरर्थक है—

एक बार एक विद्वान आचार्य किसी गांव में पधारे। उपाश्रय के पास में ही एक कुम्हार रहता था, वह मिट्टी को गोंद कर चाक पर चढ़ाता और उसके घड़े बना-बनाकर एक ओर रख रहा था। आचार्य के साथ एक छोटा साधु था जो कुछ चंचल प्रकृति का क्रीड़ाप्रिय था। कुम्हार उधोही चाक पर से घड़ा उतार कर नीचे रखता त्योंही वह बाल साधु कंकर का निमांसा मान कर उसे तोड़ देता। कुम्हार ने कहा—महाराज ! यह क्या कर रहे हो ?

बाल साधु बोला—ओह ! भूल हो गई—मिच्छामि दुक्कडं ! किन्तु कुछ देर बाद फिर वह कंकर फेंककर बर्तन फोड़ने लगा। कुम्हार बार-बार टोकता गया और साधु मिच्छामि दुक्कडं लेता गया। आखिर कुम्हार को भी रोष और क्रोध आ गया, वह उठा, और एक कंकर लेकर साधु के कान पर रख कर जोर से दबाया, बाल साधु पीड़ा से विवर्णित हो गया और बोला—“अरे यह क्या कर रहे हो ? साधु को मार रहे हो ?” कुम्हार बोला—मिच्छामि

जो व्यक्ति जैसा बोलता है, यदि वैसा करता नहीं तो उससे बढ़कर धीरे मिथ्यादृष्टि कौन होगा ?

अगर हम 'मिच्छामि दुक्कडं' शब्द बोलते समय इसके शब्दार्थ एवं भावार्थ पर ध्यान देते रहे तों उच्चारण के साथ-साथ सहज ही भावना में एक स्पन्दन उठता रहेगा जो मन को शुद्ध बनाता रहेगा। आचार्य भद्रबाहु ने उसके एक-एक शब्द का अर्थ करते हुए बताया है—

'मि' ति मिउमह्वत्ते,
 'छ' ति य दोसाण छायेणे होइ ।
 'मि' ति य मेराए ठिओ,
 'दु' ति दुगुंछामि अप्पाणं ॥
 'क' ति कडं मे पावं,
 'ड' ति य उवेमि तं उवसमेणं ।

एसो मिच्छादुक्कड—
 पयक्खरत्थो समासेणं ॥

'मि'—अर्थात् मृदुता और मार्दवता ।

'छ'—अर्थात् दोषों का छादन-ढँकना ।

'मि'—अर्थात् चारित्र्यरूप सदा में रहना ।

'दु'—अर्थात् दुष्कृत की निंदा करना ।

'क' अर्थात् कृत-पाप कर्म को स्वीकार करना ।

'ड' अर्थात् उपशम भाव के द्वारा पाप का प्रतिक्रमण करना ।

इस सम्पूर्ण पद का अर्थ हुआ—मैं मन को नम्र और सरल बनाकर अपने पापों को रोकता हूँ। संयम की सदा में रहता हुआ अपने कृत दोषों को मानकर उनकी निंदा करता हूँ और उनसे दूर हटने का संकल्प करता हूँ ।

तो, इस प्रकार 'मिच्छामि दुक्कडं' जम्बोउच्चारण के साथ मन में यह सत्ता जगता चाहिए ! इस संकल्प में ही वह जाहू है, जो पापों का दूरतार करने भग्न होता है। इस प्रायश्चित्त में समिति-गुप्ति में संशय जो दोष

जिस दोष की शुद्धि के लिए दीक्षा पर्याय का छेदन किया जाता हो उसे छेदाहं-प्रायश्चित्त कहा जाता है। इसमें भी दोष की गुरुता के हिसाब से मासिक, चातुर्मासिक आदि अनेक भेद हैं। छेद सूत्रों में मुख्यतः इसी कोटि के प्रायश्चित्त का वर्णन है। तप रूप प्रायश्चित्त से इस प्रायश्चित्त की साधना कठिन है। क्योंकि तप में तो अधिकतर शरीर पर ही भार पड़ता है, किन्तु इस प्रायश्चित्त में मनुष्य के अहंकार पर सीधी चोट पड़ती है। यह प्रायश्चित्त देने पर दीक्षा में छोटे साधु बड़े बन जाते हैं। छोटे साधुओं का विनय करना उपवास आदि से भी अधिक कठिन कार्य है। इसी विनय के अभाव में तो बाहुबली एक वर्ष तक वन में लड़े रहे—कि भगवान के पास आज्ञा तो वहां छोटे साधुओं की बदना करनी पड़ेगी। जब यह अहंकार दूर हुआ और एक कदम बढ़ाया तो वस केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। इस प्रायश्चित्त में जितने दिन का छेद दिया जाता है उतने दिनों में कोई दीक्षित हुआ हो तो वह उससे दीक्षा में बड़ा मान लिया जाता है। अर्थात् इसमें उतने दीक्षा के दिन काट दिये जाते हैं।

मूलाहं—(नई दीक्षा) यह आठवां प्रायश्चित्त है। छत्रस्य साधु कभी-कभी इतने गुरुतर दोषों का सेवन कर लेता है कि आलोचना और तप आदि से भी उसकी शुद्धि नहीं हो सकती। उन दोषों के सेवन से वह चारित्र्य से सर्वथा भ्रष्ट हो जाता है। जैसे मनुष्य, गाय, भेन आदि की हत्या, या हत्या हो ऐसा क्रूर झूठ, निष्य आदि की चोरी, ब्रह्मचर्य व्रत का भंग आदि। ये मूल दोष माने जाते हैं। इनके सेवन से चारित्र्य भ्रष्ट हो जाता है, उन दोष की शुद्धि के लिए चारित्र्य पर्याय का सर्वथा छेद कर नई दीक्षा देनी पड़ती है, महाप्रती का पुनः आरोपण करना होता है। इनलिए इसे मूलाहं-प्रायश्चित्त कहा जाता है।

अनपस्थाप्याहं—नीचा प्रायश्चित्त है। जिस गुरुतर दोष की शुद्धि के लिए अनपस्थापित होना पड़ता हो, अर्थात्—साधु तप से अलग होकर गृहस्थ का वेस धारण किया जाय और विविध तप की आशयता से जाय। इस

प्रायश्चित्त तप

लग जाती है उसकी विमुक्ति की जाती है। यह प्रायश्चित्त लेने के बाद गुरु के पास आलोचना करने की आवश्यकता नहीं रहती।

प्रायश्चित्त : आगे क

प्रायश्चित्त के तीसरे भेद में उक्त दोनों का समन्वय किया गया अतः उसका नाम है—‘तदुभयाह’। जिस दोष में आलोचना एवं प्रति दोनों करने से मुक्ति होती हो उसके लिए इन दोनों का विधान है। एकेन्द्रियादि जीवों का संघट्ट हो जाने पर उक्त प्रायश्चित्त लिया जाता अर्थात् पहले मिच्छामि दुक्कडं बोला जाता है, और फिर गुरु के पास आलोचना भी की जाती है।

विवेकाह—प्रायश्चित्त का चौथा भेद है। विवेक का अर्थ है—त्यज छोड़ना ! किसी वस्तु का त्याग कर देने से ही जिस दोष की विमुक्ति हो उसे विवेकाह-प्रायश्चित्त कहते हैं। जैसे आधाकर्म आदि आहार आ है तो उसको अवश्य ही परठना पड़ता है ऐसा करने से ही उस दोष की विमुक्ति होती है।

व्युत्सर्गाह—पांचवा प्रायश्चित्त है। व्युत्सर्ग का अर्थ है—शरीर के अ की शोक कर स्थिर होकर प्रिय वस्तु में उपयोग लगाना। नदी आदि करने में, नाने चलने में यदि असावधानी के कारण कोई दोष लग हो तो उसका प्रायश्चित्त करने के लिए ध्यान—कायोत्सर्ग किया जात कायोत्सर्ग करने से ही उस दोष की विमुक्ति हो जाती है। उक्त प्रका प्रायश्चित्त विधि को व्युत्सर्गाह-प्रायश्चित्त कहा जाता है।

तथाह—यह प्रायश्चित्त का छठा स्वरूप है। तप करने से जिस दोष मुक्ति हो, उसके लिए आगमीक विधि में तप करना तथाह-प्रायश्चित्त इन प्रायश्चित्त को पूरा करने के लिए निमित्तक, प्रायश्चित्त आदि में

और सामान्य साधु के लिए आठवें प्रायश्चित्त तक का ही विधान है। वर्तमान समय में अधिक से अधिक आठवें प्रायश्चित्त तक देने की विधि है।

उपसंहार

प्रायश्चित्त के इन विभिन्न स्वरूपों पर विचार करने से कई बातें स्पष्ट होती हैं। पहली बात प्रायश्चित्त वही लेगा जिसका मन सरल होगा। जिसे पाप का भय होगा और आत्मा को निर्दोष बनाने की चिन्ता। मन में जरा भी कपट या धूर्तता रही तो प्रायश्चित्त नहीं लिया जाता, यदि कपट पूर्वक प्रायश्चित्त किया भी जाय तब भी उससे शुद्धि नहीं होती। आचार्य आदि को यदि ज्ञात हो जाय कि अमुक व्यक्ति कपट पूर्वक आलोचना कर रहा है तो उसे दुगुना प्रायश्चित्त दिया जाता है; पहला सेवन किए हुए दोष का, और दूसरा कपट करने का। अर्थात् जब तक कपट की भी आलोचना नहीं हो जाती तब तक दोष की शुद्धि नहीं हो सकती इसलिए प्रायश्चित्त जेने वाले को सर्वप्रथम सरल हृदय, विनम्र एवं सद्भावनायुक्त होना आवश्यक है।

दूसरी बात— दोष छोटा हो चाहे बड़ा; उसकी शुद्धि हो सकती है। यह नहीं कि बड़ा दोष सेवन कर लेने के बाद व्यक्ति सर्वथा सर्वदा के लिए ही पतित हो गया हो। जैनधर्म आत्मा की शुद्धि में विश्वास रखता है। बड़े से बड़ा दोषी और अपराधी भी शुद्ध हो सकता है, पवित्र हो सकता है। क्योंकि आत्मा मूलतः दोषी नहीं है, दोष तो प्रमाद एवं कषाय भाव है। कषाय आदि की उत्पत्ति होती है तो उनकी शुद्धि भी हो सकती है। मन में जब धियेक जागृत हो जाय, पाप के प्रति ज्ञानि, परमात्मा और उसे त्यागने का संकल्प जब पड़े तो अस्ति सरल, निरभिमान होकर बड़े-से बड़े दोष की भी शुद्धि कर लेता है। तपस्वियों, विनम्र एवं ध्यान के द्वारा यह अपने हृदय पाप का प्रक्षालन कर शुद्ध हो सकता है।

प्रायश्चित्त तब इस बात को सिद्ध करता है कि प्रत्येक आत्मा अपने दोषों का प्रक्षालन कर सकती है। इसके लिए कहीं जाने की जरूरत नहीं रहती,

प्रकार दोनों आनरण करने के बाद फिर नई दीक्षा लेनी होती है। उक्त विधि से जो प्रायश्चित्त दिया जाता है वह अनवस्थाप्याहं-प्रायश्चित्त है।

पाराञ्चिकार्ह—जिस महादोष की शुद्धि पाराञ्चिक अर्थात् वेप और क्षेप का त्याग कर महातप करने से होती है उसके लिए यंसा आचरण करना पाराञ्चिकार्ह-प्रायश्चित्त है। यह दसवां तथा अन्तिम प्रायश्चित्त है। साधु जीवन में सबसे मुख्तर महादोष के लिए यह प्रायश्चित्त दिया जाता है।

पाराञ्चिक-प्रायश्चित्त पांच कारणों से दिया जाता है—ये कारण ये हैं।^१

१ गण में फूट डालना।

२ फूट डालने की योजना बनाना, उसके लिए तत्पर रहना।

३ साधु आदि को मारने की भावना रखना।

४ मारने के लिए योजना बनाना, छिद्र-प्रवसर आदि की तलाश करने रहना।

५ बार-बार असंयम के त्याग रूप साधु अंगुष्ठान की गूथताछ करते रहना अर्थात् अङ्गुष्ठ-कुङ्कुम आदि प्रयोग करना। इन प्रयोगों से दोषार या अंगुष्ठ में देवता बुलाया जा सकता है।

इन पांच कारणों के सिवा साधु या राजरानी का शीत भंग करने पर भी यह प्रायश्चित्त दिया जाता है। इसकी शुद्धि के लिए ६ नहीने से लेकर बारह वर्ष तक गण, साधुवेप एवं अपने क्षेप की छोड़कर जिनकल्पित साधु की तरह कठोर तपस्वर्षा करने की होती है। उक्त तपस्वरण की अवधि पूरी होने के बाद उसे नई दीक्षा देकर साधुत्व में सम्मिलित किया जा सकता है।

• दोषाचार आचार्य का कथन है कि यह दसवां प्रायश्चित्त विशेष पराङ्मन वाले आचार्य की ही दिया जा सकता है। आचार्य की नीति प्रायश्चित्त तक

विनय तप

आभ्यन्तर तप का दूसरा भेद 'विनय तप' है। विनय का सम्बन्ध हृदय से रहता है। जिसका हृदय सरल और कोमल होता है वही मुक्तियों का विनय कर सकता है। इससे अहंकार का नाश होता है, अहंकार को 'स्वच्छता' कहा गया है जिसका अर्थ है—पत्थर के जैसी कठोरता। पत्थर टूट जाता है, पर मुकता नहीं, क्योंकि उसमें कोमलता नहीं होती। लेकिन सोना ? चाहे जितना मुकानो, घुमानो, चाहे जिस आकार में ढाल लो, उसमें कोमलता होती है, मुलायमी होती है इसीलिए उसका मूल्य भी अधिक होता है। विनय व्यक्ति का हृदय भी कोमल होता है, उसकी भाषा भी कोमल होती है, और तरीर भी नम्र, एवं सम्बन्धों के निषेधों के अनुकूल रहता है। उसके चरित्र में, उद्योग-पैठे में अकड़ नहीं होती, इस प्रकार विनय से मन-बचन-तन तीनों में ही मुक्तता, कोमलता और सरलता की सभुर मुक्ति महसूसी रहती है।

विनय की तप क्यों कहा ?

एक प्रश्न हो सकता है विनय की एक प्रकार का सद्गुणधर है, इसमें ऐसी होन की बड़ी बात है जिसे तप की श्रेणी में लिया जाय। पारंपरिक तप में की शरीर व मन की तपना रहता है, यद्यपि व साधना कही जाती है।

वस हृदय को मांजने की ही जरूरत रहती है। वैदिक ग्रन्थों में पाप-मुक्ति के लिए जहां ईश्वर की शरण में जाकर सब कुछ अर्पण कर देने का विधान है वहां जैन धर्म में हृदय को अत्यंत सरल बनाकर गुरुजनों के समक्ष पाप प्रकट कर उसके लिए तपःसाधना करने की विधि है। क्योंकि कुछ दोष सिर्फ पश्चात्ताप से ही दूर हो जाते हैं और कुछ दोष तप, सेवा एवं विनय आदि के द्वारा। इसी दृष्टि से प्रायश्चित्त को तप मान कर उसका यह विस्तृत वर्णन सूत्रों में किया गया है और पाप-मुक्ति का मार्ग दिखाया गया है।



व्युत्पत्ति तो नहीं बताई गई है, किन्तु विनय का फल, विनय का स्वरूप और विनय की विधि व नियम जरूर बताये गये हैं। उन सब पर एक विहंगम दृष्टि डालने से पता चलता है वहां 'विनय' शब्द अधिकतर तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—

- १ विनय—अनुशासन
- २ विनय—आत्मसंयम—शील (सदाचार)
- ३ विनय—नम्रता एवं सद्ब्यवहार

अनुशासन

उत्तराध्ययन सूत्र के प्रथम अध्ययन में जो विनय का स्वरूप बताया गया है वह प्रायः अनुशासनात्मक है। गुरुजनों की आज्ञा व इच्छा का ध्यान रखना, और तदनुसार वर्तन करना, यह एक प्रकार का अनुशासन है। गुरुजन शिष्य के हित के लिए कभी मधुर वचन व कभी कठोर वचन से उसे हित शिक्षा देते रहते हैं तब शिष्य को सोचना चाहिए—

जं मे बुद्धाणुत्तासंति सोएण कदसेण वा ।

मम लाभो त्ति पेहाए पयओ तं पडिसुणे ।^१

गुरुजनों का मधुर व कठोर अनुशासन मेरे लाभ के लिए ही है इसलिए मुझे उस पर खूब ध्यान रखना चाहिए, सावधानी के साथ उसे सुनना चाहिए।

आशाराधना—एक प्रकार का अनुशासन है, इसलिए उत्तराध्ययन में गुरु आज्ञा को अनुशासन कहकर बताया है—फरसं पि अणु सासजं^२ अनुशासन चाहे कठोर हो क्यों न हो, किन्तु शिष्य गुरुजनों के द्वारा अनुशासित किया जाने पर उनके द्वारा आत्महित के कार्य में आदेत देने पर, अणुसासिओ न कुप्पेज्जा^३ अनुशासित होने पर क्रोध नहीं करे किन्तु उसे हितकारी एवं लाभकारी मानकर अज्ञा पूर्वक आचरण में लगे।

१ उत्तराध्ययन १।२७

२ " १।२६

३ " १।६

विनय में तो ऐसी कोई बात नहीं दी जाती। गुह्यनों के साथ नम्रतापूर्ण व्यवहार करना—यह तो बहुत साधारण सी बात है ! इसका उत्तर है— विनय सिर्फ एक सद्व्यवहार का ही नाम नहीं है। विनय की सीमा बहुत लम्बी-चौड़ी है, इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है। सद्व्यवहार तो विनय का एक प्रत्यक्ष फल है, वास्तव में तो विनय का अर्थ बहुत गहरा है। यश-प्रतिष्ठा की भावना पर संयम करना, अहंकार पर विजय करना, स्वेच्छाचारिता का दमन कर, मन की निरंकुशता को समाप्त करना एवं गुह्यनों की आज्ञा-व दंगित के अनुसार वर्तन करना—यह सब विनय है, विनय की परिभाषा में इन सब का समावेश हो जाता है। इस प्रकार विनय एक कठोर मनोनुशासन अर्थात् आत्मानुशासन है। आत्म-संयम का अभ्यास किये बिना विनय की आराधना नहीं हो सकती। जैसे कि आगमों में विनय के भेद—प्रभेद बताये हैं उनकी समझने में यह बात स्पष्ट हो जायेगी, कि विनय मात्र एक सद् व्यवहार का नाम नहीं है, किन्तु वह एक दुर्लभ आत्मिक गुण है, विनयी प्राप्ति के लिए संयम, अनुशासन एवं सरलता की मापना करनी पड़ती है इसी दृष्टि में विनय को तप का स्थान दिया गया है और उसे धर्म का मूल माना गया है।^१

विनय के तीन अर्थ

‘विनय’ एक बहुत प्रचलित शब्द है। ‘विनय’ यह कह उसका अर्थ यवान की अपेक्षा नहीं रखती, साधारणतः हर व्यक्ति समझ जाता है कि ‘विनय’ से हमें नम्रता और निम्न साधरण की जिज्ञा हो जाती है। किन्तु जैसा कि बताया — ‘विनय’ शब्द एक बहुत व्यापक अर्थ रखता है। इसमें अनेक प्रकार की भावनाएँ सम्मिलित हुई हैं, इसलिये आचार्यों ने अमन-अभय — यत्नशील व अनुपस्थिति के द्वारा इसके विभिन्न मूल अर्थों को व्यक्त करने की चेष्टा की है।

ऐसे मूलों में ‘विनय’ शब्द दूधही बार प्रयुक्त हुआ है। जहाँ विनय की

विनय के माध्यम से शील-सदाचार की भी शिक्षा दी गई है। कहा है—

तन्हा विणयमेसिज्जा सीलं पडिलभेज्जओ ।^१

दुःशील, असदाचारी व्यक्ति सड़े कानों की कुत्तियों की भांति दर-दर ठोकरें खाता है, अपमानित होता है, लोग उससे घृणा करते हैं, इसलिए दुःशील का बुरा परिणाम समझकर शील का आचरण करना चाहिए, विनय की उपासना करनी चाहिए। गुरुजनों के समक्ष स्थिर आसन से सम्मतापूर्वक बैठना, उनकी शिक्षाओं पर क्रोध न करना, कम बोलना, बिना पूछे न बोलना, उन्हें प्रसन्न कर विद्याभ्यास में लीन रहना—यह सब शील एवं सदाचार है, जो कि विनय का ही परिवार है।

नम्रता च सव्यवहार

विनय का नम्रतामूचक अर्थ तो काफी प्रसिद्ध है ही। आगमों में भी इस का कई जगह वर्णन मिलता है। नीपावित्ति अवबले नीची वृत्ति रखना, चंचल नहीं होना—यह विनीत का लक्षण बताया गया है। नीची वृत्ति से आशय है—गुरुजनों के समक्ष नम्र होकर रहना, विनीत भाव से वर्तन करना। दशर्वकालिक में कहा है—

नीयं सिज्जं गइं ठायं नीयं च आसणाणि य ।

नीयं च पाए वंदिज्जा नीयं कुज्जा य अंजलिं ॥^२

गुरुजनों के समक्ष जय्या (सीने का बिस्तर) स्थान और आसन उनसे कुछ नीचा रखना चाहिए। नमस्कार करते समय झुककर उनके चरणों का स्पर्श, बंदना करना चाहिए। और हाथ भी जोड़े तो नीचे झुककर अवनिबद्ध हो। मतलब यह है कि किसी भी अवसर में प्रणम, अर्पण और स्तब्धता इनके ऐसा नहीं होना चाहिए। विनय के प्रत्येक अवसर में नम्रता व्यक्तनी चाहिए। दूसरी बात नम्रता में भी विवेक रहना चाहिए। विवेक नम्रता कहते हैं, जैसे गुरुजनों के पुत्राने पर आसन पर बैठा न रहे, विष्णु प्राण

आत्मसंयम व शील

इसी अध्ययन में 'विनय' के नाम से आत्मसंयम एवं शील तदाचार की भी शिक्षा दी गई है जैसे—

अप्पा चेव वयेमव्वो.....१

वरं मे अप्पा दंतो संजमेण तवेण यं

आत्मा का दमन करना चाहिए क्योंकि आत्मा पर संयम करने वाला दोनों लोक में सुरी होता है। इसलिए अच्छा है कि मैं स्वयं की विषेक बुद्धि से अपना नियंत्रण, संयम एवं तप के द्वारा स्वयं ही करता रहूँ, अन्यथा दूसरे लोग वध-बंधन के द्वारा मुझे अपने नियंत्रण में रखेंगे।

यह आत्मानुशासन—आत्मसंयम की शिक्षा भी विनय की शिक्षा है। क्योंकि विनीत आत्मा ही आत्मसंयम कर सकता है। पुण्ड्रों का अनुशासन अभी माना जा सकता है, जब पहले मन पर अनुशासन हो, क्योंकि उसमें कभी कभी मन के, अपनी इच्छा व कवि के प्रतिकूल बान की स्वीकार करने में कठिनाई होती है, किन्तु जो मन को ताप लेता है, उसके लिए यह कठिनाई भी सरल हो जाती है।

विनयशील व्यक्ति पापों से, असद् आचरणों से डरता है, एक प्रकार की लज्जा करता है, इसलिए उसे सम्मान कक्षा गया है। विनीत की परिभाषा करते हुए यही बात कही गई है—हिरिमं पडित्तोने सुधियोत्ति पुच्चट्ठं ओ सम्भासील ओण इन्द्रियो का दमन करने वाला है उसे ही सुविनीत कहा जाता है।

स्वाभाव तथा भगवती मूल आदि में भी जो प्रकृत मनस्विन्य आदि के चेद बताए गए हैं उनका सम्बन्ध भी मन के उच्च व स्वच्छ विचारों से है। मन पर नियम करने से ही मन परित व प्रसन्न रहता है।

१ उत्तराख्ययन १।१४२

२ उत्तराख्ययन १।१४६

३ उत्तराख्ययन १।१४६

जिससे आठ कर्म का वि-नय (विशेष-दूर होना) होता है, उसे विनय कहते हैं, अर्थात् विनय आठों कर्मों को दूर करता है, और उससे चार पति का अन्त करने वाले मोक्ष की प्राप्ति होती है, अतः सर्वज्ञ भगवान् ने उसे 'विनय' कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि कर्म का नाश (विनयन) करने के कारण ही इसे विनय कहा जाता है। इसी प्रकार की व्याख्या प्रबन्ध सारोद्धार की वृत्ति में भी उपलब्ध होती है—विनयति क्लेशकारकमष्ट-प्रकारं कर्म इति विनयः क्लेश पैदा करने वाले आठ कर्म दम्भुजों को जो दूर करे वह 'विनय' है।

वि-नय—शब्द से नञता का भी अर्थ निकलता है, जो अहंकार, स्तब्धता आदि को दूर करे—वह 'विनय'।

इस प्रकार भाव और शब्द दोनों ही दृष्टि से विनय का स्वरूप हमारे सामने आता है कि नञता, सेवा, आत्मसंयम, गुह अनुशासन—यह सब विनय है। विनय का फल तो मोक्ष है ही। यह बात स्वयं आत्मकारों ने भी उद्घोषित की है—जैसे वृक्ष का मूल है जड़ और अन्तिम फल है—एव ! उसी प्रकार—एवं धम्मस्त विणओ मूलं परमो से मुक्खो ।^१ धर्म रूप वृक्ष का मूल विनय है, और उसका अन्तिम फल—रस है मोक्ष है।

विनय की महिमा

जैन धर्म में विनय की धर्म का मूल बताने पर एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत किया है। वह यह है कि विनय—हमारे समस्त जीवन व्यवहार एवं आचरण आचरणों का मूल पृष्ठभूमि है। छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा आचरण विनय मूलक होना चाहिए। विनय से रहित व्यवहार तो क्या, विनय रहित धर्म भी वास्तव में धर्म नहीं है, इसीलिए सर्व प्रथम यह उद्घोषणा कर दी गई—धम्मस्त विणओ मूलं—धर्म का मूल विनय है।

जैन दर्शन एवं जीवन के महान् विद्वान् आचार्य हरिसेन ने तो विनय की महिमा में और भी थार थार लगाते हुए कहा है—

होकर हाथ जोड़कर पुच्छिज्जा पंजतीउडो^१—अंजलि जोड़कर उकड़ुआसन
अर्थात् बंदना की मुद्रा बनाकर पूछे - “गुरुदेव ! क्या आज्ञा है ? किसलिए
मुझे याद करने की कृपा की ?” बैठते समय उनके आसन से बहुत दूर भी
न बैठे, और बिल्कुल सटकर भी न बैठे किन्तु उचित रीति से बैठे, पैर आदि
फोलाकर न बैठे, या पालथी लगाकर, बड़प्पन का आसन लगाकर न बैठे,
उनके आगे-आगे न चले, अड़कर भी न चले, वे बोले तो बीच में न बोले—
इस प्रकार प्रत्येक व्यवहार में नम्रता और सद्ब्यवहार की जलक मिलने,
शिष्टता, सम्मता और सुशीलता का परिचय मिलता हो ऐसा व्यवहार करें,
यह विनय का तीसरा रूप है। इसी रूप में गुरुजनों की अज्ञातना—अधमानना,
हीनना न करना, उनका स्वागत, सत्कार और बहुमान आदर आदि करना
आता है। बड़ों का विनय करने की शिक्षा देते हुए कहा गया है—रायणिणु
विणयं पउजे^२—अपने से बड़े पुरुषों के प्रति विनय रखना चाहिए।
समवायंग एवं दशाश्रुतसूक्त में श्री ३३ अज्ञातनाएं बताई गई हैं। ये भी एक
प्रकार से सद्ब्यवहार की ही विधियां हैं। उन सबके अवलोकन से यही
स्पष्ट होता है की नम्रता, बड़ों का आदर एवं सद्ब्यवहार—यह सब विनय
के ही अन्तर्गत है।

इस प्रकार विनय के स्वरूप की ध्याना में रखते हुए, विनय की तीन
परिभाषाएं हमारे सामने आई हैं—१ गुरुजनों का आवागमन व अनुगमन,
२ आत्मानुगमन व सदाचार तथा ३ बड़ों का आदर एवं सद्ब्यवहार।

विनय का फलार्थ

स्वर्गान्नं भूय ही टीका में आचार्य अभयदेवसूत्रि ने विनय शब्द की
फलतमक व्याख्या की है। विनय के फल की ध्याना में रखते हुए उद्धृत
एक वाक्य उद्धृत की है—

अमहा विनयइ कम्म अट्ठविहं पाउरतमोसमाय ।

समहा उ अपति विम विमय नि वितीसमंतात् ।^३

१ आचार्यभाष्य ११२२

२ दशवेदान्त भाष्य

३ अथर्ववेद ३१.११

कोई भी श्रेय विनय से अछूता नहीं रहा है। सम्पूर्ण जीवन को विनय की सुचाम से भहका दिया गया है जैसे पूजा के समय मन्दिर का कोना-कोना मुग्धित धूप से भहका दिया जाता है। साधना एवं व्यवहार के समस्त क्षेत्रों को विनय से आप्लावित करते हुए उसके विभिन्न भेद किये गये हैं। भगवती आदि सुक्तों में विनय के सात भेद बताये गए हैं—

सत्तविहे विणए पणत्ते, तं जहा—

जाणविणए, वंसणविणए, चरित्तविणए, मणधिणए

वइविणए, कामविणए लोकोवयारविणए ।

विनय सात प्रकार का है—

१. ज्ञान विनय, २. दर्शन विनय, ३. चारित्र्यविनय, ४. मन विनय, ५. वचन विनय, ६. कामविनय, ७. लोकोपचार विनय ।

ज्ञान विनय का अर्थ है—ज्ञान के धारक का विनय करना। क्योंकि ज्ञान एवं ज्ञानी मूलतः एक ही है। ज्ञान आत्मा का लक्षण है, स्वरूप है, गुण है। गुण गुणों में ही रहता है, इसलिए ज्ञान विनय कहने से अर्थ होता है ज्ञानवान का विनय करना।

ज्ञानी का विनय करने में दो मुख्य दृष्टियाँ हैं—एक तो ज्ञानी (भवि ज्ञानी आदि पावों ही ज्ञान धारक समझने चाहिए) का आदर करना चाहिए। जिस समाज में, जिस संघ एवं गण में, विद्वानों का आदर होगा, विद्वानों की, ज्ञानियों की पूजा होगी और उनकी बात सुनी जायेगी वह संघ, समाज मनु उन्नति करता रहेगा, वह कभी संकट में नहीं क़ीरेगा, यदि भ्रातृवसात् पण्डित आ भी गया तो ज्ञानी विद्वान मोक्ष ही उस संकट से मुक्त होने का उपाय बता देंगे।

ज्ञानी एवं विद्वान समान तथा उभय की आत्मा होता है, नानेदर्शक होता

विणओ जिणसात्तणे मूलं विणीओ संजओ भवे ।

विणयाओ विप्पमुक्कस्स कओ धम्मो कओ तवो ।^१

विनय जिनशासन का मूल है, विनीत ही संयम की आराधना कर सकता है । जिसमें विनय का गुण नहीं है, वह क्या तो धर्म की आराधना कर सकेगा और क्या तप की ? अर्थात् धर्म, तप एवं संयम की आराधना यही कर सकता है जो विनयी होगा, नम्र होगा और श्रद्धा एवं सद्भावना से युक्त होगा ।

विनय सच गुणों का आधार माना गया है, जैसे सब वनस्पतियों को उत्पन्न करने वाली पृथ्वी है, समस्त जीवों का आधार है, वैसे ही विनय विश्व के समस्त सद्गुणों का आश्रय स्थान है, केन्द्र है । विनीत व्यक्ति गुणों को प्राप्त करता है, उससे संसार में उत्तरी कीर्ति, यश एवं प्रतिष्ठा बढ़ती है—

नच्चा नमइ मेहायी लोए कित्ती से जायइ ।

हवइ किच्चाणं सरणं भूयाणं जगइ जहा ।^२

विनय की महिमा में इससे बढ़कर और क्या कहा जा सकता है ! विनयशील को विद्व के समस्त गुण, समस्त विद्याएं और सभी सम्पत्तियां स्वयं जाकर प्राप्त करती हैं । विद्या स्वयं विनीत को पाकर अपने को वैसे ही अतृप्त समझती है जैसे मुनीत कन्या सत्पुरुष का वरण कर । इंगीलिण शास्त्र में कहा है—

विपत्ती अधिनीयस्स संपत्ती विनिपत्त प^३

अविनीत को सब विपत्तियां घेरें रहती हैं और विनयीत को सब सम्पत्तियां ।

विनय के सात प्रकार

जैन धर्म में विनय की इतनी व्यापक रूढ़ि सिद्धा गयी है कि त्रौल्य का

१. हरिभट्टीय भाष्यसूक्त १२।१६

२. जयसिद्धायन १।४४

३. दशैकान्तिक २।१।११

जात थी ज्ञानी का सम्मान करने की, ज्ञानी का उत्साह बढ़ाने की ! ज्ञानी, विद्वान यदि समाज में आदर पायेगा तो वह अपनी बुद्धि को अधिक से अधिक समाज एवं राष्ट्र के कल्याण में लगायेगा । तो ज्ञान विनय का अर्थ हमें सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन के साथ देखना चाहिए कि हमारे प्रत्येक व्यवहार से ज्ञानी जनों का आदर व्यक्त हो ।

आज शिक्षा क्षेत्र में घोर अनुशासन-हीनता, उद्दण्डता छाई हुई है । शिक्षक विद्यार्थी से डरते हैं जैसे वह तो गुरु हो और गुरु शिष्य हों । इसका कारण क्या है ? यही कि छात्रों में विनय के संस्कार नहीं हैं ? वे जानते नहीं कि विनय किस चिड़िया का नाम है ? जबकि भारतीय नीति का मूल है कि शिक्षा के साथ विनय अत्यन्त आवश्यक है । विनय के बिना शिक्षा, विद्याभ्यास सम्पूर्ण ही नहीं हो सकता तो सफलता तो दूर की बात है । इस संदर्भ में जैन गुणों का एक प्रसंग बहुत ही मननीय है ।

एकबार गौतम स्वामी के पास उदकपेडाल पुत्र नामक एक अणभार कुछ विज्ञाता लेकर आया । वह पार्श्वसंतानीय श्रमण था, अध्ययन तो उसने किया होगा पर परिपक्व नहीं हुआ था, और परिपक्व होता कैसे, क्योंकि विनय आदि की सम्पूर्ण शिक्षा उसकी अधूरी ही रही थी । तो गौतमस्वामी ने उसने कुछ प्रश्न किये । गौतम स्वामी ने बड़े ही स्नेह एवं मोहारे के साथ उनका उत्तर दिया । उत्तर पाकर उदकपेडाल पुत्र प्रसन्न तो हुआ पर वह गों ही बिना किसी प्रकार की कुतजता प्रकट किने उठने लगा । गौतम स्वामी ने देखा कि वह तो निरा अधिनय पूर्ण व्यवहार कर रहा है । तो गौतम स्वामी ने उसे मधुर वचनों के साथ कहा — “आमुष्मन् ! किसी के पास धर्म एवं हित विज्ञाता एक भी वचन सुनने की मित्ता ही तो क्या उसके साथ ऐसा व्यवहार करता उपित है ?”

उदक पेडालपुत्र ने अपनी विज्ञाता रखते हुए कहा — “आमुष्मन् ! मुझे इन विषय में कुछ अनुभव नहीं है, हुवा कर जान ही बताइए कि ऐसा व्यवहार करना चाहिए ?” इन पर गौतमस्वामी ने जो निष्कर्ष की सीमा बताई वह आज भी उचित ही उपदेशी है । गौतमस्वामी ने कहा — “हे उदक ! क्या कर

है। कहा जाता है कि यूनान का दार्शनिक एवं यूनानी राजनीति का गुरु अरस्तू इस सिद्धान्त का कट्टर समर्थक था कि समाज एवं राष्ट्र का नेतृत्व जानी जनों के हाथ में रहना चाहिए। उसका यह कथन आज भी प्रसिद्ध है कि "शासक को दार्शनिक (विद्वान) होना चाहिए, और विद्वान दार्शनिक को ही शासन सूत्र संभालना चाहिए।"

जाने का विनय होने से संघ में ज्ञान की महिमा बढ़ती है, ज्ञान का आदर होता है एवं ज्ञानाभ्यास के प्रति सर्व साधारण का आकर्षण बढ़ता है। जो संघ व राष्ट्र जानी का आदर करता है, वहां अपने आप ही ज्ञान का विस्तार होता रहता है। आज के युग में तो यह बात और भी स्पष्ट हो रही है।

प्राचीन काल में यहूदी जाति में जानी लोगों का बड़ा सम्मान होता था, उन्हें अनेक सुख सुविधाएं दी जाती, उनका पूरे देश में सम्मान किया जाता। यही कारण है कि आईंस्टीन जैसा विषयविश्यात वैज्ञानिक उस जाति में पैदा हुआ, और भी अनेक वैज्ञानिक, लेखक, विद्वान यहूदी जाति में पैदा हुए हैं। इसरायल जैसा छोटा-सा देश भी कितना अग्रगामी और चतुर्गामी है ? इसका कारण है वहां आज भी विद्वानों का सम्मान होता है। अमेरिका और हम में विज्ञान का हमना तीव्र विकास हुआ इसका भी मुख्य कारण यही रहा है कि हम देशों ने वैज्ञानिकों का, साहित्यकारों का आदर किया है, उसकी गौरव प्रदान किया है।

भारत के प्राचीन कवियों की कथाओं में आप सुनते हैं कि अमुक कवि ने एक रत्नक कहा और राजा ने गया साज एवं पुरस्कार में दे दिये। अमुक गाव बल्लोचन कर दिए। क्या वे राजा और इनके मूर्खों ने किए एक रत्नक पर लाखों रुपए खर्च किये हैं ! तब एक रत्नक पर किया होने की बात नहीं थी,

१. गया विरूपाक्षिन के सम्बन्ध में कहा जाता है कि—इसने एक कवि के रत्नक पर गेहड़ों का पेड़, पीपे, गाव और लाखों रुपये खर्च किये थे।

गुरुजनों के आने की सूचना मिलने पर अगवानों करने सामने जाना, उन्हें तब तक सेवा करना, जाएं तब कुछ दूर तक उनके साथ जाना यह सुश्रूया विनय का स्वरूप है।^१

इसी विनय का दूसरा रूप है—अनाशातना ! अनाशातना शब्द का सीधा अर्थ इतना ही है कि—देव, गुरु, धर्म आदि रत्नत्रय की अवहेलना व अपमान हो ऐसा व्यवहार न करना। वैसे शब्द की व्युत्पत्ति की दृष्टि से आशातना का अर्थ है—ज्ञान आदि सद्गुणों की आय—प्राप्ति का मार्ग रोकना, राण्डित करना—‘आशातणा णामं न णादि आयस्स सातणा।’^२ भाव यही है कि पूज्यजनों की अवहेलना हो ऐसा कार्य न करना, जिस व्यवहार से किसी प्रकार की अशिष्टता व अतम्ब्यता शलके वैसा व्यवहार न करना। आशातना के कहीं-कहीं ४५ भेद और कहीं-कहीं ३३ भेद बताये गये हैं। अरिहंत, अरिहंतप्ररूपित धर्म, आचार्य, उपाध्याय, स्वविर, कुल, गण, संध, क्रियावत, तभोगी एवं मति-श्रुत आदि पांच ज्ञान के धारक—इस प्रकार इन पन्द्रह को आशातना न करना उनकी भक्ति करना और उनकी स्तुति करना—इस प्रकार १५ + ३ अनाशातना के ये ४५ भेद होते हैं।^३

समवायान एवं दशाश्रुतसूत्र में आशातना के ३३ भेद बताये हैं। ये भेद वास्तव में गुरुजनों आदि के साथ रात दिन के व्यवहार की एक सुन्दर परिपाटी बताते हैं। जैसे—गुरुजनों में आने न चलना, उनके बराबर न चलना, वैसे ही बैठते समय, आहार करते समय, सोवते समय—जहाँ-देविक जीवन के प्रत्येक व्यवहार में उनकी मान-नगर्वा का ध्यान रखना। उनकी भेष्टता, खेष्टता एवं तद-प्रतिष्ठा का सम्मान करते हुए सम्मान—जनक सम्मान करना, आज की भाषा में एक प्रकार का ‘संतरीय सद्भाववहार’ करना—यह धर्म विनय है।^४ यह एक विशेष ध्यान में रहने की बात है

१ आचार्यक बुद्धि (आचार्य विनयन गयी)

२ अमरसिंहसूत्र २१।३

३ विशेष प्रातिकारी हेतु जैन दशाश्रुतसूत्र, तथा धनसूत्र (श्री जैनसुनिनी) का परिशिष्ट सूत्र ३०५

श्रमण माहून के पास एक भी आयें सुवचन यदि सुनने को मिलता है, तो वह सुनकर (हितशिक्षा का एक भी बोल पाकर) उसे पूज्य बुद्धि के साथ नमस्कार करना चाहिए, उसका सत्कार सम्मान करना चाहिए ।”^१

तो यह है गुरु के प्रति, हितशिक्षक के प्रति कर्तव्य का निदेश ! विनय की विधि ! शास्त्र में यहाँ तक कहा है—

जस्तंतिणं धम्मपयाइं सिखसे तस्तंतिणं वेणइयं पउजे^२

जिससे धर्म का एक पद भी सीखने को मिले तो उसका विनय, सत्कार करना चाहिए । शिर झुका कर, हाथ जोड़कर आदर सूचक वचनों से उसका अभिवादन करना चाहिए ।

ज्ञान विनय के, ज्ञानी की अपेक्षा से पांच भेद किये गये हैं—जैसे मति ज्ञानी का विनय, श्रुत ज्ञानी का विनय, अवधिज्ञानी का विनय, मनःपर्यव ज्ञानी का विनय एवं कैवलज्ञानी का विनय !

दशोन विनय और अनाशातना

दशोन विनय का अर्थ है, सम्यक् विचार रूप—सम्यक्त्व का आदर, सम्यक्दृष्टि गुरुजनों का सम्मान, सेवा आदि करना । इसके भी दो भेद हैं—१. गुरुपूजा विनय तथा २ अनाशातना विनय ।

दशोन विनय एक प्रकार से सिष्टता, सच्चता एवं सद्ब्यवहार की कुंभी है । इसके अनुशीलन से मनुष्य गुरुजनों का प्रिय एवं स्नेह पात्र तो बनता ही है, साथ ही एक कुशल व्यावहारिक एवं सुयोग्य विद्यार्थी भी बन सकता है । औपधातिक मूल में इसके अनेक प्रकार बताये हैं—“गुरुजन आदि के आने पर सदा होना, उन्हें बैठने के लिए आसन का आमन्त्रण देना, वस्त्र पात्र आदि योग्य वस्तुओं से गुरुजनों का स्वागत-सम्मान करना, उनके गुणों की स्तुति करना, बगल करना, उनके तयश्रुति को नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर बैठना

१ सुवचनोप २७.२०

२ मनवर्कालिक ६१।१३

में ही एक प्रकार का विनय है और इसका सीधा सम्बन्ध शरीर में है। इसलिए इन सब प्रवृत्तियों को काय विनय के अन्तर्गत माना गया है।

विनय का सातवां भेद है—लोकोपचार विनय। इसे एक प्रकार का लोक व्यवहार भी कह सकते हैं। इसके सात भेद बताये गए हैं जो इस प्रकार हैं—१. गुरु आदि के निकट रहना, २. उनकी इच्छानुसार वर्तन करना, ३. उनके किसी कार्य को पूरा करने के लिए साधन आदि जुटाना ४. गुरुजनों में जो उपकार किये हैं उनका स्मरण कर उनके प्रति कृतज्ञ रहते हुए उस उपकार का बदला चुकाने का प्रयत्न करना, ५. रोगी आदि की सेवा के लिए तैयार रहना ६. जिस समय जैसा व्यवहार और जैसा संभाषण उपयुक्त हो, प्रस्ता करना अर्थात् समयोचित व्यवहार करना ७. और किसी के विषय आचरण न करना।

इस सात बातों में लोकव्यवहार की कला बताई गई है। संसार के जितने भी लोकप्रिय नेता हुए हैं उनके जीवन की देखने से पता चलेगा कि प्रायः इन बातों पर उनका विशेष ध्यान रहा है। एक प्रकार से ये लोक-प्रियता के गुणों हैं। हाँ, यह जरूर है कि लोकप्रियता के नाम पर 'गंगागढ़े गंगादास, जमना गये जमनादास' वाली बात न हो, व्यक्ति का कुछ अपना अस्तित्व, सिद्धान्त और विचार भी होता है, किन्तु निद्वान्तवादिता के नाम पर अत्यावहारिक होना और अप्रिय भाषण करना उचित नहीं है। नम्र हो भी मधुर व प्रिय भाषा के साथ रहना और किसी के विषय ईष्यभूवक व्यवहार न करना—यही बात लोकोपचार विनय में बताई गई है।

विनय और आपत्तुनी

विनय का यह जो स्वरूप बताया गया है वह मुख्यतः मन के अहंकार आदि दुर्भावों को दूर करने के लिये ही बताया है। क्योंकि अहंकार मोक्ष का बाधक है। परंपरा से के अर्थ में प्रमाण में यह बात हमारे समक्ष रख दी जाती है कि एक व्यक्ति पर अहंकार का प्रभाव रहता है पर भी मन के एक कोने में छोटासा अहंकार छुपता रहा कि 'मे छोटे भाइयों की संख्या कितनी है?' इन इतने से अहंकार में केवलमान के महान उद्वेगन समित प्रकाश हो भी सके

कि आज से हजारों वर्ष पूर्व भी जैन सन्तों ने मानव के व्यवहार को इतना ऊँचा, इतना मधुर एवं विवेकपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है जिसे आज देख तुनकर भी आश्चर्य होता है ।

तीसरा चारित्र्यविनय है । इसके पांच भेद हैं । पांच प्रकार के चारित्र्य का अर्थात् उन चारित्र्य सम्पन्न आत्माओं का विनय करना—चारित्र्य विनय है ।

ज्ञान विनय से ज्ञानी का सम्मान करने की शिक्षा दी गई है । दर्शन विनय से सम्यक् श्रद्धासम्पन्न पुनर्जनों आदि के प्रति सद्ब्यवहार की एवं चारित्र्य विनय से सच्चाचारिणसम्पन्न सदाचारी पुनर्जनों का बहुमान करना, उनकी सेवा, भक्ति, स्तुति एवं परिचर्या करना । इन प्रकार विनय के इन तीन रूपों के द्वारा जीवन में सम्पूर्ण सदाचार एवं विनय की शिक्षा दी गई है ।

मन विनय से तात्पर्य है—मन पर अनुशासन रखना । इसके दो भेद हैं—प्रगल्भ मनविनय, अप्रगल्भ मनविनय । मन में पवित्र (पाप रहित) निर्वोष, अशुद्ध (दुष्ट क्रिया से रहित) दूसरों को बल्ले नहीं करने वाले, दूसरों को परित्याग नहीं देने वाले, दूसरों का नाश नहीं करने वाले और दूसरों की हिता नहीं करने वाले विचारों से मन को भावित रखना—प्रगल्भ मन विनय है । उक्त बातों वाली का विपरीत आचरण अप्रगल्भ मन विनय है जिसका त्याग करना । वास्तव में प्रगल्भ मन विनय से यही बात बताई गई है कि हमारा मन सदा पवित्र, निर्वोष एवं उच्च विचारों से परिपूर्ण रहे—यह मन का विनय है । इसी प्रकार यमन भी सुन्दर, गोमय, सर्वजन सुखायी एवं निर्वोष ही, यह भी उक्त बात दुनों से मुक्त रहे । इनके विपरीत न जाने यह प्रगल्भयमन विनय होता है ।

शामविनय से तात्पर्य—वस्तुता की प्रशुद्धता बताई गई है । उपयोगपूर्वक भजना, उद्वेगना, ब्रेडना, गोना, किसी देहकी आदि की उल्लापना, हवा रुद्धियों की प्रतमापूर्वक प्रशुद्धि करना—यह सब साम विनय के भेद हैं । वस्तुता-अप्रगल्भ के रूप में इसके भी सात-आठ भेद हैं । यमने किसी, भुजने ब्रेडने आदि अनेक वस्तु में लिष्टता, विवेक एवं अहिंसा की भावना रखना साम-व

विनय कई प्रकार की भावना से किया जाता है। एक प्राचीन आचार्य ने इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—

लोगोवपारविणओ अत्यनिमित्तं च कामहेउं च।

भयविणय-मुखविणयओ विणओ सत्तु पंचहा होई।^१

विनय करने के पांच उद्देश्य हैं—१. लोकोपचार अर्थात् लोक व्यवहार निभाने के लिये माता-पिता, अध्यापक आदि का विनय करना २. धर्म विनय—धन आदि के लालच से सेठ, मनेजर या बड़े आदमी की सेवा, पूजा करना। ३. काम विनय—कामवासना की पूर्ति हेतु स्त्री आदि की आजीजी करना, उनकी प्रशंसा करना। ४. भय विनय—अपराध होने पर मजिस्ट्रेट, कोतवाल, शिक्षक आदि का विनय करना। ५. मोक्षविनय—आत्म कल्याण एवं ज्ञान प्राप्ति के लिये गुण आदि का विनय करना।

इनमें प्रथम चार प्रकार का विनय-साम्यता की सीमा तक तो उचित है किन्तु सीमा के बाहर वे ही चापलूसी बन जाते हैं। मोक्ष के लिये किया जाने वाला विनय वास्तव में विनय तप है, चूंकि उसमें उद्देश्य गविष्य रहता है और वृत्तियां मुक्त !

उपासहार

इस प्रकार विनय का तथोगीण—विवेचन जैनधर्म में प्रस्तुत किया है। आगमों में स्थान-स्थान पर इसके आचरण का उपदेश ही नहीं, बल्कि सुन्दर विधि भी बताई गई है। विनयशील को समस्त योग्यताओं का धार और संपूर्ण विद्याओं का अधिकारी माना गया है। स्थानांगमूल में बड़ा तीन व्यक्तियों की विद्याभान का अधिकारी और तीन की अधिपकारी बनाया है—बड़ा एक अधिकारी विनीत हो है। अधिनीत को विद्या देना भी अपराध माना गया है कहा है—

ततो अवापनिग्गे पण्णत्ते तं न्हं—

अधिनीय, विगदधविज्जं अधिप्रोत्तिपपातुई।

१. विनयानुसूच भाष्य ३१२

२. स्थानांग मूल ३१२

दिया, किन्तु जैसे ही यह अहंकार मिटा, मन में विनम्रता आई, विनय एवं भक्ति की भावना जगी तो बस कदम उठते ही केवलज्ञान प्राप्त हो गया। इससे स्पष्ट होता है कि आत्मिक शक्तियों के विकास में विनय का कितना महत्वपूर्ण योगदान है। अहंकार की दुर्भेद्य चट्टानों को तोड़ने का एकमात्र साधन विनय ही है। इसीलिए—माणं मद्ब्रूया सिणे—मान को मुटुता से जीतो का उपदेश दिया गया है। गांधी जी का कथन है—नम्रता का अर्थ है अहंभाव का—आत्मंतिक क्षय। विनय से अहंकार हटता है, अहंकार हटने से ज्ञान प्राप्त होता है। अहंकार और ज्ञान, अहंकार और विनय एक साथ नहीं रह सकते।

जैन धर्म में विनय का उपदेश आत्म-विकास के निम्ने, ज्ञानप्राप्ति के लिए और मुण्डनों की सेवा द्वारा कर्मनिर्जरा करने के निम्ने ही दिया गया है।

कुछ लोग विनय को चापलूसी के रूप में भी प्रयोग करते हैं, किन्तु यह गलत है। चापलूसी दोष है, मन की कण्ठ पूर्ण स्थिति है, जबकि नम्रता गुण है, यह मन की तरल स्पष्ट वृत्ति है। नम्रता की प्राप्ति के लिए, एवं मुनीजनों के सम्मान के निम्ने मुकुता नम्रता है। अपने स्वार्थ के लिए, अपना उत्कर्ष भीषा करने के लिए मुकुता, दूसरों को ठगने के लिए मुकुता चापलूसी है। इसीलिए कहा गया है—

नमन-नमन तत्र को कहै नमन-नमन में फाग।

रमाबाज बूचो नमैं भीतो चोर कवान।

नमना—मुकुता सब एक देता नहीं होता। एक आदमी निकर करने के निम्ने मुकुता है और एक किसी का गया स्वार्थ भी मुकुता है। जीता निवार पर हमाता करने से पहले मुकुता है, मुकुता है, पर उसका उद्देश्य विनय शूर है। यात भी नमने से पहले मुकुता दुहरा हो जाता है पर वह भी किसी से प्राप्त करने के निम्ने मुकुता है न कि सम्मान व भक्ति करने के लिए। जो इस प्रकार निम्न स्वार्थ व जीत के वश मुकुता विनय नहीं है वह चापलूसी व कण्ठ है।

वैयावृत्य तप

मनुष्य सामाजिक प्राणी है, वह समाज में रहता है। एक—दूसरे के सहयोग की अपेक्षा रखता है। स्वयं दूसरों के काम आता है और समय पर दूसरे भी उसके काम में आते हैं। सुख-दुःख में एक-दूसरे के लिए प्रसन्नता और संवेदना प्रकट करते हैं। एक यदि संकटों के बलबल में फँसता है तो दूसरा उसे निकालने का प्रयत्न करता है। एक यदि रोगग्रस्त होता है तो दूसरा उसकी सेवा करता है और सहयोग देता है। एक के दुःख से, पीड़ा से दूसरे का हृदय प्रभाव ही उठता है, वह उसके प्रति सहानुभूति दिखाता है। यह परस्पर सहयोग ही भावना है, उपकार की भावना है और सेवा की भावना है, इसे ही दूसरे अध्यायों में सामाजिकता कहा गया है। यह सामाजिक भावना ही मानव की उत्पत्ति और विकास का प्रमुख आधार है।

इस ही प्राणी मनुष्य में ही परस्पर-उपकार की भावना रहती है। मानव प्रजाजाति ने ही जीवन का सारा ही अर्थ है—परस्परसहयोग जीवनम्—जीवों में परस्पर एक-दूसरे का सहयोग व उपकार करने की प्रवृत्ति रहती है।

तीन व्यक्ति विद्या के अयोग्य हैं-- अविनीत, रसनीतुरी और बार-बार कलह करने वाला । इसका अर्थ यह है कि अविनीत जीवन में सद्गुण प्राप्त नहीं कर सकता । सद्गुण एवं सद्ज्ञान प्राप्त करने के लिये मनुष्य को विनयशील बनना ही होगा । समस्त गुण विनय के अधीन रहते हैं-- विनयायत्तारब्ध गुणाः सर्वे और इससे भी बड़ी बात है--समस्त गुणों का शृंगार विनय ही है--सकलगुणभूषा च विनयः विनीत की विद्याएं सुशोभित होती हैं ।

एक प्राचीन आचार्य ने विनय का जीवनव्यापी प्रभाव बताते हुए कहा है—

विणएण णरो मधेण चंदणं सोमयाइ रपणियरो ।

महुरस्सेण अमयं जणपियत्तं सहइ भुयणे ।^१

जैसे सुगन्ध के कारण चन्दन की महिमा है, सोम्यता के कारण चन्द्रमा का गौरव है, मधुरता के लिये अमृत जगत्प्रिय है वैसे ही विनय के कारण ही मनुष्य समस्त जगत् में प्रिय एवं आदर योग्य होता है ।

इस दृष्टि से विनय तप—जीवन में उभय लोक लाभकारी है । विनय से लोकप्रियता एवं आदर भी बढ़ता है और आत्मा तरब, मुक्त एवं निर्मल भी बनती है ।



परस्परं भावयन्तः श्रयः परमवाप्स्यम !^१

निःस्वार्थ वृत्ति से परस्पर में एक दूसरे का सहयोग करते हुए एक दूसरे की उन्नति में हाथ बंटाते हुए परम कल्याण को प्राप्त होंगे। वास्तव में देया जाय तो मनुष्य को पशुता से हटाकर मानवता में प्रतिष्ठित करने वाला यही आदर्श है। वह एक-दूसरे की जीवन-उन्नति में सहायक बनें। ऋग्वेद में समूची मानवजाति को एक दूसरे के प्रति समर्पण की भावना का उपदेश देते हुए कहा है—त्वमस्माकं तव स्मति^२—तुम हमारे हो, हम तुम्हारे हैं। हम एक-दूसरे के लिए तैयार हैं, एक दूसरे के सुख-दुःख में सहयोगी हैं।

वैयावृत्य का महत्व और लाभ

जैन धर्म में इस परस्परोपग्रह की भावना पर बहुत ही बल दिया गया है। वहाँ इसे वैयावृत्य, सेवा, शुश्रूषा, पशुपालना, साधर्मिक वास्तव्य आदि अनेक नामों से अनेक रूपों में बताया गया है और जीवन के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़ा गया है। वैयावृत्य का अर्थ बताते हुए कहा है—वैयावृत्यं—भक्तादिभिः धर्मोपग्रहकारित्वं वस्तुभिरुपग्रह-करणे—धर्म साधना में सहयोग करने वाली आहार आदि वस्तुओं के द्वारा सहयोग करना—सहायता करना—इसी अर्थ में वैयावृत्य शब्द आता है। इसका भाव है, एक दूसरे के जीवन में, धर्म की साधना में, आत्मविकास में, तथा जीवन-विकास में सहयोग करना वैयावृत्य—सेवा है।

बताया गया है कि मानव-संसार में दो पद सर्वोत्कृष्ट हैं—भौतिक वैभव एवं ऐश्वर्य की दृष्टि से भक्तियों का और आध्यात्मिक ऐश्वर्य की दृष्टि से तीर्त्तक का। भक्तियों विषय का सबसे बड़ा भौतिक वैभव एवं ऐश्वर्य से सम्बन्ध छह शब्द का साक्षाट होता है, उसके बल, वैभव, सेवा एवं मनुष्य की होश विद्या में कोई दूसरा नहीं कर सकता। और तीर्त्तक आध्यात्मिक वैभव की दृष्टि से विषय के अतिशय पुरन होते हैं। ये अमल्यगी होते हैं, आत्मा की अमल्यवस्तियों का पूर्ण विकास में कर चुके होते हैं, तथा अमल्य

एक-दूसरे के सहयोग के बिना कोई जीवित भी नहीं रह सकता । परस्पररोप-कार की यह वृत्ति छोटे से छोटे जीव में भी रहती है । आप देखते हैं चींटियां कैसे समूह व दल बनाकर चलती हैं, वे एक-दूसरे की रक्षा में भी सहयोग करती हैं । मधु मक्खियों का समूह और संगठन तो विश्वप्रसिद्ध है । उनमें राजा और रानी भी होती है, सेवक सेविकाएं, सैनिक और आरक्षक भी ! मधुमक्खियों का पालन करने वालों का कथन है कि मानव की भांति ही उनमें पूरी राजव्यवस्था होती है । पशुओं के झुंड और गूँघ तो आप देखते सुनते ही हैं । उनमें गूँघपति भी होता है जो पूरे गूँघ की सुरक्षा और पालन-पोषण की किक करता है । जातासूत्र में वर्णन आता है कि मेघकुमार अपने पिछले भव में मेरु-प्रभ नामका एक बड़ा गूँघपति हस्ती बना था जिसके दल में एक हजार हाथी-हथिनियां थी । उन सब के सुख-दुख की निगता गूँघपति मेरु प्रभु रखता था । मृगों, गायों और अन्य पशुओं के भी काफी बड़े-बड़े समूह और झुंड होते हैं और सभी एक दूसरे के सहयोग व उपकार के आधार पर चलते हैं ।

पशु-पक्षियों आदि में समूह तो होते हैं, एक दूसरे का सहयोग भी करते हैं, किन्तु उनमें सामाजिक भावना का विकास बहुत ही निम्नस्तर का होता है । ये सहयोग करते भी हैं किन्तु जो सहयोग का आदर्श और अंतर्भाव का स्वयंसेत्कार होता चाहिए, वह पशुओं में नहीं होता । मनुष्य एक पूर्ण विरचित प्राणी है, उसमें सामाजिक भावना का पूर्ण विकास होता है । वह सेवा सहयोग देता भी है, और लेता भी है । उसमें उन सहयोग के पीछे एक निश्चित भावना है, नैतिक आदर्श है, उच्च स्वतन्त्र है, यह है सेवा का, उपकार का और कर्तव्य का । यह किसी का सहयोग करता है तो उसे अपना कार्य समझता है । उसके हृदय में दया की, करुणा की, स्नेह की, दण्डन की, उपकार की और कृतज्ञता की भावना रहती है, एक निश्चित अहर् भवभावना है जो उसे निरन्तरवृत्ति के साथ उस और सम्मुख करती है । नहीं भावना सेवा का आदर्श है । इसी भावना की मध्य बरक मोक्ष में रहा है—

ने तोलह कारण भावनाएं मानी हैं और उसमें भी वैयावृत्य, विनय एवं यत्नलता का महत्वपूर्ण स्थान है ।

इसी प्रसंग में एक बात और बताना चाहता हूँ कि इस पद के अन्तर्गत भी अन्य अनेक विभूतियों भी वैयावृत्य करने वाले को प्राप्त होती है । भगवान् ऋषभदेव के दो सुपुत्र—भरत चक्रवर्ती और बाहुवली का नाम भी आपने सुना होगा—ये दोनों ही महान पिता के महान पुत्र थे । भरत चक्रवर्ती थे, अदभुत वैभव एवं ऐश्वर्य के स्वामी थे ही, किन्तु बाहुवली भी कम नहीं थे । मंसार में उन्होंने का एक उदाहरण है कि अपार सैन्य बलधारी महाबली चक्रवर्ती को भी एक शस्त्ररहित बाहुवली ने अपने बाहुबल के द्वारा हरा दिया । भरत जैसे चक्रवर्ती के दिव्य शस्त्र और बाहुबल भी बाहुवली के समक्ष नास्त हो गये । बाहुवली को यह अपूर्व अदभुत बल किस साधना से प्राप्त हुआ था ? पूर्वं जन्म की सेवा के बल पर ! उनके पूर्वं भव की साधना का अध्ययन करने पर पता चलेगा—पूर्वं भव में भगवान् ऋषभदेव का जीव वचनाभ मुनि थे । उन्होंने बीस स्वानों की आराधना कर तीर्थंकर गोत्र का उपासक किया था । बाहु-सुबाहु मुनि इन्हीं वचनाभ मुनि के छोटे भाई थे । ये दोनों तथा सेवा-वैयावृत्य में ही तीन रहते । बाहु मुनि—यह के हुए, प्रांत मुनियनों को विश्रामणा देते—उनके अवयवों का मर्दन व उनकी आराम पहुँच ऐसी सेवा करते थे और सुबाहु मुनि वैयावृत्य—आहार आदि द्वारा उनकी मुक्तता पहुँचाना, रोगी आदि की परिचर्या करना आदि कार्य करते थे । इस प्रकार दोनों मुनि जीधन भर अज्ज्ञान भाव से वैयावृत्य और विश्रामणा दे रहे थे । इस कारण इन दोनों मुनियों की नयेन प्रसंगा और श्वाति होने लगी । प्रायः जिनवास यन्त्री ने मुनियों के मुँह से कहाया है कि भाई ! जो सेवा करेगा उसकी प्रसंगा जो होगी ही—जो करेगा सो पततिगमर^१—जो करेगा है, वह प्रसंगा पाता है । मंसार का नियम है—कर्मकर पुरुषो जन्म^२—जो काम करता है, सेवा करता है जीव उस ही जन्म में है । हा, जो

१. भागवत पुराण १०. ११३

२. निरालोचनः पुस्तकालय १११६००

आध्यात्मिक ऐश्वर्य, अपार विभूतियां उनके चरणों में लोटती रहती हैं। चक्रवर्ती, देवता और देवेन्द्र, एक नहीं, लाखों-करोड़ों-इन्द्र उनकी चरण-सेवा करते रहते हैं। तो यह दोनों चक्रवर्ती एवं तीर्थंकर का महान पद प्राप्त होने के जो कारण हैं, जिस तपोबल से इन पदों की प्राप्ति हो सकती है उसमें एक मुख्य तप है सेवा, वैयावृत्य ! सेवा-वैयावृत्य के द्वारा आत्मा चक्रवर्ती का पद भी प्राप्त करता है, और उससे भी उत्कृष्ट तीर्थंकर पद भी।

भगवान महावीर से एक बार गणधर गौतम ने प्रश्न किया—प्रभो ! आपने सेवा-वैयावृत्य का इतना महत्त्व तो बताया है, और वैयावृत्य करने का सूत्र उपदेश भी दिया है, किन्तु यह भी बताइये कि इस वैयावृत्य के द्वारा आत्मा को किस फल की प्राप्ति होती है ?

उत्तर में भगवान ने कहा—

सेवायच्छ्रेणं तिस्रपरं नाम गोवं कर्मनं निबोधे^१

वैयावृत्य करने से आत्मा तीर्थंकर नाम गोवं कर्मका उपार्जन करता है। यह है वैयावृत्य का महान फल ! जिसके आचरण से आत्मा तिस्र के समीपकृष्ट पद की प्राप्ति कर सकता है।

आत्मगुणों में तीन स्थान प्रमाण मिले हैं जिनकी सेवा-आराधना से आत्मा तीर्थंकर गोवं का उपार्जन करता है, उन पर ध्यान देने से पता चलता कि उनमें प्राज्ञ ब्रह्मण तो सेवा से सम्बन्धित ही है, अरिहा, मित्र, प्रपञ्चन, मुद्र, स्थापित, आसी एवं तपस्वी की भक्ति तथा गोवं को समर्पित वृद्धमाना। नाम ही उनकी बलवत्ता, मुद्रबली जादू का विषय और इनकी सेवावृत्य करना वे च स्थान है। दिनोंकी आराधना से जीव तीर्थंकर गोवं का भोग करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि आराधना के क्षेत्र में सेवा का स्थान क्या महत्व है। इनके अलावा सब जगत् एक और जगत् सेवा-वैयावृत्य एक और। इससे हमारा महत्त्व बढ़ाना पता है। इन्हीं तीन स्थानों की निरन्तर आराधना

१ उपराख्येन २२१।

२ आत्मगुण का

तो क्या उसका यह चित्तन उचित है ? नहीं ! वास्तव में जितना महत्त्व यह ध्यान एवं भक्ति को देता है उतना ही महत्त्व सेवा का भी है । दूसरों की सेवा करना—दूसरों का काम नहीं, अपना ही काम है । सेवा करने वाले को तो सिर्फ दायिक लाभ है, कि तत्काल उसे साता पहुँच जाती है, किन्तु वास्तविक लाभ तो सेवा करनेवाले को ही मिलता है, कर्मों की महान निजंरा तो सेवा करने वाले को ही होती है । सोचिए—सेवा से जिस तीर्थंकर पद की प्राप्ति बतलाई है क्या वह सेवा करनेवाले को होती है या सेवा करनेवाले को ? तीर्थंकर पद, मुक्ति और अनन्त ऐश्वर्य सेवा करने वाले को मिलता है तो सेवा करना दूसरों का काम कैसे हुआ ? यह तो अपना ही काम है, जिस काम से स्वयं को लाभ मिलता है वह काम स्वयं का ही होगा । इसलिए तब तो यह है कि जो दूसरों की सेवा करता है, वह वास्तव में अपनी ही सेवा करता है । अपना ही लाभ करता है ।

एक प्राचीन आचार्य ने बताया है कि एक बार गणधर गोतम ने भगवान महावीर से पूछा—“भगवन् ! एक साधक आपकी सेवा करता है, रात-दिन हाथ जोड़े आपके चरणों में धड़ा रहता है, और एक साधक रोगी, बालक, वृद्ध आदि साधुओं की सेवा करता है, तो इन दोनों में श्रेष्ठ कौन है ! आप कितने धन्यवाद देने ?

उत्तर में भगवान महावीर ने कहा—जे गित्ताण पडिपरइ से धनं !— गोतम ! जो रोगी की सेवा करता है, वही वास्तव में धन्यवाद का पात्र है !

गोतम के आश्चर्य का ठिकाना न रहा । एक और अमलमानी विद्वान् के महातिमहान लोकोत्तम पुण्य स्वयं भगवान की सेवा, भक्ति ! और दूसरी ओर एक साधारण दान साधु की परिचर्या ! दोनों ने महान अंतर तीक्ष्णता से फिर भी भगवान् अपनी भक्ति से भी बड़बड़ रोगी की सेवा को बड़ा रहे है, इसका क्या कारण है गोतम ने पुनः जिज्ञासु भाव से पूछा तो भगवान् ने कहा—गोतम ! मेरे तपोर की सेवा का कोई महत्त्व नहीं, महत्त्व है मेरी सेवा की आराधना करने का—आनाराहुनं धु जिनाम—जिनमारी की सेवा का लक्षण करना—वही उनको, धर्म ही करने वही देता है ।”

है, और उनके पीछे कुछ महान उद्देश्य है। अन्य धर्मों में भी मनुष्य की ओर प्राणि माय की सेवा का उपदेश है—उसके कुछ दार्शनिक कारण भी हैं और व्यावहारिक कारण भी ! अद्वैतवादी कहते हैं—प्राणिमाय में एक ही आत्मा अनेक रूपों में विराजमान है, इसलिए किसी भी प्राणी की सेवा करना वास्तव में उस एक ही आत्मा की सेवा है, ईश्वर की ही सेवा है। ईश्वर को घट-घट व्यापी मानने वाले भी—शुनि चैव स्वपाके च सत्नी में एक ही ईश्वर का प्रतिबिम्ब देखते हैं इसलिए प्राणी माय और व्यासकर मनुष्य की सेवा का महत्त्व मानते हैं। गांधी जी भी नर सेवा को ही नारायण की सेवा मानते हैं। किन्तु जैन धर्म न तो अद्वैतवादी है, न ईश्वर को घट-घटव्यापी मानता है, हाँ, आत्मा की परमात्मा जरूर मानता है, आत्मा में ही परमात्मा बसने की सत्ता छिपी है यह उसका अटल सिद्धान्त है, किन्तु इस सिद्धान्त के कारण भी वही सेवा का उपदेश नहीं दिया गया है। मनुष्य के रूप में ईश्वर की सेवा करना या ईश्वर के रूप में ही ईश्वर की सेवा करना—आखिर इन दोनों का भी तो कोई लक्ष्य होना चाहिए, उद्देश्य होना चाहिए ! इसलिए जहाँ तक मेरा अनुभव है जैन दर्शन की भावना को समझ पाता हूँ सेवा के पंच उद्देश्य जैन धर्म में मुख्य हैं—

१. प्रत्येक सचेतन प्राणी में एक जागृत आत्मा है, यह अनुभव करता है, संवेदनशील है, और सुख एवं साता उसे प्रिय है। जैसे हमें सुख प्रिय है, वैसे ही प्राणिमाय को ही सुख प्रिय है। जो प्राणिमाय को सुख-साता देता है, समाधि पहुँचाता है वह वास्तव में अपनी आत्मा को ही सुख-साता एवं समाधि पहुँचाने पाता है—यह समझाने महावीर का कथन है—समाहिकारणं तमेव समाहि पटिलमिदं^१ समाधि पहुँचाने वाला समाधि को प्राप्त होता है। यही दार्शनिक वृष्टि भूमि है—सेवा मायना की ! सेवा करने से दूसरी आत्मा की भाँति पहुँचो, उससे अपनी आत्मा को भी भाँति व समाधि अनुभव होगी। जैसे दूसरे को पीड़ा-व-कष्ट देने से स्वयं को आत्मा में भी पीड़ा, शोक एवं पीड़ा का अनुभव होता है।

इस प्रसंग से यह स्पष्ट होता है कि प्रभु की भक्ति से भी बड़ी है सेवा !
कहा है—

ज्ञान ध्यान पूजा तथा सामायिक अथ दान ।

‘निश्चो’ इनसे भी बड़ा है सेवा का स्थान ।

सेवा का इतना महत्व है इसीलिए तो यह कहा गया है—कि कोई साधु, साध्वी बीमार हो गये हों, तब जो दूसरे स्वस्थ साधु-साध्वी निकट हों, उन्हें उनकी सेवा में तत्काल लग जाना चाहिए और हर प्रकार की सावधानी के साथ उनकी सेवा तथा तार-संभाल करनी चाहिए । यदि किसी को पता लग जाये कि अमुक साधु बीमार है, और फिर भी यह उनकी सेवा नहीं करें, ग्रानवृद्ध कर सेवा के प्रति लापरवाही करते—तो शास्त्र में कहा है, सेवा के प्रति लापरवाही करने वाले साधु को बहुत कड़ा दंड देना चाहिए, उसे चार मास का गुरु प्रायश्चित्त देना चाहिए, और लोगों के बीच में उसकी शीलना करनी चाहिए कि उसने कण साधु की सेवा के प्रति उपेक्षा करती । जो सेवा की उपेक्षा करता है वह वास्तव में धर्म संग की उपेक्षा करता है, प्रभु जाता की उपेक्षा करता है ।

भगवान् महाशय ने साधु एवं श्रावकों के लिए आठ अमर विद्याएं दी हैं जो स्थानाग मूल में आज भी विद्यमान हैं । उनमें से विद्याएं सामकर सेवा के विषय में ही हैं—

असंमिहोय परिज्जगत्त संनिष्कृत्तयाए अमरुद्वेयधं भयद—

—जो अनामिह है, अनामिह है, जिसका कोई आघात नहीं है, उन को महाशयता, महारोग एवं आघात होने में कदा कदा रहना चाहिए ।

विज्जगत्त अमिताए वेयाध्वक्कणत्तयाए अमरुद्वेयधं भयद ।^१

लोगों की सेवा करने के लिए अज्ञान भाव में कदा कदा रहना चाहिए ।

सेवा का उद्देश्य

ऐन धर्म में सेवा का ही दायर महत्व है इसका भी मनोवैज्ञानिक कारण

१. निजीवजाए १०१२

२. स्थानाग मूल २१

है तो दूसरे बन्धु को उसका दुःख दूर करना ही चाहिए, उसकी सहायता करना बन्धु का कर्तव्य है। मानवता है।

- ५ सेवा करने में भावना युद्ध होती है, मन में पवित्र विचार आते हैं और शरीर को कष्ट व संयम की साधना भी करनी होती है, इस कारण सेवा स्वयं में एक तपस्व्यता भी है, इससे कर्म निजंरा होती है, कर्म निजंरा होने से आत्मा की विशुद्धि होती है, विशुद्ध आत्मा ऊर्ध्वगति करता है, वह मोक्ष पद भी प्राप्त कर सकता है। इसलिए मुक्ति की प्राप्ति के लिए भी सेवा करनी चाहिए।

ये कुछ मुख्य तत्व हैं, विचार सुख हैं जिन पर जैन धर्म की सेवा भावना टिकी हुई है। इस सेवा से दोनों लाभ हैं—इह लोका में भी मन, नीति, प्रतिष्ठा, सम्मान एवं प्रसिद्धि मिलती है। सेवा करने वाला जनता का प्रिय एवं नेता भी बन सकता है और परलोक में अपार भुक्ति, वल, वैभव ऐश्वर्य तथा तीर्थंकर पद एवं मुक्ति तक मिल सकती है—इस प्रकार—एक जिया इत्येकरी प्रतिष्ठा—एक ही जिया दो काम सिद्ध करने वाली होती है।

हां, एक बात ध्यान में रखनी चाहिए—सेवा, सेवा की भावना से होनी चाहिए, सेवा नाम की भावना से नहीं। लोग कहते हैं—करो सेवा, पाओ सेवा! यह उक्ति आज कम-कमकी बदनाम हो गई है। सेवा करने में तो बहुत कष्ट उठाने पड़ते हैं, लोग सेवा तो कुछ नहीं करने, केवल सेवा का नाम पीट देते हैं। दूसरी ओर आवद्धस्त व्यक्तियों के बीच में बाहर बाड़ा हुआ और फोड़ मिचवा दिया कि हम यहाँ सेवा करने आये हैं, व्यवसायी ने फोड़ दिया तथा कि अनुष्ठान में बड़ी सेवा की, पर वास्तव में जो उनके मुखियों ने एक बात भी नहीं की, तो यह कैसी सेवा? लोग सेवा के नाम पर अपना पद पर लेते हैं, अपनी पापी अनुविद्या भी में कर लेते हैं और कहते हैं—हम सेवा कर रहे हैं। वास्तव में यह सेवा के नाम पर होता है। आज कम ही सेवा के नाम पर बड़े प्रयत्न हुए सुनने में आते हैं। भुक्ति से भुक्ति, लोभसे लोभ की लाल में लोग मर जाते हैं। यहाँ जने जनता सेवा के बगैरे समझाये हुए मतलब में आये और आराधनाही तथा अन्य विदेशी लोगों ने

वैसे ही दूसरों को सुख देने से स्वयं की आत्मा में एक सहज प्रफुल्लता और प्रसन्नता की अनुभूति होगी। यह आत्म-प्रफुल्लता ही साधक के लिए सर्वोपरि वस्तु है, इसे ही प्राप्त करना है और यह सेवा के द्वारा प्राप्त होती है इसलिए सेवा करना, दूसरों को सुख पहुँचाना वास्तव में अपनी आत्मा को ही सुख पहुँचाना है।

२. जैन दर्शन प्राणी माय में समता का भाव रखता है, अर्थात् अपनी आत्मा के समान ही दूसरों को समझता है। अपने सुख-दुख के समान दूसरों के सुख-दुख को समझता है। इसी के साथ वह प्रत्येक प्राणी को अपना मित्र भी मानता है, मित्ति में सब्य भूएनु मेरी समस्त प्राणिजगत के साथ मेरी है। मित्रता का नियम है—मित्र के सुख-दुख में सहयोगी और सहभोगी बनना। मित्र का दुख दूर करना, कष्ट में उत्तरी सेवा करना मित्र का धर्म है। अतः मित्रता के नाते भी हमें प्रत्येक प्राणी की सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिए।

३. सन अविस्था में, संकट की दशा में मनुष्य धैर्य ही जाता है। उस का चित्त धुंध और व्याकुल हो उठता है। ऐसी दशा में वह धर्म में, सरसर्ग में भ्रष्ट भी हो सकता है। अपनी मर्यादा से झुज होकर अग्रयम एवं अनवाधार में प्रवृत्त हो सकता है—जो कि उसके चरित्र पर विनाश का मान है। उस प्राणी को, संकट व अविस्था के समय में यदि कोई ऐसे बचाता है, सहायता पहुँचाता है, उसे आधार देता है और वह उसे प्रतिबोधित, संयम भ्रष्ट होने दृष्टि बचा देता है जो आत्मर में वह उस का महान आभार करता है, एक प्रकार से उसे धर्मजीवन बचाने करता है और उसकी आत्मा को सन्धि सुख की ओर बचाता है—इस कारण सेवा संकट के समय में मनुष्य को धर्म रक्षा कर सकती है।

४. व्यावहारिक दृष्टि से भी सेवा एक सर्वोपरि भावना है। मनुष्य मनुष्य का शत्रु नहीं है, मित्र है, मनु है। एक मनु यदि दुर्भा होता है, अन्याय

- ६ सेह वेयावच्चे—नव दीक्षित मुनि की सेवा
- ७ कुल वेयावच्चे—कुल^१ की सेवा
- ८ गण वेयावच्चे—गण^२ की सेवा
- ९ संघ वेयावच्चे—संघ^३ की सेवा
- १० साहम्मिय वेयावच्चे—साधमिक^४ की सेवा

इन दस भेदों में साधु जीवन का समस्त सम्बन्धित समूह आ गया है। आचार्य का अर्थ बहुत व्यापक होता है—दीक्षा देने वाले, धर्म का उपदेन, सम्मार्ग का ज्ञान और कर्तव्य की बोध देने वाले आचार्य होते हैं। उपाध्याय ज्ञान दाता है, निदाक हैं। अपने से आयु में बड़े, ज्ञान एवं अनुभव में बड़े, दीक्षा आदि में उल्लेख्य जाँ है उन्हें स्वविर कहा जाता है। तपस्या करने वाले, तथा दण, बीमार, अस्वस्थ साधक भी सेवा के अधिकारी हैं। सेवा का अर्थ है—नवदीक्षित ! उमे आचार पद्धति का अभी पूरा ज्ञान नहीं मिला होने के कारण तथा साधुचर्या की कठोरता का अभ्यास न होने के कारण उसे भी दूसरों की सेवा की अपेक्षा रहती है। इसी तरह अपने साधमिक गुरु भाई, साधी साधक, संघ आदि की भी सेवा—एक तरह अर्त्तव्य होता है—अतः इन दसों की सेवा करना, उनकी परिचर्या करना तथा जिस प्रकार उन्हें बनाधि एवं ताता प्राप्त हो वेता आचरण करना सेवाव्रत है।

सेवाव्रत की विधि

सेवाव्रत—सेवा शब्द वेता तो छोटा-सा है, किन्तु अर्थ की दृष्टि से वा विधि की दृष्टि से विचार किया जाय तो सेवा एक बिराट धर्म है, इसका अर्थ बहुत ही व्यापक है। इसकी विधि बहुत सूक्ष्म है। इसीविषय तो रवि ने कहा है—सेवाधर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्यः—सेवा धर्म परम

- १ एक आचार्य के निम्नो या समुदाय
- २ एक वंश में अधिक आचार्य के निम्नो का समुदाय
- ३ कई गणों का समूह
- ४ समान धर्म वाले, (इसमें मुनि के निम्न मुनि व गृहस्थ के निम्न गृहस्थ सम्मिलित हैं)

उनके लिए जो गहायता भेजी वह मुनने में आया कि उन तक तो बहुत कम पहुँची, बहुत से स्वार्थी और सेवा की आड़ में पाप करने वाले लोग बीच ही में उन गरीबों और दुःखियों की तहायता सामग्री से बाँधी बनाने लगे और अपने घर भरने में जुट गये। ऐसे जघन्य कृत्य मनुष्य करता है, भूखे की रोटी छीनकर अपनी चाँदी बनाना चाहता है। दीन का पेट काटकर अपनी पेटो भरने वाला—कितना बड़ा पाप करता है, कितना नीच आचरण करता है—इसके लिए जागर कोई उपयुक्त मन्त्र नहीं होगा।

ती सेवा करने में जो भ्रम, प्रतिष्ठा व प्रसिद्धि की कामना नहीं होनी चाहिए। सेवा—दया, करुणा, मैत्री वस्तुतः और विनय व वन्द्यत्व भावना से प्रेरित होकर होनी चाहिए।

सेवापूर्वक के दस प्रकार

सेवा—सेवापूर्वक के मन्वन्ध में तीन धर्म का मुख्य उद्देश्य सेवा है यह ऊपर स्पष्ट कर दिया गया है। जैसे तो प्राणिमात्र ही सेवा करना, प्रत्येक जीव को समाधि पहुँचाना इत्यादि लक्ष्य है, किन्तु यह विनाश लक्ष्य अभी मादल होना अब पहले हम अपने जीवन में निकटतम व्यक्तियों के प्रति सेवा व सेवापूर्वक का आचरण करेंगे। जो पक्षीमी हो बीमार छोड़कर विरम सेवा की बात करता है, वह एक प्रकार से सेवा की विद्वन्धना करता है। इसलिए तीन धर्म का आदर्श है सेवा का प्रारम्भ अपने जीवन के निकटतम गृहयोगियों से, अपने उपकारी व साधनिकों से करो। इस दृष्टि से यहाँ सेवा के दस प्रकार बताये गये हैं—

दस विधे सेवावर्षे वर्ण्यते त जहा^१—

इस प्रकार की सेवापूर्वक बताई गई है—

१ आचार्य सेवावर्षे—आचार्य की सेवा

२ उपाध्याय सेवावर्षे—उपाध्याय की सेवा

३ गुरु सेवावर्षे—गुरु की सेवा

४ तत्पिता सेवावर्षे—उपस्थी की सेवा

५ पितामातृ सेवावर्षे—पिता की सेवा

सेवा के विषय में जैन ग्रन्थों में महामुनि नंदीगेष का चरित्र अत्यन्त आदर्श माना गया है जिन्होंने जीवन भर सेवाव्रत को अस्मानभाव से निभाया। रोगी, तपस्वी- वृद्ध आदि की सेवा करने में न कभी उनके मन में श्लानि आई, और न समय अतमय देखा। सेवा में ऐसी ही सीनता और तन्मयता होनी चाहिए। तभी वैद्यावृत्त्य का जो महान् फल बताया गया है उसको प्राप्त हो सकती है और सेवा परम धर्म, सर्वोत्तम तप और मोक्ष को परम नाथना सिद्ध हो सकती है।

गहन है, इसकी वारीकियों को योगी लोग भी नहीं समझ पाते। सेवा में सर्वप्रथम आवश्यकता है विवेक की ! किस व्यक्ति को, किस समय किस प्रकार की सेवा की जरूरत है वह ध्यान में रखना चाहिये। यह नहीं कि प्रयोग की आवश्यकता कुछ और ही हो, और सेवा कुछ अन्य प्रकार में ही की जाय ! प्राचीन आचार्यों ने समय के अनुसार सेवा के अनेक प्रकारों की व्याख्या की है। जैसे कहा है—

भक्तोपाणे समयान्तणे य, पठितेह पापमिच्छन्मयाये ।

राया तेणे दंड गाहे मेतन्नमत्ते य ।^१

आवश्यकता होने पर भोजन (आहार) देना, पानी देना, सोने के बिन्दु, विस्तर (गद्दा) आदि देना, आसन देना, गुरुजनों आदि का प्रतिनिधन कर देना, पाँव पोंछना, रोगी हो तो (मेघ का रोगी) उनके निचे दवा आदि का प्रयोग करना यदि रास्ते चलते टपनवाले हों तो सहारा देना, राखा आदि के कूड़ होने पर आचार्य, संप आदि की रक्षा करना, और आदि में बसाना। यदि किसी ने योग सेवन कर लिया हो, अवरोध दिया हो तो स्नेहपूर्णता उनको विनोदित कराना, कोई रोगी हो तो उनके निचे दवा पथ्य आदि की व्यवस्था करना, वारीरिक आवश्यकता—(जैसे मल-मूत्र त्याग आदि) होने पर उनको उपयुक्त माध्यम करना। इस तरह अनेक प्रकार की विधिषा है, जिनको ध्यान में रखकर सेवाभावों व्यक्ति उपयुक्त समय पर उपयुक्त सेवा का अवसर दृष्टिमा रहे और अनुसार आचरण करना रहे।

सेवावृत्त करके समय-समय से रोगी के प्रति पूजा का मार्ग नहीं छोड़ना चाहिये—दर्शनार्थ आर्या में स्थापन-स्थान पर अन्धानाद में सेवा करने का उपदेश दिया गया है। रोगी के प्रति पूजा करने से उसे मार्ग के स्थान पर ऊँची मानसिक उन्नति हो सकती है। सेवा ही सर्वदृष्टि की सेवा करने समय भी उसके प्रति क्लेश, तिरस्कार व इतराह का भाव नहीं होना चाहिये। यदि सेवा देने वाला स्वयं ही होन व असाध्य न समझे।

स्वाध्याय गन्ध की व्युत्पत्ति करते हुए कुछ विद्वानों ने यह भी बताया है—स्व स्व स्वस्मिन् अध्यायः—अध्ययन—स्वाध्यायः अपना अपने ही भीतर अध्ययन, अर्थात् आत्मचिन्तन, मनन,—स्वाध्याय है।

जिस प्रकार शरीर के विकास के लिए व्यायाम और भोजन की आवश्यकता है उसी प्रकार मस्तिष्क—अर्थात् बुद्धि के विकास के लिए अध्ययन (स्वाध्याय) की आवश्यकता है। अध्ययन से बुद्धि का व्यायाम भी होता है, मन की कसरत भी होती है और नये विचार, चिन्तन, ज्ञान आदि के रूप में अच्छी पुरात भी मिलती है। इस प्रकार अध्ययन बुद्धि के विकास में अत्यन्त सहायक है।

यहाँ पर स्मरण रखना चाहिए कि सभी प्रकार का अध्ययन—स्वाध्याय की कोटि में नहीं आता है। जैसे गलत तरीके से किया गया व्यायाम शरीर को लाभ की जगह हानि पहुँचा देता है, और अहितकर भोजन शरीर में शक्ति की जगह रोग पैदा करता है, उसी प्रकार गलत पुस्तकों का अध्ययन, विकारोत्प्रेषक पुस्तकों का पाठन बुद्धि की विकसित करने की बजाय अप्रति कुण्ठित एवं कमजोर बना देता है। अश्लील साहित्य पढ़ने वाले अपने मस्तिष्क की तिजोरी में कूड़ा-कचरा जमा करते हैं। उससे मन दूषित होता है, जीवन धिगड़ जाता है। इसलिए पुस्तकों के चयन में बहुत ही विवेक रखना चाहिए। यदि कम पढ़ो, पर जो पढ़ो वह सुन्दर, सद्बिचारों को जगाने वाला साहित्य पढ़ो। इसीलिए स्वाध्याय की परिभाषा में सद्गुणरूपों के अध्ययन को ही स्वाध्याय कहा है। इसी स्वाध्याय को तप माना है और आत्मबुद्धि का प्राप्ति भी।

स्वाध्याय का महत्त्व

स्वाध्याय का जीवन विद्या में स्थान महत्त्व है यह तो सभी मान्य होता है पर जब इसका अनुसरण करेंगे। अनुसरण के विकास के लिए आवश्यक है पर सही रास्ता है, किन्तु सही रास्ता से भी बहुत सद्गुण प्राप्त हो सकते हैं। अतः हम सब सही ही रास्ता, सद्गुणों का परिचय समझें सही विचार है सही सही विचार, किन्तु सद्गुण प्राप्त हो सके अनुसरण के साथ सद्गुण

४

स्वाध्याय तप

पहले बताया जा चुका है कि तप का उद्देश्य केवल शरीर को क्षीण करने का ही नहीं है, किन्तु इसका मूल उद्देश्य है—अन्तर विकारों को क्षीण कर मन को निर्मल एवं स्थिर बनाना, आत्मा को स्वरूप दशा में प्रकट करना । मानसिक शुद्धि के लिए तप के विविध स्वरूपों का वर्णन जैन सूत्रों में किया गया है, उनमें स्वाध्याय और ध्यान—ये दो प्रमुख हैं । स्वाध्याय मन को शुद्ध बनाने की प्रक्रिया है और ध्यान मन को स्थिर करने की । शुद्ध मन ही स्थिर हो सकता है, इसलिए पहले मन की शुद्धि पर विचार करना चाहिए कि किन-किन साधनों से, किन प्रक्रियाओं से मन को निर्मल एवं निर्दोष बनाया जाय ! इसलिए आभ्यन्तर तप के चौथे क्रम में 'स्वाध्याय तप' रखा गया है । यहां हम स्वाध्याय तप पर विचार कर रहे हैं ।

स्वाध्याय की परिभाषा

स्वाध्याय की परिभाषा करते हुए बताया गया है—सुष्ठु आ—मर्यादया अधीयते इति स्वाध्यायः—सत् शास्त्रों को मर्यादा पूर्वक पढ़ना, विधि सहित अच्छी पुस्तकों का अध्ययन करना स्वाध्याय है ।

अनेक भवों में संचित दुष्कर्मों को स्वाध्याय द्वारा क्षण भर में समाप्त जा सकता है ।

स्वाध्याय का फल बताते हुए भगवान् ने कहा है—स्वाध्याय—एक प्रकार से ज्ञान की उपासना है, इस कारण स्वाध्याय करने से ज्ञान सम्बन्धी ज्ञानावरण कर्मों का क्षय हो जाता है । सज्जाएण^१ ज्ञानावरणरज्जं कर्मं खवेहं^२ ।

स्वाध्याय स्वयं में एक बहुत बड़ी तपश्चर्या है । इसे सबसे बड़ा तप मानते हुए आचार्यों ने कहा है—

न वि अतिथि न वि अ होही सज्जाय समं तपोकर्म^३

स्वाध्याय एक अभूतपूर्व तप है । इसकी बराबरी का तप जतीत में न कभी हुआ है, वर्तमान न कहीं है और न भविष्य में कभी होगा । यदि देखिए कितनी बड़ी बात कही गई है—स्वाध्याय के विषय में । स्वाध्याय के समान विश्व में दूसरा कोई तप नहीं—इसका अर्थ है स्वाध्याय अपनी दृष्टि से एक ही अद्भुत तप है ।

पैदिक क्रमों में भी जैन धर्म की भांति स्वाध्याय को तप माना गया है कहा है—तपोहि स्वाध्यायः^४—स्वाध्याय स्वयं में एक तप है । इसकी साधना-आचरणा में कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए—स्वाध्यायान् मा प्रमदः^५ । स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान हृदय में उतर जाता है, अर्थात् जैसे दीवार की बार-बार धुलाई करने से वह चिकनी हो जाती है और उससे नामने की भी प्रतिबिम्ब जाता है वगैरे उसमें प्रत्यक्ष तप जाता है, उसी प्रकार स्वाध्याय करने से मन इसका निर्मल व बार-बार बन जाता है कि मानवीय का रहस्य उसमें प्रतिबिम्बित होने लग जाता है । योगदर्शनकार आचार्य केशवजी ने भी इससे भी जगह कहा है—स्वाध्यायास्थिरचेज्ज्ञता तपोयोगः^६—स्वाध्याय से दृष्ट

१ सज्जायसमं २३११८

२ गृहसूत्रभाष्य १११२ तथा अमरमहाशब्द भूत ८६

३ जैमिनीय ब्राह्मण २।१४

४ जैमिनीयब्रह्मसिद् १।१११

५ योगदर्शन २।१४

है, और प्रत्येक क्षण वह अभिन्न मित्र की भांति सद्परामर्श व सद्विचार दे सकते हैं। अंग्रेजी के प्रसिद्ध विद्वान टपर की उक्ति है—बुक्स आर अवर वेस्ट फ्रेंड्स—पुस्तकें हमारे सर्वश्रेष्ठ मित्र हैं। एक विचारक ने कहा है—“पुस्तकें ज्ञानियों की जीवित समाधि है। किसी पुस्तक में—ऋषभदेव, अरिष्ट नेमि एवं महावीर हैं तो किसी में राम, कृष्ण और युधिष्ठिर। किसी में वाल्मीकि, सूरदास, तुलसीदास एवं कबीर हैं तो किसी में ईसा, मूसा, और हजरत मुहम्मद ! जब पुस्तक को खोलते हैं तो वे महा पुरुष जैसे उठकर हम से बोल्ने लग जाते हैं और हमारा मार्गदर्शन करने लगते हैं।”

रोटी मनुष्य की सर्वप्रथम आवश्यकता है, वह जीवन देती है, किन्तु सत् शास्त्र उससे भी बड़ी आवश्यकता है। वह जीवन की कला सिखाता है। इसीलिए महात्मा तिलक ने एक बार कहा था—“मैं नरक में भी उन सत् शास्त्रों का स्वागत करूंगा, क्योंकि उनमें वह अद्भुतशक्ति है कि वे जहां भी होंगे वहां अपने-आप स्वर्ग बन जायेगा।” इसलिए सत् शास्त्र का अध्ययन जीवन में अत्यन्त आवश्यक है। इसी कारण उसे शास्त्रं तृतीयं लोचनं^१—तीसरी आंख कही है। अपनी ही नहीं, किन्तु समस्त जगत की—सर्वस्य लोचनं शास्त्रं—आंख है—शास्त्र ! व्यावहारिक जीवन में सत्शास्त्र के अध्ययन का यह महत्त्व है। आध्यात्मिक दृष्टि से शास्त्र-स्वाध्याय का इससे भी अधिक महत्त्व है।

भगवान महावीर ने अपने अन्तिम उपदेश में कहा है—

सज्जाएवा निउत्तेण सन्ववुद्धखविमोखणो^२

स्वाध्याय करते रहने से समस्त दुःखों से मुक्ति मिलती है। जन्म जन्मान्तरों में संचित किये हुए अनेक प्रकार के कर्म स्वाध्याय करने से क्षीण हो जाते हैं—

यहुभवे संचियं खलु सज्जाएण खणे खवड्^३

१ नीतिवाक्यामृत ५।३५

२ उत्तराध्यायन २६।१०

३ चन्द्रप्रज्ञप्ति ६१

जाते थे । और कण्ठस्थ शास्त्र तभी याद रह सकते थे जब उनका बार-बार स्वाध्याय-चिन्तन मनन, परावर्तन आदि किया जाता हो । जो प्राचीन विशाल साहित्य आज लुप्तप्रायः हो गया है उसका भी मुख्य कारण है—स्वाध्याय का अभाव । और आज जो कुछ विद्यमान है वह भी स्वाध्याय के बल पर ही । वर्तमान के आगम स्वाध्याय की ही देन है ! ज्ञान को स्थिर, सुरक्षित एवं जनोपयोगी बनाने की दृष्टि से जैन आगमों में स्वाध्याय के पाँच भेद बताये गये हैं । वहाँ सिर्फ शास्त्र पढ़ना ही स्वाध्याय नहीं, किन्तु उस पर विचार करना, पढ़े हुए का स्मरण करना, और यहाँ तक कि प्रवचन आदि के रूप में ज्ञान का कथन करना भी स्वाध्याय की कोटि में माना गया है ।

स्वाध्याय के पाँच प्रकार यों बताये गये हैं—

सज्जाए पंचविहे पणत्ते तं जहा

वायणा, पडिपुच्छणा, परिपट्ठणा, अणुप्पेहा, धम्मकहा ।^१

स्वाध्याय पाँच प्रकार के हैं—१ वाचना, २ पृच्छणा, ३ परिवर्तना, ४ अनुप्रेक्षा, ५ धर्मकथा ।

१ वाचना—सद्ग्रन्थों को पढ़ना, उनका वाचन करना ! यदि स्वयं पढ़ने में असमर्थ हों तो दूसरों से सुनना, अथवा दूसरों को सुनाना यह सब वाचना में आ जाता है । नियमपूर्वक प्रतिदिन कुछ-न-कुछ वाचन करना चाहिए । जो व्यक्ति पढ़ने का शौकीन होता है, जिसे पढ़ने में आनन्द आता है वह बिना अधिक श्रम के ही अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लेता है । नियमित १५ मिनट पढ़ते रहने से कितना पढ़ सकते हैं यह अभी बताया ही जा चुका है अतः स्वाध्याय के प्रथम अभ्यास में वाचन करने की आदत बढ़ानी चाहिए, नियमित रूप से धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन करते रहना चाहिए ।

वाचना स्वाध्याय क्रम—का वर्णन करते हुए प्राचीन आचार्यों ने कहा है—साधक को पहले अपने आचार मूलक ग्रन्थों को पढ़ना चाहिए, जिनसे कि आचार विधि या सदाचार की प्रेरणा मिले, उसका ज्ञान हों । उसके बाद स्व-दर्शन विषयक ग्रन्थों को पढ़ना चाहिए ताकि शुद्ध आचार के साथ

१ भगवती सूत्र २५।७ तथा स्थानांग एवं उववाई आदि में भी

देव का साक्षात्कार होने लगता है। यहां स्वाध्याय को जप के रूप में लिया गया है, क्योंकि जप, माला, आदि भी स्वाध्याय के अन्तर्गत आते हैं जिसका वर्णन भी आगे किया जा रहा है।

स्वाध्याय के लाभ

शास्त्रों में स्वाध्याय का यह जो महत्व बताया गया है, व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से उसका जो गुण-गौरव गाया गया है उसका विचार करने से हमारे सामने चार बातें आती हैं—

१. स्वाध्याय से जीवन में सद्विचार आते हैं, मन में सद् संस्कार जागृत होते हैं।

२. स्वाध्याय से प्राचीन ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि होती है। हजारों वर्षों के अनुभवों की थाती स्वाध्याय के द्वारा हमें प्राप्त होती है। और जिन महापुरुषों ने दीर्घकालीन साधनाएं करके जो ज्ञान प्राप्त किया उस ज्ञान का लाभ बहुत ही सहज में मिल जाता है।

३. स्वाध्याय से मनोरंजन तो होता ही है, आनन्द भी आता है और योग्यता भी प्राप्त होती है।

४. स्वाध्याय करते रहने से मन एकाग्र एवं स्थिर होता है। जीवन में नियमितता आती है और निर्विकारता भी। जैसे अग्नि से सोने-चांदी का मल दूर होता है वैसे ही स्वाध्याय से मन का मल दूर हो जाता है।

सतत स्वाध्याय करते रहने से ज्ञान का विस्तार होता है। यदि नियम पूर्वक हम १५ मिनट भी प्रतिदिन पढ़ते रहें तो कितनी पुस्तकें पढ़ सकते हैं इसका अनुमान है कुछ आपको? कल्पना करिए यदि एक मिनट में ३०० शब्द भी पढ़े जाय और पन्द्रह मिनट रोज पढ़े तो एक मास में १ लाख ३५ हजार शब्दों की एक पुस्तक पढ़ी जा सकती है। अर्थात् २२०-से २२५ पेज तक की एक पुस्तक प्रतिमास पढ़ी जा सकती है सिर्फ १५ मिनट नियमित पढ़ने से। इस प्रकार देखिए कि सतत स्वाध्याय करने वाला कितना विस्तृत अध्ययन कर सकता है।

स्वाध्याय के पांच भेद

प्राचीन समय में वेद एवं आगम जितने भी शास्त्र थे वे प्रायः कंठस्थ रखे

आगमों का जो रूप है वह इस रूप में मिलता और हमें इतनी तत्व की बातें जानने को मिलती ? तो पृच्छना, ज्ञान को सत्योन्मुखी बनाती है, स्थिर बनाती है। पश्चिम के प्रसिद्ध दार्शनिक डेकार्ट, कांट, हेंगल आदि ने तो संशय को ही दर्शन का आदि सूत्र माना है। मनुष्य में जितनी मात्रा में इन्टेलेक्चुअल क्युरियासिटी—बौद्धिक कुतूहल होता है, वह उतना ही अधिक ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में प्रगति करता है।

पृच्छना में दो बातों का विशेष ध्यान रखा जाता है—पूछना—जिज्ञासा पूर्वक होना चाहिए। सिर्फ दिमाग चाटने को ऊट-पटांग प्रश्न करना, ऐसे प्रश्न जिनका कोई तर्क युक्त समाधान न हो, या जिन से द्वेष व विवाद खड़ा होता हो इस प्रकार के प्रश्न नहीं करने चाहिए। प्रश्न में शुद्ध जिज्ञासा, ज्ञान प्राप्ति का निर्दोष उद्देश्य होना चाहिए।

दूसरी बात—जिससे पूछा जाय—उसका विनय व सत्कार करना चाहिए। प्रश्न की विधि है—प्रश्न करने से पूर्व हाथ जोड़कर उनसे पूछे कि—“मैं आपसे अमुक बात पूछना चाहता हूँ आप कृपा कर इसका उत्तर देंगे तो बहुत ही आभारी होऊँगा।” यह पूछने पर गुरुजन आदि उत्तरदाता जब प्रसन्न होके स्वीकृति दें तभी प्रश्न को ठीक ढंग से उनके सामने रखना चाहिए। समाधान पाकर फिर उनका आभार प्रकट करना चाहिए और विनय पूर्वक उठना चाहिए—प्रश्नोत्तर में विनय की शैली हमें गणधर गौतम के व्यवहार से सीखनी चाहिए। वे प्रश्न करने से पूर्व प्रभु की वन्दना कर अनुमति लेते हैं, स्वीकृति प्राप्त कर अपना प्रश्न रखते हैं और समाधान पाकर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहते हैं—तहमेयं भन्ते ! प्रभु आपका कथन सत्य है, मैं इस पर श्रद्धा-विश्वास करता हूँ। और फिर विनय पूर्वक-वन्दना करके उठते हैं। प्रश्नोत्तर की यह बहुत ही सुन्दर शैली है, इसी शैली का अनुसरण कर हमें अपनी जिज्ञासाओं का समाधान प्राप्त करना चाहिए। वास्तव में तो जिज्ञासा पूर्वक एवं विनय पूर्वक पूछना—वही पृच्छना स्वाध्याय है। अविनय पूर्वक, या ऊट-पटांग प्रश्न करना स्वाध्याय नहीं है।

३ परिवर्तना—पड़े हुए ज्ञान का, कंठस्थ किये हुए तत्व, प्रतीक आदि

शुद्ध विचार का ज्ञान प्राप्त हो, और आचार दृढ़ हो। स्व-दर्शन के बाद अन्य दर्शनों के ग्रन्थों का भी अवलोकन करना चाहिए, इससे दर्शनों व धर्मों का तुलनात्मक ज्ञान होगा, सत्य-असत्य की सूक्ष्म पहचान भी होगी और स्व-दर्शन की आस्था अधिक दृढ़ होगी। इसी क्रम से ग्रन्थों को पढ़ने का चुनाव करना चाहिए। एक विद्वान ने भी इस विषय में कहा है—

पहले वह पढ़ो, जो आवश्यक हों,

फिर वह पढ़ो, जो उपयोगी हों,

उसके बाद वह पढ़ो, जिससे ज्ञान बढ़ता हो,

२. पूछना— पढ़ते समय बहुत से प्रकरण, बहुत सी बातें ऐसी भी आती हैं जो पाठक की समझ में नहीं आए। अथवा उसमें कई प्रकार की शंकाएं उठने लगे—तब अपने गुरु जनों के पास, अथवा जो अधिक ज्ञानी हैं उनके पास विनयपूर्वक पूछना और उनसे समाधान प्राप्त करना यह पूछना स्वाध्याय है।

पूछना—पूछना स्वाध्याय व ज्ञानप्राप्ति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। क्योंकि शंका व जिज्ञासा होना तो मनुष्य मात्र का सहज स्वभाव है। जब तक केवलज्ञान प्राप्त न होगा शंका एवं जिज्ञासा तो उठती ही रहेगी और उठनी ही चाहिए। शंका दो को ही नहीं होती—या तो सर्वज्ञ को, या सर्वथा जड़बुद्धि को। जिसमें थोड़ा भी ज्ञान का स्फुरण होगा—विचारों की हलचल होगी उसे संशय, शंका, जिज्ञासा अवश्य होगी। संशय कोई बुरा नहीं है। आगमों में स्थान-स्थान पर आता है—गीतम स्वामी ने अमुक बात सुनी, अमुक बात देखी—वस मन संशय से, जिज्ञासा से आन्दोलित हो उठा—जाय संसए, जायसड्डे जाय कोउहल्ले—ये शब्द जैन सूत्रों में सैकड़ों बार आये हैं और यह सूचित करते हैं कि संशय, जिज्ञासा—जीवित मस्तिष्क का चिह्न है, प्रबुद्ध ज्ञान चेतना का लक्षण है। गीता में इसीलिए तो कहा है—

न संशय मनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति

संशय किये बिना—मनुष्य अनेक अच्छी-अच्छी बातें देख नहीं पाता। यदि गीतम स्वामी जिज्ञासा करके भगवान से प्रश्न नहीं पूछते तो क्या आज जैन

द्वारा पढ़ा जाता है और उनकी स्तुति-प्रार्थना में तन्मय होकर साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है।

मन को स्थिर व तन्मय बनाने के लिए, अशुभ विचारों से हटाकर शुभ विचारों में लीन होने के लिए जो जप किया जाता है—वह बीतराग साधना है, निष्काम जप है। और किसी कामना व सिद्धि के लिए इष्टदेव का जप करना सराग-साधना है, सकाम जप है।

जप करने की विधि के अनुसार उसके तीन भेद और भी है—

१. मानस जप—मंत्र, पाठ, स्तोत्र आदि का चिन्तन करते समय मन-ही-मन अक्षरों व पदों की आवृत्ति करना—मानस जप है। मानस जप में शब्द होठों पर नहीं आने चाहिए, सिर्फ मन के भीतर ही उसकी ध्वनि उठे और वहीं विलीन हो जाय—मन उसी में रमता चला जाय—उस दशा को मानस जप कहा जाता है। यह सबसे श्रेष्ठ जप विधि है।

२. उपांशुजप—मंत्र आदि की ध्वनि भीतर से उठकर होठों तक आकर टकराती है, जीभ भी स्पंदित होती है, हिलती है, किन्तु शब्द होठों से बाहर निकल कर किसी दूसरे को सुनाई नहीं देते, सिर्फ उस मंत्र की ध्वनि अपने कानों तक ही पहुंच पाय—इतनी धीमी आवाज से पाठ करना—उपांशु जप है। यह जप की द्वितीय विधि है।

३. भाष्य जप—शब्दों व मंत्र-श्लोक आदि का खूब जोर-जोर से उच्चारण किया जाता है। यह एक प्रकार का सामूहिक रूप ले लेता है, जैसे प्रार्थना आदि सब लोग मिलकर गाते हैं, स्तोत्र आदि उच्च स्वर से सुनाये जाते हैं। जप के विशेष अभ्यासी आचार्यों का कथन है—भाष्य जप साधारण श्रेणी का जप है। उपांशु जप में इससे सौगुना फल मिलता है तथा मानस जप में हजार गुना।

जप में द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव का भी बहुत विचार किया जाता है। जप करते समय सादे व स्वच्छ वेश में रहना चाहिए, सूत की या लकड़ी की माला रखना चाहिए, स्वच्छ और शांत स्थान में बैठना चाहिए। प्रातःकाल का या संध्याकाल का उपयुक्त समय होना चाहिए, शरीर चिन्ताओं से निवृत्त

को स्मृति में स्थिर रखने के लिए बार-बार दुहराना, पुनरावर्तन करना—परिवर्तना है।

याद करके, उसे पुनः दुहराया नहीं जाय, सीखा हुआ पाठ यदि बार-बार पलटा नहीं जाय—तो धीरे-धीरे वह स्मृति से मिट जाता है, धुंधला होकर विस्मृत-सा हो जाता है। रटा हुआ ज्ञान यदि दुहराया न जाय तो भूला जाता है। एक कहावत है—

पान सड़ै, घोड़ा अड़ै विद्या बीसर जाय।

तबै पर रोटी जलै कहो चेला किण न्याय !

गुरु जी ! फेरया नांय !

पान को रखकर यदि पलटा नहीं जाय तो वह पड़ा-पड़ा सड़ जाता है। घोड़े को यदि घुमाया नहीं जाय तो वह खड़ा-खड़ा अड़ जाता है, विना घूमे घोड़ा अकड़ जाता है। तबे पर रोटी सेकने को डाल दी लेकिन डालकर फिर पलटी नहीं, तो एक तरफ पड़ी-पड़ी रोटी जल कर कोयला बन जायेगी, वैसे ही विद्या रटकर याद तो कर ली, लेकिन फिर कभी चितारा नहीं, उसका पुनरावर्तन नहीं किया तो वह भी भूली जाती है। इसलिए इन सबको 'फेरना', पढ़ना है, यह फेरना ही परिवर्तना है।

परिवर्तना से ज्ञान स्थिर होता है, सीखी हुई विद्या अधिक मजबूत होती है। ज्ञान को जितना अधिक दुहराया जायेगा वह उतना ही अधिक स्थिर होगा एवं सुतीक्ष्ण भी होगा।

जप का स्वरूप

मंत्र का जप करना, पाठ करना, स्तोत्र आदि पढ़ना—यह सब भी परिवर्तना स्वाध्याय के अन्तर्गत आते हैं। क्योंकि जप आदि में मंत्र-पाठ आदि का बार-बार चिन्तन करना होता है, स्मरण होता है, अतः यह भी परिवर्तना ही है।

जप के दो प्रमुख उद्देश्य होते हैं—१. मन को स्थिर करने के लिए तथा २. इष्ट कार्य की सिद्धि के लिए। दोनों ही लक्ष्यों के लिए जप में इष्टदेव का स्मरण किया जाता है। उनके नामाक्षरों को विशिष्ट मंत्रों द्वारा, स्तोत्रों

जेठो न परियाएण तो बन्दे—' शास्त्र का प्रवचन करने वाला बड़ा है, दीक्षा पर्याय मात्र से कोई बड़ा नहीं होता है । अतः पर्याय ज्येष्ठ भी अपने कनिष्ठ किन्तु शास्त्र के व्याख्याता को नमस्कार करें—यह आचार्य भद्रबाहु का कथन है, जिसमें धर्म कथा करने वाले की ज्येष्ठता बताई गई है ।

चार प्रकार की धर्मकथा

धर्म कथा के चार भेद बताये गये हैं—

आक्षेपणी—स्याद्वाद-ध्वनि से युक्त अपने सिद्धान्तों का मंडन करने वाली तथा उपदेश आदि आक्षेपणी कथा कहलाते हैं ।

विक्षेपणी—अपने सिद्धान्त के मंडन के साथ दूसरे सिद्धान्त में रहे हुए दोषों का वर्णन कर स्व-सिद्धान्त में दृढ़निष्ठा पैदा कराने वाली विक्षेपणी कथा है । स्व-सिद्धान्त का ज्ञाता होना सरल है, पर-सिद्धान्त का ज्ञाता होना कठिन है, उसमें भी पर सिद्धान्त का खण्डन करना और भी कठिन है । क्यों कि दूसरे मत के खण्डन करने से परस्पर द्वेष, ईर्ष्या आदि बढ़ने की संभावना रहती है, साधारण सी बात पर भी लोग वक्ता को उलटे 'तिदक' कहने लग जाते हैं, इस कथा का प्रवचन करते समय वक्ता को बहुत ही कुशलता, दयाता एवं विवेकशीलता रखनी होती है ताकि श्रोताओं पर प्रवचन का सुन्दर प्रभाव पड़े ! और दूसरों में भी द्वेष न फैले ।

संवेगनी—कर्मों के विपाक फलों की विरसता बताकर संसार से वैराग्य उत्पन्न करने वाली कथा संवेगनी है ।

निर्वेदनी—हिंसा-असत्य आदि के कटुफल बताकर अहिंसा सत्य, ब्रह्मचर्य का उपदेश देकर व्यक्ति को त्याग मार्ग की ओर मोड़ने वाली कथा निर्वेदनी है ।

इस प्रकार स्वाध्याय के ये पांच भेद बताये हैं । इनके आधार पर साधक अपना जीवन अधिक से अधिक स्वाध्याय तप में लगाकर श्रुत को आराधना करता है, ज्ञान की उपासना करता है, इससे ज्ञान का दिव्य प्रकाश प्राप्त करता हुआ जीवन को सकल बनाता है ।

होकर स्थिर आसन से बैठना चाहिए तथा मन को अपने इष्ट देव में लगा देना चाहिए। मंत्र उच्चारण करते समय उसके अर्थ का चिन्तन करने से, इष्टदेव के स्वरूप का ध्यान करने से मन स्थिर हो जाता है। जिसका विस्तृत वर्णन ध्यान प्रकरण में किया गया है। इन सब बातों का विचार कर जप करना चाहिए। जप में माला, स्तोत्र पाठ, लोगस का ध्यान, नवकार मंत्र का स्मरण तथा अन्य इष्ट मंत्रों का स्मरण किया जाता है। यह सब परिवर्तना—स्वाध्याय है। ध्यान के भेदों में भी इसे धर्म ध्यान के स्वरूप में बताया गया है।

४ अनुप्रेक्षा—तत्त्व के अर्थ व रहस्य पर विस्तार के साथ गम्भीर चिन्तन करना। अनुप्रेक्षा में एक प्रकार का चिन्तन प्रारम्भ किया जाता है, फिर उसी सूत्र को पकड़कर धीरे-धीरे आगे बढ़ा जाता है और उससे सम्बन्धित विषयों पर चिन्तन चलता जाता है। अनुप्रेक्षा—एक प्रकार की सीढ़ियां हैं—जो तन्मयता के महल पर चढ़ने के लिए एक से दूसरी सीढ़ी, दूसरी से तीसरी सीढ़ी पर चढ़ते हुए आगे से आगे ऊँचाई पर पहुँचा जाता है। इसका विशेष वर्णन ध्यान के संदर्भ में किया गया है। क्योंकि अनुप्रेक्षा में एक प्रकार की ध्यान की स्थिति ही आ जाती है।

धर्मकथा भी स्वाध्याय है

५ धर्मकथा—स्वाध्याय का यह पाँचवा भेद है। पढ़ा हुआ, चिन्तन मनन किया हुआ तथा अनुभव से प्राप्त किया हुआ श्रुत जब लोककल्याण की भावना से शब्दों द्वारा प्रकट कर दूसरों को समझाया जाता है तब वह तत्त्व कथन—धर्म कथा कहलाता है। इसे ही प्रवचन, उपदेश, व्याख्यान आदि कहा जाता है।

धर्म कथा को पाँचवे स्थान पर रखने का एक कारण यह भी है कि साधारण ज्ञानी कभी प्रवक्ता व उपदेशक नहीं बन सकता। इसके लिए बहुत अध्ययन, अनुभव और स्व-मत तथा पर-मत का प्रामाणिक ज्ञान होना चाहिए। मन निर्भीक होना चाहिए, तथा वाणी में शिष्टता, मधुरता आदि गुण होने चाहिए। प्रवचन करने वाला धर्म में ज्येष्ठ माना जाता है—भासंतो होइ

सकता है, धूएँ को भी बाँधा जा सकता है। देवता और इन्द्र आदि को भी अपने अधीन किया जा सकता है किंतु मन को काबू में करना बहुत कठिन है। बहुत ही मुश्किल है। गणधर गीतम ने इसे दुस्साहसिक दुष्ट अश्व कहा है जो अनियंत्रित दौड़ लगा रहा है और श्रीकृष्ण ने इसके निग्रह को वायु को पकड़ने से भी अधिक कठिन बताया है। संसार के बड़े-बड़े योद्धा मन से हार गये हैं और मन को वश में करने का मार्ग खोजते आये हैं। आज भी लोग पूछते हैं—“महाराज ! इस मन को वश में कैसे करें ? सामायिक करते हैं, स्वाध्याय करते हैं, पूजा करते हैं किन्तु मन तो दुनियाँ भर में भटकता रहता है। इस को एकाग्र करने का क्या उपाय है ?”

मानसिक एकाग्रता का साधन

वास्तव में साधना में जब तक मन एकाग्र नहीं होता तब तक आनन्द नहीं आता। क्योंकि बाहर में जब मन की दौड़धूप रुकेगी तभी भीतर में शांति की, आनन्द की हिलोर उठेगी। तो आज हमें इसी बात पर विचार करना है कि तपस्या के विविध अंगों की साधना-आराधना में मन को वश में करने की क्या विधि है ! मन को वश में करने की विधि पर विचार करते हैं तो गीता का यह सूत्र हमारे सामने आ जाता है—

अभ्यासेन तु कीन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते ।^१

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह मन दो प्रकार से वश में किया जा सकता है अभ्यास के द्वारा और वैराग्य के द्वारा। अभ्यास का अर्थ है एकाग्रता की साधना और वैराग्य का अर्थ है—विषयों के प्रति विरक्ति। एकाग्रता के अभ्यास व विषय-विरक्ति के द्वारा मन को काबू में किया जा सकता है।

भगवान् महावीर से भी जब मन को स्थिर करने का उपाय पूछा गया तो उन्होंने दो उपाय बताये हैं—सज्ज्ञाप ज्ञाण संजुत्ते^२ स्वाध्याय और ध्यान से युक्त मुनि अपने मन को स्थिर रख सकते हैं। स्वाध्याय और ध्यान—ये

१ भगवद् गीता ६।३५

२ उत्तराध्यायन

ध्यान-तप

चंचल मन

योगीराज आनन्दघनजी ने भगवान की स्तुति करते हुए कहा है—
प्रभो ! मैं आपके चरणों में मन को लगाना चाहता हूँ जैसे भंवरा फूलों के
रस में लीन हो जाता है वैसे ही मैं मन को आपके चरणों में लीन कर देना
चाहता हूँ किन्तु यह मन बड़ा चंचल है, आपके चरणों में क्षण भर ठहरता
है और फिर भाग जाता है। वश में आता ही नहीं। मैंने तो समझा—

मैं जाय्युं ए लिंग नपुंसक सकल मरवने ठेले ।

बीजी धाते समरथ वे नर एह न कोई न झेले ।

कुंथु जितवर रे ! मनहुं किम ही न भूसे ।

यह मन नपुंसक है। (संस्कृत में मनस् शब्द को नपुंसक लिंगी माना है।)
और मैं मर्द हूँ, समर्थ पुरुष हूँ इसको शीघ्र ही हराकर अपने अधीन कर
लूँगा ! पर यह नपुंसक तो ऐसा जवर्दस्त निकला कि बड़े-बड़े समर्थ मनुष्यों
को भी धूल चटा देता है। वीरों को भी भटका देता है और कैसे भी वश में
नहीं आता ।

वास्तव में मन की ऐसी ही स्थिति है। पवन को पकड़ कर रखा जा

ध्यान और वैराग्य रूप लाठी यदि हाथ में रहेगी तो दुर्विचार दूर से ही हट जायेंगे पास में नहीं फटक सकेंगे और वे हृदय को अपवित्र व चंचल नहीं बना सकेंगे !

तो स्वाध्याय और ध्यान की लट्टी से दुर्विचार व विकल्प दूर भग जाते हैं और मन स्थिर व पवित्र बना रहता है। स्वाध्याय के विषय में पिछले प्रकरण में काफी प्रकाश डाला जा चुका है यहां ध्यान के सम्बन्ध में ही विशेष विचार करना है।

ध्यान की परिभाषा

मन की एकाग्र अवस्था का नाम ध्यान है। विचारकों ने मन के कई भेद बताये हैं—कोई मन पागल के जैसे इधर-उधर भटकता रहता है—वह विक्षिप्त मन कहलाता है। कोई मन विषयों की भाग दौड़ में कभी स्थिर होता है कभी चंचल होता है—उसे यातायात मन कहते हैं। विषयों से हटकर मन कभी-कभी थोड़ा सा स्थिर भी हो जाता है किन्तु उसमें शांति नहीं रहती वह श्लिष्ट मन कहलाता है तथा जो मन प्रभु भक्ति में, आत्मचिंतन में एवं सद् शास्त्रों के स्वाध्याय मनन में निर्मल एवं स्थिर बन जाता है उसे सुलीन मन कहा गया है। सुलीन मन ही वास्तव में ध्यान का अधिकारी बन सकता है।

ध्यान का सीधा सा अर्थ है—मन की एकाग्रता ! आचार्य हेमचन्द्र ने बताया है—ध्यानं तु विषये तस्मिन्नेकप्रत्ययसंततिः^१ अपने विषय में (ध्येय में) मन का एकाग्र हो जाना ध्यान है। आचार्य भद्रबाहु ने भी यही बात कही है—चित्तस्तेगमया हृदयं शानं—^२ चित्त को किसी भी विषय पर स्थिर करना, एकाग्र करना ध्यान है। साधारण बोलचाल की भाषा में भी हम कहते हैं—‘इस पर ध्यान दो। आपका ध्यान किधर है?’ इन शब्दों से यही भाव प्रकट किया जाता है कि आपके मन का झुकाव, मन का लगाव किधर है ! मन जहां भी, जिस विषय में लग गया वहां वह जब तक स्थिर

१ अभिधानचिंतामणि कोष १।८४

२ भावश्यक नियुक्ति १४५६

दोनों ही मन को एकाग्र करने के अमोघ साधन हैं। मन में जब-जब दुर्विचार और विकल्प आयें तब-तब स्वाध्याय में जुट जाय, ध्यान करने का अभ्यास करें तो मन उन दुर्विचारों से हटकर सद्विचारों में स्थिर हो सकता है। पुराने संत एक कहानी सुनाया करते हैं —

एक वेदान्ती ब्राह्मण था। छूआछूत का बहुत ही विचार रखता था। खास कर भोजन के समय यदि कोई उसके चौके को छू देता तो वह समूचा भोजन फेंक देता और या तो दिन भर भूखा रहता या फिर दूसरा भोजन बनाकर खाता। उसके कुछ मित्र थे जिनको वह कभी चौका छूने नहीं देता। उनकी छाया भी चौके में नहीं पड़ने देता। एक बार उन मित्रों ने ब्राह्मण की यह छूआछूत छुड़ाने के लिए उसे परेशान करना शुरू किया। जैसे ही वह खाना पकाकर हाथ मुंह धोकर खाना खाने बैठता, उनमें से एक मित्र आकर पूछता—पंडितजी आज क्या बनाया है? देखें जरा हमें भी चखाओ और वह जवर्दस्ती चौके में घुसकर चौका भ्रष्ट कर देता। पंडितजी मन-ही-मन बड़बड़ाते रहते और विचारे दिन भर भूखे मरते। कई दिनों तक ऐसा ही होता रहा। पंडितजी परेशान हो गये। आखिर एक दिन उन्होंने किसी अनुभवी व्यक्ति से अपनी परेशानी बताई तो उसने एक उपाय बताया।

दूसरे दिन पंडित जी ने खाना पकाकर हाथ मुंह धोये। एक बड़ी मोटी लट्टी लेकर चौके में खाना खाने बैठे। रोज के अनुसार वह मित्र चौका छूने आने लगा तो पंडित जी ने लाठी हिलानी शुरू की—दूर रहो! खाना खा रहा हूँ। लाठी देखकर मित्र वहीं रुक गया। वस, पंडित जी एक हाथ से लाठी हिलाते गये और एक हाथ से खाना खाते गये। दोस्तों ने आज चौका भ्रष्ट करने की हिम्मत नहीं की। पंडित जी ने खूब आनन्द के साथ भोजन कर लिया!

कहानी का सार यह है कि ब्राह्मण की तरह यह आत्मा है। पुराने दोस्तों की तरह काम, क्रोध, लोभ आदि दुर्विचार हैं। जब यह आत्मा भजन स्मरण रूप भोजन करने बैठता है तो दुर्विचार आकर उसके हृदय रूप चौके को अशुद्ध कर देते हैं, फलस्वरूप भोजन रुक जाता है। अब यदि ज्ञान, विवेक

कारण ध्यान के भी दो भेद किये गये हैं शुभ-प्रणस्त ध्यान और अशुभ—अप्रणस्त ध्यान ! अशुभ ध्यान दो प्रकार का है और शुभ ध्यान भी दो प्रकार का है—इस तरह ध्यान के कुल चार भेद हो गए । शास्त्र में बताया है—

चत्तारि ज्ञाणा पणत्ता तं जहा—

अद्वे ज्ञाणे, रोद्वे ज्ञाणे, धम्मे ज्ञाणे सुक्के ज्ञाणे ।^१

ध्यान के चार प्रकार कहे हैं—आर्त ध्यान, रोद्र ध्यान, धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान !

यद्यपि मूल आगमों में और प्राचीन आचार्यों ने इन अशुभ ध्यानों को भी 'ध्यान' की संज्ञा दी है, और वह इसीलिए कि वह भी मन की एकाग्र दशा तो है ही । बिल्ली चूहे पर, बगुला मछली पर और छिपकली कीड़ों मच्छरों पर कितनी दत्तचित्त होकर घात लगाए बैठती है, मन में पाप है, क्रूरता है, किन्तु एकाग्रता तो होती ही है—इस कारण वह भी 'ध्यान' माना है, हां, वह अशुभ ध्यान है । किन्तु बाद के कुछ आचार्यों ने तो अशुभ ध्यानों को 'ध्यान' के पद से ही हटा दिया है । उनका कहना है, 'ध्यान' जैसे पवित्र शब्द को इन अशुभविचारों के लिए प्रयोग ही क्यों किया जाय ? इसलिए आचार्य सिद्धसेन ने ध्यान की परिभाषा भी यही कर दी—शुभैकप्रत्ययो ध्यानम्^२ शुभ और पवित्र आलम्बन पर एकाग्र होना ध्यान है ।

कुछ लोग कहते हैं—ध्यान में मन को रोक दिया जाता है, किन्तु साधारण साधक के लिए मन को रोक पाना बहुत कठिन है । मन गतिशील है, वह कभी बहिर्मुखी होकर दीड़ता है और कभी अन्तर्मुखी हो जाता है । उसकी गति का कुछ न कुछ आलम्बन होता है । जब किसी बुरी वस्तु को देखता है तो उसी के आधार पर वह अशुभ विचार करने लगता है, विचारों में जब गहरा लीन हो जाता है तो वह अशुभ ध्यान करने लगता है, यदि आलम्बन अच्छा व शुभ मिल जाय, कोई भव्य व श्रेष्ठ वस्तु पर मन टिक जाय तो विचार भी शुभ हो जाते हैं, विचारों की लीनता बढ़ती है तो शुभ ध्यान हो

१ स्यानांग सूत्र ४

२ आश्विनश्रुद् आश्विनिका १=११

रहता है तब तक उस विषय का 'ध्यान' होता है। इसलिए 'ध्यान' का प्रथम अर्थ है—मन का एक विषय में स्थिर होना।

ध्यान की दो धाराएँ

प्रश्न हो सकता है—मन का किसी विषय में स्थिर होना ही यदि ध्यान है तो फिर तो कोई कामी पुरुष यदि किसी स्त्री के रूप पर आसक्त होकर उसी का चिंतन करता हो, लोभी धन कमाने की योजना में ही मशगूल बना हो और कोई हत्यारा, चोर, पड़यन्त्रकारी अपनी स्कीम जमाने में यदि गहरा चिंतन करता हो तो वह भी एक विचार में लीन होता है क्या उसे भी ध्यान कहा जायेगा ?

इसका उत्तर 'हां' में ही मिलेगा। वह पापात्मक चिंतन भी 'ध्यान' तो है ही। और इसीलिए आचार्यों ने 'ध्यान' के दो भेद किये हैं—शुभ ध्यान और अशुभ ध्यान ! जैसे एक गाय का दूध, और एक थूहर का ! दूध तो दोनों ही सफेद है और दोनों को ही दूध कहा जाता है, पर दोनों में अन्तर कितना है—एक जहर है एक अमृत ! एक (थूहर का) दूध मार डालता है—एक (गाय का) दूध जीवनी शक्ति देता है। इसी प्रकार ध्यान-ध्यान में अन्तर है। एक ध्यान शुभ होता है एक ध्यान अशुभ ! शुभ ध्यान मोक्ष का हेतु है, और अशुभ ध्यान नरक का।

मन की गति जब वहिर्मुखी होती है—विषयों में, धन, परिवार आदि की चिन्ता में, मोह और लोभ में तथा क्रूरता विषयक हिंसा-प्रधान विचारों में जब वह खोया रहता है तो उसकी धारा नीचे की ओर बहती है, अशुभ की ओर चलती है। और जब मन पवित्र विचारों से भरा होता है, दया, करुणा, कोमलता, भक्ति, विनय एवं आत्मस्वरूप का चिंतन करता हुआ अन्तर्मुखी होता है, तो उसकी धारा भी ऊर्ध्वमुखी होती है, वह शुभ की ओर गति करता रहता है।

चित्त रूप नदी की दो धाराएँ हैं—चित्तनाम नदी उभयतो वाहिनी, वहति कल्याणाय पापाय च चित्त नाम की नदी दोनों ओर बहती है, कभी कल्याण की ओर और कभी पाप की ओर ! चित्त की उभयमुखी गति के

कारणों का वर्गीकरण करते हुए आतंघ्यान के चार कारण एवं चार लक्षण बताये गये हैं। चार कारण ये हैं—

१ अमणुन्न संपओग—अमनोज्ञ संप्रयोग—अप्रिय, अनचाही वस्तु का संयोग होने पर उससे पिंड छुड़ाने की चिंता करना कि कब यह वस्तु दूर हटे। जैसे भयंकर गर्मी हो, कड़कड़ाती सर्दी हो तब उससे छुटकारा पाने के लिए तड़पना। किसी दुष्ट या अप्रिय आदमी का साथ हो जाये तो यह चाहना कि कैसे यह मेरा पल्ला छोड़े—इन विषयों की चिन्ता जब गहरी हो जाती है वह मन को कचोटने लगती है, और मनुष्य भीतर में बहुत ही दुःख, और क्षोभ एवं व्याकुलता अनुभव करने लगता है। यही गहरी व्याकुलता अमनोज्ञ संप्रयोग-जनित है, अर्थात् अनिष्ट के संयोग से यह चिंता उत्पन्न होती है तथा अमनोज्ञ-वियोग-चिन्ता अर्थात् अनिष्ट संयोग को दूर करने की तीव्र लालसा रूप आतं घ्यान का प्रथम कारण है।

२ मणुन्न संपओग—मनोज्ञ संप्रयोग—मन चाही वस्तु मिलने पर, जो प्रसन्नता व आनन्द आता है, वह उस वस्तु का वियोग होने पर विलीन हो जाता है, और आनन्द से अधिक दुःख व पीड़ा अनुभव होने लगती है। प्रिय का वियोग होने पर मन में जो शोक की गहरी घटा उमड़ती है वह मनुष्य को बहुत बड़ा सदमा पहुँचाती है, उससे दिल को गहरी चोट लगती है और आदमी पागल जैसा हो जाता है। अप्रिय वस्तु के संयोग से जितनी चिन्ता होती है प्रिय के वियोग में उससे भी अधिक चिन्ता व शोक की कसक उठती है। आतं घ्यान का यह दूसरा कारण है—मनोज्ञ वस्तु के वियोग की चिंता।

३ आयंक सम्पओग—आतंकसंप्रयोग—आतंक नाम है रोग का, बीमारी का। रोग हो जाने पर मनुष्य उसकी पीड़ा से व्यथित हो जाता है और उसे दूर करने के विविध उपाय सोचने लगता है। रोगी कभी-कभी पीड़ा से व्यथित होकर आत्महत्या तक भी कर लेता है। रोग मिटाने के लिए भी वह बड़े से बड़ा पाप व हिंसा आदि करने की भी सोचने लग जाता है—यह रोगचिंता—आतं घ्यान का तीसरा कारण है।

४ परिजुसिय काम-भोग संपओग—प्राप्त काम-भोग संप्रयोग—अर्थात् काम, भोग आदि की जो सामग्री, जो साधन उपलब्ध हुए हैं, उनको स्थिर

जाता है। इसलिए यह बताया गया है कि शुभ व पवित्र आलम्बन पर मन जब स्थिर होता है, तो वह ध्यान या शुभध्यान ध्याने लगता है। वास्तव में ध्यान का अर्थ यही है कि अशुभ विचार प्रवाह को रोक कर शुभ की ओर मोड़ देना और शुभ में ही बढ़ते जाना। मन की अन्तर्मुखता, अन्तरलीनता यह शुभ ध्यान है। मन अधिक समय तक न अशुभ में स्थिर रहता है और न शुभ में। उसमें प्रवाह की भांति चंचलता होती है, वह चंचलता कुछ समय के लिए रुक सकती है। जैन आचार्यों ने बताया है - मुहुर्तान्तर्मनः स्थिरं ध्यानं छद्मस्थ योगिनाम्^१—छद्मस्थ साधक का मन अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त भर (४७ मिनट) तक एक विषय में एक आलम्बन पर स्थिर रह सकता है। इससे अधिक समय स्थिर रहने की शक्ति उसमें नहीं होती है, और यदि इससे अधिक समय भी मन एक आलम्बन पर स्थिर रह जाय तो समझ लो फिर वीतराग दशा प्राप्त हो गई, फिर मन की चंचलता समाप्त है, एक रूप से मन ही वहां समाप्त हो जाता है, अर्थात् मन को पूर्ण रूप से जीत लिया जाता है, किन्तु छद्मस्थ साधक जब तक मन पर पूर्ण विजय नहीं कर पाता वह एक मुहूर्त से कम ही अपने मन को एक विषय पर स्थिर रख सकता है, उसके बाद विषय व आलम्बन बदल जाते हैं, हां शुभ ध्यान का प्रवाह तो जरूर चलता रहता है, किन्तु मन की निष्पंदता टूट जाती है।

आर्तध्यान का स्वरूप व लक्षण

चार ध्यानों में दो ध्यान अशुभ माने गये हैं—आर्तध्यान एवं रौद्रध्यान ! आर्त का अर्थ है—दुःख, पीड़ा, चिन्ता शोक आदि से सम्बन्धित भावना। जब भावना में दीनता, मन में उदासीनता, निराशा एवं रोग आदि से व्याकुलता, अप्रिय वस्तु के वियोग से क्षोभ तथा प्रिय वस्तु के वियोग से शोक आदि के संकल्प मन में उठते हैं तब मन की स्थिति बड़ी दयनीय एवं अशुभ हो जाती है। इस प्रकार के विचार जब मन में गहरे जम जाते हैं और मन उनमें खो जाता है, चिन्ता-शोक के समुद्र में डूब जाता है तब वह आर्तध्यान की कोटि में पहुँच जाता है। ये विचार कई कारणों से जन्म लेते हैं उन

है। दुखी व्यक्ति जब अपना दुःख दूर होता नहीं देखता है, दूसरों की सहानुभूति और सहयोग की जगह अपमान एवं प्रताड़ना पाता है तो वह प्रायः आक्रामक हो जाता है। हिन्दी में कहावत है - भीगी बिल्ली खम्भा नोचि— अर्थात् असहाय व्यक्ति, हारा हुआ आदमी किसी अन्य रूप में अपना रोष प्रकट करता है, उस रोष व जोश में दीनता की जगह क्रूरता व हिंसक आक्रमण की भावनाएं भड़क उठती हैं—यही आक्रामक भावना जब तक भावना में रहती है, चिन्तन में रहती है तब तक वह रौद्र ध्यान होता है, और जब आचरण में आ जाती है तो व्यक्ति को रौद्र आचरण वाला बना देती है। रौद्र ध्यान की उत्पत्ति जिन चार कारणों से होती है उनका वर्णन करते हुए शास्त्र में कहा गया है—

१ हिंसाणुबंधी—हिंसानुबंधी—किसी को मारने, पीटने या हत्या आदि करने के सम्बन्ध में चिन्तन करना, गुप्त योजनाएं बनाने के लिए गहरा विचारलीन होना - हिंसानुबंधी रौद्र ध्यान है।

२ मोसाणुबंधी—मृपानुबंधी—दूसरों को ठगने, धोखा देने, छल प्रपंच करने सम्बन्धी चिन्तन करना तथा सत्य तथ्यों का अर्थ बदलकर लोगों को गुमराह करने सम्बन्धी चिन्तन—अर्थात् झूठ फरेब का चिन्तन मृपानुबंधी रौद्र ध्यान है।

३ तेयाणुबंधी—स्तेनानुबंधी चोरी, लूट, खसोट आदि के उपायों व उनके साधनों पर विचार करना चोरी के नये-नये रास्ते सोचते रहना। कैसे उसको छिपाना आदि ये सब चिन्तन करना स्तेनानुबंधी रौद्र ध्यान है।

४ सारक्खणानुबंधी—संरक्षणानुबंधी—जो धन, वैभव, पद, अधिकार प्रतिष्ठा आदि साधन एवं भोग विलास की सामग्री प्राप्त हुई है—उसके संरक्षण की चिन्ता करना—कैसे हमारा धन आदि सुरक्षित रहे, कैसे यह कुर्सी तथा अधिकार मिले तथा बने रहे इस प्रकार संरक्षण संबंधी चिन्तन करना तथा उसके मुक्त-भोग में जो कोई बाधा पहुंचाए उसकी हत्या आदि करके अपने सुख व भोगों का रास्ता निष्कटंक करने सम्बन्धी चिन्तन विचार व चिन्तन हैं वे इस संरक्षणानुबंधी रौद्र ध्यान में आ जाते हैं।

रखने की चिंता, कि कहीं ये छूट न जाय और भविष्य में उन्हें बनाये रखने की चिन्ता, तथा अगले जन्म में भी वे काम-भोग कैसे प्राप्त हों ताकि मैं वहाँ भी सुख व आनन्द छूट सकूँ— इस प्रकार का चिन्तन, चिन्ता और भविष्य की आकुलता, आर्त ध्यान का चौथा कारण है। इस आर्त ध्यान में भविष्य चिन्ता की प्रमुखता रहती है अतः इसे निदान भी माना गया है, जिसके सम्बन्ध में प्रथम खण्ड के “तप का पलिसंयु—निदान” शीर्षक से विचार किया गया है।

जो आत्मा आर्त ध्यान करता है—उसकी आकृति बड़ी दीन-हीन, मुझर्झि हुई, शोकसंतप्त तो रहती ही है, किन्तु कभी-कभी तो यह चिन्ता एवं व्याकुलता सीमा भी लांघ जाती है। रोना, छाती व सिर पीटना आदि तक पहुँच जाती है। आर्त ध्यान वाले की स्थिति का दिग्दर्शन कराने के लिए उसके चार लक्षण बताये गये हैं—

अट्टस्स णं क्षाणस्स चत्तारि लक्खणा

कंदणया, सोयणयाः तिप्पणया, परिदेवणया ।^१

१ क्रन्दनता—रोना, विलाप करना, चिल्लाना।

२ शोचनता—शोक करना, चिन्ता करना।

३ तिप्पणता—आंसू बहाना,

४ परिदेवता—हृदय को आघात पहुँचाए ऐसा शोक करना, गहरी उदासी, विलखना, तथा दुःख-विह्वल होकर सिर छाती आदि पीटना। ये चारों ही लक्षण मन की दुःखित एवं व्यथित दशा के सूचक हैं।

इन लक्षणों से पहचाना जा सकता है कि यह व्यक्ति दुःखी, आर्त एवं चिन्ता ग्रस्त है।

क्रूरता प्रधान—रोद्र ध्यान

आर्त ध्यान में जहाँ दीनता-हीनता एवं शोक की प्रबलता रहती है वहाँ रोद्र ध्यान में क्रूरता, एवं हिंसक भावों की प्रधानता होती है। आर्त ध्यान प्रायः आत्मघाती ही होता है, रोद्र ध्यान आत्मघात के साथ पराघात भी करता

१ भगवती सूत्र २५।७ तथा स्यानांग ४।१ एवं उववाइ सूत्र

अशुभ की ओर बढ़ने वाली होती है, उससे आत्मा का पतन होता है। और जो चितन, जो एकाग्रता निम्न गति की ओर ले जाए वह कभी भी ग्राह्य नहीं। इसलिए भगवान महावीर ने कहा है—

अट्ट रुद्धाणि वज्जित्ता ज्ञाएज्जा सुसमाहिए ।

धम्म सुक्काइं ज्ञाणाइं ज्ञाणं तं तु बुहा वए ।^१

समाधि एवं शांति की कामना रखनेवाला आर्त एवं रीढ़ ध्यान का त्याग करके धर्म एवं शुक्ल ध्यान का चितन करें। वास्तव में ये दो ध्यान ही ध्यान-तप कहे गये हैं।

इसका अभिप्राय है—ध्यान भले ही चार प्रकार के हों, किन्तु चारों ध्यान तप नहीं है, ध्यान तप की कोटि में तो सिर्फ दो ही ध्यान है—धर्म ध्यान एवं शुक्ल ध्यान।

धर्म का अर्थ है—आत्मा को पवित्र बनाने वाला तत्व। जिस आचरण से आत्मा की विशुद्धि होती है—उसे धर्म कहते हैं। उन वार्मिक विचारों में—आत्मशुद्धि के साधनों में मन को एकाग्र करना—अर्थात् पवित्र विचारों में मन को स्थिर करना धर्म ध्यान है।^१ वास्तविक दृष्टि से यह धर्म—एवं शुक्ल ध्यान ही आत्म-ध्यान है। आचार्यों ने बताया है कि आत्मा का, आत्मा के द्वारा, आत्मा के विषय में सोचना, चितन करना—यही ध्यान है, यही आत्म ध्यान है।^२ इन ध्यानो में आत्मा पर-वस्तु से हटकर स्व-लीन हो जाता है, अपने विषय में ही चितन करने लगता है और चितन करते-करते आत्मस्वरूप का दर्शन कर लेता है। इसी ध्यान रूप अग्नि के द्वारा आत्मा कर्म रूप काष्ठ को जलाकर भस्म करता है और अपना शुद्ध-बुद्ध सिद्ध-निरंजन स्वरूप प्राप्त कर लेता है—ध्यानानि दग्ध कर्मातु सिद्धात्मा स्यान्निरञ्जनः।^३

१ दशर्वकालिक अ. १ वृत्ति

२ तत्त्वानुगासन ७४

३ योगशास्त्र (आचार्य हेमचन्द्र)

रौद्र-ध्यान के भी चार-लक्षण हैं, जिनसे व्यक्ति के रौद्र-भावों की पहचान होती है।

१ ओसन्नदोसे—हिंसा, झूठ आदि किसी एक पाप कर्म में अत्यन्त आसक्त होकर सोचना।

२ बहुलदोसे—अनेक प्रकार के पापकारी दुष्ट विचारों में आसक्त हुए रहना।

३ अण्णाणदोसे—हिंसा आदि अधर्म कार्यों में धर्म बुद्धि रखकर उनमें (अज्ञान वश) आसक्त हुए रहना।

४ आमरणांतदोसे—मृत्यु तक मन में द्वेष और क्रूरता से भरे रहना। आखिरी समय में भी अपने पापों के प्रति पश्चात्ताप न करना किन्तु उनमें वैसा ही रौद्र एवं आसक्त हुए रहना।

रौद्र ध्यान वाला प्रायः दूसरों को कष्ट देने, उन्हें पीड़ा पहुँचाने तथा उनकी हिंसा करने की चिंता में घिरा रहता है। आर्तध्यान वाला अपनी आग से अपना ही घर जलाता है, किन्तु रौद्र ध्यान वाला अपना घर तो जलाता ही है, किन्तु दूसरों के घरों में भी आग लगा कर प्रसन्न होता है। दूसरों को रोते देख कर या रुलाकर अपने आँसू पोछना चाहता है।

आर्त एवं रौद्र—दोनों ही ध्यान छोड़े गुणस्थान तक रहते हैं^१ पुलाक लब्धि वाले मुनि जब क्रोधांध होकर चक्रवर्ती की विशाल सेना को मृतप्रायः कर डालते हैं, तथा तेजोलब्धि घर श्रमण सोलह देशों को अपने तेज से भस्मीभूत कर डालने को उतावले हो जाते हैं उस समय उनका चिंतन भी अत्यंत रुद्र होता है अतः उस वक्त उनमें भी रौद्र ध्यान आ जाता है। इन दोनों ध्यानों में मृत्यु होने से नरक व तिर्यच गति में ही उत्पत्ति होती है।

धर्मध्यान का स्वरूप

आर्त एवं रौद्र ध्यान को—सिर्फ इसलिये 'ध्यान' माना गया है कि उनमें भी चिंतन की एकाग्रता होती है, यद्यपि वह एकाग्रता अशुभमुखी—

१ कुछ आचार्यों ने रौद्र ध्यान पाचवें गुण स्थान तक माना है, देखें ध्यान शतक २५, ज्ञानार्णव २६।३६।

मार्ग पर तथा साथ ही उनके द्वारा निषिद्ध कार्यों पर चिंतन-मनन करना यह धर्म ध्यान का प्रथम भेद है—आज्ञाविचय ।

२ अपाय विचय—अपाय का अर्थ है—दोष या दुर्गुण ! आत्मा में अनादिकाल से पांच दोष छुपे हुए हैं—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कपाय एवं योग (अशुभ योग) इन दोषों के कारण ही आत्मा जन्म मरण के चक्र में भटकता है, दुःख, वेदना एवं पीड़ा प्राप्त करता है । इन दोषों के स्वरूप पर विचार करना, उनसे छुटकारा कैसे मिले, कैसे उनको कम किया जाय तथा किन-किस साधनों से उन दोषों की शुद्धि हो सकती है, इस विषय पर चिंतन करना अपाय विचय है । चिंतन करने से ही चिंता दूर होती है, विचार करने से ही विचार शुद्ध होता है—अतः दोषों के विषय में विचार करने का फल होगा दोषों से विमुक्ति ! तो यह धर्म ध्यान का दूसरा स्वरूप है ।

३ विपाक विचय—ऊपर जो पाँच दोष बताये हैं—वे ही कर्म बंधन के कारण हैं । क्योंकि वह पाँचों प्रमाद है और प्रमाद ही वास्तव में कर्मबंध का हेतु होने से स्वयं भी कर्मरूप है—पमायं कम्म माहंनु^१ । कर्म बांधते समय मधुर भी लगते हैं, तथा उनके परिणाम की सही कल्पना भी नहीं होती किंतु ऐसा अज्ञानी एवं मोहग्रस्त आत्मा को ही होता है । ज्ञानी आत्मा तो कर्मों के विपाक को समझता है । वह मानता है—

सयमेव कडेहि गाहइ नो तस्स मुच्चेज्जपूठयं^२

आत्मा अपने स्वयं किये हुए कर्मों से ही बंधन में पड़ता है और जब तक उन कर्मों को भोगा नहीं जायेगा, उनसे मुक्ति नहीं होगी । आसक्ति, अज्ञान एवं मोहवश बांधे हुए कर्म जब फल में, विपाक में आते हैं तो उनका भोग बहुत ही दुःखदायी एवं आसजन्य होता है—जं से पुणो होइ दुहं विपाणे^३ वे कर्म विपाक के समय बहुत ही दुःखदायी होते हैं । भगवान् ने शुभाशुभ कर्मों के विपाक-परिणामों को बताने वाले अनेक ऐतिहासिक दृष्टान्त भी दिए

१ सुमकतांग १।८।३

२ सुमकतांग १।२।१।४

३ उत्तराध्यायन ३२।४६

इन दो ध्यानों को ही परम तप कहा गया है—षट्षण्डागम^१ में कहा है—“धर्म एवं शुक्ल ध्यान परम तप है, वाकी जितने तप हैं वे सब इस (ध्यान) के साधन मात्र हैं।” तो इस परम तप रूप ध्यान में प्रथम है—धर्म ध्यान ! धर्म ध्यान के स्वरूप, लक्षण, आलम्बन आदि पर संक्षेप में हम यहां विचार करेंगे ।

आगमों में धर्म ध्यान के चार प्रकार बताये हैं—

धम्मे ज्ञाणे चउव्विहे—पण्णत्ते तं जहा—

आणा विजए, अवाय विजए, विवागविजए, संठाण विजए^२।

धर्म ध्यान के चार प्रकार है—

१ आज्ञा विचय—‘विचय’ का अर्थ है निर्णय या विचार करना । आज्ञा के सम्बन्ध में चिंतन करना ‘आज्ञा विचय’ है । प्रश्न है—आज्ञा किसकी ? उत्तर है—आज्ञा उसी की मान्य होती है जो हमारा श्रद्धेय एवं परम पूज्य हो, स्वामी हो और वीतराग हो । उनकी आज्ञा ही वास्तव में धर्म है—आणाए मामगं धम्मं^३—जो धर्म है, वही उनकी आज्ञा है, और जो आज्ञा है वही उनका धर्म है । आणा तवो आणाइ संजमो^४—आज्ञा में तप है, आज्ञा में संयम है । इसलिए आज्ञा का अर्थ है—वीतराग भगवान द्वारा कथित धर्म ! प्रभु का वैराग्य एवं निवृत्ति मय उपदेश । तो उस भगवद् कथित धर्म का, प्रभु के उपदेश का चिंतन करना । उनके द्वारा उपदिष्ट तत्व पर अटल श्रद्धा रखना—क्योंकि बिना श्रद्धा के किसी वस्तु पर चिंतन नहीं किया जा सकता । विश्वास के बिना लीनता नहीं आती, अतः पहले उस तत्त्व पर यह विश्वास रखे कि—तमेव सच्चं नीत्तकं जं जिणेहि पवेइयं जिनेश्वर देव ने जो तत्व बताया है, वही सत्य है, उसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं । इस प्रकार की अटल आस्था रखकर उस तत्व के स्वरूप पर, प्रभु द्वारा उपदिष्ट

१ षट्षण्डागम ५, पु० १३, पृ० ६४

२ भगवती २५।७। स्थानांग ४।१ तथा उववाई आदि ।

३ आचारांग ६।२

४ सम्मोपसत्तरि ३२

मार्ग पर तथा साथ ही उनके द्वारा निषिद्ध कार्यों पर चिंतन-मनन करना यह धर्म ध्यान का प्रथम भेद है—आज्ञाविचय ।

२ अपाय विचय—अपाय का अर्थ है—दोष या दुर्गुण ! आत्मा में अनादिकाल से पांच दोष छुपे हुए हैं—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कपाय एवं योग (अशुभ योग) इन दोषों के कारण ही आत्मा जन्म मरण के चक्र में भटकता है, दुःख, वेदना एवं पीड़ा प्राप्त करता है । इन दोषों के स्वरूप पर विचार करना, उनसे छुटकारा कैसे मिले, कैसे उनको कम किया जाय तथा किन-किस साधनों से उन दोषों की शुद्धि हो सकती है, इस विषय पर चिंतन करना अपाय विचय है । चिंतन करने से ही चिंता दूर होती है, विचार करने से ही विचार शुद्ध होता है—अतः दोषों के विषय में विचार करने का फल होगा दोषों से विमुक्ति ! तो यह धर्म ध्यान का दूसरा स्वरूप है ।

३ विपाक विचय—ऊपर जो पांच दोष बताये हैं—वे ही कर्म बंधन के कारण हैं । क्योंकि वह पाँचों प्रमाद है और प्रमाद ही वास्तव में कर्मबंध का हेतु होने से स्वयं भी कर्मरूप है—पमायं कम्म माहंसु^१ । कर्म बांधते समय मधुर भी लगते हैं, तथा उनके परिणाम की सही कल्पना भी नहीं होती किन्तु ऐसा अज्ञानी एवं मोहग्रस्त आत्मा को ही होता है । ज्ञानी आत्मा तो कर्मों के विपाक को समझता है । वह मानता है—

सयमेव फडोहि गाहइ नो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं^२

आत्मा अपने स्वयं किये हुए कर्मों से ही बंधन में पड़ता है और जब तक उन कर्मों को भोगा नहीं जायेगा, उनसे मुक्ति नहीं होगी । आसक्ति, अज्ञान एवं मोहवश बांधे हुए कर्म जब फल में, विपाक में आते हैं तो उनका भोग बहुत ही दुःखदायी एवं असह्य होता है—जं से पुणो होइ बुहं विवाते^३ वे कर्म विपाक के समय बहुत ही दुःखदायी होते हैं । भगवान् ने शुभाशुभ कर्मों के विपाक-परिणामों को बताने वाले अनेक ऐतिहासिक दृष्टांत भी दिए

१ सूत्रकृतानि १।८।३

२ सूत्रकृतानि १।२।१।४

३ उत्तराध्यायन ३२।४६

हैं जो मुख्यरूप से 'सुख विपाक' एवं 'दुःख विपाक' में दिखाये गए हैं। सुख के हृदयाल्हादक एवं दुःख के रोमांचक विपाकों—परिणामों पर चिंतन करते रहने से पाप के प्रति भय, घृणा एवं लगाव कम हो जाता है, जिससे आत्मा में पाप से बचने का संकल्प जागृत होता है। तो इस तरह पाप के कटु परिणामों और पुण्य के शुभ फलों पर जो चिन्तन किया जाता है वह धर्म ध्यान के तीसरे भेद—विपाकविचय के अन्तर्गत आता है।

४ संस्थान विचय—संस्थान का अर्थ है आकार। लोक के आकार एवं स्वरूप के विषय में चिंतन करना कि लोक का स्वरूप क्या है? नरक-स्वर्ग कहाँ है? आत्मा किस कारण भटकता है? किस-किस योनि में क्या-दुख व वेदनाएं हैं? आदि विश्व सम्बन्धी विषयों के साथ आत्म-सम्बन्ध जोड़कर उनका आत्माभिमुखी चिंतन करना संस्थान विचय है।

धर्मध्यान के लक्षण व आलम्बन

धर्मध्यान वाले आत्मा की पहचान जिन कारणों से होती है उसे लक्षण कहते हैं। ये लक्षण चार हैं:—

१ आज्ञारुचि—रुचि का अर्थ है विश्वास, मानसिक लगाव और दिल-चस्पी। जिनेश्वर देव की आज्ञा में, सद्गुरुजनों की आज्ञा में विश्वास रखना व उस पर आचरण करना यह धर्मध्यान का प्रथम लक्षण है। यदि आज्ञा आदि में रुचि न होगी तो वह आगे धर्मध्यान भी कैसे कर सकेगा। इसलिए रुचि उस कार्य की सफलता का चिह्न है। जिस मनुष्य को जिस विषय में रुचि होगी, वह उस विषय में अवश्य ही आगे बढ़ेगा। अतः यहाँ अपेक्षा की गई है कि सर्वप्रथम जिनाज्ञा में हमारी रुचि हो।

२ नित्यगंरुचि—धर्म पर, सर्वज्ञभाषित तत्वों पर और सत्य-दर्शन पर यदि हमारे हृदय में सहज श्रद्धा होती है, जिसका कारण कोई बाहरी न होकर दर्शनमोहनीय कर्म का क्षयोपशम होता है, तो वह श्रद्धा, वह रुचि नित्यगं-रुचि कहलाती है।

३ सूत्ररुचि—सूत्र से यहाँ अभिप्राय है—भगवद्वाणी रूप आगम—अंग उपांग रूप सूत्र से है। उन्हें सुनने से धर्म में जो रुचि होती है वह सूत्र-रुचि है।

४ अवगाढ़रुचि—अवगाहन का अर्थ है—गहरा उतरना। नदी, सरोवर आदि किसी गहराई के भीतर डुबकी लगाकर नीचे उस की तह में जाना अवगाहन कहलाता है। मनुष्य शास्त्रों का अध्ययन तो करता है, लेकिन जब तक उनका भाव हृदयंगम नहीं कर पाता जब तक शास्त्र का ज्ञान प्रकाश नहीं दे सकता। ज्ञान शब्दों का पाठ करने से नहीं, किन्तु उस के अर्थ पर चिंतन-मनन करने से मिलता है। अतः यह चिंतन-मननरूप अवगाहन करने की जिस की रुचि हो, अर्थात् जो शास्त्रों के वचनों पर गहरा मनन चिंतन करने को उत्सुक हों, वह उत्सुकता—अवगाढ़रुचि कही जाती है।

इन चार लक्षणों से धर्मध्यानी आत्मा पहचाना जाता है। धर्म ध्यान को स्थिर रखने के लिये, उस चिंतन प्रवाह को अधिक स्थायी बनाने के लिये धर्म ध्यान के चार आलम्बन बताये गए हैं—

१ वाचना—विचारों को पवित्र व शुद्ध बनाने वाला धार्मिक साहित्य स्वयं पढ़ना तथा दूसरों को पढ़ाना।

२ पृच्छना—पढ़ते हुए यदि मन में कहीं कोई शंका होगई, कोई बात समझ में न आई तो उसे गुरुजनों से, बहुश्रुतों से विनयपूर्वक पूछकर अपने ज्ञान की गति को आगे बढ़ाना—पृच्छना है। पृच्छना—जिज्ञासा है, और जिज्ञासा ही ज्ञान की कुंजी कहलाती है।

३ परिवर्तना—जो ज्ञान सीखा हुआ है, पढ़ा हुआ है उसको बार-बार रटना। कंठस्थ ज्ञान को चितारना। इससे ज्ञान में स्थिरता आती है और धारणा दृढ़ बनती है।

४ धर्मकथा—धर्मोपदेश सुनना एवं दूसरों को धर्म का उपदेश करना। इन चारों का वर्णन स्वाध्याय प्रकरण में विस्तार के साथ किया गया है। वास्तव में ये स्वाध्याय तप में ही आते हैं, किन्तु धर्म ध्यान के आलम्बन—सहायक होने से उन्हें धर्मध्यान के अन्तर्गत भी बताया गया है।

हैं जो मुख्यरूप से 'सुख विपाक' एवं 'दुःख विपाक' में दिखाये गए हैं। सुख के हृदयाल्हादक एवं दुःख के रोमांचक विपाकों—परिणामों पर चिंतन करते रहने से पाप के प्रति भय, घृणा एवं लगाव कम हो जाता है, जिससे आत्मा में पाप से वचने का संकल्प जागृत होता है। तो इस तरह पाप के कटु परिणामों और पुण्य के शुभ फलों पर जो चिन्तन किया जाता है वह धर्म ध्यान के तीसरे भेद—विपाकविचय के अन्तर्गत आता है।

४ संस्थान विचय—संस्थान का अर्थ है आकार। लोक के आकार एवं स्वरूप के विषय में चिंतन करना कि लोक का स्वरूप क्या है? तरक-स्वर्ग कहाँ है? आत्मा किस कारण भटकता है? किस-किस योनि में क्या-दुख व वेदनाएँ हैं? आदि विश्व सम्बन्धी विषयों के साथ आत्म-सम्बन्ध जोड़कर उनका आत्माभिमुखी चिंतन करना संस्थान विचय है।

धर्मध्यान के लक्षण व आलम्बन

धर्मध्यान वाले आत्मा की पहचान जिन कारणों से होती है उसे लक्षण कहते हैं। ये लक्षण चार हैं:—

१ आज्ञारुचि—रुचि का अर्थ है विश्वास, मानसिक लगाव और दिल-चस्पी। जिनेश्वर देव की आज्ञा में, सद्गुरुजनों की आज्ञा में विश्वास रखना व उस पर आचरण करना यह धर्मध्यान का प्रथम लक्षण है। यदि आज्ञा आदि में रुचि न होगी तो वह आगे धर्मध्यान भी कैसे कर सकेगा। इसलिए रुचि उस कार्य की सफलता का चिह्न है। जिस मनुष्य को जिस विषय में रुचि होगी, वह उस विषय में अवश्य ही आगे बढ़ेगा। अतः यहाँ अपेक्षा की गई है कि सर्वप्रथम जिनाज्ञा में हमारी रुचि हो।

२ निसर्गरुचि—धर्म पर, सर्वज्ञभाषित तत्वों पर और सत्य-दर्शन पर यदि हमारे हृदय में सहज थ्रद्धा होती है, जिसका कारण कोई बाहरी न होकर दर्शनमोहनीय कर्म का क्षयोपशम होता है, तो वह थ्रद्धा, वह रुचि निसर्गरुचि कहलाती है।

एक दिन नष्ट होगया। बलदेव, वासुदेव और तीर्थंकरों का शरीर भी आखिर एक दिन नष्ट होता है। जैसे पानी का बुद्बुदा क्षण भर में विलीन हो जाता है वही दशा इस शरीर की है—“पानी का पतासा तैसे तन का तमाशा है।”

यह जो धन, वैभव, साम्राज्य आदि प्राप्त हुए हैं वह भी सब नश्वर है। बादलों की चंचल छाया है। इस प्रकार नश्वरता का, अनित्यता का चिंतन करना। भक्त चक्रवर्ती राजमहलों में बैठे हुए भी जब अपने शरीर की, अपने धन-वैभव की अनित्यता का चिंतन करने लगे—कि “अरे ! जिस शरीर का इतना सौन्दर्य था, एक अंगूठी निकल जाने से भी वह सौन्दर्य घट गया तो बस, यह सौन्दर्य तो क्षणिक है, यह सब वस्तुएं अनित्य है”—इसी अनित्य भावना में लीन हुए वहीं बैठे-बैठे केवली बन गए !

३ अशरणानुप्रेक्षा—संसार में कोई किसी का शरण—रक्षक नहीं है। तन, धन, परिवार आदि सब सुख के साथी हैं—जब दुख आता है, रोग उत्पन्न होता है तो कोई किसी की पीड़ा को बँटा नहीं सकता। बड़े-बड़े चक्रवर्ती भी इस धन वैभव से अपनी रक्षा नहीं कर सके। आत्मा की रक्षा करने वाला एक धर्म ही है। धर्म अर्थात् अपना सत्कर्म ! वही आत्मा का रक्षक है, वही शरण है, अन्य कोई शरणभूत नहीं है ! अनायी मुनि की तरह संसार की प्रत्येक वस्तु को असार एवं अशरणभूत समझना—अशरणानुप्रेक्षा है।

४ संसारानुप्रेक्षा—संसार के स्वरूप का चिंतन करना—यह संसार दुःख मय है, कष्टमय है। आत्मा कभी नरक में जाता है तो वहाँ भयंकर कष्ट व पीड़ाएं झेलता है। वैसे ही, तिर्यंच योनि तथा अन्य योनियों के कष्टों का स्मरण कर आत्मा को जन्म मरण से मुक्त करने के उपायों पर विचार करना। संसार की शोकाकुल दशा से मन को निराकुल भावना की ओर लाना—यही संसारानुप्रेक्षा है।

इन चारों भावनाओं से मन में वैराग्य की लहर उठती है, सांसारिक वस्तुओं के प्रति आकर्षण कम होता है और आत्मा निराकुल, शांत आनन्दमय स्वरूप की ओर धुनने लगता है। इसलिए आत्मज्ञाति के लिए, मन की निर्मोह बनाने के लिए इन भावनाओं का बहुत बड़ा महत्व है।

चार अनुप्रेक्षाएं

मन को धर्म ध्यान में लीन बनाने के लिए जो चिंतन किया जाता है— उसे अनुप्रेक्षा कहते हैं। ईक्षा—नाम है दृष्टि का, देखने का। इसके साथ जब प्र उपसर्ग लगा दिया तो उसका अर्थ हुआ—खूब गहराई से देखना, बारीकी से और तल्लीनता के साथ देखना—‘प्रेक्षा’ है। वह तल्लीनता किसी अन्य विषय में न होकर अपनी आत्मा के विषय में ही होनी चाहिए। आत्मा और परमात्मा से सम्बन्धित जो सूक्ष्मचिंतन, जो विचारों की तल्लीनता है, उसे ही ‘अनुप्रेक्षा’ कहा गया है। अनुप्रेक्षा—को ‘भावना’ भी कहते हैं। मन में इस प्रकार की भावनाएं करना, चिंतन मनन करके विचारों को विशुद्ध तथा मोह-मुक्त बनाने का प्रयत्न करना-भावना का फल है। इसलिए अनुप्रेक्षा के द्वारा आत्मा वैराग्य प्रधान विचारों में लीन हो जाता है, कुछ समय के लिए, जब तक कि लीनता बनी रहती है वह वीतरागभाव जैसा आनन्द लेने लगता है और संसार की मोह-ममता को भूल जाता है। धर्म ध्यान के इच्छुक साधक को इन भावनाओं—अनुप्रेक्षाओं का निरंतर अभ्यास करना चाहिए। यहां धर्मध्यान की चार भावनाएं बताई जा रही हैं—

१ एकत्वानुप्रेक्षा—आत्मा के एकाकीपन का चिंतन करना। जैसे— मेरा आत्मा अकेला जन्मा है, अकेला मरेगा, अकेला कर्म करता है और अकेला ही भोगेगा। इसलिए संसार के किसी भी अन्य के साथ—परिवार, पुत्र, धन, आदि के साथ अपनापन जोड़ना, उन्हें अपना समझना अज्ञान है। मोह है, इसी मोह के कारण सब दुख उठाने पड़ते हैं। नमिराजपि ने जब यह सूत्र समझा—कि “आत्मा एकाकी है, कोई किसी का नहीं। एकत्व में आनन्द है, दो में दुख है”—तो इसी चिंतन में लीन होकर उन्होंने अपने दुःख का किनारा पा लिया और परम शांति प्राप्त कर ली। यह एकत्वानुप्रेक्षा की धारा है।

२ अनित्यानुप्रेक्षा—वस्तु की अनित्यता का चिंतन करना। शरीर, धन आदि सब नाशमान है, कोई भी वस्तु स्थिर नहीं, सब क्षणिक है, क्षण-क्षण-नाश हो रही है। यह शरीर जो कभी बालक था, युवा हुआ, और वृद्ध होकर

नाक के अग्र भाग पर दृष्टि को स्थिर कर सुखासन से बैठा है वही ध्यान करने का अधिकारी है ।

तो ऐसा योग्य ध्याता—ध्यान करने वाला जब अपने ध्येय पर—लक्ष्य व इष्टदेव पर मन को स्थिर करता है तभी ध्यान में लीनता व एकाग्रता आती है ।

ध्येय के विषय में भी तीन प्रकार की कल्पनाएं हैं—परालम्बन, स्वरूपा लम्बन और निरवलम्बन ।

१ परालम्बन—में दूसरी वस्तुओं का आलम्बन लेकर मन को स्थिर करने का प्रयत्न किया जाता है । जैसे कोई चाटक (काला गोला बनाकर) पर दृष्टि को स्थिर रखकर मन को उस पर टिकाने का अभ्यास करता है । आगमों में भगवान महावीर की साधना का वर्णन करते हुए बताया है—एगपोगलनिविट्ठ विट्ठिए^१—एक पुद्गल पर दृष्टि को स्थिर करके ध्यान मुद्रा में खड़े रहे । यह एक पुद्गल पर दृष्टि टिकाना भी चाटक जैसी ही कोई विधि हो सकती है, जिसमें किसी वस्तु पर दृष्टि को स्थिर कर लिया जाता है । इसी तरह वृक्ष के पत्तों पर, शून्य आकाश पर आदि विविध बाह्य आलम्बन लेकर उन पर मन को स्थिर रखने का प्रयत्न किया जाता है ।

२ स्वरूपालम्बन—यह ध्यान का दूसरा प्रकार है, पर वस्तु अर्थात् बाहर से दृष्टि को हटाकर मूंद लेना और कल्पना की आंखों द्वारा अपने स्वरूप का दर्शन करना यह इस ध्यान की विशेषता है । इस ध्यान में अनेक प्रकार की रचनाएं व कल्पनाएं की जाती हैं । योग शास्त्र, ज्ञानार्णव आदि ग्रंथों में पिङ्गव, पदस्य आदि चार भेद बताए हैं उनमें तीन ध्यान इसी श्रेणी के हैं । अपातीत ध्यान निरवलम्बन की श्रेणी में जाता है ।

३ निरवलम्बन—यह ध्यान का तीसरा तथा उत्कृष्ट तम प्रकार है । इसमें न कोई आलम्बन रहता है और न विचार । मन विचारों एवं चिन्तनों

धर्म ध्यान के अन्य प्रकार

अभी जो धर्मध्यान का स्वरूप उसके लक्षण, आलंवन और अनुप्रेक्षाएं बताई हैं—वह सभी आगमों में व प्राचीन ग्रन्थों में विस्तार के साथ प्राप्त होता है। भगवान महावीर के पश्चात्पूर्वी युग में ध्यान के विषय में और भी गहरा चिंतन चला, उसके अनेक साधनों पर योगियों ने, ध्यानी मुनियों ने विचार किया और कई नए आलम्बन, नये स्वरूपों व साधनों का भी समावेश ध्यान परम्परा में किया है। ध्यान की विधि को सरल और सहज साध्य बनाने के लिए कई प्रकार की साधनाएँ आचार्यों ने बताई हैं। यहां हम उन पर भी संक्षेप में विचार कर लेंगे।

ध्यान में मुख्य तीन वस्तुएं हैं, ध्याता, ध्यान और ध्येय। ध्याता का अर्थ है ध्यान करने वाला, ध्यान का अधिकारी ! ध्यान का अर्थ है—तल्ली नता, एकाग्रता और ध्येय का अर्थ है—इष्टदेव ! जिसका ध्यान किया जाय वह ! इन तीनों की पवित्र भूमिका है। ध्याता को सर्वप्रथम अपने हृदय को शांत, पवित्र एवं स्थिर बनाना होता है। क्योंकि चंचल चित्त वाला ध्यान का अधिकारी नहीं हो सकता। आंखें मूंद कर बैठ गया, आसन जमा लिया, किन्तु मन स्थिर नहीं हुआ, वह कहीं का कहीं भटकता रहा तो ध्यान कैसे होगा ? वास्तव में आसन स्थिर करने में ही नहीं, मन स्थिर करने से ध्यान होता है। कहा है—

यस्य चित्तं स्थिरीभूतं स हि ध्याता प्रशस्यते ।^१

जिसका चित्त स्थिर हो गया हो वही वास्तव में ध्यान का अधिकारी होता है। ध्यान की पवित्रता के विषय में बताया है—

जितेन्द्रियस्य धीरस्य प्रशान्तस्य स्थिरात्मनः ।

सुखानस्य नासाग्रन्यस्तनेत्रस्य योगिनः ॥^२

जो योगी जितेन्द्रिय है, धीर है, शांत है, स्थिर आत्मा वाला है, नासाग्र—

१ ज्ञानार्णव पृ० ८४,

२ ध्यानाष्टक ६,

अपने शरीर व आत्मा को पृथ्वी की पीत वर्ण कल्पना के साथ बांधना पार्थिवी धारणा है। इस धारणा में मध्यलोक की क्षीर समुद्र के समान निर्मल जल से परिपूर्ण होने की कल्पना करें। उसके मध्यभाग में जम्बूद्वीप के तुल्य सुवर्ण के समान चमकते हुए हजार पत्तोंवाले (सहस्रदल) कमल की कल्पना करें। उस कमल के बीच में जहाँ कर्णिका होती है उस पर स्वर्णमय मेरुपर्वत की आकृति का चिंतन करें और फिर सोचें उस मेरुपर्वत के शिखर पर पाण्डुक वन में पाण्डुकशिला के ऊपर स्फटिकरत्न का उज्ज्वल सिंहासन बिठा है और मैं (आत्मा) उस सिंहासन पर योगीराज के रूप में बैठा हूँ। साधक जब इस प्रकार के दृश्य की कल्पना करता है तो उसका मन बड़ा ही शांत व सौम्य बन जात है, बड़ी शीतलता का अनुभव होता है। इस कल्पना में मन रम जाने से स्थिरता आती है। याज्ञवल्क्य के कथनानुसार पृथ्वीधारणा सिद्ध होने पर शरीर में किसी प्रकार का रोग नहीं होता।^१ स्पष्टता के लिए चित्र संख्या १ देखें।

२ आग्नेयी धारणा—पार्थिवी धारणा से आगे बढ़कर साधक आग्नेयी धारणा में प्रवेश करता है। आत्मा सिंहासन पर विराजमान होकर नाभि के भीतर हृदय की ओर ऊपर मुख किए हुए सोलह पंचुड़ियों वाले रक्त कमल की कल्पना करता है। (कहीं-कहीं श्वेत कमल भी बताया है, पर अग्नि का वर्ण रक्त होने से कुछ आचार्यों ने रक्त कमल को ही मुख्य माना है) उन पंचुड़ियों पर अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ लृ ए ऐ ओ औ अं अः इन सोलह स्वरों की स्थापना की जाती है, तथा कमल के मध्य में 'हं' अक्षर की। कमल के ठीक ऊपर हृदय स्थान में नीचे की ओर मुख किए हुए आँधा आठ पत्तों वाला एक मटिया रंग का कमल बनाना चाहिए। उसके प्रत्येक पत्ते पर काले रंग से लिखे हुए आठ कर्मों का चिंतन करना चाहिए।

इस चिंतन में नाभि में स्थित कमल के बीच में लिखे हुए 'हं' अक्षर के ऊपरी सिरे 'रेफ' में से निकलते हुए धुएँ की कल्पना की जाती है, उसी के

से सर्वथा शून्य हो जाता है, और किसी भी प्रकार के आलम्बन के बिना स्थिर व विकल्प रहित हो जाता है। उक्त दोनों भेदों को समझने के लिए यहां चार प्रकार के ध्यान का स्वरूप समझना जरूरी है। ये सब धर्मध्यान के अन्तर्गत ही हैं। वास्तव में ये ध्यान के आलम्बन भूत—ध्येय हैं।

पिण्डस्थध्यान व धारणाएं

१ पिण्डस्थ ध्यान—‘पिण्ड’ का अर्थ है शरीर। शांत, एकांत, स्वच्छ स्थान में वीरासन, सुखासन, सिद्धासन आदि किसी योग्य आसन पर स्थिर बैठकर शरीर (पिण्ड) में स्थित आत्म देवता का ध्यान करना पिण्डस्थ ध्यान है। इसमें शुद्ध निर्मल आत्मा को लक्ष्य करके चिंतन किया जाता है। इस ध्यान में जो मुद्रा बनाई जाती है उसे ‘ध्यान मुद्रा’ कहा है। ध्यान मुद्रा का अर्थ है चित्त अन्तर्मुखी हो, आंखें नीचे झुकी हों तथा नासाग्र पर स्थिर हों शरीर सीधा सुखासन पर स्थित हो।^१

अन्तश्चेतो वहिश्चक्षुरधःस्याग्य सुखासनम्।

समत्वं च शरीरस्य ध्यानमुद्रेति कथ्यते।^२

तो इस प्रकार ‘ध्यान मुद्रा’ लगाकर शरीरस्थ आत्मा के स्वरूप का चिंतन करना पिण्डस्थ ध्यान है। आत्मा की कल्पना इस प्रकार करनी चाहिए कि मेरा यह आत्मा सर्वज्ञ भगवान की आत्मा के तुल्य, पूर्णचन्द्र वत् निर्मल है, कांतिमान् है। शरीर के अन्दर पुरुष आकृतिवाला होकर स्फटिक सिंहासन पर विराजमान है। इस प्रकार कल्पना की आंखों से आत्मा का स्वरूप दर्शन करना चाहिए।

पिण्डस्थ ध्यान की पांच धारणाएं बताई गई हैं।^३ जैसे—

१ पांचिवी, २ आग्नेयी, ३ वायवी, ४ बाहणी, ५ तत्त्वरूपवती।

१ पांचिवी-धारणा—धारणा का अर्थ है—ब्राम्हणा ! ध्येय में चित्त को स्थिर करना धारणा है—धारणा तु क्वचिद् ध्येये चित्तस्य स्थिरबंधनम्।^४

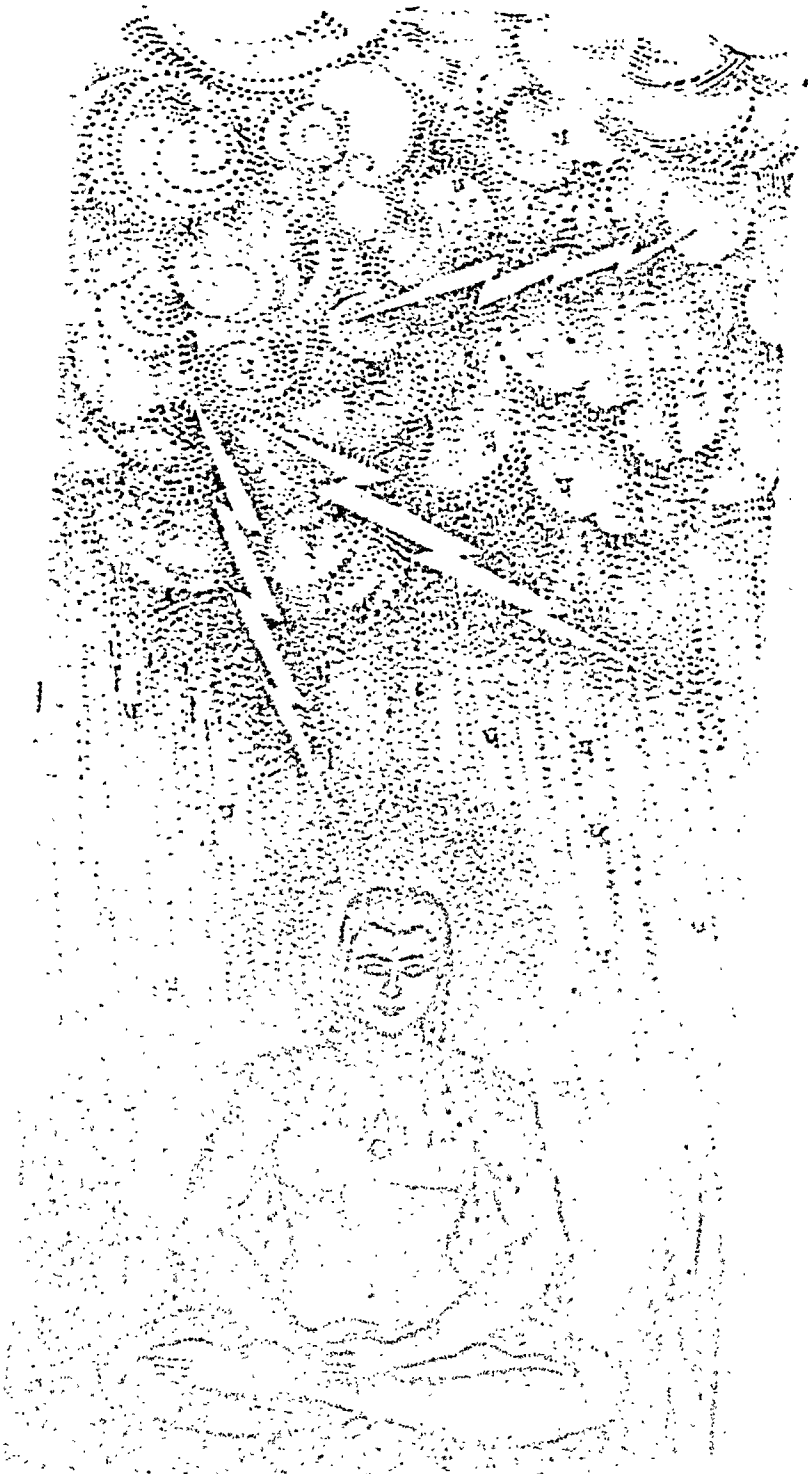
१ योगशास्त्र ७।८

२ गोरक्षान्तक ६५

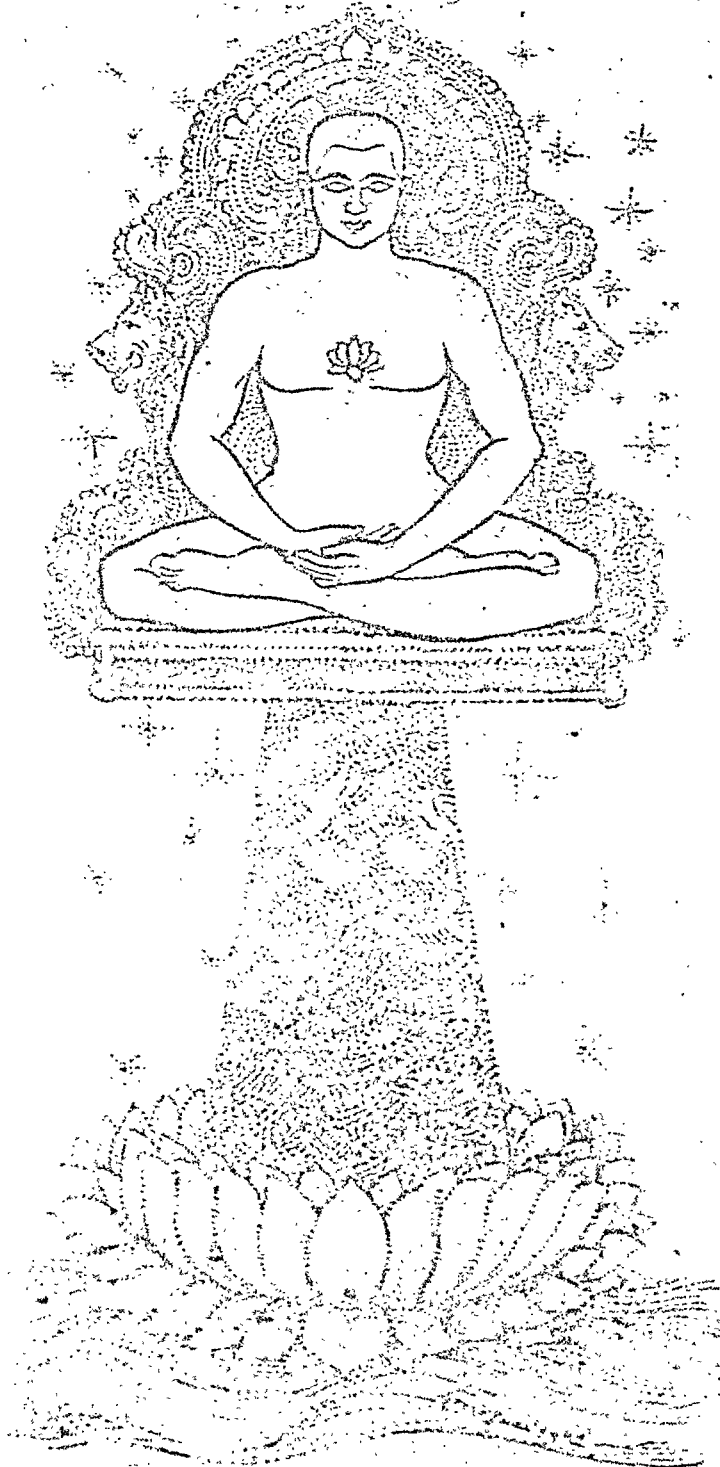
३ योगशास्त्र ७।९

४ अभिधानचिन्तामणि (आचार्य हेनचन्द्र) १।८४

वारुणी धारणा

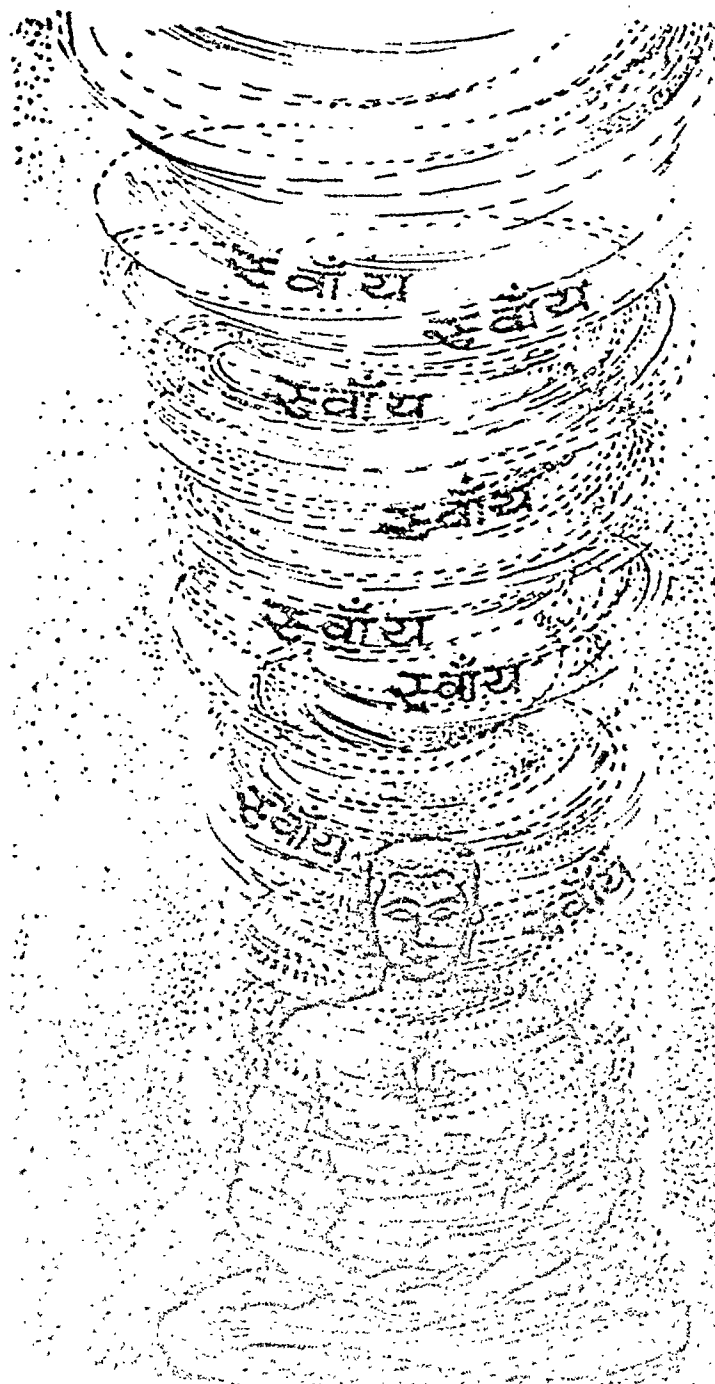


पार्थिवी धारणा

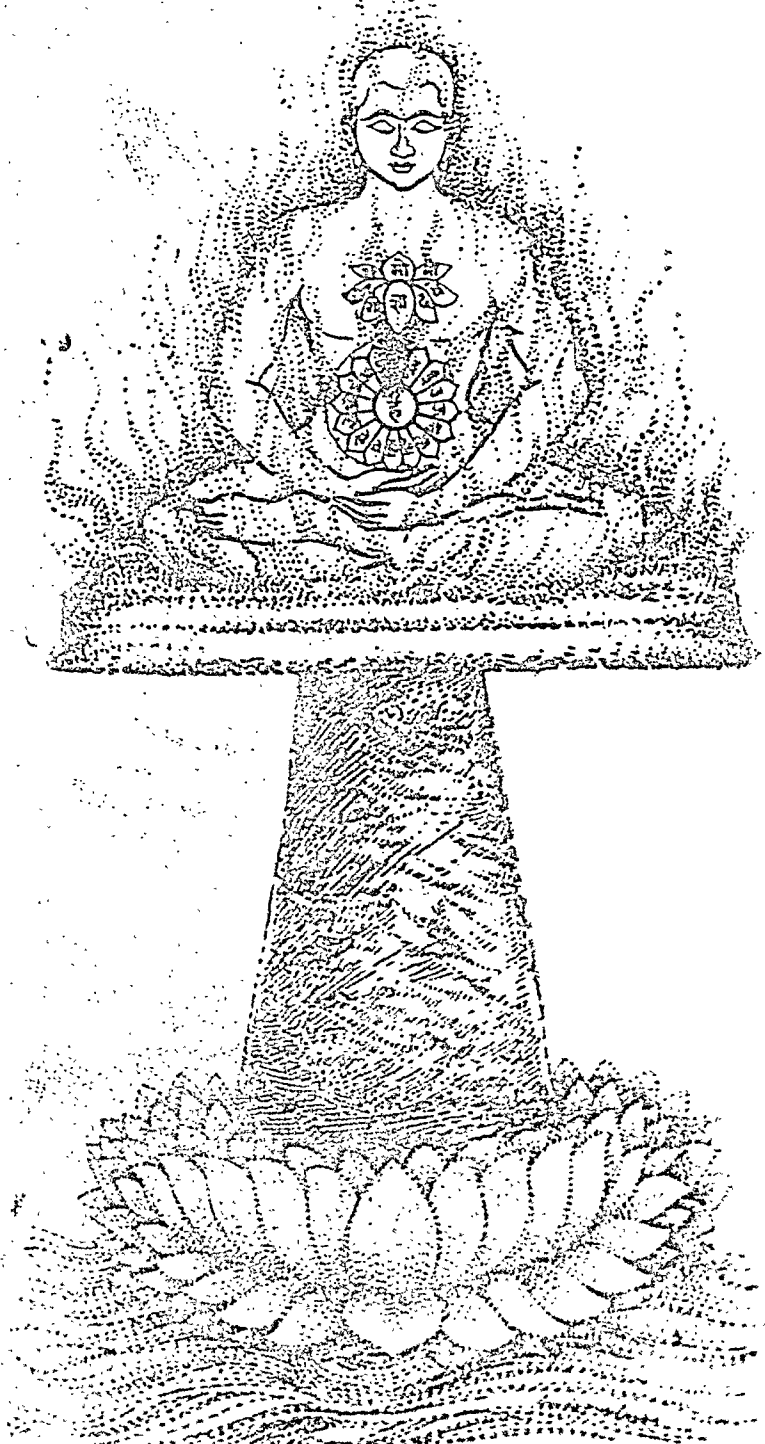


पार्थिवी धारणा में लिखित चित्रकल्पिक मुनिराज

वायवी धारणा



आग्नेयी धारणा



आग्नेयी धारणा में स्तब्ध करत हस मुनिराज

उमड़ रहा है बिजली चमक रही है, और धीरे-धीरे खूब जोर की वर्षा भी शुरू हो गई है। मैं बीच में बैठा हूँ, मेरे शरीर पर पानी बरस रहा है जल के बीजाक्षरों में प-प-प-प लिखा हुआ है। इस जल वृष्टि से आत्मा पर लगी समस्त कर्म रज धुल कर साफ हो गई है, आत्मा पवित्र व निर्मल बनती जा रही है। जल धारणा सिद्ध योगी जल में डूबता नहीं, अगाध जल में भी जीवित रह सकता है और मन व शरीर के समस्त ताप शांत हो जाते हैं—ऐसा वैदिक आचार्यों का मत है।^१ अधिक स्पष्टता संलग्न चित्र संख्या ४ से प्राप्त कीजिए।

५ तत्त्वरूपवती धारणा—इसे 'तत्त्व भू' धारणा भी कहा गया है। योग वाणिष्ठ आदि वैदिक ग्रंथों में इसे 'आकाशधारणा' कहा गया है। वाष्णी धारणा के पश्चात् यह अन्तिम धारणा तथा सर्वश्रेष्ठ धारणा है। इसमें आत्मा के निराकार निर्मल रूप का चिंतन करते हुए योगी सोचता है—"मैं अनन्त शक्तियों का पुंज हूँ। मैं आकाश से भी विराट् व व्यापक हूँ। जिस प्रकार आकाश पर कोई लेप नहीं है, वैसे ही मुझ पर भी किसी बाह्य वस्तु का लेप-आवरण नहीं है। इस धारणा में आत्मा स्वरूप दशा की उत्कृष्ट अनुभूति कर सकता है।

इस प्रकार पिण्डस्य ध्यान की ये पांच धारणाएँ हैं जिनके आधार पर मन को अपने ध्येय के निकट लाया जा सकता है, और ध्येय के साथ बांधा जा सकता है। यह धारणाएँ सिद्ध हो जाने पर साधक की आत्मशक्तियाँ बहुत ही विकसित व प्रचंड बन जाती है। उस पर किसी प्रकार की मलिन विद्याओं का प्रभाव नहीं पड़ सकता। भूत-पिशाच आदि उस के दिव्य तेज से भयभीत रहते हैं।

पदस्य ध्यान का स्वरूप

पदस्य ध्यान का अर्थ है किन्हीं पदों—पवित्र अक्षरों पर मन को स्थिर करना। इसकी परिभाषा यों की गई है—

साथ रक्त वर्ण की ज्वाला को भी कल्पना से देखना चाहिए और वह ज्वाला प्रचंड होती हुई ऊपर लिखे हुए आठ कमों को जलाने लगे और कमल के मध्य को छेदकर ऊपर मस्तक तक पहुँच जाए ऐसी कल्पना करें। फिर सोचे—ज्वाला की एक रेखा बायीं ओर तथा दूसरी दाहिनी ओर निकल रही है, दोनों रेखाएं नीचे आकर मिल जाती है और एक अग्निमय रेखा बनती—उस आकृति से शरीर के बाहर तीन कोप वाला अग्नि मंडल बन रहा है—ऐसी कल्पना करते जाए। उस अग्निमंडल में तीव्र ज्वालाएं उठती हुई देखें, उनमें आठों कर्म भस्म हो रहे हैं, तथा वे जलकर राख बन गये हैं आत्मा तेज रूप में दमक रहा है, इस प्रकार की कल्पना करें।

अग्नि धारणा में सर्वत्र जो प्रकाश फैला है, उसमें स्वयं का ही प्रतिबिम्ब देखा जाता है। उपनिषदों के अनुसार अग्नि धारणा सिद्ध होने पर योगी का शरीर यदि धधकती ज्वाला में भी डाल दिया जाय तो वह जलता नहीं है।^१ विशेष कल्पना के लिए चित्र संख्या २ पर ध्यान दें।

३ वायवीधारणा—अग्नि धारणा में कमों को भस्म कर राख बने हुए देखने के बाद पवन धारणा की कल्पना की जाती है। पवन की कल्पना के साथ मन को जोड़ा जाता है—योगी सोचता है, खूब जोर की हवाएं चल रही हैं, उसमें आठ कमों की राख उड़ रही है, नीचे हृदय कमल सफेद सा उज्ज्वल हो गया है और आत्मा पर लगी राख सब हवा के झोंके से साफ हो रही है। वैदिक आचार्यों के अनुसार इस धारण में समस्त ब्रह्मांड को वायु से प्रकम्पित होता हुआ देखा जाता है और प्रभंजन का प्रेरक मैं ही हूँ इस प्रकार पवन धारणा में आत्मा को बांध दिया जाता है। वायवी धारणा सिद्ध होने पर योगी आकाश में उड़ सकता है। वायु रहित स्थान में भी जीवित रह सकता है। उसे बुढ़ापा नहीं आता। स्पष्ट जानकारी के लिए देखिए चित्र संख्या ३।

४ वाक्णी धारणा—अर्थात् जल की कल्पना के साथ मन को जोड़ना। वायवी धारणा से आगे बढ़कर योगी सोचता है, आकाश में मेरी का समूह

तद् भवति ।....रुद्रस्य चिन्तनाद् रुद्रो विष्णुः स्याद् विष्णु-चिन्तनाद्—जो जिसको ध्याता है, वह उसी रूप बन जाता है । रुद्र की चिन्तना से रुद्र तथा विष्णु के चिन्तनसे विष्णु । मैं सीता-सीता रटता हुआ यदि कहीं सीता बन गया तो ? फिर मेरा दाम्पत्य सुख तो चला जायेगा, पुरुष से नारी भी बन जावूँगा ।”

आशुप्रज्ञ हनुमान ने तभी हँसते हुए कहा—“महाराज ! इसमें आपको चिन्तित होने की क्या बात है ? यदि ऐसा ही भी गया तो कोई चिन्ता की बात नहीं । जैसे आप रात-दिन सीता की रटन लगा रहे हैं, आपके मन में सीता बसी हुई है, उसी प्रकार माता सीता के हृदय के कण-कण में ‘राम’ बसे हुए हैं । वह क्षण-क्षण ‘राम-राम’ रटती रहती है । तो यदि राम ‘सीता’ सीता’ रटते हुए राम बन गये तो सीता भी ‘राम-राम’ रटती हुई ‘राम-स्वरूप’ बन जायेगी । फिर चिन्ता की क्या बात है ?

यह एक रूपक हैं, कवि की कल्पना भी हो सकती है, किन्तु इसमें सच्चाई है, एक तथ्य है कि मनुष्य जिस स्वरूप का, जिस रूप का और जिन अवसरों का एकाग्रता के साथ, तन्मय होकर चिन्तन करता है वह तद्स्वरूप भी बन सकता है । तन्मय का अर्थ ही है—तद् + मय = (उसी के अनुरूप) तन्मय । तो पदस्थ व रूपस्थ ध्यान में यही तद्स्वरूप का चिन्तन किया जाता है और भगवद्मय बनने की ओर गति भी होती है ।

सिद्धचक्र

पदस्य ध्यान को स्थिर करने के लिए आचार्यों ने सिद्ध चक्र की स्थापना की कल्पना दी है । इस सिद्ध चक्र में—आठ पंखुड़ियों वाले सफेद कमल की कल्पना की जाती है । और उसके भीतर कर्णिका पर (बीज-कोप) में नमो अरिहंताणं की स्थापना की जाती है । फिर पूर्व-मन्त्रिम आदि चारों दिशाओं की पंखुड़ियों पर नमो सिद्धाणं आदि चार पद की स्थापना होती है । चार विदिशा की पंखुड़ियों पर ज्ञान, दमन, चारित्र्य और तप का ध्यान किया जाता है । इस प्रकार नौ पदों की स्थापना कर इस सिद्धचक्र पर ध्यान किया जाता है । आचार्य हेमचन्द्र ने ज्ञान दर्शन के स्थान पर ‘एसो पंच नमुनकारो’ आदि चार पदों की स्थापना की विधि बताई है । अभ्यास की दृष्टि से इन

यत्पदानि पवित्राणि समालम्ब्य विधीयते ।

तत्पदस्य समाख्यातं ध्यानं सिद्धान्तपारंगतैः ।^१

किन्हीं पवित्र पदों का आलम्बन लेकर उनके आधार पर चित्त को स्थिर कर देना—इसे पदस्थ ध्यान कहा गया है ।

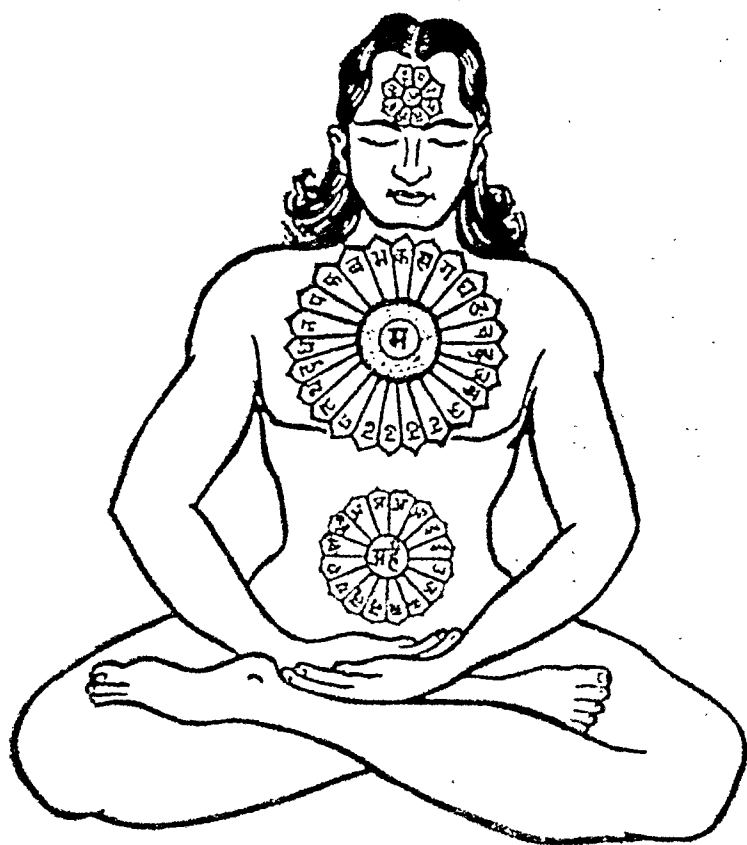
इस ध्यान में अपने इष्टपदों का जैसे भगवद्नाम, नवकार महामंत्र, तथा अन्य शास्त्रीय वाक्यों का, स्मरण करते हुए साधक उनमें तदाकार होने का प्रयत्न करता है । इष्ट का स्मरण करते-करते साधक उन मंत्र-पदों के अक्षरों को अपनी कल्पना से लिखता है, फिर उन्हीं अक्षरों को मनसे देखने का प्रयत्न करता है, मन उन मंत्राक्षरों में एकात्मकता की अनुभूति करने लगता है । ध्यान के अभ्यासी आचार्यों का मत है कि साधक जब ध्येय में लीन होने लगता है, अर्थात् स्वयं भगवद्स्वरूप की अनुभूति करने लगता है तो वह वास्तव में ही भगवद्स्वरूप बनने की ओर कदम बढ़ाता है और उसमें क्रमिक सफलता भी मिलती जाती है ।

यद्ध्यायति तद्भवति

ध्यान-ग्रन्थों में एक उदाहरण देकर बताया है— जैसे कीट (लट) भोंरे की मिट्टी के साथ मिलकर स्वयं को भ्रमरी अनुभव करते हुए धीरे-धीरे वह भ्रमरी ही बन जाती है, उसी प्रकार साधक ध्येय स्वरूप का अनुभव-स्मरण करते-करते वह ध्येय रूप बन सकता है । काव्य ग्रन्थों में इस पर एक लघु रूपक दिया गया है कि महाराज रामचन्द्र जी सीता के विरह से व्यथित हुए मन-ही-मन 'सीता-सीता' पुकारते रहते थे । सोते-उठते-बैठते उनके मुँह से बस एक ही अक्षर शब्द निकलता — "सीता-सीता !"

एक बार बैठे-बैठे रामचन्द्रजी के मन में विचार आया और वे चिन्तित से हो गए । पास में बैठे भक्त हनुमान ने स्वामी की चिंता देखी तो इसका कारण पूछा । रामचन्द्रजी ने पहले तो कुछ संकोच किया, फिर कुछ चिंता के साथ बोले—पवनपुत्र ! मेरे मन में एक शंका हो उठी है । कहा जाता है कि—कीट स्वयं की भ्रमरी अनुभव करती हुई भ्रमरी बन जाती है, क्योंकि कि यद्ध्यायति

अविनाशी आत्मतत्त्व, अथवा परमात्मतत्त्व की कल्पना के आधार पर मन की घुरी को स्थिर रखना ही अक्षर-ध्यान का उद्देश्य है। इसकी कल्पना निम्न चित्र के अनुसार समझनी चाहिए।

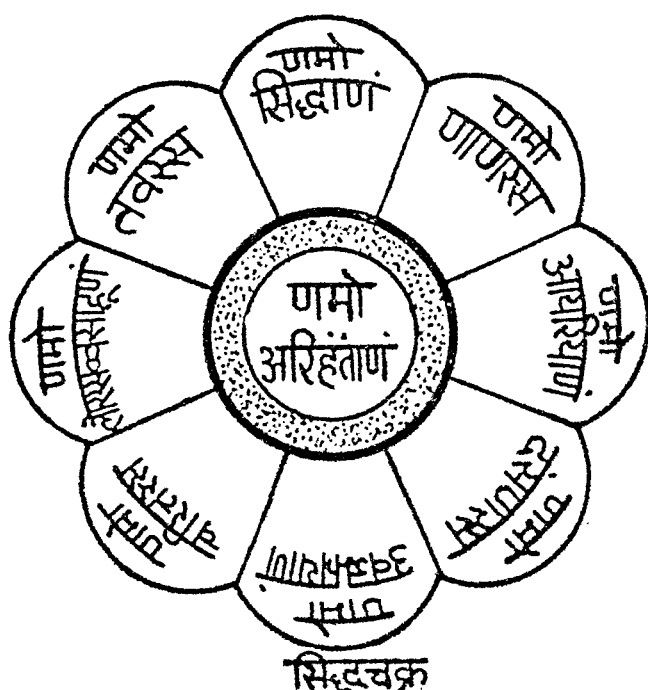


अक्षर ध्यान

उक्त चित्रानुसार नाभि कमल, हृदय कमल और मुस कमल पर अक्षरों की स्थापना करके प्रत्येक अक्षर के आधार पर क्रमशः चिंतन करते जाना चाहिए। उदाहरणार्थ—नाभि कमल के मध्य में 'अहं' लिखा है। पहले अहं के भावार्थ पर, उसके स्वरूप पर चिंतन प्रारम्भ करना चाहिए। फिर अ-आ-इ-ई आदि अक्षरों से चिंतन धारा को बढ़ाना चाहिए। जैसे—

अ—अरिहंत ! अरिहंत प्रभु का स्वरूप, अरिहंत पद प्राप्त करने के साधन । अरिहंत मन्त्र पर चिंतन करने के बाद इसी 'अ' पर 'अक्षर', 'अमर'

चार पदों की अपेक्षा ज्ञान, दर्शन आदि पदों की स्थापना से ध्यान में आलम्बन अधिक सुदृढ़ बनता है। इसकी स्पष्ट कल्पना के लिए मंगल चित्र देखिए—



इसी प्रकार अन्य मंत्राक्षरों पर किसी आकृति की कल्पना बनाकर उनका ध्यान भी किया जाता है। इसमें आगम के किसी पद पर भी ध्यान टिकाया जा सकता है। चत्वारि मंगलं, जं, ह्रीं आदि मंत्रों पर भी ! इनका स्मरण व जप करना स्वाध्याय में गिना जाता है, किन्तु उन पर चितन करना विचार प्रवाह को एक धारा में ही प्रवाहित किये रखना ध्यान है।

अक्षर ध्यान

सिद्ध चक्र की भाँति अक्षर ध्यान में भी कल्पना के आधार पर अक्षरों की स्थापना की जाती है। उन अक्षरों पर भगवद् स्वरूप की कल्पना करके चितन किया जाता है। अक्षर का अर्थ है कभी नष्ट नहीं होने वाला अपिनाशी ! अपिनाशी तब एक ही है—आत्मा ! गुड स्वरूप स्थित

बीजाक्षरों में भी देवताओं के, इष्ट देव के संकेत छिपे रहते हैं। जैसे—
 'ऊँ' शब्द में ईश्वर का व, पंचपरमेष्ठी का संकेत है। वैदिक ग्रन्थों के अनुसार
 'ऊँ' ईश्वर का वाचक है। कुछ आचार्यों ने इसे ब्रह्मा-विष्णु-महेश का द्योतक
 बताया है। जैसे—

अकारो वासुदेवः स्याद् उकारस्तु महेश्वरः।

मकारः प्रजापतिः स्यात् त्रिवेवो ऊँ प्रयुज्यते।

इसी प्रकार जैन आचार्यों ने भी इसे पंच परमेष्ठी का वाचक माना है।
 जैसे—

अरिहंता असरीरा आयरिय उवज्झाय मुणिणो।

पठमवखर निष्फण्णो ऊँकारो पंच परमिद्धो।^१

अरिहंत—अ

सिद्ध (अशरीरी)—अ

आचार्य—आ

उपाध्याय—उ = ओ

मुनि—म— म् = ओम—ऊँ

तो इस प्रकार पांचों परमेष्ठी पदों का प्रथम अक्षर मिल कर 'ऊँ' शब्द
 बनता है। 'ऊँ' के ऊपर चन्द्र बिन्दु है, इसके भी दो अर्थ हैं—वैदिक आचार्यों
 की दृष्टि में प्रत्येक बीजाक्षर के ऊपर जो अनुस्वार या चन्द्रबिन्दु लगता है
 वह 'नाद' है, और वह अक्षर के शक्तितत्व को प्रकट करता है। शब्द की
 ध्वनि में भी वह ओज भरता है इसलिए प्रत्येक बीज मंत्र के ऊपर चन्द्रबिन्दु
 लगाना अनिवार्य होता है। जैन आचार्यों की दृष्टि में अर्ध चन्द्र के आकार
 में सिद्ध शिला की कल्पना की गई है। तंत्र शास्त्र के अनुसार अलग-अलग
 शक्तियों व बीज मंत्रों के अलग-अलग संकेत होते हैं जो उनके शक्तितत्व के
 प्रतीक माने गये हैं। उदाहरण स्वरूप—

ह्रीं—नामा बीज है।

ध्रीं—वक्ष्मी बीज है।

आदि वाक्यों का भी चिंतन किया जा सकता है तथा 'आ' पर सीधा आकर आ—आत्मा, आत्मस्वरूप, आत्मदर्शन आदि की कल्पना के रंग में मन को गहरा रंग देना चाहिए। इस प्रकार की कल्पना में मन को आनन्द भी आने लगेगा। आनन्द आने पर मन स्वतः ही स्थिर हो जायेगा।

नाभिकमल से आगे बढ़कर फिर हृदयकमल पर आना चाहिए। उसकी पंखुडियों पर 'क' से प्रारंभ कर 'म' तक अक्षर लिखे गये हैं। पूर्वानुसार इन्हीं प्रत्येक अक्षर से अपना चिंतन प्रारम्भ करना चाहिए। जैसे क—कर्म, कर्ता, ख—खंति, खामी (गलती) आदि। अक्षरों पर बंधना नहीं चाहिए कि अमुक अक्षर के अनुसार ही लघु शब्द ही प्रारम्भ में आये, यह कोई आग्रह नहीं है, जो भी शब्द पहले कल्पना में स्फुरित हो जाये उसी पर प्रारम्भ किया जा सकता है।

हृदय कमल के पश्चात् मुख कमल पर ध्यान को केन्द्रित करना चाहिए। इस अक्षर ध्यान में यदि शांत वातावरण रहे तो मन प्रायः एक मुहुर्त या १ घंटा तक बड़ी आसानी से स्थिर किया जा सकता है।

बीजाक्षर : शब्द और संकेत

वैदिक ग्रन्थों में जिसे 'शब्द-ब्रह्म' कहा गया है, जैन दर्शन में वह पदस्थ ध्यान ही है। शब्द में अपार शक्ति है, चित्त के साथ एकाकार होने से शब्द की वह शक्ति प्रकट होकर अपना चमत्कार दिखाने लगती है। कुछ लोगों की शंका है—कि जिन शब्दों का, संकेतों का या बीजाक्षरों का—जैसे ओं, ह्रीं, अर्ह आदि का हम अर्थ नहीं समझते, उनके ध्यान से क्या लाभ हो सकता है? इसका उत्तर है—कि शब्द में एक विराट शक्ति छिपी रहती है, वह अपने संकेत में संपूर्ण अर्थ को, भाव को समेटे हुए होता है, हम अगर उसका अर्थ नहीं जानते हैं तो इसका अर्थ यह नहीं है कि शब्द शक्तिहीन है। यह हमारा अज्ञान है कि हम उस शब्द शक्ति से अनभिज्ञ हैं। जैसे तार में संकेत-लिपि का प्रयोग होता है, उनमें लकीरों और बिन्दुओं के वृत्तिरहित ओर क्या देखने में आता है? किन्तु जानने वाले उससे पूरी भाषा और संदेश निकाल लेते हैं। शीघ्रलिपि (शार्ट हैंड) में भी तो संकेतों का ही प्रयोग होता है! जो इन संकेतों को समझते हैं उनके लिए वह सब कुछ है!

चाहिए। इसी ध्यान का आलम्बन सरल बनाने के लिए आगे चलकर प्रतिमा-मूर्ति का आधार लिया गया है। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए—मूर्ति सिर्फ प्रेरक हो सकती है, किन्तु मूर्ति को ही भगवान मानकर उसकी पूजा करना, उसके समक्ष फल-फूल चढ़ाना, दीपक जलाना और यह मानना कि मैं तो भगवान की ही साक्षात् अर्चना कर रहा हूँ—यह एक प्रकार की अधश्चर्या व अज्ञान की श्रेणी में चला जाता है।

रूपातीत ध्यान

धर्म ध्यान का यह चौथा प्रकार है—इसमें रूप से अतीत निराकार—निरंजन सिद्ध भगवान् परमात्मा का चिंतन करते हुए आत्मा उसी में तन्मय हो जाता है। आचार्यों ने बताया है—

निरंजनस्य सिद्धस्य ध्यानं स्याद् रूप वजितम् ।^१

निरंजन सिद्ध स्वरूप का ध्यान करते हुए आत्मा स्वयं को कर्म मल मुक्त सिद्ध स्वरूप में ही अनुभव करता है। इस ध्यान में पूर्व वर्णित ध्यानों की तरह कोई साकार कल्पना नहीं होती, न कोई मंत्र व पद होता है, न दृश्य आदि की कल्पना। किन्तु मन इतना सध जाता है कि बिना दृश्य के ही वह एक विचार में स्थिर हो जाता है। रूपातीत शब्द से यहां दो अर्थ लिये जा सकते हैं—एक—किसी आलम्बन के बिना अरूप कल्पना में ही मन स्थिर हो जाना। दूसरा—रूप रहित आत्म तत्त्व या सिद्ध स्वरूप की कल्पना करते हुए आत्म चिंतन करना कि—मैं अरूपी हूँ, अभीतिक हूँ। मेरा आत्मा अम्य है, इन्द्रियां अन्य हैं। जो दीखता है वह मैं नहीं, इस प्रकार स्वयं को अरूप मानकर चिंतन करना और अरूपी—सिद्ध भगवान के गुणों आदि का चिंतन करना—ये दोनों ही अर्थ रूपातीत ध्यान के साथ जुड़े हुए हैं।

आजकल जिसे भावातीत, विचारशून्य ध्यान कहते हैं वह रूपातीत ध्यान की ही एक परिकल्पना है। किन्तु कोई साधक सीधा ही इस ध्यान की श्रेणी में पहुँचना चाहे तो वह प्रायः असंभव है। स्थूल से सूक्ष्म की ओर धीरे धीरे बढ़ा जाता है। रूप से अरूप की ओर बढ़ने में काफी अभ्यास और

श्री—काली बीज है ।

ऐं—सरस्वती बीज है ।

फट्—अस्त्र बीज है ।

क्लो—काम बीज है ।

ईं—योनि बीज है ।

कुछ बीज ईष्टदेव के प्रथम अक्षरों के आधार पर भी बनाये जाते हैं । जैसे—अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, और साधु—इन पंच परमेष्ठी के प्रथमाक्षरों को लेकर 'असिआउसा' बीजाक्षर बन गया है । वैदिक ग्रन्थों में भी इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं—यथा गणेश के लिए 'ग' दुर्गा के लिए 'दु' आदि ।^१

इन बीजाक्षरों के आधार पर अपने इष्ट देव (ध्यान रहे—ध्येय—इष्ट हमेशा ही वीतराग होना चाहिए, और ध्यान निष्काम भाव से करना चाहिए) के स्वरूप का चिंतन करना पदस्य ध्यान है ।

रूपस्य ध्यान

रूपयुक्त—इष्टदेव तीर्थंकर आदि का चिंतन करना—रूपस्य ध्यान है—अर्हंतो रूपमात्मस्य ध्यानं रूपस्यमुच्यते ।^२ इस ध्यान में कल्पना बड़ी सुरम्य और रंग-विरंगी होती है । साधक एकांत शांत वातावरण में बैठे हुवा आँखें मूंदकर हृदय की आँखें खोल लेता है । आकाश को चित्रपट—पर्दा बना लेता है, मन को कूँची । भगवान के दिव्य रूप, उनके समवसरण आदि की रंग-विरंगी कल्पनाओं में इतना लीन हो जाता है कि उसे जैसे लगता है, वह साक्षात् वहाँ बैठा प्रभु के पावन दर्शन कर रहा है, कानों से प्रवचन-पीयूष धारा पी रहा है, और समवसरण का रम्य दृश्य देख रहा है । इष्ट-देव के रूप सम्बन्धी विभिन्न दृश्य बनाने चाहिए और उनमें मन को रमाना

१ देखें—ध्यान और मनोबल (डा० इन्द्रचन्द्र) पृ० ८८-८९

२ योगनात्प २।७

भगवान महावीर ने दीक्षा लेते समय शरीर पर चन्दन आदि सुगन्धित वस्तुओं का लेप किया था। दीक्षा के बाद जब जंगल में ध्यान करने सड़े हुए तो उस सुगन्ध के कारण भीरे आदि कीट पतंग आ-आकर उनके शरीर पर बैठने लगे और उनकी चमड़ी को छेद कर मांस तक भी नोंचने लग गये। किन्तु प्रभु तो उस स्थिति में अपने ध्यान में ऐसे सड़े रहे जैसे कुछ अनुभव ही नहीं हो रहा हो। उनके जीवन में ध्यानावस्था में अनेक उपसर्ग हुए, पर कभी भी उनका ध्यान भंग नहीं हो सका, वे कभी जी चंचल नहीं बने—यही शुक्लध्यान की स्थिति है। गजसुकुमाल मुनि के मस्तक पर अंगारे भर देने पर भी वे उस मरणांतक पीड़ा से अकम्पित और अचंचल बने रहकर शुक्ल ध्यान में लीन बने रहे। चित्त की इस प्रकार की निमलता एवं स्थिरता जिस अवस्था में प्राप्त हो जाती है वही अवस्था जैन परिभाषा में शुक्ल ध्यान है, वैदिक परिभाषा में 'समाधि' है।

शुक्ल ध्यान के दो भेद किए गये हैं—शुक्ल और परम शुक्ल ! चतुर्दश पूर्वधर तक का शुक्ल ध्यान है, केवली भगवान का ध्यान परम शुक्लध्यान है।^१ यह भेद ध्यान की विशुद्धता एवं अधिकतम स्थिरता की दृष्टि से किये गए हैं।

स्वरूप की दृष्टि से शुक्लध्यान के चार भेद बताये गये हैं—

१ पृथक्त्व वितर्क सविचार—पृथक्त्व—का अर्थ है भेद ! वितर्क का अर्थ है—तर्क प्रधान चिंतन। इस ध्यान में श्रुत ज्ञान का सहारा लेकर वस्तु के विविध भेदों पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिंतन किया जाता है। जैसे कभी जड़ वस्तु को अपने ध्येय का विषय बनाकर उसी के स्वरूप पर चिंतन करते चले गए। द्रव्य-गुण-पर्याय आदि पर विचार करते हुए द्रव्य से पर्याय पर, गुणः पर्याय से द्रव्य पर—इस प्रकार ध्येय का विषय भेदप्रधान बनाकर सूक्ष्म चिंतन करते जाना।

१ तत्त्वार्थ सूत्र ६।३८-४०

२ इक्ष्वाक्य ४।१० समवायस्य ३। भगवती २५।७।

साधना चाहिए। पूर्व के भेदों में ध्याता, ध्यान और ध्येय का भेद रहता है, किन्तु रूपातीत ध्यान सिद्ध होने पर यह भेद रेखा समाप्त हो जाती है, ध्याता ध्येय और ध्यान तीनों एकाकार हो जाते हैं—जैसे समुद्र में समस्त नदियां अपना-अपना स्वरूप विलीन कर समुद्राकार हो जाती हैं, उसी प्रकार इस ध्यान में ध्याता—ध्येय रूप में एकाकार हो जाता है।

श्वेताम्बर मान्यतानुसार छठे गुणस्थान में धर्मध्यान होता है, किन्तु दिगम्बर परम्परा सातवें गुणस्थान से ही धर्मध्यान मानती है—
धर्ममप्रमत्तसंयतस्य^१—धर्म ध्यान अप्रमत्त संयत को ही होता है तथा जिसके कषाय उपशांत एवं क्षीण हो गए हों वही धर्मध्यान का अधिकारी हो सकता है।

शुक्लध्यान का स्वरूप

ध्यान की यह परम उज्ज्वल निर्मल दशा है। मन से जब विषय-कषाय दूर हो जाते हैं, तो उसकी मलिनता अपने आप घट जाती है। मन उज्ज्वल होते-होते—जय शुभ्र वस्त्र की भांति सर्वथा मल रहित हो जाता है तो वह मन शुक्लता को—अर्थात् निर्मलता को प्राप्त कर लेता है। उस निर्मल मन की एकाग्रता एवं अत्यन्त स्थिरता ही शुक्लध्यान कहलाती है। आचार्यों ने शुक्लध्यान की दशा का वर्णन करते हुए बताया है—जिस ध्यान में बाह्य विषयों का सम्बन्ध होने पर भी मन उनकी ओर नहीं जाता तथा पूर्ण वैराग्य दशा में रमता रहता है। इस ध्यान की स्थिति में यदि कोई साधक के शरीर पर प्रहार करे, छेदन भेदन करे तब भी उसके चित्त में संश्लेष पैदा नहीं होता, शरीर को पीड़ा होते हुए भी उस पीड़ा की अनुभूति मन को स्पर्श नहीं कर सकती। भयंकर से भयंकर वेदना व उपसर्ग भी मन को चंचल नहीं बना सकते। साधक का चित्तन बाहर से भीतर की ओर चला जाता है, देह होते हुए भी वह स्वयं को विदेह या देहमुक्त सा अनुभव करने लगता है।

की श्रेणी में आखड़ होकर अयोगी केवली बन जाता है। यह परम निष्कम्प व समस्त क्रिया योग से मुक्त ध्यान दशा है इस दशा को प्राप्त होने पर पुनः उस ध्यान से निवृत्ति-हटना नहीं होता इसी कारण इसे समुच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति शुक्ल ध्यान कहा है। इसी ध्यान के प्रभाव से आत्मा के साथ रहे हुए शेष चार कर्म शीघ्र ही क्षीण हो जाते हैं और अरिहंत भगवान्—वीतराग आत्मा—सिद्ध दशा को प्राप्त कर लेते हैं।

प्रथम दो भेद सातवें से बारहवें गुणस्थान तक माने गए हैं। तीसरा रूप तेरहवें गुणस्थान में रहता है। तथा चौथे ध्यान में आत्मा चौदहवें गुण स्थान में प्रवेश कर जाती है। प्रथम दो ध्यान सालम्बन है— उनमें श्रुत ज्ञान का आलम्बन रहता है किन्तु शेष दो ध्यान—निरवलम्ब ध्यान है, उनमें किसी भी सहारे व आलम्बन की अपेक्षा नहीं रहती।

शुक्लध्यान के चार लिंग व आलम्बन

शुक्लध्यानी आत्मा के चार चिह्न हैं। वह इन चिह्नों (लिंगों) से पहचाना जाता है—

- १ अव्यय—भयंकर से भयंकर उपसर्गों में व्यथित-चलित नहीं होता।
- २ असम्मोह—सूक्ष्म तात्त्विक विषयों में, अथवा देवादिकृत माया से सम्मोहित नहीं होता। उसकी श्रद्धा अचल रहती है।
- ३ विवेक—आत्मा और देह के पृथक्त्व का वास्तविक ज्ञान उसे होता है। कर्तव्य अकर्तव्य का सम्पूर्ण विवेक उसमें जागृत होता है।
- ४ व्युत्सर्ग—समस्त आसक्तियों से, भोजन, वस्त्र तथा देह की आसक्ति से भी सर्वथा मुक्त रहता है। उसका मन परम वीतराग भाव की ओर सतत गतिशील रहता है।

इन चार लक्षणों से पहचाना जा सकता है कि अमुक आत्मा शुक्लध्यान की योग्यता रखता है।

शुक्लध्यान रूप महत्त पर चढ़ने के लिए चार आलम्बन भी साक्ष्यों में बताया गये हैं। आलम्बन से मतलब यही है कि प्रारम्भिक दशा में जिन आलम्बन के मन स्थिर नहीं होता। मन को बांधने के लिए जिन साधनों की आवश्यकता होती है, वे यहाँ बताये गये हैं। वे आलम्बन चार हैं—

२ एकत्ववितर्कसंविचार—जब भेद प्रधान चितन में मन स्थिरता प्राप्त कर लेता है तो फिर अभेद प्रधान चितन में स्वतः ही स्थिरता आ जाती है। इस ध्यान में वस्तु के एक रूप को ही ध्येय बनाया जाता है। यदि किसी एक पर्यायरूप अर्थ पर चितन चलता है तो उसी पर वह चितन चलता रहेगा। साधक जिस योग (मन वचन व काया) में स्थिर है उसी योग पर अटल रहेगा। विषय व योग का परिवर्तन इस ध्यान में नहीं होता। जैसे निर्वृति—हवा रहित स्थान में दीपक स्थिरता के साथ जलता है, वैसे ही विचार-पवन से मन अकंप रहता हुआ ध्यान की ली लगाए रहता है। यद्यपि निर्वृति गृह में भी दीपक को सूक्ष्म हवा मिलती रहती है, वैसे ही इस ध्यान में भी साधक सूक्ष्म विचारों पर चलता है, यह ध्यान सर्वथा निर्विचार ध्यान नहीं है किन्तु विचार स्थिर हो जाते हैं—किसी एक ही वस्तु तत्त्व पर।

३ सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति—यह ध्यान अत्यन्त सूक्ष्म क्रिया पर चलता है। इस ध्यान की स्थिति प्राप्त होने के बाद योगी पुनः अपने ध्यान से गिर नहीं सकता अतः इसे सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती कहा है। जैन आगमों में बताया गया है कि यह ध्यान केवली-वीतराग आत्मा को ही होता है। जब आयुष्य का बहुत कम समय (अन्तर्मुहूर्त) शेष रह जाता है उस समय वीतराग आत्मा में योगनिरोध की प्रक्रिया चालू हो जाती है। स्थूल काययोग के सहारे से स्थूल मन योग को सूक्ष्म बनाया जाता है, फिर सूक्ष्म मन के सहारे स्थूलकाय योग को सूक्ष्म रूप देते हैं। फिर सूक्ष्म काययोग के अवलंबन से सूक्ष्म मन-वचन का निरोध करते हैं उस अवस्था में सिर्फ सूक्ष्म काय योग-मात्र स्वातोच्छ्वास की प्रक्रिया ही शेष रह जाती है उस स्थिति का ध्यान ही यह ध्यान है। इस इसके अन्तर्मुहूर्त में ही आत्मा अयोगी सिद्ध बन जाता है।

४ समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति—शुद्धध्यान की तीसरी दशा—अयोगी दशा की प्रथम भूमिका है, उस ध्यान में स्वातोच्छ्वास की क्रिया शेष रहती है, चतुर्थ ध्यान में प्रविष्ट होते वह दशा भी समाप्त हो जाती है। आत्मा सर्वथा योगों का निरोध कर देती है। आत्म-प्रदेश सर्वथा निष्कल्प बन जाती है। समस्त योग-बन्धनता समाप्त हो जाती है। आत्मा चोखे गुण स्वयं

उपसंहार

ध्यान के विषय में यह गहरा व विस्तृत चिंतन जैन दर्शन में किया गया है। इनमें प्रथम दो ध्यान तो त्याज्य ही है। धर्म ध्यान एवं शुक्ल ध्यान आत्मा के लिए हितकारी है, और उनके द्वारा ही आत्मा कर्म मुक्त हो सकता है।

ध्यान साधना में मुख्य तत्त्व है—समता ! मन को समभाव का जितना ही अभ्यास होगा वह उतना ही अधिक स्थिर बनेगा। आचार्य हेमचन्द्र ने इसीलिए कहा है—

न साम्येन विना ध्यानं न ध्याने न विना च तत्

समभाव के अभ्यास के बिना, समत्व की साधना किये बिना ध्यान नहीं हो सकता, मन स्थिर नहीं हो सकता और बिना मन स्थिर हुए समाधि शांति प्राप्त नहीं हो सकती। अनासक्ति, वीतरागता, निर्ममत्व इनकी उपलब्धि तभी हो सकती है जब मन 'सम' हो गया हो, विषमता दूर हो गई हो। और जिसकी विषमता दूर हो गई वह किसी भी विक्षेप बाधा पर विजय प्राप्त कर मन को ध्यानस्थ, समाधिस्थ कर सकता है। वास्तव में मन की स्थिरता, समाधि यही सच्चा तप है।



- १ क्षमा—उदय में आये हुए क्रोध को शांत करना ।
- २ मार्दव—उदय में आये हुए मान को शांत करना—अर्थात् किसी भी प्रकार का मान नहीं करना ।
- ३ मार्जव—माया का त्याग कर हृदय को सरल बनाना ।
- ४ मुक्ति—लोभ को सर्वथा जीत लेना ।^१

चार अनुप्रेक्षाएं

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं^२—विशेष चिंतन की धारा भी बताई गई है—

१ अतन्त वर्त्तिनानुप्रेक्षा—अतन्त भव-परम्परा के सम्बन्ध में विचार करना । आत्मा किस प्रकार जन्म मरण करती है इस विषय में चिंतन करना ।

२ विपरिणामानुप्रेक्षा—वस्तु परिवर्तनशील है । देह से लेकर सूक्ष्म से सूक्ष्म और पौद्गलिक वस्तु सतत बदलती रहती है, शुभ वस्तु अशुभ रूप में अशुभ शुभ रूप में । उनकी परिवर्तनशीलता-विपरिणामों पर विचार करने से वस्तु की आसक्ति व राग-द्वेष कम हो जाता है ।

३ अशुभानुप्रेक्षा—संसार के अशुभ स्वरूप पर विचार करना । इससे भोग्य पदार्थों के प्रति मन में रत्नानि उत्पन्न हो जाती है जिसे निर्वेद कहते हैं ।

४ अपायानुप्रेक्षा—पापाचरण के कारण अशुभ कर्मों का बन्ध होता है और उससे आत्मा की विविध गतियों में कष्ट व दुःख झेलने पड़ते हैं । उन अपायों—श्रीधादि दोषा तथा उनके कटुफलों का विचार करना ।

वास्तव में ये चार अनुप्रेक्षाएं प्रारम्भिक अवस्था की हैं, जब तक मन में स्थिरता की कमी होती है तब तक ही इन भावनाओं से मन को बाहर में झेदते हुए रोककर भीतर की ओर मोड़ा जाता है, जब धीरे-धीरे वह स्थिर होने लगता है तो मन इन विचारों में स्वतः ही रम जाता है और उसकी बाह्योन्मुखता कम हो जाती है ।

१ स्यानांग सूत्र ५।१। तथा भगवद्गीता २५।७

२ " " " " "

जिसने ममत्ववृत्ति का त्याग कर दिया है उसने समस्त संसार का त्याग कर दिया । वास्तव में उसी ने मोक्ष का मार्ग देखा है, जिसके मन में किसी भी भौतिक वस्तु के प्रति, शरीर के प्रति भी मेरापन—ममत्व नहीं है । विश्व में सबसे बड़ा बन्धन एक ही है—ममत्व ! परिग्रह ।

नत्थि एरिसो पासो पडिबन्धो अत्थि सब्ब जीवाणं^१

जीव के लिए ऐसा पाश-बंधन और प्रतिबंध संसार में दूसरा नहीं है जैसा यह परिग्रह अर्थात् ममत्व है ! इस ममत्व-बुद्धि का त्याग कर देने वाला ही सच्चा साधक व सच्चा तपस्वी हो सकता है ।

ममत्व बुद्धि का परिहार करने के लिए अनेक साधन व उपाय बताये गये हैं उनमें ही एक मुख्य साधन है—व्युत्सर्ग !

व्युत्सर्ग—आभ्यन्तर तपों की श्रेणी में छठा व अन्तिम तप है । इस तप की साधना जीवन में निर्ममत्व की, निस्पृहता की और अनासक्ति एवं निर्भयता की ज्योति प्रज्ज्वलित करती है । साधक में आत्मसाधना के लिए अपूर्व साहस और बलिदान की भावना जगाती है ।

व्युत्सर्ग की परिभाषा

व्युत्सर्ग—में दो शब्द हैं वि-उत्सर्ग । वि का अर्थ है विशिष्ट और उत्सर्ग का अर्थ है—त्याग । विशिष्ट त्याग, अर्थात् त्याग करने की विशिष्ट विधि—व्युत्सर्ग है ।

आज्ञा और ममत्व जीवन का सबसे बड़ा बंधन है । वह आज्ञा, ममत्व चाहे धन का हो, परिवार का हो, मित्रों का हो, भोजन आदि रसों का हो, या अपने शरीर का ही हो, बंधन है, मोह है और जब तक वह नहीं छुटता-मुक्ति नहीं मिल सकती । व्युत्सर्ग में इन सब पदार्थों के मोह का त्याग किया जाता है, उनके प्रति, यहां तक कि शरीर व प्राण के प्रति भी मोह त्याग दिया जाता है, सर्वत्र सर्वदा—निर्ममत्व भाव की पवित्र भावना से आत्मा को बलिदान के लिए तैयार किया जाता है । दिगम्बर आचार्य अनेक न व्युत्सर्ग की परिभाषा करते हुए लिखा है—



व्युत्सर्ग तप

निर्ममत्व की साधना-व्युत्सर्ग

जैन धर्म के उपदेशों का सार यदि एक वाक्य में बताना हो तो कहा जा सकता है—निर्ममत्व ! वीतरागता ! ममत्व का त्याग करके वीतराग भाव प्राप्त करना, वस्तु यही समस्त जैन दर्शन का सार है । किसी विद्वान से पूछा जाय कि समस्त भारतीय दर्शन का सार क्या है ? तो वह इसके सिवा और क्या बतायेगा ? उपनिषदों का सार गीता है । और गीता का सार है—अनासक्ति योग ! बुद्ध के समस्त उपदेशों में जो तत्त्व मुख्य है, वह है—उपेक्षा वृत्ति ! और जैन धर्म के समस्त आगमों में जिस शब्द की प्रतिध्वनि गूँज रही है, वह है वीतरागता । बाहिर समस्त दर्शनों की मूल भावना एक ही है—शरीर, भोग, वस्तु प्रतिष्ठा आदि समस्त बाह्य तत्त्वों के प्रति उदासीनता रखना, उनके प्रति उपेक्षा भाव रखना, उनसे अनासक्त रहना और उनके प्रति ममत्व भाव का त्याग कर देना । भगवान् महावीर ने कहा है—

जे ममादय मदं जहाइ से जहाइ ममादयं ।

सेह बिदुषहे मुनी अस्त पत्थि ममादयं^१

जिनकी चर्चा भगवती, स्वामांग आदि सूत्रों में की गई है। यहां व्युत्सर्ग के उन समस्त भेदों पर विचार करना है।

विउत्सर्गो बुविहे पणत्ते तं जहा—

द्वव्विउत्सर्गो य भावविउत्सर्गो य ।^१

व्युत्सर्ग तप दो प्रकार का है, द्रव्य व्युत्सर्ग और भाव व्युत्सर्ग। द्रव्य व्युत्सर्ग के चार प्रकार हैं—

१. गण व्युत्सर्ग, २. शरीर व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग)

३. उपधि व्युत्सर्ग, ४. भक्तपान व्युत्सर्ग।

१. गणव्युत्सर्ग—‘गण’ नाम समूह का है। भारतीय परम्परा में गण शब्द बहुत ही विश्रुत है। प्राचीन समय में ‘गण’ का बहुत महत्व था। मनुष्यों के विविध प्रकार के समूह, दल या कुटुम्ब होते थे जो गण कहलाते थे। यहां गण से—एक या अनेक गुरुओं के शिष्यों का समूह—यह अर्थ अभिप्रेत है। गण में अनेक प्रकार के साधु रहते हैं जो अपनी-अपनी रूचि व सामर्थ्य के अनुसार साधना व श्रुत अव्ययन करते रहते हैं। साधना करने के लिए ‘गण’ का आलंबन—सहारा आवश्यक होता है। जैसे शरीर, गृहस्थ आदि साधना में उपकारी होते हैं, वैसे ही ‘गण’ भी साधना में सहयोगी व उपकारी होता है। गण के आश्रय से साधु अपनी चर्चा निर्दोष एवं समाधिपूर्वक चला सकता है। भगवान महावीर के शासन में तथा अन्य तीर्थंकरों के शासन में गणव्यवस्था थी, एक-एक गण में सैकड़ों हजारों साधु रहते थे, सबकी समाचारी तथा प्ररूपणा एक जैसी होती थी। उस गण के नायक ‘गणधर’ कहलाते थे।

यहां प्रश्न होता है जब ‘गण’ साधना में अति आवश्यक है तो फिर उसका व्युत्सर्ग—त्याग क्यों किया जाय ? उत्तर है—गण से भी अधिक उपकारी मनुष्य का अपना ‘शरीर’ है, किन्तु साधना को अधिक तेजस्वी व प्रखर बनाने के लिए जब शरीर का ही त्याग किया जाता है तो ‘गण’ की बात तो बहुत ही साधारण हो गई। अतः साधक को जब यह अनुभव हो

निःसंग-निर्भयत्व जीविताशा व्युदासाद्यर्थो व्युत्सर्गः^१

निःसंगता—अनासक्ति, निर्भयता और जीवन की लालसा का त्याग, वस इसी आधार पर टिका है—व्युत्सर्ग ! धर्म के लिए, आत्म साधना के लिए, अपने आपको उत्सर्ग करने की विधि ही व्युत्सर्ग है। यही व्युत्सर्ग की संक्षिप्त परिभाषा जैन धर्म में की गई है। आचार्य भद्रबाहु ने कहा है—

अन्नं इमं सरीरं अन्नो जीवुत्ति कय वुद्धो ।^२

व्युत्सर्ग तप की साधना करने वाले में यह दृढ़ बुद्धि होती है कि— गह शरीर अन्य है, और मेरा आत्मा अन्य है। शरीर को त्यागना है, नाशमान है, आत्मा को अपनाना है, वह शाश्वत है, चिरकाल का साथी है। वस इसी धारणा पर चलता हुआ साधक शरीर जो कि 'पर' है—उसकी ममता से दूर हटता है, और आत्मा जो कि 'स्व' है उसके निकट आता है। आत्मा के लिए सब कुछ त्याग देने को तत्पर हो जाता है।

व्युत्सर्ग का स्वरूप

व्युत्सर्ग को छठा आभ्यन्तर तप माना है—और इसका वर्णन अनेक सूत्रों में मिलता है। उत्तराध्यायन में बहुत संक्षेप में ही इस विषय में बताया है, और सिर्फ कायोत्सर्ग को ही वहां व्युत्सर्ग का पर्यायवाची बताया गया है—

तपणासण्ठाणे वा जेउ निष्यू न वावरे ।

कायस्स विउस्ताणो छट्ठो सो परिकस्तिओ ।^३

जो निषू—सोना-बैठना-उठना आदि समस्त कार्यात्मिक क्रियाओं का त्याग कर शरीर को स्थिर करके उसकी ममता का, उसकी सार संभाल का त्याग कर देता है—वह कायोत्सर्ग छठा तप है।

यहां व्युत्सर्ग का स्वरूप बहुत ही संक्षेप में बताया है। कायोत्सर्ग भी व्युत्सर्ग है, किन्तु इसके साथ अन्य भी कई प्रकार के व्युत्सर्ग सम्बन्ध हैं,

१ तत्पार्थसारथ्यादिक २।२६।१०

२ आचर्यक निर्युक्ति १५५२

३ उत्तराध्यायन ३०।३६

आराधना के लिए गण का त्याग कर अन्य गण में जाना अथवा एकाकी रहना ।

कायोत्सर्ग

२. शरीर व्युत्सर्ग—इसी का दूसरा नाम कायोत्सर्ग है । कायोत्सर्ग का मुख्य उद्देश्य है—दोषों की विशुद्धि करना । धर्मापराधना करते हुए कभी-कभी उसमें प्रमाद भी हो जाता है, उस प्रमाद के कारण अशुभ कर्मों का बन्धन भी होता है । चारित्र्य में कुछ दोष लग जाने से मलिनता भी आ जाती है । उस मलिनता को दूर कर चारित्र्य रूप शरीर को पुनः उज्ज्वल व निर्मल बनाने के लिए कायोत्सर्ग एक प्रकार का स्नान है । इससे चारित्र्य शरीर पर लगा मल, उसके कण-कण से दूर होकर पुनः निर्मलता और कांति प्राप्त होती है । विशुद्धि का यह उद्देश्य स्पष्ट करते हुए आवश्यक सूत्र में बताया है—

तस्स उत्तरीकरणेण पापच्छिन्न करणेण, विसोही करणेण, विसरली करणेण पावाणं कम्माणं निग्घायणद्वाए ठामि काउत्सर्गं ।

—उस संयम जीवन को विशेष रूप से परिष्कृत करने के लिए, लगे हुए दोषों का प्रायश्चित्त करने के लिए, आत्मा को विशुद्ध करने के लिए, शल्प रहित करने के लिए पाप कर्मों का निघाति—उन्हें नष्ट करने के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ।

कायोत्सर्ग में साधक अपने अज्ञान—प्रमाद बना हुई भूलों के लिए—प्रायश्चित्त करता है, मन में पश्चात्ताप करता है और शरीर की ममता को त्याग कर उन दोषों को दूर करने के लिए कृतसंकल्प होता है । उस दृढ़ संकल्प से, पश्चात्ताप से किये हुए कर्मों का भार हलका हो जाता है, आत्मा पर से जैसे कोई बोझ उठजाता है, वैसी लघु अमता अनुभव होने लगती है ।

भगवान् महावीर
है? उत्तर में बताया है

क.५

महा कल विद्या

कि मेरी साधना, ज्ञानाभ्यास आदि में गण को छोड़ देने से अधिक लाभ हो सकता है तो उन कारणों को ध्यान में रखकर वह 'गण' को छोड़ भी सकता है। स्थानांग सूत्र में बताया है, साधक सात कारणों से गण का व्युत्सर्ग, गण का त्याग कर सकता है।

—गण छोड़ने के सात कारण ये हैं—

१. मैं सब धर्मों (ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की साधनाओं) को प्राप्त करना (साधना) चाहता हूँ और उन धर्मों (साधनाओं) को मैं अन्य गण में जाकर ही प्राप्त कर (साध) सकूँगा अतः मैं गण छोड़कर अन्य गण में जाना चाहता हूँ।

२. मुझे अमुक धर्म (साधना) प्रिय है और अमुक धर्म (साधना) प्रिय नहीं है। अतः मैं गण छोड़कर अन्य गण में जाना चाहता हूँ।

३. सभी धर्मों (ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य) में मुझे सन्देह है अतः संशय निवारणार्थ मैं अन्य गण में जाना चाहता हूँ।

४. कुछ धर्मों (साधनाओं) में मुझे संशय है और कुछ धर्मों (साधनाओं) में संशय नहीं है। अतः मैं संशय निवारणार्थ अन्य गण में जाना चाहता हूँ।

५. सभी धर्मों (ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य सम्बन्धी) की विशिष्ट धारणाओं को मैं देना (तिताना) चाहता हूँ। इस गण में ऐसा कोई योग्य पात्र नहीं है अतः मैं अन्य गण में जाना चाहता हूँ।

६. कुछ धर्मों (पूर्वोक्त धारणाओं) को देना चाहता हूँ और कुछ धर्मों (पूर्वोक्त धारणाओं) को नहीं देना चाहता हूँ अतः मैं अन्य गण में जाना चाहता हूँ।

७. एकल पिहार की प्रतिमा धारण करके विचरना चाहता हूँ। (अतः मैं गण छोड़कर जाना चाहता हूँ।)

'गण व्युत्सर्ग' का मुख्य प्रयोजन है—श्रुत ज्ञान व चारित्र्य का विज्ञेय

१ धर्मसाधने की गण छोड़ने का कारण बताकर गण छोड़ने की आज्ञा प्राप्त कर लेनी चाहिए। आज्ञा मिलने बिना गण नहीं छोड़ना चाहिए।

परिग्रह है—उनकी ममता । ममता छूट गई तो फिर यह शरीर तो उपकारी हो जायेगा । तो इसलिए शरीर की ममता, मोह, सार संभाल-इसका त्याग करना—अर्थात् ममता कम करते जाना—यही कायोत्सर्ग का अर्थ है । देह का नहीं, किन्तु देह-बुद्धि का विसर्जन करना—कायोत्सर्ग का उद्देश्य है । इसमें साधक कुछ समय के लिए शरीर को स्थिर कर, जिनमुद्रा धारण करके खड़ा हो जाता है, मन में संकल्प करता है—अप्पाणं वोसिरामि मैं कुछ समय के लिए अपने शरीर का त्याग कर रहा हूँ, अर्थात् दंश, मंस आदि काटें, लाज खुजली आये, सर्दी लगे, गर्मी लगे—शरीर को कुछ भी कष्ट हो, पर मैं उस ओर तनिक भी ध्यान नहीं दूंगा—यह सोचूंगा अभी मैं शरीर से दूर हूँ, आत्मा में विचरण कर रहा हूँ । और यही भावन कहेंगा—

शरीरतः कर्तुं मनन्तशक्ति

विभिन्नमात्मानमपास्त दीप ।

जिनेन्द्र ! कोपादिव खङ्गयष्टि

तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः !

हे प्रभो ! आप की कृपा से मेरी आत्मा में ऐसी शक्ति प्रकट हो ! ऐसा आध्यात्मिक बल जागृत हो कि मैं अपनी अनन्त शक्ति सम्पन्न दीप रहित निर्मल आत्मा को शरीर से सर्वथा अलग समझ सकूँ—जैसे म्यान से तलवार अलग रहती है ।

शरीर म्यान है, आत्मा तलवार है—कायोत्सर्ग में इन दोनों को अलग-अलग समझने की भावना जागृत होती है, इन दोनों का निवृत्तत्व भी अनुभव होता है । शरीर पर चाहे जितनी वेदना का प्रभाव हो, उपसर्ग हो, कोई प्रहार करे किन्तु उस समय साधक शरीर की पीड़ा से अर्थात् पीड़ा की अनुभूति से जैसे सर्वथा दूर चला जाता है, उसकी शरीर के दुःख-यद से कोई सम्बन्ध भी नहीं रहता, यत, यह तो अपने आत्मध्यान में स्थिर पड़ा रहता है । और देह में होते हुए भी देह बुद्धि से, देह भाव से सर्वथा मुक्त-भाव हो जाता है ।

जीवे निव्वुयहियए ओहरिय भएव्व भारवहे पसत्थ साणोवगए सुहं सुहेणं विहरई ।^१

संयम जीवन में प्रमाद वश साधक कभी जो इधर-उधर भटक जाता है, और दोष सेवन कर लेता है—जाने अन जाने जो भूलें कर बैठता है—कायोत्सर्ग करने से उन सब भूलों और दोषों की शुद्धि कर लेता है। आत्मा को निर्मल एवं निष्पाप बना लेता है। निर्मल आत्मा अपने आपको बहुत हलका और प्रसन्न अनुभव करता है। कल्पना करिए—जेठ का महीना हो, मंजिल दूर हो, ऊँचा-नीचा ऊबड़-खाबड़ रास्ता हो, और सिर पर मन भर की गठरी लिए कोई मजदूर चल रहा हो। बोझ से सिर की नसें टूट रही हों, पसीने से तर-वतर हो रहा हो, दम फूल रहा हो। उस समय में कोई आदमी उस मजदूर का बोझ उतार कर अलग रखवा दे, उसे शीतल छाया में विश्राम करने देवे—तो उसे कितना आनन्द होगा और कितनी प्रसन्नता तथा हलकापन उसे अनुभव होगी। मजदूर की भांति पापों के भार से दबी आत्मा की स्थिति है। वह पापों के भार से इतनी खेदविन्न हो रही है कि यदि उसे क्षणभर भी कहीं हलकापन अनुभव हों, विश्रान्ति मिले तो वह बड़ी प्रसन्नता अनुभव करेगी ! कायोत्सर्ग द्वारा पापों का वह भार दूर हटा दिया जाता है। आत्मा हलका हो जाता है। उसके भीतर प्रशस्त ध्यान की शीतल धारा बहने लगती है और प्रसन्नता की उमियाँ उठने लगती हैं—आत्मा स्वयं को बड़ा ही सुसमय एवं आनन्द नय अनुभव करने लगता है।

देह-बुद्धि का विसर्जन

कायोत्सर्ग शब्द दो शब्दों के योग से बना है—इसमें काय और उत्सर्ग—ये दो शब्द हैं। दोनों का मिलकर अर्थ होता है काया का त्याग। प्रत्य होता है काया का त्याग तब तक कैसे हो सकता है जब तक प्राण है ! प्राणधारण के लिए तो शरीर आवश्यक है ! यहाँ समाधान यह है कि काया का त्याग करने का अर्थ है—काया की नमता का त्याग। क्योंकि यह तो कई बार स्पष्ट किया जा चुका है—शरीर, उपधि आदि बंधन नहीं है, बंधन प

राजा चन्द्रावतंस राज्य करते हुए भी बड़ा साधनामय जीवन जीता था। एक बार उसने किसी पर्व तिथि पर उपवास किया। रात्रि में कायोत्सर्ग करने का विचार कर महलों में ही एकांत स्थान पर जाकर खड़ा हो गया। सामने एक दीपक जल रहा था, धीमे-धीमे टिमटिमा रहा था। राजा ने कायोत्सर्ग करने के साथ ही मन में संकल्प किया—“जब तक यह दीपक जलता रहेगा मैं कायोत्सर्ग में खड़ा अपना आत्मध्यान करता रहूंगा।” कुछ समय बीता। राजा की परिचारिका दासी उधर आई। उसने सोचा—महाराज साधना कर रहे हैं, दीपक टिम-टिमा रहा है, कहीं तेल खत्म न हो जाय, अंधेरा हो जायेगा, तो महाराज को कष्ट होगा। दासी ने तुरन्त दीपक की लबालब भर दिया, उसकी ली और तेज जल उठी! दीपक जलता रहा तो राजा भी अपने संकल्प के अनुसार कायोत्सर्ग किये स्थिर खड़ा रहा। मध्य रात्रि का समय हो गया। दासी ने सोचा—महाराज अभी तक खड़े हैं! आज तक कभी इतनी देर खड़े नहीं रहे, जरूर आज कोई विशेष साधना कर रहे हैं, कहीं ऐसा न हो कि दीया गुल हो जाय, अंधेरा हो जाय! दासी ने फिर दीये को छलाछल भर दिया। राजा अपने संकल्प के अनुसार खड़ा रहा। उसके पैरों में भयंकर वेदना होने लगी, नसें फटने लगी, पर राजा दृढ़ता के साथ अपने कायोत्सर्ग-ध्यान में खड़ा रहा। बाहर वह तेल का दीपक जलता रहा, भीतर में उसके निर्मल भावों का दीपक जलता रहा, जैसे-जैसे तेल कम होता, दासी तेल भरती गई, राजा का संकल्प भी दृढ़-दृढ़तर होता गया। उसने शरीर की असह्य वेदना से मन को हटा लिया। प्रातः पौ फटते-फटते दीपक का तेल खत्म होने आया इधर राजा के शरीर का तेल (शक्ति) भी प्रायः समाप्त हो चुका था, पैर सूज गये थे, वह घड़ाम से भूमि पर गिर पड़ा और परम पवित्र ध्यान में देह विसर्जन कर उच्च गति को प्राप्त कर लिया।

तो, इस प्रकार कायोत्सर्ग साधना के बल पर साधक अपनी देह से, देह ममत्व को पूर्णतः विसर्जन करने की स्थिति में भी पहुँच जाता है।

जब तक शरीर के प्रति ममत्वा रहता है साधक कोई भी साधना कर

हमारे इतिहास के प्राचीन ग्रंथों में ऐसे सैकड़ों—हजारों उदाहरण मिलते हैं, जहां साधु संत, साधक जंगल में, श्मशान में, कहीं शून्य एकांत स्थान में कायोत्सर्ग करके खड़े होते हैं, देह भाव से निकलकर आत्मा की परम ज्योति में लीन हो जाते हैं और उस समय उन्हें भयंकर उपसर्ग होते हैं, कोई प्रहार करता है, कोई मारता है, शरीर का छेदन भेदन करता है, किन्तु साधक ऐसे स्थिर सड़ा रहता है जैसे यह शरीर का उसका है ही नहीं ! आचार्य भद्रबाहु ने साधक की उस स्थिति का चित्रण किया है—

वासी - चंदणकप्पो

जो मरणे जीविए य समसण्णो ।

देहे य अप्पडिच्चट्ठो

काउत्तण्णो हवइ तत्स ॥१५४८॥

चाहे कोई भक्ति भावपूर्वक चंदन का लेप करे या कोई द्वेप पूर्वक बसोले से छीले । चाहे जीवित रहे या मृत्यु आ जाय, किन्तु उन सभी स्थितियों में साधक देह में आसक्ति नहीं रखता है, समभाव पूर्वक स्थिर रहता है, वस्तुतः ऐसा साधक ही कायोत्सर्ग कर सकता है ।

तिविहाणुवसग्गाणं

दिग्घाणं माणुसाण तिरियाणं ।

सम्ममहिप्पासणाए

काउत्तण्णो हवइ सुट्ठो ॥१५४९॥

कायोत्सर्ग की साधना करते समय देवता, मनुष्य तथा तिर्यक् सन्त्यधी उपसर्ग भी हो सकते हैं, साधक उन उपसर्गों की सन्त्यक्ष प्रकार से सहन करे तभी उसका कायोत्सर्ग शुद्ध हो सकता है ।

इतनी निष्कृष्टता, पीतरागता और सहिष्णुता का प्रत्यक्ष वर्जन कायोत्सर्ग में होता है । साधु ही नहीं, गृहस्थ भी इस कायोत्सर्ग तप की साधना करता है, यह भी विदेह भाव में रमण करने की चेष्टा कर सकता है । इतिहास में एक उदाहरण आता है राजा अद्राक्षतस का । जो इस प्रकार है—

सो पुण काउस्सगो दव्वतो भावतो य भवति ।

दव्वतो कायचेट्ठा निरोहो, भावतो काउस्सगो ज्ञानं ।^१

वह कायोत्सर्ग भी द्रव्य एवं भाव से दो प्रकार का होता है । द्रव्य-काय चेष्टा का निरोध और भाव— धर्म एवं शुक्ल ध्यान में रमण करना । प्रथम शरीर की चंचलता एवं ममता का त्याग कर जिनमुद्रा में स्थिर खड़ा होना चाहिए, यह कायचेष्टा निरोध है । उसके आगे धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान में रमण करना चाहिए । मन को जब पवित्र विचारों में, उच्च संकल्पों में बाँधा जायेगा तभी वह शरीर पर होने वाले प्रहार व वेदना के कष्ट से अनुभव शून्य रह सकता है । अतः कायोत्सर्ग में मुख्य बात ध्यान की है । ध्यान की भूमिका तैयार करने के लिए ही प्रथम द्रव्य कायोत्सर्ग किया जाता है फिर द्रव्य से भाव में प्रवेश करना होता है । यही भाव कायोत्सर्ग का प्राण है कायोत्सर्ग को चमत्कारी बनाने वाला तत्त्व ध्यान ही है । इसी ध्यान युक्त कायोत्सर्ग को सब दुःखों से मुक्ति दिलानेवाला कहा है—काउस्सगं तओ कुज्जा सव्वदुखविमोक्खणो^२—यह सब दुःख विमोचक कायोत्सर्ग कौन सा है ? भाव कायोत्सर्ग ! ध्यान कायोत्सर्ग !

कायोत्सर्ग के चार प्रकार

कायोत्सर्ग के द्रव्य-भाव भेद का स्वरूप समझाने के लिए आचार्यों ने उसके चार प्रकार बताये हैं—^३

१ उत्थित-उत्थित—कायोत्सर्ग के लिए खड़ा होने वाला साधक जब शरीर से खड़ा हो जाता है तो उसके साथ उसका मन-अन्तरचेतना भी खड़ी—जागृत रहती है । अनुभूत ध्यान का त्याग कर वह शुभ-प्रसास्त ध्यान में लीन होता है । इस प्रकार प्रथम श्रेणी का साधक तन एव मन—द्रव्य एवं भाव दोनों दृष्टियों से उत्थित होता है ।

२ उत्थित-निषिष्ट—कुछ साधक शरीर से खड़े होकर अंधों की भाँति

१ आवश्यक चूनि

२ उत्तराध्यायन २६।४२

३ दशिए—अमर मुद्रा पृ० १०२ (उपाध्याय श्री अमरमुनि)

नहीं सकता। शरीर की ममता घटाने के लिए उसे प्रतिक्षण यह भावना करनी चाहिए—कि शरीर मेरा नहीं है, मुझे इस शरीर से कुछ आध्यात्मिक लाभ उठाना है। कायोत्सर्ग की साधना साधक के जीवन की प्रतिदिन की साधना है। प्रतिक्रमण में बार-बार जो यह पाठ बोला जाता है—अप्पाणं वोसि रामि ठाएमि फाउत्सगं उसका भाव यही है कि देह के प्रति अममत्व का भाव बार-बार मन में जगता रहना चाहिए। सिर्फ प्रतिक्रमण के समय में ही नहीं, किन्तु रात-दिन साधना के समय मन में इस प्रकार के संकल्प जगते रहने चाहिए और क्षण-क्षण कायोत्सर्ग की भावना करनी चाहिए। भगवान ने कहा है—अभिवच्छणं फाउत्सगगकारी^१ अभीक्षण-प्रतिक्षण कायोत्सर्ग करता रहे, अर्थात् हर समय देह की ममता से दूर रहने का अभ्यास करता रहे। साधक के प्रत्येक चिंतन में, प्रत्येक सांस में यह भाव गूँजता रहे—

अन्नं इमं सरीरं अन्नो जीवुं ति

शरीर अन्य है, जीव-आत्मा अन्य है, और इसी भाव की अनुभूति हृदय में प्रतिक्षण करता रहे।

कायोत्सर्ग में ध्यान

कायोत्सर्ग का अर्थ सिर्फ यह नहीं है कि शरीर की चंचलता का त्याग कर, वृक्ष की भांति, पर्यंत की तरह या काष्ठ की भांति निष्पंद सड़े हो जाना। माय इतने से कार्य के लिए कायोत्सर्ग नहीं किया जाता। मूल बात तो यह है कि शरीर की निष्पंदता तो एकेन्द्रिय आदि प्राणियों में भी हो सकती है, पर्यंत पर चाहे जितने प्रहार करो, वह कब चंचल होता है और कब किसी पर रोप करता है? किन्तु यह निष्पंदता और स्थिरता तो जड़ (अविकसित प्राणी) की स्थिरता है। सचेतन स्थिरता नहीं। इसीलिए जैन आचार्यों ने कायोत्सर्ग के भी दो प्रकार के बताए हैं—द्रव्य कायोत्सर्ग और भाव कायोत्सर्ग। आचार्य जिनदास गणी ने बताया है—

१. दम्यकालिक, भूति का प्रतीय

हे—संयम साधना में आवश्यक मर्यादानुसार रखे गये वस्त्र, पात्र आदि साधनों का । साधक को वस्त्र की आवश्यकता रहती है, पात्र आदि अन्य वस्तुओं की भी । उनके रखने की मर्यादा शास्त्र में बताई गई है । उस मर्यादा से उपरांत तो रखना ही नहीं चाहिए, किन्तु यह भी जरूरी नहीं है कि जितनी मर्यादा है उतने वस्त्र-पात्र रखना ही चाहिए । उनमें से भी कमी करते जाना, कम से कम पात्र तथा अन्य वस्तुएं रखकर शरीर का संकोच करना चाहिए, सुविधा का संकोच करना चाहिए । साधु के सामने आदर्श है—अप्योयहि उव-गरणजाए अल्पउपधि और अल्पउपकरण रखकर अपनी जीवन चर्चा चलाए । साधक के लिए भगवती सूत्र में कहा है—लाघवियं पसत्यं लघुता, हल्कापन प्रशस्त है । अल्प उपकरण, अल्प उपधि रखना—द्रव्य लघुता है, वायु हल्कापन है और यह संयमी साधक के लिए आवश्यक है । उपधि व्युत्सर्ग में साधक तीन वस्त्रों में से एक वस्त्र का परित्याग करे, फिर दो वस्त्र का परित्याग कर सिर्फ एक ही वस्त्र में सर्दी गर्मी बिताए तथा समय आने पर उस एक वस्त्र का भी परित्याग कर अचेल अवस्था प्राप्त करे—इसी प्रकार अन्य उपकरणों का भी त्याग करते हुए स्वयं को संयम की कसौटी पर कसता जाए, परीपहों से जुझता रहे ।

४ भक्तपान व्युत्सर्ग—भोजन पानी का परित्याग करना । इसमें अनशन और ऊनोदरी दोनों तपों की साधना समाविष्ट है । क्रमशः आहार का त्याग करते हुए समय पर संपूर्ण आहार का त्याग कर देना—यह भक्तपान व्युत्सर्ग की साधना है । इसका विस्तृत वर्णन अनशन एवं ऊनोदरी तप में किया गया है पाठक वहां देखें ।

भाव व्युत्सर्ग

भाव व्युत्सर्ग के तीन भेद बताये गए हैं—

१ कयापव्युत्सर्ग—चार कयाप—कोष, मान, नासा और लोभ इनकी क्षीय करना, धीरे-धीरे इन को छोड़ने का प्रयत्न करना कयाप व्युत्सर्ग है । शास्त्र में चार कयापों को जीतने का एक-एक साधन बताया है—
अमे—

लेते हैं किन्तु उनका मन वास्तव में सुप्त रहता है, वे भाव से गिरे रहते हैं। मन विविध विकल्पों में, अशुभ ध्यानों में उलझा रहता है। इसमें शरीर खड़ा, मन—आत्मा बैठा रहता है।

३ उपविष्ट-उत्थित—कभी-कभी शरीर की अस्वस्थता, अशक्ति तथा वृद्ध अवस्था आदि के कारण साधक कायोत्सर्ग के लिए खड़ा नहीं हो सकता, किन्तु उसके हृदय में शुभ भावों का तीव्र वेग उमड़ता रहता है। उसका मन खड़ा रहता है, किन्तु अशक्ति के कारण तन बैठा रहता है।

४ उपविष्ट-निविष्ट—यह चौथी श्रेणी कायोत्सर्ग की एक विडम्बना मात्र है। आलस्य एवं कर्तव्यशून्यता के कारण साधक शरीर से भी बैठा रहता है तथा उसका मन, विषय भोगों में, सांसारिक चिन्तन में फँसा रहता है। उसका तन, मन दोनों ही गिरे होते हैं।

इन चारों कायोत्सर्गों में पहला एवं तीसरा कायोत्सर्ग वास्तव में ही कायोत्सर्ग है, वह तप है और उनके द्वारा साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

यद्यपि शरीर व्युत्सर्ग को द्रव्यव्युत्सर्ग में गिना गया है किन्तु वास्तव में यह द्रव्य से भाव की ओर महाप्रयाण है। शरीर द्रव्य है, स्थूल है, अतः इस दृष्टि से द्रव्य के साथ इसे लिया है किन्तु वास्तव में यह स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ने की सर्वोत्कृष्ट प्रक्रिया है। उत्तराध्ययन में कायोत्सर्ग को ही व्युत्सर्ग तप बताया है इसके पीछे भी यही दृष्टि प्रतीत होती है कि सब में मुख्य तत्व शरीर ही है, शरीर है तभी गण, उपधि, आहार, कर्म आदि उसके साथ संलग्न है और उनका अस्तित्व है। शरीर से जब ममत्व हट गया तो उपधि, आहार आदि से फिर ममत्व करने का कोई कारण ही नहीं रहता। इस विचार से कायोत्सर्ग स्वयं ही समस्त व्युत्सर्ग तप या प्रतिनिधि स्वरूप माना जा सकता है जैसे कि उत्तराध्ययन में भी बताया है—

कायस्त विउत्तगो छट्ठो सो परिकृतिभो।

काय का व्युत्सर्ग करना छठा व्युत्सर्ग तप है।

व्युत्सर्ग के अन्य भेद

१ उपधि व्युत्सर्ग यह द्रव्य व्युत्सर्ग का तीसरा भेद है। उपधि नाम

संलीनता आदि के अन्तर्गत कई बार आ ही चुका है। अतः यहां संसार से चार गति रूप संसार ही अभिप्रेत है— ऐसा अनुमान है।

आगमों में स्थान-स्थान पर चाउरंत संसारकंतारे शब्द आता है, जिसका अर्थ है चार गतिरूप, चार अंत—किनारे हैं जिस संसार अरण्य के, वह संसार कंतार ! स्थानांग में आगे चार प्रकार के संसार में, नरक संसार तिर्यञ्च संसार, मनुष्य संसार एवं देव संसार बताया गया है।^१

प्रश्न होता है चार गति का व्युत्सर्ग कैसे किया जाय और उसका क्या प्रयोजन है ? समाधान है—चार गति आत्मा के परिभ्रमण की चार स्थितियां हैं। आत्मा जैसा शुभाशुभ कर्म करता है, तदनुसार ही शुभ-अशुभ गति में जन्म लेता है। उस गति को प्राप्त होने का कारण तदर्थ कर्म है, अतः गति का त्याग तभी हो सकता है जब उस गति के योग्य व हेतुभूत कर्मों का—कारणों का त्याग किया जाय। आगमों में चार गति के योग्य कर्म बंधन के चार-चार कारण बताये हैं। जैसे^२

नरक गति के योग्य कर्म बंधन के चार कारण हैं—

१ महारंभ, २ महापरिग्रह ३ पञ्चेन्द्रिय प्राणि का वध ४ मांसाहार।

तिर्यञ्च गति के हेतु भूत चार कर्म हैं—

१ मायाचरण, २ घटता, ३ असत्य वचन ४ कुटतोल कुट माप।

मनुष्य गति के हेतु भूत चार कर्म हैं—

१ प्रकृति भद्रता, २ प्रकृति की विनीतता, ३ दयानुता ४ अन ईर्ष्याभाव।

देवगति के हेतु भूत चार कारण हैं—

१ सदाश संयम, २ संयमानेयम ३ ज्ञाततप ४ अज्ञात निजंरा

इन कारणों में कुछ शब्द—सुमने में अच्छे लगते हैं, जैसे मनुष्य गति के चार कारण हैं। ये चार गुण सौ हैं, किन्तु इनके माप अज्ञान, निर्यास आदि की मज्जा है। क्योंकि सम्यग् दर्शनों की दयानुता, विनीतता, संयमता की

१ स्थानांग सूत्र भा० २६४

२ स्थानांग भा० ३५३

उवसमेण हणे कोहं माणं मद्दवया जिणे

माय मज्जवभावेण लोहं संतोसओ जिणे ।^१

क्रोध को क्षमा से, मान को मृदुता-विनय से, माया को ऋजुता-सरलता से तथा लोभ को संतोष से जीतना । इन चार धर्मों की साधना के द्वारा चार कपायों को क्षीण करते रहना कपाय व्युत्सर्ग की साधना है । इसका विस्तृत वर्णन कपाय प्रतिसंलीनता तप में किया गया है ।

२ संसार व्युत्सर्ग—संसार का अर्थ हैं नन्क, तिर्थच, मनुष्य एवं देव रूप चार गतियाँ । स्थानांग सूत्र में संसार चार प्रकार का बताया है—

चउव्विहे संसारे पण्णत्ते तं जहा—

द्रव्यसंसारे, क्षेत्रसंसारे, कालसंसारे, भावसंसारे ।^२

द्रव्य संसार—चार गति रूप ।

क्षेत्र संसार—लोकलोकान रूप । अधः, ऊर्ध्व एवं मध्यलोक रूप ।

काल संसार—एक समय से लेकर पुद्गल परावर्तन तक काल रूप ।

भाव संसार—संसार परिभ्रमण के हेतु रूप कपाय, प्रमाद आदि ।

यहां संसार से चार गति रूप द्रव्य संसार ही समझना चाहिए । क्योंकि क्षेत्र व काल संसार का व्युत्सर्ग होता नहीं और वह साधक के लिए आवश्यक भी नहीं । भाव संसार वास्तव में संसार है । संसार परिभ्रमण का मूल हेतु यही है, इसे ही वास्तविक संसार कह सकते हैं । कहा है—

जे गुणे से आवट्टे^३

जो गुण है, इन्द्रियों के विषय होने ही वास्तव में आवृत—संसार है, क्योंकि ऊर्ध्व में आवृत हुआ आत्मा संसार में परिभ्रमण करता है । गुणातीत (इन्द्रिय विषय मुक्त) आत्मा कभी संसार में अन्त मरण नहीं करता । हा, तो इन भाव संसार के परित्याग का वर्णन इन्द्रिय प्रतिसंलीनता, कपाय-प्रति

१ दशवेकाधिक पार ६

२ स्थानांग पृ० १२६१

३ आचारान्ग ११:५२

होता ।^१ विनय-वन्दना आदि से नीच गोत्र कर्म का क्षय होता है ।^२ इत्यादि आठ कर्मों को नष्ट करने के अनेक—उपाय शास्त्र में बताये हैं उन उपायों को आचरण में लाते रहने से कर्म व्युत्सर्ग की साधना होती है ।

उपसंहार

इस प्रकार द्रव्य एवं भाव व्युत्सर्ग के स्वरूपों पर यह विचार किया गया है । साधक पहले द्रव्य व्युत्सर्ग की साधना करता है, आहार, वस्त्र-पात्र आदि से ममत्व घटाता है, उनका उपयोग कम करता है, फिर शरीर पर का ममत्व बंधन ढीला करता है । ध्यान समाधि आदि में लीन होकर—बोसटुकाए काया को बोसराने का अभ्यास करता है । अप्पाणं बोसिरामि—जो पाठ बोला जाता है, वह सिर्फ शब्दों तक नहीं रहता, किन्तु उसकी भावना हृदय के कण-कण में रम जाती है । आत्मा का प्रत्येक प्रदेश यह अनुभव-संवेदन करने लगता है—कि मैं इस देह से भिन्न चिदात्म स्वरूप हूँ । शरीर का नाश होने पर भी मेरी आत्मा का नाश नहीं हो सकता । शरीर तो मरणधर्मी है, विनाशशील है ही—इस पर ममत्व करना—बंधन का कारण है, दुःख का कारण है और शरीर को धर्म साधना के लिए उत्सर्ग कर देना—मुक्ति का मार्ग है । शरीर को ममता, प्राणों का मोह जब मिट जाता है तो साधक देहातीत दशा में विचरण करने लगता है । फिर भय, उपसर्ग, कष्ट उसको जरा भी विचलित नहीं कर सकते । सुक्रीशल अणगार का उदाहरण हमारे प्राचीन ग्रन्थों में आता है, विकराल सिंहिनी को सामने आते देखकर निष्कम्प भाव से वहीं स्थिर हो गए । शरीर को बोसरा कर आत्मा के भीतर रमण करने लग गये । विकराल व्याघ्री ने शरीर के टुकड़े टुकड़े कर नीच लिए पर वे अपने कायोत्सर्ग से हिले भी नहीं । मन की एक कक्षाती—(रोमराजि) भी अंचल नहीं हुई । कायोत्सर्ग में स्थित गजगुणमान, मंथानं, स्कन्दक आदि के सेकड़ों उदाहरण हमारे सामने हैं जिन्होंने सवमुच में ही

मनुष्य गति ही क्या, वे तो परम गति—मुक्ति के कारण बन सकते हैं। इन गुणों में राग एवं अज्ञान आदि क योग होने के कारण इन गुणों की फल-शक्ति भी कम हो जाती है, अतः दयालुता आदि का त्याग नहीं, किन्तु उनके साथ रहे हुए अज्ञान व राग भाव का त्याग ही उस गति के कारण का त्याग समझना चाहिए।

तो इन सोलह कारणों का त्याग करना, और इनमें भी मूल पांच ही है—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कपाय और अशुभ योग, और इन पांचों का भी समावेश राग-द्वेष—दो कारणों में हो जाता है। ये राग-द्वेष ही चार गति में परिघ्नमण के कारण हैं, अतः उनका त्याग करना संसार व्युत्सर्ग है।

३. कर्म व्युत्सर्ग—कर्मों का त्याग करना। कर्म आठ हैं—१ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयुष्य, ६ नाम, ७ गोत्र, ८ अन्तराय।^१

जैन कर्म शास्त्र में इन आठ कर्मों के बंधन के अलग-अलग कारण बताये हैं—जैसे ज्ञान की निंदा करना, ज्ञानी की अवहेलना करना, आदि ज्ञानावरण कर्म के बंधन के कारण होते हैं। इसी प्रकार देव-गुरु-धर्म की निंदा, अर्घ्य वाद बोलना, कुगुरु आदि की पूजा करना दर्शनावरण के बंधन के कारण हैं। अन्य कारण भी जैन आगमों व ग्रंथों में विस्तार के साथ बताये गये हैं जिन्हें प्रज्ञापना मूत्र-(कर्म पद) व कर्म ग्रंथ आदि से जानना चाहिए।

अलग-अलग कर्म बंधन के जो अलग-अलग कारण हैं उन्हें समझकर उनका परित्याग करना चाहिए तथा साथ ही इन कर्मों के तोड़ने के निमित्त उपाय भी शास्त्र में बताये हैं, उनका आचरण करना चाहिए। जैसे बताया है—स्वाध्याय करने से ज्ञानावरण कर्म की निर्मला होती है।^२ षट्संनिवृत्ति से दर्शन की विमुक्ति होती है, दर्शनावरण कर्म हटका

१. आद्या ज्ञान दर्शनावरण वेदनीय मोहनीय आयुष्य नाम गोत्रान्तरायः।

—तत्प्राप्तं मूत्रं पश्य

२. उत्तराध्यायन २२।१८

एक बात यह भी ध्यान देने की है कि जैन तपःसाधना का मार्ग हठयोग का मार्ग नहीं है। तन-मन के साथ किसी प्रकार का बलात्कार यहां नहीं किया जाता। किन्तु मन को धीरे-धीरे प्रबुद्ध किया जाता है, जागृत किया जाता है और तन को साधा जाता है। पहले मन को, फिर तन को साधने का मतलब है—मन की प्रसन्नता बनाए रखकर ही साधक तन को तपस्या में झोंकता है और तन, तप करते हुए भी मन प्रसन्न और आनन्दमग्न बना रहता है। इसी क्रम से साधक अपनी तपःसाधना करके शरीर की ममता से सर्वथा दूर हट कर तवेण परिसुज्झइ—तप के द्वारा संपूर्ण शुद्धता, निर्मलता एवं उज्ज्वलता प्राप्त कर लेता है।



काया का उत्सर्ग करके जीवन के मोह पर विजय प्राप्त की थी। भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर के जीवन प्रसंग तो आज भी हमारे सामने जैसे बोल रहे हैं। विकराल दैत्यों के अट्टहास, उपसर्ग एवं प्राणांतक पीड़ा देने पर भी वे प्रसन्न और आनन्द मग्न बने रहे। इस का रहस्य और कुछ नहीं, यही कायोत्सर्ग की साधना थी ! काया को धारण करते हुए भी काया की अनुभूति, काया की ममता से वे मुक्त हो गये थे। इसीलिए वोसट् ठकाए, वोसट्ठच्चत्तवेहे—जैसे विशेषणों द्वारा उनकी ध्यान स्थिति का चित्रण किया गया है। वस, काया की ममता छूट गई, प्राणों का मोह छूट गया तो साधक प्राण-विजेता, अर्थात् मृत्यु-विजेता बन गया।

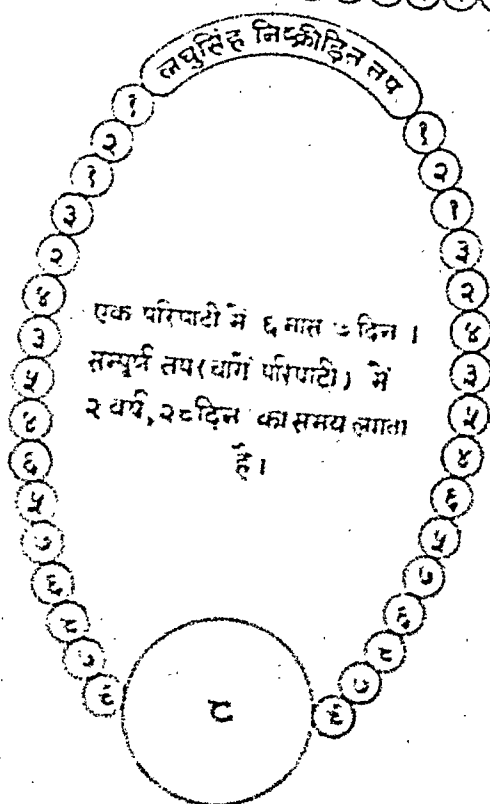
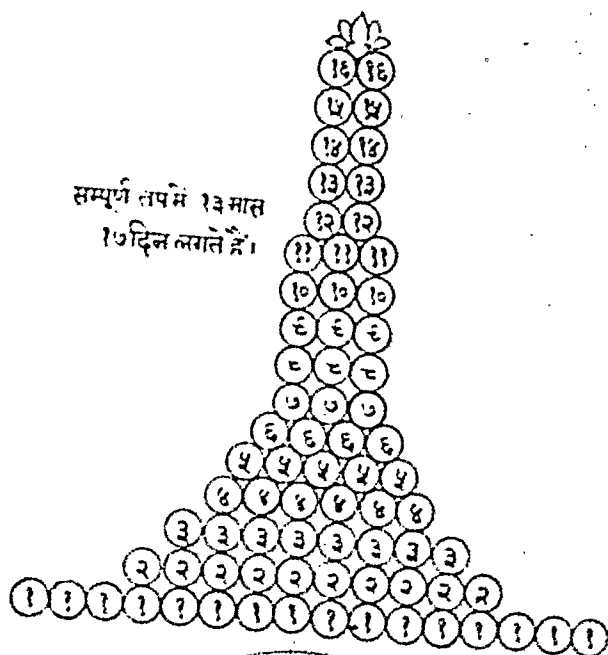
व्युत्सर्ग तप में सबसे प्रमुख कायोत्सर्ग ही है, यही कारण है कि आगमों में कहीं-कहीं काउत्सर्ग को ही पूर्ण व्युत्सर्ग तप बताया है। अर्थात् कायोत्सर्ग में जो साधक सिद्ध हो गया, वह सम्पूर्ण व्युत्सर्ग तप में ही सिद्ध हो गया।

अनशन से प्रारम्भ करके व्युत्सर्ग तक यह बारह तपों का एक अस्तित्वित क्रम है, तपःधारा का अखण्ड निर्मल प्रवाह है जो उद्गम से लेकर विलय तक निरंतर विकास-विस्तार पाता हुआ मुक्ति-महासागर के अनन्त सुख-नग्न में विलीन होता है।

जैनधर्म की इस तपःसाधना में एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सुबल से दुर्बल, और महानशक्तिशाली पुरुष—अपनी शक्ति के अनुसार, वन और पुरुषार्थ के अनुसार इस तपोभार्ग की आराधना कर सकता है। छोटे से छोटा प्रत्यय—एक पौधे (सिर्फ दार्द-तीन पंटा का आहार ध्यान) करके भी इस तप की आराधना प्रारम्भ की जा सकती है, और फिर ऊँची-सी तो रोपी-भोपी-भोपी—हर कोई कर सकता है भोजन के विषय में विविध प्रकार से नकीन भी किया जा सकता है। इस तरह तप की सरलतम साधना भी यहाँ बताई गई है, और धीरे-धीरे तन-मन-उप जाने पर कठोर दीर्घ उपवास, ध्यान और कायोत्सर्ग तक की साधना के द्वारा साधक तप की उच्चतम सीढ़ी पर पहुँच सकता है।

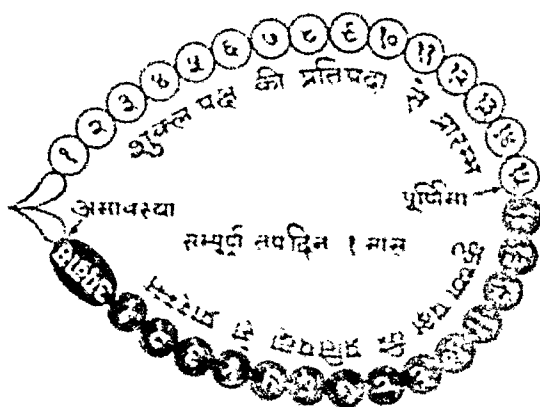
परिशिष्ट

- तप-चित्र
संकलन—श्री सुकनमुनि
- तप-सूक्त
संकलन—श्री 'रजतमुनि'
- पुस्तक में प्रयुक्त ग्रन्थ सूची
- प्रकाशन समिति के सहयोगी-परिचय एवं सदस्यों की शुभ नामावली

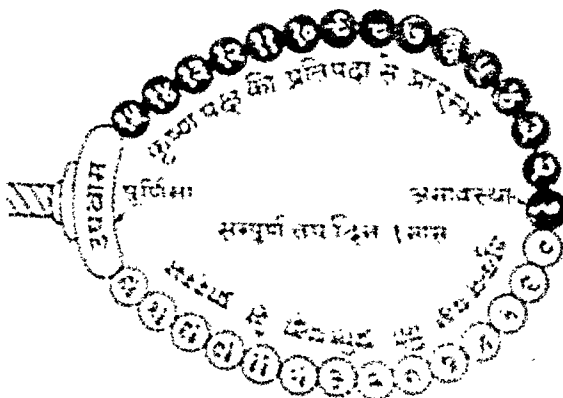


तप-चित्र

यवनमध्य चन्द्र प्रतिमा



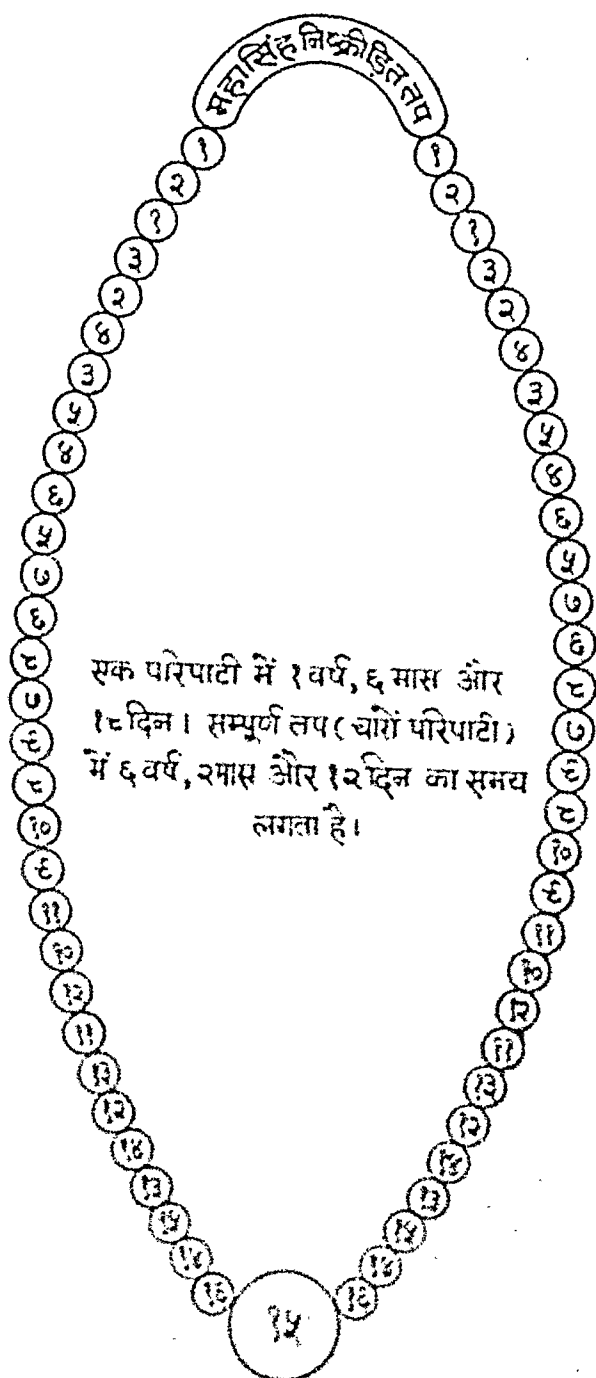
वज्रमध्य चन्द्र प्रतिमा

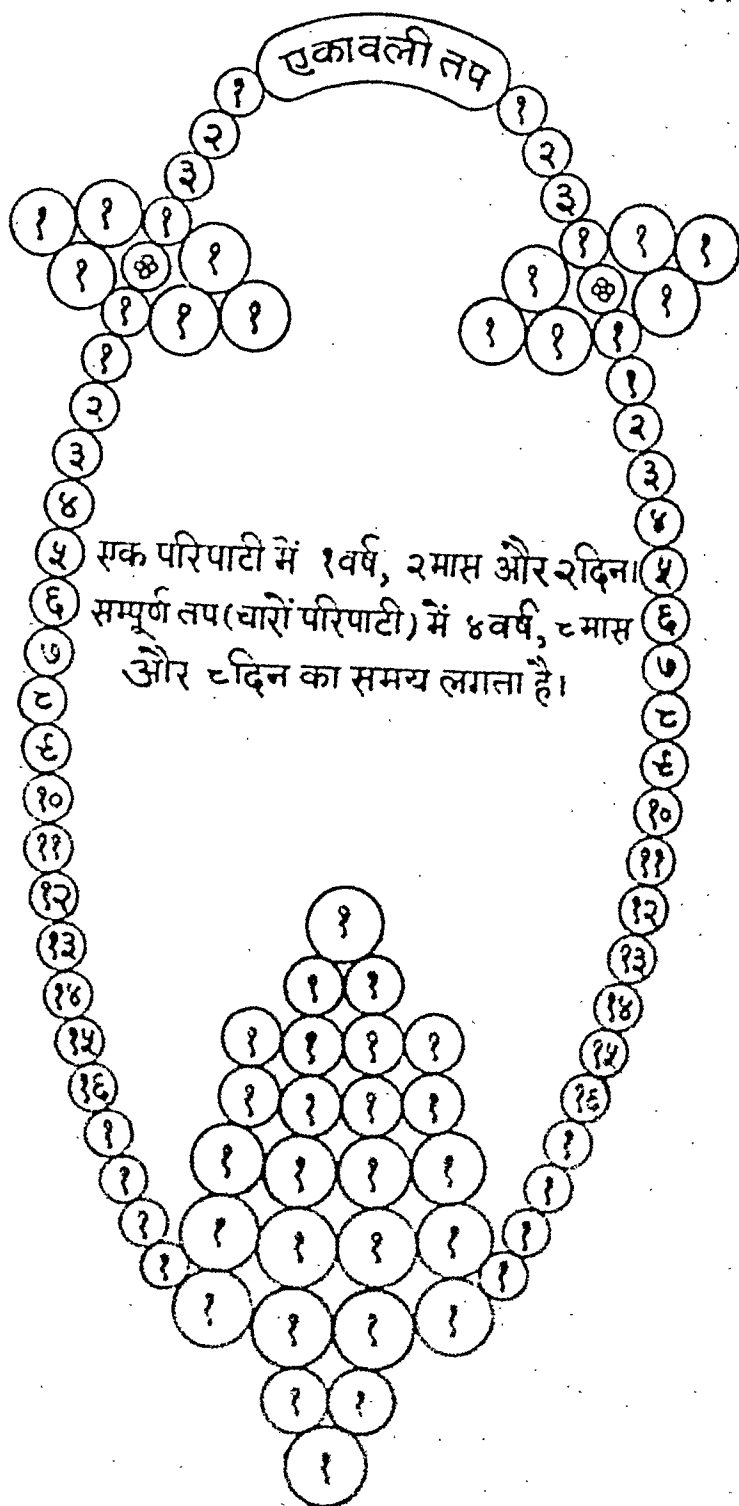


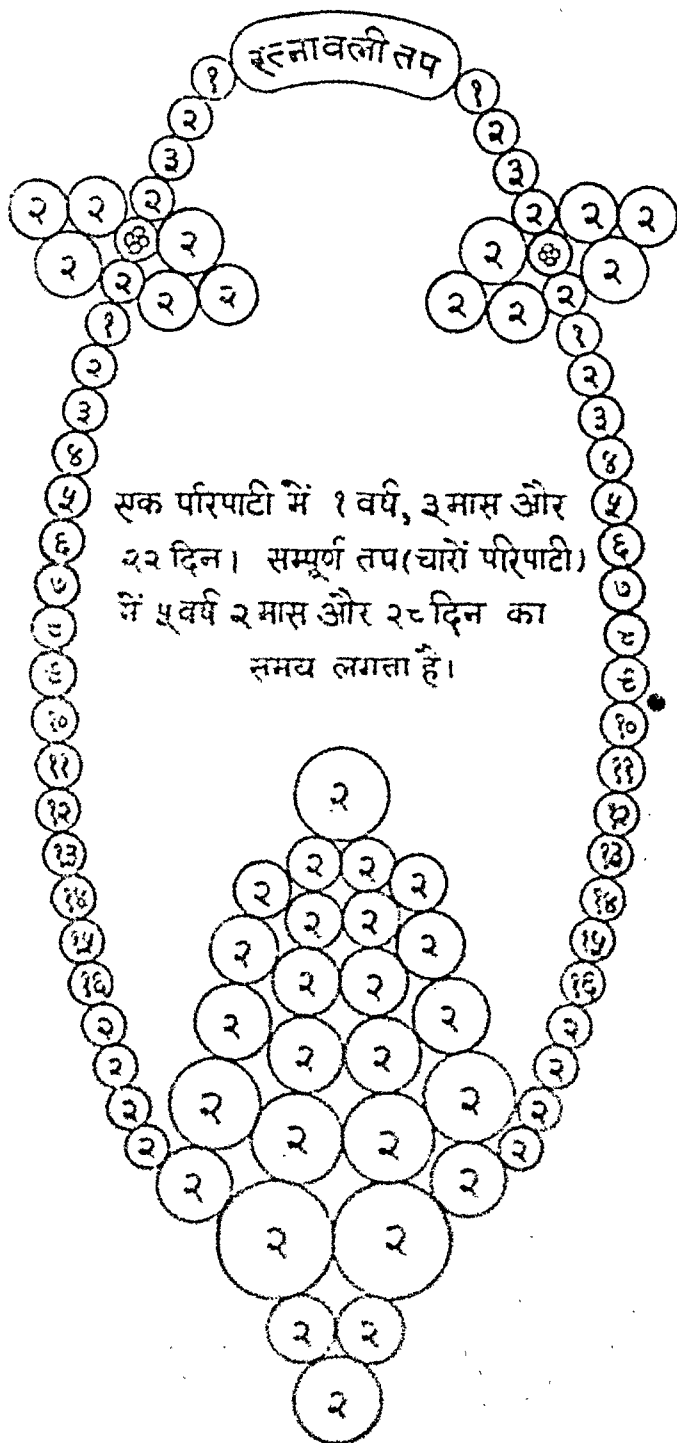
१. इस प्रतिमिष्ट में प्रदर्शित चित्रों के विषय में विवेक आनकारी अनुसन्ध तप के प्रकरण में पृ. १२३ से १२५ पर देखें।

सुक्तावली तप

एक परिपाटी में ११ मास, १५ दिन। सम्पूर्ण
(चारों परिपाटी) तप में पूर्वर्ष, २ मास २८
दिन का समय लगता है।







जैन वाङ्मय में 'तप'

परिभाषा :

१ तापयति अष्टप्रकारं कर्म इति तपः ।

—आवश्यक मलयगिरि ताण्ड २ अ० १

जो आठ प्रकार के कर्मों को तपाता है, उसका नाम तप है ।

२ तपते अणेण पावं कम्ममिति तवो ।

—निशीथचूणि ४६

जिस साधना से पाप कर्म तप्त होता है, वह तप है ।

३ इच्छा निरोधस्तपः ।

—उपासवाणि, तत्त्वायं भूय

अपनी इच्छाओं को नियंत्रण में लाना तप है ।

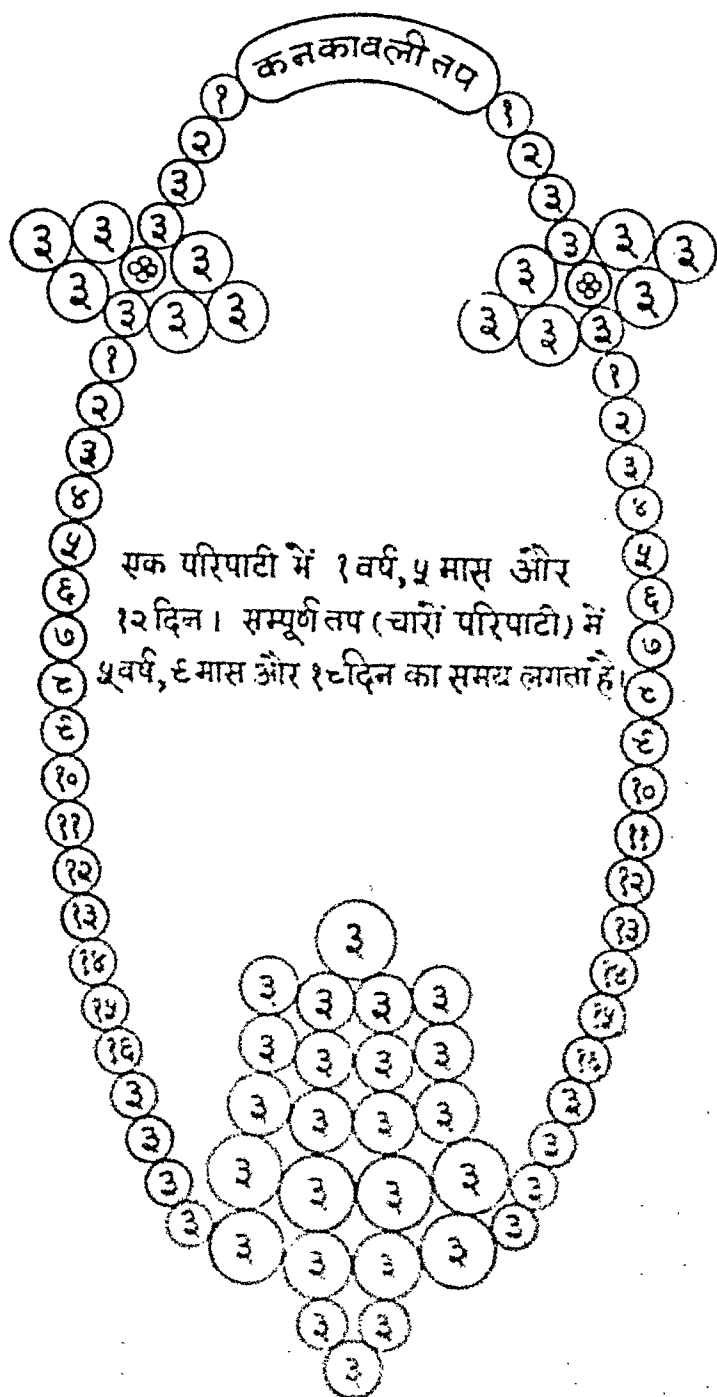
४ देहदुक्खं महाफलं ।

—इश्वरकामिनी २

देह का दमन करना तप है, वह महान् फलदायक है ।

५ भय कोटिय संचियं कम्मं

तपना निश्चयिज्जइ । —उत्तराण्यवन ३०५



तप-सूक्त

जैन वाङ्मय में 'तप'

परिभाषा :

१ तापयति अष्टप्रकारं कर्म इति तपः ।

—आवश्यक मलयगिरि तण्ड २ अ० १

जो आठ प्रकार के कर्मों को तपाता है, उसका नाम तप है ।

२ तप्पते अणेण पावं कम्ममिति तपो ।

—निशियत्तुणि ४६

जिस साधना से पाप कर्म तप्त होता है, वह तप है ।

३ इच्छा निरोधस्तपः ।

—उमास्वामि, तत्त्वार्थ मूल

अपनी इच्छाओं को नियंत्रण में लाना तप है ।

४ देहदुक्खं महाफलं ।

—दत्तवेकानि ६ ८

देह का दमन करना तप है, यह महान् फलप्रद है ।

५ भव कोटिय संचियं कम्मं

तपसा निज्जरिज्जद । —उत्तरागच्छम ३०१

कोटि-कोटि भवों के संचित कर्म तपस्या की अग्नि में भस्म हो जाते हैं ।

६ नो पूयणं तवसा आवहेज्जा ।

—सूत्रकृतांग ७।२७

तप के द्वारा पूजा-प्रतिष्ठा की अभिलाषा नहीं करनी चाहिए ।

७ नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठेजा ।

—दशवैकालिक ६।४

केवल कर्म-निर्जरा के लिए तपस्या करना चाहिए इहलोक परलोक व यशःकीर्ति के लिए नहीं ।

८ सउणी जह पंसुगुंडिया, विहुणिय धंसयइ सियं रयं ।

एवं दविओवहाणवं कम्मं खवइ तवस्सि माहणे ॥

—सूत्रकृतांग २।१।१५

जिस प्रकार पक्षी अपने पंरों को फड़फड़ा कर उन पर नगी धूल को झाड़ देता है उसी प्रकार तपस्या के द्वारा मुमुक्षु अपने कृतकर्मों का चहुँप सीध ही अपनयन कर देता है ।

९ न हु बालतवेण मुत्तुत्ति ।

—आचारंग नियुक्ति २।४

अज्ञान तप से कभी मुक्ति नहीं मिलती है ।

१० जह खलु मइलं वत्थं मुञ्जइ उदगाइएहिं दब्बेहिं ।

एवं भावुवहाणेणं मुञ्जए कम्मद्विहं ॥

—आचारंग नि० २२२

वित्त प्रकार अन्न आदि बोधक द्रव्यों से मलिन वस्त्र भी मुद हो जाता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक तपःसाधना द्वारा आत्मा आत्मावरणादि अष्टविध कर्म मल से मुक्त हो जाता है ।

११ तवेनु या उत्तमं धेनवेरं ।

—सूत्रकृतांग ६।२३

वपति—जगत् में सर्वोत्तम तप है—ब्रह्मचर्य ।

१२ अतिधारागमणं वेध, पुत्तारं परिडं तयो ।

—उत्तरागमन १।१।३८

अर्थात्—तप का आचरण तलवार की धार पर चलने के समान दुष्कर है।

१३

एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरं ।

—आचारांग १।४।३

आत्मा को शरीर से पृथक् जानकर भोगलिप्त शरीर को तपस्या के द्वारा धुन डालो।

१४

छन्दं निरोहेण उवेइ मोक्खं

—उत्तराध्ययन ४।८

इच्छा निरोध-तप से मोक्ष प्राप्त होता है।

१५

सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो,
न दीसई जाइविसेस कोई

—उत्तराध्ययन १२।३०

तप की विशेषता तो प्रत्यक्ष दिखाई देती है, किन्तु जाति की तो कोई विशेषता नजर नहीं आती।

१६

तवो जोई जीवो जोइठाणं,
जोगा सुया सरीरं कारिसंगं ।
कम्मेहा संजमजोग सग्ती,
होमं हुणामि इसिणं पसत्थं ॥

—उत्तराध्ययन ११

तप ज्योति अर्थात् अग्नि है, जीव ज्योति स्वान है, मन, वचन, काया के योग लुप्ता = आहुति देने की कड़वी है, शरीर कारीपांग = अग्नि प्रज्वलित करने का साधन है, कर्म जलाये जाने वाला ईंधन है, संयम योग प्राप्ति पाठ है। मैं इस प्रकार का यज्ञ करता हूँ, जिसे ऋषियों ने श्रेष्ठ बताया है।

१७

अहा तवल्ली धुणते तवेणं, कम्मं तहा जाण तवोऽणुमंता ।

—बृहत्संहिता ४।१०१

चित्त प्रकार तपस्वी तप के द्वारा अपने कर्मों को धुन डालता है, जैसे ही तप का अनुमोदन करने वाला भी।

कोटि-कोटि भवों के संचित कर्म तपस्या की अग्नि में भस्म हो जाते हैं।

६ नो पूयणं तवसा आवहेज्जा ।

—सूत्रकृतांग ७।२७

तप के द्वारा पूजा-प्रतिष्ठा की अभिलाषा नहीं करनी चाहिए।

७ नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठेजा ।

—दशवैकालिक ६।४

केवल कर्म-निर्जरा के लिए तपस्या करना चाहिए इहलोक परलोक व यशःकीर्ति के लिए नहीं।

८ सत्तणी जह पंसुगुंडिया, विहुणिय धंसयइ तियं रयं ।

एवं दविओवहाणवं कम्मं खवइ तवस्सि माहणे ॥

—सूत्रकृतांग २।१।१५

जिस प्रकार पक्षी अपने परों को फड़फड़ा कर उन पर लगी धूल को झाड़ देता है उसी प्रकार तपस्या के द्वारा मुमुक्षु अपने कृतकर्मों का बहुत शीघ्र ही अपतनन कर देता है।

९ न हु वालतवेण मुक्खुत्ति ।

—आचारांग नियुक्ति २।४

अज्ञान तप से कभी मुक्ति नहीं मिलती है।

१० जह खलु मइलं वत्थं सुज्झइ उदगाइएहिं दव्वेहिं ।

एवं भावुवहाणेणं सुज्झए कम्मट्ठविहं ॥

—आचारांग नि० २८२

जिस प्रकार जल आदि शोधक द्रव्यों से मलिन वस्त्र भी शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक तपःसाधना द्वारा आत्मा ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्म मल से मुक्त हो जाता है।

११ तवेसु वा उत्तमं वंभचेरं ।

—सूत्रकृतांग ६।२३

अर्थात्—तपों में सर्वोत्तम तप है—ब्रह्मचर्य।

१२ अग्निधारागमणं चैव, दुष्करं चरिडं तवो ।

—उत्तराध्ययन १६।३८

२५ बलं धामं च पेहाए, सद्धामारोगमप्पणो ।
वेत्तं कालं च विन्नाय, तहप्पाणं निजुंजए ॥

- दशवैकालिक ८।३५

अपना बल, दृढ़ता, श्रद्धा आरोग्य तथा क्षेत्रकाल को देखकर आत्मा को तपश्चर्या में लगाना चाहिये ।

२६ तवस्स मूलं धिती ।

—निशीथ चूणि ४

तप का मूल धृति अर्थात् धैर्य है ।

२७ यत्र तपः तत्र नियमात्संयमः ।

यत्र संयमः तत्रापि नियमात् तपः ।

—निशीथ चूणि ३३३२

जहाँ तप है वहाँ नियम से संयम है, और जहाँ संयम है वहाँ नियम से तप है ।

तप के प्रकार :

२८ सो तवो दुविहो वुत्तो, वाहिरोब्भित्तरो तहा ।

वाहिरो द्यव्विहो वुत्तो, एव मव्विभित्तरो तवो ॥

—उत्तराध्यायन सूत्र ३०।८

तप दो प्रकार का है - बाह्य और आन्तरिक । बाह्य तप अनशन आदि छः प्रकार का है, एवं आन्तरिक तप के प्रायश्चित्त आदि छः भेद हैं ।

२९ अणत्तण मूणोपरिया, भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ ।

कायकिल्लेसो, संलीणया य वज्झो तवो होई ॥

पायच्छित्तं, विणओ, वेयावच्चं तद्देव सम्भाओ ।

भाणं च विट्ठसण्णो एत्त अविभित्तरो तवो ॥

—उत्तराध्यायन ३०।९-१०

बाह्य तप के छः भेद हैं:—१ अनशन २ ऊनीदरी ३ भिक्षाचर्य ४ रस परित्याग ५ कायकिल्लेस ६ और प्रतिपत्तीनवा । आन्तरिक तप के छः भेद हैं - १ प्रायश्चित्त २ विनय ३ वेयावच्च ४ रसपरित्याग ५ ध्यान ६ और कर्म्मसमर्थ ।

१८ निउणो वि जीव पोओ, तव संजम माहअ विहूणो ।

—आवश्यकनियुक्ति ६६

शास्त्रज्ञान में कुशल साधक भी तप, संयम रूप पवन के बिना संसार सागर से तैर नहीं सकता ।

१९ कसेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं ।

—आचारांग १।४।३

तप के द्वारा अपने को कृश करो, तन-मन को हल्का करो । अपने को जीर्ण करो, भोगवृत्ति को जर्जर करो ।

२० अप्पपिण्डासि पाणासि, अप्पं भासेज्ज सुव्वए ।

—सूयकृतांग १।२।२५

सुव्रती साधक कम खाए, कम पीये और कम बोले ।

२१ णो पाणभोयणस्स अत्तिमत्तां आहारए सया भवई ।

—स्वानांगसूत्र ६

ब्रह्मचारी को कभी भी अधिक मात्रा में भोजन नहीं करना चाहिए ।

२२ अण्ह्वे तवे चेव ।

—भगवतीसूत्र २।५

तप से पूर्ववद्ध कर्मों का नाश होता है ।

२३ जं मे तव नियम-संजम-सग्गहाय-भाणा—

ध्वस्सय मादीएमु जोगेमु जयणा, सेत्तां जत्ता ।

भगवतीसूत्र १।५।१०

तप, नियम, संयम, स्वाध्याय, ध्यान, आवश्यक आदि योगों में जो यगना विवेक युक्त प्रवृत्ति है, वह मेरी धार्मिक यात्रा-भोजन-वर्षा है ।

२४ भीतो तव संजमं पि ह्व मुएज्जा ।

भीतो य भरं न नित्थरेज्जा ।

—प्रश्नप्याकरसा २।२

भगवतीय धर्मिक तप और संयम को साधना छोड़ देकता है । यह किसी भी सुखद शक्ति को नहीं निभा सकता है ।

और मनुष्य हिताहारी (शरीर को हितकारी) निताहारी (नियमित आहारी) और अल्पाहारी (नित्यप्रति के आहार से कम भोजन करने वाले) हैं, उन्हें किसी वेश से चिकित्सा करवाने की आवश्यकता नहीं, वे स्वयं ही अपने वेश हैं, चिकित्सक हैं।

३३

ऊणोरिया सुहमाण्ड ।

—मरणसमाधि १३६

ऊणोदरी तप करने वाले सुद्य पाते हैं। वे कभी अस्वस्थ नहीं होते।

३७

अतिरेगं अहिगरणं ।

—ओषनिवृत्ति ७४१

आवश्यकता से अधिक एवं अनुपयोगी उपकरण आदि रखना वास्तव में अधिकरण (दोषरूप एवं क्लेशप्रद) हैं।

रस-परित्याग :

३८

रसापगामा न निसेवियव्वा,
पायं रसा दित्तिकरा नराणं ।
दित्तं च कामा समभिद्वंति,
दुमं जहा साउफलं व पक्खी ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र ३२।१०

मनुष्य को घी दूध आदि रसों का अधिक सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि रस प्रायः उद्दीपक होते हैं। उद्दीपक पुरुष के निकट काम भावनाएं पैदा हो जाती हैं, जैसे स्वादिष्ट कल वाले वृक्ष के पास पक्षी चले जाते हैं।

३९

न रसदृष्टाण भुजिज्जा, जवणदृष्टाण महामुणी ।

—उत्तराध्ययन सूत्र ३२।१०

साधु रसों के लिए भोजन न करें, किन्तु भोजनप्राप्त के निमित्त के लिए करें।

४०

अद निद्वंण विसवा उद्वज्जंति ।

—आयस-कनिवृत्ति १२६३

अनशन :

३० आहार पञ्चकलाणं जीवियासंसम्पयोगं वोच्छिन्दइ ।

—उत्तराध्ययन २६।३५

आहार का प्रत्याख्यान (त्याग) अनशन कहलाता है । इससे जीव आशा का व्यवच्छेद करता है, अर्थात् लालसाओं से मुक्त हो जाता है ।

३१ जस्स अणेसणमप्पा तं पि तवो तप्पडिच्छग्ग समणा ।

अण्णं भिक्खमणेसण मघते समणा अणाहारा ॥

—प्रवचनसार ३।२६

पर वस्तु की आसक्ति से रहित होना ही आत्मा का निराहार रूप वास्तविक अनशन तप है । अस्तु, जो श्रमण भिक्षा में दोष रहित शुद्ध आहार ग्रहण करता है, वह निश्चय दृष्टि से अनाहार तपस्वी ही है ।

३२ तदेव हि तपः कार्यं, दुर्ध्यानिं यत्र नो भवेत् ।

ये न योगा न हीयन्ते, क्षीयन्ते नेन्द्रियाणि च ।

—तपोप्टक (यशोविजयजी कृत)

तप यैना ही करना चाहिए, जिसमें दुर्ध्यान न हो और इन्द्रियां क्षीन न हों । योगों में हानि न हो !

३३ सो नाम अणसण तवो, जेण मणोमंगुलं न चित्तेइ ।

जेण न इन्द्रिय हाणी जेण य जोगा न हायंति ।

—मरणमनाधि प्रतीर्षक १३४

वही अनशन तप श्रेष्ठ है, जिससे कि मन अमंगल न लोचे, इन्द्रियों की हानि न हो, और नित्य प्रति की योग-धर्म क्रियाओं में बिध्न न आए ।

३४ ननुविधाशन-त्याग उपवासो मतो जिनैः ।

—सुभाषितरत्नमञ्जरी

अशन आदि चारों प्रकार के आहार का त्याग करना भगवान के द्वारा उपवास माना गया है ।

ऊनोदरो :

३५ द्वियाहारा, त्रियाहारा, अणाहारा य जे नरा ।

न ते चित्ता निगिच्छन्ति अप्पाणं ते निगिच्छिमा ॥

—अंगनियुंछि ५०=

- ४६ उद्धरिय सव्वसल्लो, आलोइय-निदिओ गुरु सगासे ।
होइ अतिरेगलहुओ, ओहरियभारोव्व भारवहो ॥

—ओघनिर्मुक्ति ८०३

जो साधक गुरुजनों के समक्ष मन के समस्त शक्तियों (कांटों) को निकाल कर आलोचना, निन्दा (आत्मनिन्दा) करता है, उसकी आत्मा उसी प्रकार हल्की हो जाती है, जैसे—तिर का भार उतार देने पर भार वाहक ।

- ४७ जह वालो जंपंतो, कज्जमकज्जं च उज्जुयं भवइ ।
तं तह आलोएज्जा, माया - मयविप्पमुक्को उ ॥

—ओघनिर्मुक्ति ८०१

बालक को जो भी उचित अनुचित कार्य कर लेता है, वह सब सरल भाव से कह देता है । इसी प्रकार साधक को भी गुरुजनों के समक्ष ईश और अभिमान से रहित होकर यथार्थ आत्मालोचना करनी चाहिये ।

- ४८ आलोयणापरियाओ, सम्मं संपट्ठिओ गुरुसगासं ।
जइ अंतरो उ कालं, करेज्ज आराहओ तह वि ॥

—आधम्मकनिर्मुक्ति ४

कुल पापों की आलोचना करने की भावना से जाता हुआ व्यक्ति यदि जीव में नर जाये तो भी वह आराधक है ।

विनय :

- ४९ रायणिण्णु विणयं पडंजे ।

—दशरथसंहिता ८१४१

अपने मे यही (यथाप्रिय) के साथ सदा विनय पूर्वक व्यवहार करना चाहिए ।

- ५० वे आयन्ति-उपमन्तायानं मुत्तूसा वगणं करे ।
वेनि निन्ता पडइंति मत्तसिन्ता इव पायवा ॥

—दशरथसंहिता ८१४१२

अति स्निग्ध आहार करने से विषय कामना उद्दीप्त हो उठती है ।

प्रायश्चित्त :

४१ पावं छिदद् जम्हा पायच्छित्तांति भण्णइ तेणं ।

—पंचाशक सटीक विवरण १६।३

जिसके द्वारा पाप का छेदन होता है, उसे प्रायश्चित्त कहते हैं ।

४२ प्रायः पापं विनिर्दिष्टं, चित्तं तस्य विशोधनम् ।

—धर्मसंग्रह ३ अधिकार

प्रायः शब्द का अर्थ पाप है, और चित्त का अर्थ है, उस पाप का शोधन करना । अर्थात् पाप को शुद्ध करने वाली क्रिया को प्रायश्चित्त कहते हैं ।

४३ अपराधो वा प्रायः, चित्तं शुद्धिः प्रायस चित्तं

प्रायश्चित्तं—अपराध—विशुद्धिः ।

—राजवातिक १।२।१

अपराध का नाम प्रायः है और चित्त का अर्थ शोधन है । प्रायश्चित्त अर्थात् अपराध की शुद्धि ।

४४ प्रायश्च्युच्यते लोकस्तस्य चित्तं मनो भवेत् ।

तच्चित्त-प्राहकं कर्म, प्रायश्चित्तमिति स्मृतम् ।

—प्रायश्चित्त समुच्चय

प्रायः का अर्थ लोक—जनता है एवं चित्त का अर्थ—मन है । जिस क्रिया के द्वारा जनता के मन में आश्रय हो, उस क्रिया को प्रायश्चित्त कहते हैं ।

४५ पायच्छित्तं कस्सोणं पाय कम्म वित्तोहि जणयइ, निरइयारे वाधि भवइ । तम्मं च णं पायच्छित्तं पडियब्जमाणे मग्गं च मग्गं फलं च वित्तोहेइ आयारं च आयारफलं च आराहेइ ।

—उत्तराध्यायन २२।१६

प्रायश्चित्त करने से जीव पापों की विमुक्ति करता है, एवं निरविचार निर्दोष बनता है । मन्थन प्रायश्चित्त अनीकार करने से जीव मन्थन के आन को निर्मल करता है तथा पारिवर्तन—मोक्ष की आराधना करता है ।

वेयावृत्य :

५७ वेयावृत्यम्-भक्षादिभिर्धर्मोपग्रहकारि वस्तुभिरुपग्रह-करणे ।

—स्थानांग टीका ५।१

धर्म में सहारा देने वाली आहार आदि वस्तुओं द्वारा उपग्रह—सहायता करना “वेयावृत्य” कहलाता है। वेयावृत्य शब्द सेवा के अर्थ का प्रतीक है।

५८ दसविहे वेयावच्चे पण्णत्ते तं जहा—आयरियवेयावच्चे, उवञ्ज्हाय वेयावच्चे, थेर वेयावच्चे, तवस्सि वेयावच्चे, गिलाण वेयावच्चे, सेह वेयावच्चे, कुल वेयावच्चे, गण वेयावच्चे, संघ वेयावच्चे, साहम्मिय वेयावच्चे । —स्थानांगसूत्र १०।४४६

आचार्य की वेयावृत्य (सेवा) उपाध्याय की वेयावृत्य, स्वविर की वेयावृत्य, तपस्वी की वेयावृत्य, ग्लान की वेयावृत्य, तबदीक्षित की वेयावृत्य, कुल की वेयावृत्य, संघ की वेयावृत्य, सहधर्मी की वेयावृत्य। इन दसों की यथायोग्य सेवा भक्ति करना वेयावृत्य तप कहा जाता है।

५९ वेयावच्चेणं तित्थयरनाम गोयं कम्मं निवंधेइ ।

—उत्तराध्यायन २६।३

आचार्य आदि की वेयावृत्य (सेवा) करने से जीव तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म का उपार्जन करता है। आहार, पानी, सैया, आसन आदि से लेकर जीवधि आदि समयोचित सेवा संरक्षण आदि सत् क्रियाएँ वेयावृत्य तप में आती हैं।

६० असंगिहोय परिजणस्स संगिण्हणयाए अब्भुट्ठेवध्वं भवइ—

—स्थानांग ८

अनाश्रित—प्रसहाय प्रजों को आश्रय एवं सहयोग देने के लिए सदा तत्पर रहो।

६१ गिलाणस्स अगित्ताए वेयावच्चेकरणायाए अब्भुट्ठेवध्वं भवइ ।

—स्थानांग ८

सोचों की सेवा के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए।

जो अपने आचार्य—उपाध्याय आदि की विनयपूर्वक शुश्रूषा सेवा तथा आज्ञाओं का पालन करता है, उनकी शिक्षाएं (विद्याएं) वैसे ही बढ़ती हैं जैसे कि जल से सींचे जाने पर वृक्ष ।

५१ विवर्त्ती अविणीयस्स, सम्पत्ती विणीयस्स य ।

—दशर्वकालिक ६।२।२२

अविनीत विपत्ति (दुःख) का भागी होता है और विनीत सम्पत्ति (सुख) का ।

५२ जो छंदं आराह्यई स पुज्जो ।

—दशर्वकालिक ६।३।१

जो गुरुजनों की भावनाओं का आदर करता है वही शिष्य पूज्य होता है ।

५३ आणा निद्देसकरे, गुरुणमुववाय कारए ।

इंगियागारसम्पन्ने से विणीए त्ति वुच्चई ॥

—उत्तराध्यायन १।२

जो गुरुजनों की आज्ञाओं का पालन करता है, उनके निकट सम्पर्क में रहता है, एवं उनके हर संकेत व चेष्टा के प्रति तत्पर रहता है—उसे विनीत कहा जाता है ।

५४ विणओ वि तघो, तयो पि घम्मो

—प्रत्ययकरण सूत्र २।३

विनय स्वयं एक तप है, और वह श्रेष्ठ धर्म है ।

५५ नच्चा नमइ मेहावी ।

—उत्तराध्यायन १।५

बुद्धिमान् ज्ञान प्राप्त करके नम्र हो जाता है ।

५६ विणओय येमस्स इह परल्लोगे वि विज्जाओ फनं पयच्छन्ति ।

—निगोपचूति १३

विनयशील की विद्याएं इहाँ लोक एवं परल्लोक—नर्क में ही दत्त प्रदान करती हैं ।

स्वाध्याय के समान दूसरा तप न अतीत में कभी हुआ है, न वर्तमान में कहीं है, और न भविष्य में कभी होगा ।

६८ जो वि पगासो बहुसो गुणिओ पच्चक्खओ न उवलद्धो ।

जच्चंचस्स व चंदो फुडो वि संतो तहा स खलु ॥

—बृहत्कल्प भाष्य १२२४

शास्त्र का बार बार अध्ययन कर लेने पर भी यदि उससे अर्थ की साक्षात् अनुभूति न हुई हो तो वह अध्ययन वैसा ही अप्रत्यक्ष रहता है जैसा कि अन्मांध के समक्ष चन्द्रमा प्रकाशमान होते हुए भी अप्रत्यक्ष हो रहता है ।

६९ णाणं पि काले अहिञ्जमाणं णिञ्जरा हेऊ भवति ।

अकाले पुण उवघायकरं कम्म वंघाय भवति ॥

—निशीथ चूणि ११

शास्त्र का अध्ययन उचित समय पर किया हुआ ही निजरा का हेतु होता है, अन्यथा वह हानिकर तथा कर्म बंध का कारण बन जाता है ।

ध्यान :

७० चित्तस्तेगग्गया ह्वइ भाणं ।

—आवश्यकनिर्मुक्ति १४५३

किसी एक विषय पर चित्त को एकाग्र स्थिर करना ध्यान कहलाता है ।

७१ एकाग्रचिन्ता योगनिरोधो वा ध्यानम्

—जैनसिद्धान्तदीपिका ११२८

एकाग्र चिन्तन एवं मन, वचन-वाणी की प्रवृत्ति रूप योगों को रोकना ध्यान है ।

७२ भाणचिन्तीणो माहू, परिचागं कुणइ सव्व दोनारणं ।

मन्हा दु भाणमेवहि सव्वदिनारस्स पट्टिमकमणं ॥

—नियमसार ५३७

ध्यान में जैन मायह सब दोषों का निवारण कर सकता है । जतः ध्यान ही सब प्रतिबन्धों का प्रतिफलन है ।

६२ जे भिक्खू गिलाणं सोच्चा णच्चा न गवेसइ,
न गवेसंतं वा साइज्जइ.....आवज्जइ,
चउम्मासियं परिहारठाणं अणुग्घाइयं ।

—निशीथं भाष्य १०।३७

यदि कोई समर्थ साधु किसी साधु को बीमार सुनकर एवं जानकर
बेपरवाही से उसकी सार-सम्भाल न करे तथा न करने वाले की
अनुमोदना करे तो उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है ।

६३ दव्वेण भावेण वा जं अप्पणो परस्स वा ।
उवकारकरणं, तं सव्वं वेयावच्चं ।

—निशीथचूणि ६६०५

भोजन, वस्त्र आदि द्रव्य रूप से और उपदेश एवं सत्प्रेरणा आदि भाव
रूप से जो भी अपने को तथा अन्य को उपकृत किया जाता है, वह सब
वेयावृत्त्य है ।

स्वाध्याय :

६४ सज्झाए वा निउत्तेण सव्वदुक्खविमोक्खणो ।

—उत्तराध्ययन २६।१०

शास्त्रों का स्वाध्याय करते रहने से समस्त दुःखों से मुक्ति मिलती है ।

६५ सज्झायं च तओ कुज्जा सव्वभावविभावणं ।

—उत्तराध्ययन २६।३७

स्वाध्याय सब भावों (विषयों) का प्रकाश करने वाला है ।

६६ सज्जाए णं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ ।

—उत्तराध्ययन २६।१८

स्वाध्याय करने से ज्ञानावरण (ज्ञान को ढकने वाले) कर्म का क्षय
होता है ।

६७ नवि अत्थि, नवि अ होही, सज्झाय समं तवो कम्मं ।

—बृहत्कल्पभाष्य ११६६

१—चैराग्य, २—तत्त्वविज्ञान, ३—निग्रन्थता, ४—गमचित्तता, ५—परिवहजय— ये ५ ध्यान के हेतु हैं ।

७८ स्वात्मानं त्वात्मनि स्वेन, ध्याते स्वस्मै स्वतो यतः ।

पट्कारकमयस्तस्माद्, ध्यानमात्मैव निश्चयात् ॥

—तत्त्वानुशासन ७४

आत्मा का आत्मा में, आत्मा द्वारा, आत्मा के लिये, आत्मा से ही ध्यान करना चाहिये । निश्चयनय में पट्कारकमय— यह आत्मा ही ध्यान है ।

८० निश्चयाद् व्यवहाराच्च, ध्यानं द्विविधमागमे ।

स्वहृपालम्बनं पूर्वं, परालम्बनमुत्तरम् ॥

—तत्त्वानुशासन ८१

निश्चय दृष्टि से और व्यवहार दृष्टि से ध्यान दो प्रकार का है । प्रथम में स्वरूप का आलम्बन है एवं दूसरे में पर वस्तु का आलम्बन है ।

८१ स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्तां, ध्यानात् स्वाध्यायमामनेत् ।

ध्यान - स्वाध्यायसंपत्त्या, परमात्मा प्रकाशते ॥

यथान्यासेन शास्त्राणि, स्थिराणि सुमहान्त्यपि ।

तथाध्यानापिनुत्स्यैयं, लभतेऽभ्यासवर्तिनाम् ॥

—तत्त्वानुशासन

स्वाध्याय से ध्यान का अभ्यास करना चाहिये और ध्यान से स्वाध्याय की चरितार्थ करना चाहिये । स्वाध्याय एवं ध्यान की संप्राप्ति से परमात्मा प्रकाशित होता— अर्थात् अपने अनुभव में लाया जाता है । अभ्यास से जैसे महान शास्त्र स्थिर हो जाते हैं, उसी प्रकार अभ्यास करने वालों का ध्यान स्थिर हो जाता है ।

८२ उपधान्तो विमोद् ध्यानं, ध्यानश्रन्तो विमोज्जपम् ।

अभ्यासं ध्यानाः पट्ये स्तोत्रमित्येव गुह्यं स्मृतम् ॥

—वाक्यविधि, पृ. ७२ श्लोक १

जब से आत होवे तब ध्यान एवं ध्यान से आत होवे तब ध्यान करना चाहिये तथा दोनों से ध्यान होवे तब स्तोत्र कहना चाहिये । ऐसे ही पृ. २४ में कहा है ।

७३ यस्य चित्तं स्थिरीभूतं स हि ध्याता प्रशस्यते ।

—ज्ञानार्णव पृ० ८४

जिसका चित्त स्थिर हो, वही ध्यान करने वाला प्रशंसा के योग्य है ।

७४ वीतरागो विमुच्यते, वीतरागं विचिन्तयन् ।

—योगशास्त्र १।१३

वीतराग का ध्यान करता हुआ योगी स्वयं वीतराग होकर कर्मों से या वासनाओं से मुक्त हो जाता है !

७५ उपयोगे विजातीय - प्रत्ययाव्यवधानभाक् ।

शुभैकप्रत्ययो ध्यानं, सूक्ष्माभोगसमन्वितम् ॥

—द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका १८।११

स्थिर दीपक की लौ के समान मात्र शुभ लक्ष्य में लीन और विरोधी लक्ष्य के व्यवधान रहित ज्ञान, जो सूक्ष्म विषयों के आलोचन सहित हो, उसे ध्यान कहते हैं ।

७६ मोक्षः कर्मक्षयादेव स चात्मज्ञानतो भवेत् ।

ध्यानसाध्यं मतं तच्च, तद्ध्यानं हितमात्मनः ॥

—योगशास्त्र ४।११३

कर्म के क्षय से मोक्ष होता है, आत्म ज्ञान से कर्म का क्षय होता है और ध्यान से आत्म ज्ञान प्राप्त होता है । अतः ध्यान आत्मा के लिये हितकारी माना गया है ।

७७ संगत्यागः कषायाणां, निग्रहो व्रतधारणम् ।

मनोऽक्षाणां जपश्चेति, सामग्री ध्यानजन्मनि ॥

—तत्त्वानुशासन ७५

परिग्रह का त्याग, कषाय का निग्रह, व्रत धारण करना तथा मन और इन्द्रियों को जीतना—ये सब कार्य ध्यान की उत्पत्ति में सहायता करने वाली सामग्री है ।

७८ वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं, नैर्ग्रन्थं समचित्तता ।

परिग्रहो जपश्चेति, पञ्चैते ध्यानहेतवः ॥

—बृहद्द्रव्यसंग्रह संस्कृत टीका, पृ० २८१

कायोत्सर्ग (व्युत्सर्ग)

८६ काउसगोणं तीय पडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ, विसुद्धपाय
च्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभाएव्व भारवाहे पसत्थ-
ज्झाणोवगए सुहं सुहेणं विहरइ ।

—उत्तराध्ययन २६।१२

कायोत्सर्ग (व्यान) करने से जीव अतीत एवं वर्तमान के दोषों की विशुद्धि करता है और प्रायश्चित्त के द्वारा सिर पर से भार उतर जाने से भारवाहकवत् हल्का होकर सद्-ध्यान में रमण करता हुआ सदा सुख-पूर्वक विचरण करता है ।

८७

व्युत्सर्गहिं यत्कायचेष्टा निरोधतः ।

—स्थानांग-टीका ६

शरीर की चपलताजन्य चेष्टाओं का निरोध करना व्युत्सर्ग तप है ।

८८

इन्द्रियमनसोर्नियमानुष्ठानं तपः ।

—नीतिवाक्यामृत १।२२

पांच इन्द्रिय (स्पर्शन, रसना-घ्राण-चक्षु-श्रोत्र) और मन को वश में करना या बढ़ती हुई लालसाओं को रोकना तप है ।

८३ मा मुञ्जह ! मा रज्जह ! मा दुस्सह ! इट्ठ ! निट्ठअट्ठेसु ।
 थिरमिच्छह जइ चित्तं, विचित्तं, विचित्तभाणापसिद्धीए ।
 मा चिट्ठह ! मां जंपह ! मा चित्तह ! किं वि जेण होई थिरो ।
 अप्पा अप्पमिरओ, इणमेव परं हवे भाणं ।

—द्रव्य संग्रह

हे साधक ! विचित्र ध्यान की सिद्धि से यदि चित्त को स्थिर करना चाहता है, तो इष्ट अनिष्ट पदार्थों में मोह, राग और द्वेष मत कर । किसी भी प्रकार की चेष्टा, जल्पन व चिन्तन मत कर, जिससे मन, स्थिर हो जाये । आत्मा का आत्मा में रक्त हो जाना ही उत्कृष्ट ध्यान है ।

८४ क्षितेन्द्रियस्य धीरस्य प्रशान्तस्य स्थिरात्मनः ।
 सुखासनस्य नासाग्रन्यस्तनेत्रस्य योगिना ॥

—तत्त्वानुशासन ३७

ध्यान के इच्छुक योगी को योग के आठ अंगों को अवश्य जानना चाहिए, यथा—

१—ध्याता—इन्द्रिय और मन का निग्रह करने वाला ।

२—ध्यान—इष्ट विषय में लीनता ।

३—फल-संवर-निर्जरा रूप ।

४—ध्येय—इष्ट देवादि ।

५—यस्य—ध्यान का स्वामी ।

६—यत्र—ध्यान का क्षेत्र ।

७—यदा—ध्यान का समय ।

८—ध्यान की विधि ।

८५ भाण जोगं समाहट्ठु कायं विउसेज्ज सव्वसो

—सूत्रकृतांग ८।२६

ध्यान योग का अवलम्बन कर देहभाव का सर्वतोभावेन विसर्जन करना चाहिए ।

७

तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व ।

—तैत्तिरीय आरण्यक—६।२

तपके द्वारा ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को जानिए ।

८

तपो ब्रह्मेति ।

—तैत्तिरीय आरण्यक— ६।२

तप ही ब्रह्म है ।

९

ऋतंतपः, सत्यंतपः, श्रुतंतपः, शान्तं तपो, दानंतपः ।

—तैत्तिरीयआरण्यक नारायणोपनिषद् १०।८

ऋत (मन का सत्य संकल्प) तप है । सत्य (वाणी से सत्य भाषण) तप है । श्रुत (शास्त्र श्रवण) तप है । शान्ति (ऐन्द्रियिक विषयों से विरक्ति) तप है । दान तप है ।

१०

तपो नानशनात् परम् ।

यद्वि परं तपस्तद् दुर्धर्षम् तद् दुराधर्षम् ।

—तैत्तिरीय आरण्यक १०।६२

अनशन से बढ़कर कोई तप नहीं है । साधारण साधक के लिए यह परम तप दुर्धर्ष है, दुराधर्ष है, अर्थात् सहन करना बड़ा ही कठिन है ।

११

नाऽतपस्कस्याऽत्मज्ञानेऽधिगमः कर्मशुद्धिर्वा ।

—मैत्रायणी आरण्यक ४।३

जो तपस्वी नहीं है, उसका ध्यान आत्मा में नहीं जमता और इसलिए उसकी कर्म शुद्धि भी नहीं होती ।

१२

तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वात् संप्राप्यते मनः ।

मनसा प्राप्यते त्वात्मा ह्यात्मापत्त्या निवर्त्तते ॥

—यजुर्वेदीय मैत्रायणी आरण्यक ४।३

तप द्वारा सत्त्व (ज्ञान) प्राप्त होता है, सत्त्व से मन वश में आता है, मन वश में आने से आत्मा की प्राप्ति होती है, और आत्मा की प्राप्ति हो जाने पर संसार से छुटकारा मिल जाता है ।

वैदिक वाङ्मय में 'तप'

१. तपो वाऽग्निस्तपो दीक्षा ।
—शतपथ ब्राह्मण ३।४।३।३
 २. तप एक अग्नि है, तप एक दीक्षा है ।
तपसा वै लोकं जयन्ति ।
—शतपथ ब्राह्मण ३।४।४।२७
 ३. तप के द्वारा ही सच्ची विश्वविजय प्राप्त होती है ।
तपो मे प्रतिष्ठा ।
—तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।७।७
 ४. तप मेरी प्रतिष्ठा है, मेरी स्थिरता का हेतु है ।
श्रेष्ठो ह वेदस्तपसोऽधिजातः ।
—गोपथब्राह्मण १।१।६
 ५. श्रेष्ठ ज्ञान तप के द्वारा ही प्रकट होता है ।
तपो हि स्वाध्यायः ।
—तैत्तिरीयआरण्यक २।१४
 ६. स्वाध्याय स्वयं एक तप है ।
स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा इदं सर्वम् असृजत ।
—तैत्तिरीय आरण्यक—८।६
- इस (ब्रह्म) ने तप किया और तप करके इस सब की रचना की ।

मन, वाणी और शरीर इन तीनों का तप यदि फल की आकांक्षा किए बिना परम श्रद्धापूर्वक किया जाए तो वह सात्त्विकतप कहलाता है।

१६ सत्कार मान पूजार्थं तपो दम्भेन चैव तत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिए तथा अन्य किसी स्वार्थ के लिए पाखण्ड भाव से किया जाता है, वह अनिश्चित तथा अस्थिर तप होता है, उसे 'राजस' तप कहते हैं।

२० मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत् तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

—भगवद्गीता १७।

जो तप मूढ़तापूर्वक, हठ से तथा मन, वचन, और शरीर की पीड़ा के सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिए किया जाता है, वह 'तामस' तप कहा जाता है।

२१ तपो मूलमिदं सर्वं दैव मानुषकं सुखम् ।

—मनुस्मृति ११।२३५

मनुष्यों और देवताओं के सभी सुखों का मूल तप है।

२२ ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम् ।

—मनुस्मृति ११।२३६

ब्राह्मण का तप ज्ञान है, और क्षत्रिय का तप दुर्बल की रक्षा करना है।

२३ यद् दुस्तरं यद् दुरापं यत् दुर्गं यच्च दुष्करम् ।
सर्वतत् तपसा साध्यं तपोहि दुरतिक्रमम् ॥

—मनुस्मृति ११।२३८

जो दुस्तर है, दुष्प्राप्य है (कठिनता से प्राप्त होने जैसा है) दुर्गम है, और दुष्कर है, वह सब तप से साधा जाता है। साधना क्षेत्र में तप एक दुर्लभ शक्ति है अर्थात् तप से सभी कठिनताओं पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

२४ न विद्यया केवलया तपसा वाऽपि पात्रता ।

यत्र वृत्ता मिमे चोभे तद्वि पात्रप्रकीर्तितम् ॥

—याज्ञवल्क्यस्मृति १।१२२

१३ विद्यया तपसा चिन्तया चोपलभते ब्रह्म ।

— य० मै० आ० ४।४

आध्यात्मिक विद्या से, तप से, और आत्मचिन्तन से ब्रह्म की उपलब्धि होती है ।

१४ अहिंसा सत्य वचन मानृशंस्यं दमो घृणा ।

एतत्तपो विदुर्धोरा न शरीरस्य शोषणम् ।

— महा० शान्तिपर्व १८६।१८

किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, सत्य बोलना, क्रूरता को त्याग देना, मन और इन्द्रियों को संयम में रखना, तथा सबके प्रति दया भाव रखना, इन्हीं को धीर (ज्ञानी) पुरुषों ने तप माना है । केवल शरीर को सुखाना ही तप नहीं है ।

१५ देव द्विज गुरु प्राज्ञ-पूजनं शीचमार्जवम् ।

ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

देवता, ब्राह्मण, गुरु एवं ज्ञानीजनों का पूजन, पवित्रता सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—ये शारीरिक तप हैं ।

१६ अनुद्वेगकरं वावयं, सत्यं प्रिय हितं च यत् ।

स्वाध्यायाभ्यासनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

उद्देग (अशान्ति) न करने वाला, प्रिय, हितकारी यथार्थ सत्य भाषण और स्वाध्याय का अभ्यास— ये सब वाणी के तप कहे जाते हैं ।

१७ मनःप्रसादः सौम्यत्वं मीनमात्मविनिग्रहः ।

भावसंगुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

—भगवद्गीता ११

मन की प्रसन्नता, सौम्यभाव, मीन, आत्म-निग्रह तथा शुद्ध भावना—ये सब मानस तप कहे जाते हैं ।

१८ श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।

अफलाकाङ्क्षिभियुक्तः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

बौद्ध वाङ्मय में 'तप'

१ तपो च ब्रह्मचरियं च तं सिनानमनोदकं ।
—संयुक्तनिकाय १।१।५८

तप और ब्रह्मचर्य विना पानी का स्नान है ।

२ खंति परमं तपो तितिक्षा ।

—धम्मपद १४।६

क्षमा (सहिष्णुता) परम तप है ।

३ सद्धा बीजं तपो वुट्ठि ।

—सुत्तनिपात १।४।२

श्रद्धा मेरा बीज है, तप मेरी वर्षा है ।

४ यस्सेते चतुरो धम्मा सद्धस्स घरमेसिनो ।
सच्चं धम्मो धिती चागो सवे पेच्च न सोचति ॥

—सुत्तनिपात १।१०।८

जिस श्रद्धाशील गृहस्थ में सत्य, धर्म, धृति और त्याग (तप) ये चार धर्म हैं, उसे परलोक में पड़ताना नहीं पड़ता ।

न केवल विद्या से और न केवल तप से पवित्रता प्राप्त होती है । जिसमें विद्या और तप दोनों ही हों, वही पात्र कहलाता है ।

२५ सम्मानात् तपसः क्षयः ।

—आपस्तम्ब स्मृति १०।३

सम्मान से तप का क्षय हो जाता है ।

२६ वेदस्योपनिषद् सत्यं, सत्यस्योपनिषद् दमः ।

दमस्योपनिषद् दानं, दानस्योपनिषद् तपः ।

—महामारव शक्ति पर्व २५।१११

वेद का सार है सत्य वचन, सत्य का सार है दानियों का संयम, संयम का सार है दान, और दान का सार है 'तपस्या' ।

२७ तपो हि परमं श्रेयः सम्मोहिमिवरन्त्यखम् ।

—वाल्मीकि रामायण ७।८४।३

तप ही परम कल्याणकारी है । तप से मित्र सुख तो मात्र बुद्धि के सम्मोहि

की उपपन्न करने वाला है ।

२८ तपसैव महोभूत यद् दुराणं तदाप्यते ।

—योगवासिष्ठ ३।६८।१४

वही दुराण यत्तु है, वे उपरपस्या से ही प्राप्त होती हैं ।

२९ ध्यानयोगो रतो निष्ठः प्राप्नोति परमां गतिम् ।

—शंखस्मृति

ध्यान योग में दीन मुनि मोक्षपद की प्राप्ति करता है ।

३० ओमिदोव ध्यायथ ! आत्मानं स्वस्ति वः ।

पराय तमसः परास्तिव ।

—मुद्रकोपनिषद् २।२।६।

हंस आत्मा का ध्यान ओं के रूप में करो ! सुहृदो राज कल्याण हो गी

अवकार हरे करके का यह एक ही साधन है ।

पुस्तक में प्रयुक्त ग्रन्थ सूची

- | | |
|----------------------------------|----------------------------|
| १ अगस्त्यसिंह चूर्णि (दशवै०) | १६ उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति |
| २ अथर्ववेद | १७ उपदेशप्रासाद |
| ३ अध्यात्मरामायण | १८ ऐतरेय ब्राह्मण |
| ४ अनुत्तरोपपातिक सूत्र | १९ ओषधिनिर्युक्ति |
| ५ अनुयोगद्वार | २० ओषपातिक सूत्र |
| ६ अभिधान चित्तामणिकोष (हिमचंद्र) | २१ कल्पसूत्र |
| ७ अभिधानराजेन्द्र कोष | २२ कल्पसूत्रवालावबोध |
| ८ अष्टकप्रकरण (हरिभद्रसूरि) | २३ कल्पसूत्र प्रबोधिनी |
| ९ अन्तगङ्ग सूत्र | २४ कृष्ण यजुर्वेद |
| १० आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन | २५ केन उपनिषद् |
| ११ आचारांग सूत्र | २६ गच्छाचार पङ्क्ता |
| १२ आवश्यक निर्युक्ति | २७ गोपय ब्राह्मण |
| १३ आश्वलायन गृह्यसूत्र | २८ चन्द्रप्रज्ञप्ति |
| १४ इण्डियन फिलोसफी | २९ चरक संहिता |
| १५ उत्तराध्ययन सूत्र | ३० चाणक्यनीति |

५ अल्पिच्छता सप्पुरिसेहि वणिता ।

—धेरगाथा १६।११२७

सत्पुरुषों ने अल्पेच्छता (कम इच्छा) की प्रशंसा की है ।

६ विरियं हि किलेसानं आतापन परितापनट्ठेन ।

—विसुद्धिमग्गो १।७

वीर्य (शक्ति) ही क्लेशों को तपाने, एवं झुलसाने के कारण आताप (तप) कहा जाता है ।



८३ योगवाशिष्ठ	१०० श्वेताश्वतर उपनिषद्
८४ योगशास्त्र	१०१ पङ्दर्शन समुच्चय
८५ रत्नकरण्ड श्रावकाचार	१०२ श्रमण सूत्र
८६ राजवार्तिक	१०३ श्रावकाचार
८७ रामचरित मानस	१०४ श्रीमद्भागवत
८८ ललितविस्तर	१०५ समवायांग सूत्र वृत्ति
८९ रामायण	१०६ सर्वार्थसिद्धि
९० व्यवहारभाष्य	१०७ स्थानांग सूत्र (व वृत्ति)
९१ व्यवहारभाष्यपीठिका	१०८ सांख्यायन आरण्यक
९२ विदुरनीति	१०९ सामवेद पूर्वार्चिक
९३ विनयपिटक (महावग्ग)	११० सिद्धिविनिश्चय
९४ विनयपिटक (अट्ठकथा)	१११ सुखविपाक
९५ विवेकचूडामणि	११२ सुत्तनिपात
९६ विवेकविलास	११३ सोदरानन्द
९७ विसुद्धिमग्गो	११४ संयुक्त निकाय महावग्ग
९८ शतपथ ब्राह्मण	११५ Carus Gorpāl of
९९ शांत सुधारस भावना	BUDDHA

३१ छान्दोग्य उपनिषद्	५७ पटिसम्भदामगो
३२ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति	५८ पञ्चतन्त्र
३३ जैन परम्परा में योग (निबन्ध)	५९ प्रवचनसार
३४ जैनसिद्धांतदीपिका	६० प्रवचन सारोद्धार
३५ तत्त्वार्थ सूत्र	६१ प्रवचन सारोद्धार वृत्ति
३६ तिलोपपण्णत्ति	६२ प्रशमरतिप्रकरण
३७ तैत्तिरीय ब्राह्मण	६३ प्रश्नव्याकरण सूत्र
३८ तैत्तिरीय आरण्यक	६४ प्रज्ञापना सूत्र
३९ तैत्तिरीय उपनिषद्	६५ पिण्डनिर्युक्ति
४० दशवैकालिक सूत्र	६६ पंचाशक सटीक
४१ दशवैकालिक चूर्णि (जिनदास गणी)	६७ बृहत्कल्पभाष्य
४२ दशाश्रुतस्कन्ध	६८ बृहत् स्वयंभूस्तोत्र
४३ द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका	६९ भयवद्गीता
४४ दीघनिकाय	७० भगवतीसूत्र
४५ दीपवंश	७१ भावपाहुड
४६ धर्मसंग्रह	७२ मज्झिमनिकाय
४७ धर्मरत्न	७३ मनुस्मृति
४८ धवला	७४ मरुधर केसरी ग्रन्थावली
४९ ध्यान और मनोबल	७५ महावीर चरियं
५० व्यानविन्दूपनिषद्	७६ महाभारत
५१ तन्दीसूत्र	७७ महामंगल सुत
५२ निरयावलि या सूत्र	७८ महापुराण
५३ निशीथभाष्य	७९ मुण्डक उपनिषद्
५४ निशीथ चूर्णि	८० मुलाचार
५५ नीतिवाक्यामृत	८१ मैत्रायणी आरण्यक
५६ नेपथीयचरित	८२ योगदर्शन

- (२) स्त्री अच्छे पुरुष को प्राप्त करने के लिए नियाणा करती है ।
- (३) पुरुष अच्छी स्त्री को प्राप्त करने के लिये नियाणा करता है ।
- (४) स्त्री किसी समृद्ध स्त्री को देखकर वैसी बनने का नियाणा करती है ।
- (५) कोई व्यक्ति देवगति में उत्पन्न होकर अपनी तथा दूसरों की देवियों को वैक्रिय शरीर द्वारा भोगने का नियाणा करता है ।
- (६) कोई व्यक्ति देव भव में अपनी देवी को बिना वैक्रिय करके भोगने का नियाणा करता है ।
- (७) कोई व्यक्ति देवभव में अपनी देवी को बिना वैक्रिय (मूल रूप से) भोगने का नियाणा करता है ।
- (८) कोई व्यक्ति अगले भव में श्रावक बनने का नियाणा करता है ।
- (९) कोई व्यक्ति अगले भव में साधु होने का नियाणा करता है ।

इन नौ नियाणों में से पहले चार नियाणे करने वाला जीव केवल प्ररूपित धर्म को सुन भी नहीं सकता । पांचवे नियाणे वाला धर्म को सुन तो लेता है किन्तु समझ नहीं सकता, अर्थात् दुर्लभबोधि होता है और बहुत काल तक संसार में परिभ्रमण करता है । छठे नियाणे वाला जीव जिन धर्म को सुनकर—समझ कर भी दूसरे धर्म की तरफ रुचि रखने वाला होता है । सातवें नियाणे वाला सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है अर्थात् उसे धर्म पर श्रद्धा तो होती है लेकिन व्रत विलकुल नहीं ले सकता । आठवें नियाणे वाला श्रावक व्रत ले सकता है लेकिन साधु नहीं बन सकता है । नौवें नियाणे वाला साधु बन सकता है लेकिन उसी भव में मोक्ष नहीं जा सकता ।

२. भिक्षाचरी प्रकरण में पृष्ठ २५७ पर हमने अभिग्रह के ३० भेद बताए हैं । कहीं-कहीं बढ़ाकर ३२ भेद भी गिने गए हैं । वे अधिक दो भेद इस प्रकार हैं—

- (१)—३१ पुरिमार्घ चरक दिन के पूर्वार्ध में भिक्षाचर्या करने वाला
- (२)—३२—भिन्नपिण्डपात चरक—टुकड़े किए हुए पिण्ड (भोजन) को ग्रहण करने वाला ।

परिवर्धन

प्रस्तुत ग्रंथ के आलेखन के समय कहीं-कहीं संक्षेप करना आवश्यक समझा गया, कहीं-कहीं पुस्तकाभाव से विस्तृत संदर्भ प्राप्त न हो पाये— इस प्रकार कई कारणों से कुछ स्थानों पर, कुछ महत्वपूर्ण संदर्भ जो कि तप के विषय में विशेष ज्ञातव्य थे, रह गये। पुस्तक को सर्वांग बनाने की दृष्टि से कुछ ग्रंथों का पुनः अवलोकन कर उन संदर्भों को प्राप्त किया गया है जो यहां परिवर्धन शीर्षक से परिशिष्ट में दिये जा रहे हैं।

—संपादक]

१. तप (मोक्षमार्ग) का पल्लिमंथु : निदान इस प्रकरण में पृष्ठ ११२-११३ पर रानी चेलना का प्रसंग है। उसी संदर्भ में निदान के नौ भेद बताये गये हैं, जो विस्तार भय से प्रारंभ में छोड़ दिये गये थे, किन्तु वे विशेष मननीय होने से यहां ससन्दर्भ पड़िए :—

निदान के नौ भेद :—

(१) एक पुरुष दूसरे समृद्धिशाली पुरुष को देखकर वैसा बनने का नियाणा करता है।

- २ एक पसवाड़े के बल सोना (मध्यम)
- ३ सीधा सोना (जघन्य) ।
- (ख) अनिष्पन्न (बैठे हुए की) आतापना के तीन भेद हैं—
 - १ गोदोहासन की आतापना (उत्कृष्ट)
 - २ उत्कट्टकासन की आतापना (मध्यम)
 - ३ पर्यंकासन की आतापना (जघन्य)
- (ग) ऊर्ध्वस्थित (खड़े हुए की) आतापना तीन प्रकार की हैं—
 - १ हस्तिशुण्डिकासन की आतापना (उत्कृष्ट)
 - २ एक पैर पर खड़े रहकर (वगुलासन) की आतापना (मध्यम)
 - ३ सामान्य रूप से खड़े रहकर ली गई आतापना (जघन्य)

५. प्रायश्चित्त तप के प्रकरण में पृष्ठ ३६३ पर प्रतिसेवना का वर्णन किया गया है । उस सन्दर्भ में कुछ तथ्य और प्राप्त हुआ है । दशवैकालिक हारिभद्रौय (१।१) में तथा स्यानांग ४।१। २६३ में प्रायश्चित्त चार प्रकार का बताया है —

प्रायश्चित्त के चार भेद ये हैं—१. प्रतिसेवनाप्रायश्चित्त, २. संयोजना-प्रायश्चित्त, ३. आरोपणाप्रायश्चित्त, ४. परिकुञ्चनाप्रायश्चित्त ।

- (१) प्रतिपिद्ध अर्थात् नहीं करने योग्य कार्य का सेवन करना प्रतिसेवना है । उसकी शुद्धि के लिये जो आलोचना-प्रतिक्रमण आदि किये जाते हैं, उन्हें प्रतिसेवनाप्रायश्चित्त कहते हैं । इसके दस भेद हैं ।
- (२) एकजातीय अतिचारों—दोषों का मिल जाना संयोजना है । जैसे— कोई साधु शय्यातरपिण्ड लाया, वह भी गीले हाथों से, वह भी सामने लाया हुआ और वह भी आधाकर्मी—इस प्रकार के संयुक्त दोषों का जो प्रायश्चित्त होता है, उसे संयोजनाप्रायश्चित्त कहते हैं ।
- (३) एक अपराध का प्रायश्चित्त करने पर बार-बार उसी अपराध का सेवन करने से विजातीय-प्रायश्चित्त का आरोपण करना आरोपणाप्रायश्चित्त है । जैसे—एक अपराध के लिए पांच दिन के तप का प्रायश्चित्त दिया । फिर उसी का सेवन करने पर दस दिन का फिर सेवन करने

३. कायक्लेश तप के वर्णन में पृष्ठ २६५ पर कायक्लेश के १४ भेद हमने बताया हैं। कुछ आचार्यों ने भेद संख्या १३-१४ को एक ही मानकर १३ भेद ही माने हैं !

कायक्लेश के छठे भेद निषद्या के पांच भेद स्थानांग सूत्र (५।१।४००) में बताया गए हैं :—

१. समपादपुता
२. गोनिषद्यिका
२. हस्तिशुण्डिका
४. पर्यङ्का
५. अर्धपर्यङ्का

(क) जिसमें समान रूप से पैर और पुतों—कूल्हों से पृथ्वी या आसन का स्पर्श करते हुये बैठा जाय, वह समपादपुतानिषद्या है।

(ख) जिस आसन में गाय की तरह बैठा जाय, वह गोनिषद्यिका है।

(ग) जिस आसन में कूल्हों के ऊपर बैठकर एक पैर ऊपर रखा जाय, वह हस्तिशुण्डिका है।

(घ) पद्मासन से बैठना पर्यङ्कानिषद्या है।

(ङ) जंघा पर एक पैर चढ़ाकर बैठना अर्धपर्यङ्कानिषद्या है।

इनमें से किसी एक प्रकार की निषद्या से बैठकर कायोत्सर्ग करना कायक्लेश तप का छठा भेद है।

४. आतापना के भी कई प्रकार बताये गए हैं :—

१ निष्पन्न—सोते हुए आतापना लेना।

२ अनिष्पन्न—बैठे हुए आतापना लेना।

३ ऊर्ध्वस्थित—खड़े हुए आतापना लेना।

ये क्रमशः उत्कृष्ट, मध्यम एवं जघन्य मानी गई है। अर्थात् सोते हुए की आतापना उत्कृष्ट, बैठे हुए की मध्यम, खड़े हुए की जघन्य !

(क) निष्पन्न (सोते हुए) आतापना के तीन भेद हैं—

१ नीचा मुख करके सोना (उत्कृष्ट)

छेद या तप रूप मासिक प्रायश्चित्त के दो भेद हैं^१—उद्धातिक और अनुद्धातिक। उद्धातिक-मासिकप्रायश्चित्त दो प्रकार का है—भिन्नमासिक एवं लघुमासिक। भिन्नमासिक के जघन्य रूप में एक दिन निर्विकृति अर्थात् विगय का त्याग करना पड़ता है तथा उत्कृष्ट रूप में २५ दिन का तप या छेद स्वीकार करना पड़ता है। लघु मासिक में जघन्य पुरिमड्ड करना (आधे दिन तक भूखा रहना) पड़ता है एवं उत्कृष्ट २७ दिन का तप या छेद होता है।

अनुद्धातिक का अर्थ गुरुमासिक है—इसमें जघन्य एकासन (दिन में एक ही बार खाकर रहना) और उत्कृष्ट ३० दिन का तप या छेद होता है।

चातुर्मासिक एवं पाष्मासिक प्रायश्चित्त भी दो प्रकार के हैं—उद्धातिक एवं अनुद्धातिक अर्थात् लघु एवं गुरु। लघुचातुर्मासिक में जघन्य आयम्बिल एवं उत्कृष्ट १०५ दिन का तप या छेद होता है तथा गुरुचातुर्मासिक में जघन्य एक उपवास व उत्कृष्ट १२० दिन का तप या छेद होता है।

लघुपाष्मासिक में जघन्य बेला एवं उत्कृष्ट १६५ दिन का तप या छेद होता है। गुरुपाष्मासिक में जघन्य तेला एवं उत्कृष्ट १८० दिन का तप या छेद होता है।

मासिकादि प्रायश्चित्तों की जघन्यता एवं उत्कृष्टता दोषों की मन्दता-तीव्रता तथा दोषों की परिस्थिति के अनुसार होती है। किसको किस प्रकार का प्रायश्चित्त देना—यह निप्यक्ष-प्रायश्चित्तदाता के विचारों पर निर्भर है।

किन-किन दोषों का सेवन करने से मासिक-चातुर्मासिक एवं पाष्मासिक प्रायश्चित्त आता है, यह वर्णन निशीथ, वृहत्कल्प एवं व्यवहार सूत्र से जानने योग्य है।

८. पृष्ठ ४२३ पर विनय के तीन अर्थ किये गए हैं। वहाँ इतना और भी समझना चाहिए कि विनय के वाचक तीन शब्द काफी प्रचलित हैं—

१ यह विधि निशीथ सूत्र के हस्तलिखित टिप्पणों के आधार पर दी गई है।
देखें मोक्ष प्रकाश २५३

पर पन्द्रह दिन का, इस प्रकार छः मास तक लगातार प्रायश्चित्त देना ।

छः मास से अधिक तप का प्रायश्चित्त नहीं होता ।

- (४) द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से अपराध को छिपाना या दूसरा रूप देना परिकुञ्चना है । इसका जो प्रायश्चित्त है, वह परिकुञ्चनाप्रायश्चित्त कहलाता है ।

६. 'आलोचना के लाभ' शीर्षक पृष्ठ ३६६-४०० के सन्दर्भ में स्थानांग सूत्र का यह वर्णन भी काफी महत्त्व रखता है, जो विशेष मननीय है ।

स्थानांग ८।५६७ में कहा है कि जो व्यक्ति अपने दोषों की आलोचना कर लेता है, वह मरकर विशालसमृद्धि, लम्बी आयु तथा उच्चजाति का देवता बनता है (किल्बिषिक, आभियोगिक, कान्दर्षिक आदि नहीं बनता) वह वहाँ दिव्य वस्त्र, दिव्य आभूषण, दिव्य तेज आदि से दशों दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ विविध नाटक, गीत, वादित्रों के साथ दिव्य भोगों का अनुभव करता है । वह देवताओं में विशेष सम्मानीय होता है तथा जब देवसभा में भाषण देने लगता है तब चार-पांच देवता खड़े होकर कहते हैं—हे देवानुप्रिय ! और कहिये-और कहिये ! आपका भाषण बहुत प्रिय लगता है ।

इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने दोषों की आलोचना किये बिना मरता है, वह नरकादि दुर्गतियों में जाता है । पहले कुछ त्याग तपस्या की हुई होने के कारण कदाचित् व्यन्तर-किल्बिषिक आदि देव बन जाता है तो उसकी आयु, ऋद्धि, तेज आदि अल्प होते हैं, उसे उच्चआसन एवं सम्मान नहीं मिलता । जब वह बोलने के लिए झड़ा होता है तो चार या पांच देवता उसे रोकते हुए कहते हैं—बस, रहने दीजिए ! अधिक मत बोलिये !

स्वर्ग से च्यवकर यदि वह मनुष्य लोक में आता है तो अन्त प्रान्त तुच्छ दरिद्र या भिक्षुकादि कुलों में उत्पन्न होता है एवं अमनोज्ञ वर्ण-गन्धरस-स्पर्श वाला तथा हीन दीन स्वर वाला होता है ।

७ इसी प्रकरण में छेदाहं प्रायश्चित्त के अन्तर्गत पृष्ठ ४१७ के सन्दर्भ में यह विशेष वर्णन और भी ज्ञातव्य है—

- (१०) परितापनाकारी—प्राणियों को संतापित किया जाए इत्यादि मन की प्रवृत्ति ।
- (११) उपद्रवकारी—अमुक पुरुष को ऐसी वेदना हो कि उसके प्राण छूट जायें या अमुक पुरुष के धन को चोर चुरा ले जाएँ, इस प्रकार मन में चिन्तन करना ।
- (१२) भूतोपघातकारी—जीवों का विनाश करने वाली मन की प्रवृत्ति ।

१०. वैयावृत्य तप के प्रकरण में पांचवा भेद है ग्लान (रोगी) की सेवा करना । ग्लान वैयावृत्य के सम्बन्ध में प्रवचन सारोद्धार द्वार ७१ गाथा २६ में काफी विस्तार से वर्णन मिलता है । ग्लान प्रतिचारी (रोगी की सेवा करने वाले) के बारह भेद बताये हैं, जो इस प्रकार हैं—

- (१) उद्वर्तनप्रतिचारी—ये ग्लान मुनि को पासा बदलाना, उठाना, बैठाना, बाहर ले जाना, भीतर लाना, उनकी पडिलेहणा करना इत्यादि रूप सेवा करते हैं ।
- (२) द्वारप्रतिचारी—ये ग्लान मुनि के पास अधिक भीड़ न हो जाये, इसलिए कमरे के द्वार पर बैठे रहते हैं ।
- (३) संस्तारप्रतिचारी—ये ग्लान मुनि के लिये साताकारी शय्यासंयारे की व्यवस्था करते हैं ।
- (४) कथकप्रतिचारी—ये ग्लानमुनि को धर्मोपदेश सुनाते हैं एवं धर्म बंधवाते हैं ।
- (५) वादिप्रतिचारी—ये विशेष चर्चावादी होते हैं एवं प्रसंग आने पर ग्लान मुनि के पास उत्पन्न विवाद को शान्त करते हैं ।
- (६) अग्रद्वारप्रतिचारी—ये उपाश्रय के मुख्य द्वार पर बैठते हैं ताकि कोई प्रत्यनीक ग्लानमुनि के पास आकर क्लेश आदि न कर सके ।
- (७) भक्तप्रतिचारी—ये ग्लानमुनि के लिए आहार-पानी की व्यवस्था करते हैं ।
- (८) पानप्रतिचारी—ये ग्लान मुनि के मल-मूत्र परठने का काम करते हैं ।
- (९) पुरीषप्रतिचारी—ये ग्लान मुनि के मल-मूत्र परठने का काम करते हैं ।
- (१०) प्रसन्नप्रतिचारी—ये ग्लान मुनि के मल-मूत्र परठने का काम करते हैं ।

१ भक्ति—हाथ जोड़ना, सिर झुकाना आदि बाह्य व्यवहार में नम्रता प्रदर्शित करना ।

२ बहुमान—गुरुजनों के प्रति हृदय में श्रद्धा एवं प्रीति रखना । तथा उनका आदर करना ।

३ वर्णवाद—गुणों की प्रशंसा करना, उन्हें ग्रहण करने का प्रयत्न करना । ये तीनों शब्द विनय के अर्थ में प्रचलित हैं ।

६. अप्रशस्त मन विनय के अन्तर्गत पृष्ठ ४३५ पर सात भेद बताये गए हैं । इन्हीं भेदों में परिवर्धन कर औपपातिक सूत्र में बारह भेद कर दिये गए हैं, जो इस प्रकार हैं—

अप्रशस्तमनोविनय—अप्रशस्तमन अर्थात् खराब मन । यह बारह प्रकार का होता है—

(१) सावद्य—गर्हित (निन्दित) कार्य से युक्त, अथवा हिंसादि कार्य से युक्त मन की प्रवृत्ति ।

(२) सक्रिय—कायिकी आदि क्रियाओं से युक्त मन की प्रवृत्ति ।

(३) सकर्कश—कर्कश (कठोर) भावों से युक्त मन की प्रवृत्ति ।

(४) कटुक—अपनी आत्मा के लिये और दूसरे प्राणियों के लिए अनिष्टकारी मन की प्रवृत्ति ।

(५) निष्ठुर—मृदुता (कोमलता)—रहित मन की प्रवृत्ति ।

(६) परुष—कठोर अर्थात् स्नेहरहित मन की प्रवृत्ति ।

(७) आलवकारी—जिससे अशुभ कर्मों का आगमन हो, ऐसी मन की प्रवृत्ति ।

(८) छेदकारी—अमुक पुरुष के हाथ-पैर आदि अवयव काट दिये जाएँ इत्यादि मन की प्रवृत्ति ।

(९) भेदकारी—अमुक पुरुष के नाक-कान आदि का भेदन कर दिया जाएँ, ऐसी मन की प्रवृत्ति ।

- (३) तत्त्व विशेष का प्ररूपण करने के लिये व्याख्यानकर्ता एवं ग्रन्थकर्ता अपने आप प्रश्न उठाता है एवं फिर उसका समाधान करता है। इस प्रकार का प्रश्न अनुयोगी प्रश्न है। जैसे—आगम में “कई क्रियाओ पन्नत्ताओ” यों प्रश्न उठाकर पांच क्रियाओं का स्वरूप समझाया गया है।
- (४) सामनेवाले को अनुकूल करने के लिये —“आप कुशल तो हैं” — इत्यादि शिष्टाचार रूप जो प्रश्न पूछा जाता है, वह अनुलोम प्रश्न है।
- (५) प्रश्न का उत्तर जानते हुए भी गौतमआदिवत् जो प्रश्न पूछा जाता है, वह तथाज्ञानप्रश्न है। केशीस्वामी द्वारा किये गये प्रश्न भी इसी कोटि के हैं।
- (६) प्रश्न का उत्तर न जानते हुए अज्ञानी व्यक्ति द्वारा यत्किञ्चित् प्रश्न किया जाता है वह अतथाज्ञानप्रश्न है।

१३. पृष्ठ ४६६ पर धर्म कथा के चार भेद बताये गये हैं। इन चारों के चार-चार अन्तर्भेद करके कुल १६ भेद भी किये गये हैं। इनका विस्तृत वर्णन स्यानांग ४।२।२८२ की टीका तथा दशवैकालिक अ० ३ की नियुक्ति गाथा १६७-६८ की टीका में प्राप्त होता है। वह वर्णन विशेष ज्ञातव्य होने से यहाँ दिया जा रहा है—

१. आक्षेपणीधर्मकथा—श्रोताओं को मोह से हटाकर धर्मतत्त्व की ओर आकर्षित करने वाली कथा आक्षेपणी कहलाती है। यह चार प्रकार की होती है— १. आचारआक्षेपणी, २. व्यवहारआक्षेपणी ३. प्रज्ञप्ति आक्षेपणी, (४) दृष्टिवाद आक्षेपणी

(क) केश-लोच-अस्नान आदि साधुआचार के द्वारा अथवा दशवैकालिक-आचारांग आदि आचार-प्रदर्शक सूत्रों के व्याख्यान द्वारा श्रोताओं को तत्त्व के प्रति आकर्षित करने वाली कथा आचार-आक्षेपणी है।

(ख) किसी तरह का दोष लगाने पर उसकी शुद्धि के लिये आलोचना आदि प्रायश्चित्तों अथवा व्यवहार बृहत्कल्प आदि सूत्रों के व्याख्यान द्वारा

- (११) बहिःकथकप्रतिचारी—ये ग्लानमुनि के पास धर्म प्रभावना के लिए बाहर के लोगों को कथा सुनाते हैं।
- (१२) दिशासमर्थप्रतिचारी—ये ग्लानमुनि के पास छोटे बड़े आकस्मिक उपद्रवों को शान्त करने का काम करते हैं (प्रत्येक कार्य पर ४-४ साधु नियुक्त होते हैं, अतः उत्कृष्ट स्थिति में ग्लानप्रतिचारियों की संख्या ४८ हो जाती है)।

११. पृष्ठ ४६१ पर स्वाध्याय के दूसरे भेद पृच्छना का वर्णन किया गया है। उत्तराध्ययन २६।२० में बताया है पृच्छना करने वाला अपनी शंकाओं को दूर कर ज्ञान को निर्मल बनाता है तथा कांक्षामोहनीय कर्म को खपाता है। पृच्छा— प्रश्न अनेक प्रकार के होते हैं। इस संदर्भ में स्थानांग ६।५३४ में प्रश्न छह प्रकार के बताए हैं जो विशेष ज्ञातव्य हैं—

प्रश्न छः प्रकार के माने गये हैं - (१) संशयप्रश्न, (२) व्युद्ग्रहप्रश्न, (३) अनुयोगीप्रश्न (४) अनुलोमप्रश्न (५) तथाज्ञानप्रश्न, (६) अतथाज्ञान प्रश्न

(१) अर्थ विशेष में संदेह होने पर गुरु आदि से जो पूछा जाता है, वह संशय-प्रश्न है। संसार के सभी व्यक्ति संशय के पात्र हैं, केवल दो ही जीव ऐसे होते हैं, जिनके मन में शंका नहीं होती। उनमें एक तो सर्वज्ञ भगवान् है, और दूसरे अभव्य जीव।

संदेह होने पर अनेक देवों, मुनि-महर्षियों एवं गृहस्थों ने भगवान् महावीर के पास जो जिज्ञासारूप प्रश्न पूछे थे, वे सब संशय प्रश्न समझने चाहिए। शंका का समाधान करने के लिए प्रश्न अवश्य पूछना चाहिए लेकिन उसके साथ द्रव्य-क्षेत्र काल भाव का ध्यान रखना परम आवश्यक है।

(२) दुराग्रह अथवा परपक्ष को दूषित करने के लिये जो प्रश्न किया जाता है, वह व्युद्ग्रहप्रश्न है। उसमें प्रश्नकर्ता की भावना प्रतिपक्षी को नीचा दिखाने की रहती है।

को यदि मिथ्याभिनवेश हो तो वह पर सिद्धान्त के दोषों को न समझकर गुरु को पर-सिद्धान्त का निन्दक भी समझ सकता है।

३ संवेगनीधर्मकथा—जिसके द्वारा विपाक की विरसता बताकर श्रोता-जन में वैराग्य उत्पन्न किया जाये, वह संवेगनी धर्म कथा है। इसको संवेजनी तथा संवेदनी भी कहते हैं। इसके चार भेद हैं ?

(१) इहलोकसंवेगनी, (२) परलोकसंवेगनी (३) स्वशरीरसंवेगनी, (४) परशरीरसंवेगनी।

(क) मनुष्य शरीर एवं भोगों की असारता तथा अस्थिरता बताकर वैराग्य पैदा करना इहलोकसंवेगनीकथा है।

(ख) देव भी पारस्परिक ईर्ष्या, भय और वियोग तथा तृष्णा आदि के दुःखों से दुःखी हैं। उन्हें भी मरकर मनुष्य तिर्यञ्च रूप दुर्गति में जाने की एवं गर्भ तथा जन्म सम्बन्धी घोर कष्ट उठाने की चिन्ता लगी रहती है—इस प्रकार परलोक का स्वरूप बताकर वैराग्य उत्पन्न करना परलोकसंवेगनीकथा है।

(ग) यह शरीर स्वयं अशुचिरूप है, अशुचि (रजवीर्य) से उत्पन्न हुआ है और अशुचि का कारण है—इस प्रकार मानव शरीर के स्वरूप को बताकर वैराग्य उत्पन्न करना स्वशरीरसंवेगनीकथा है।

(घ) किसी मृत शरीर (मुर्दा) के स्वरूप को समझ कर वैराग्य उत्पन्न करना परशरीरसंवेगनीकथा है।

४. निर्वेदनीधर्मकथा—इहलोक-परलोक में प्राप्त होने वाले पुण्य-पाप के शुभाशुभ फलों को समझाकर संसार में उदासीनता पैदा करना निर्वेदनी धर्मकथा है। इसके चार भेद हैं ?

(क) इस भव में किये गये चोरी-जारी आदि दुष्कर्म एवं दानादि सत्कर्म यहीं फल जाते हैं। जैसे—चोरी-जारी से बदनामी तथा अशान्ति मिलती है और तीर्थकरादि महामुनियों को दान देने से मन की प्रसन्नता एवं त्वर्णादि द्रव्य प्राप्त होते हैं। तपस्या से अनेक प्रकार की लब्धियां मिलती हैं। इस प्रकार का वर्णन करने वाली कथा प्रथमनिर्वेदनीकथा है।

श्रोताओं को आत्मशुद्धि की तरफ आकर्षित करने वाली कथा व्यवहार आक्षेपणी है ।

(ग) श्रोताओं की शंकाओं का समाधान करने वाली, उनकी श्रद्धा को दृढ़ बनाने वाली अथवा प्रज्ञप्ति (भगवती) आदि सूत्रों के व्याख्यान द्वारा तत्त्व के प्रति झुकाने वाली कथा प्रज्ञप्ति आक्षेपणी है ।

(घ) नय-निक्षेप आदि से जीवादि-सूक्ष्म तत्त्वों को समझाने वाली अथवा श्रोताओं की दृष्टि को विशुद्ध करने वाली अथवा दृष्टिवादविषयक व्याख्यान द्वारा तत्त्व के प्रति आकर्षित करने वाली कथा दृष्टिवाद आक्षेपणी है ।

२ विक्षेपणीधर्मकथा—श्रोता को कुमार्ग से हटाकर सुमार्ग पर लाने वाली धर्मकथा विक्षेपणी कहलाती है । इसमें कुश्रद्धा को हटा कर सुश्रद्धा स्थापित करने की दृष्टि रहती है । इसके चार भेद हैं :—

(क) स्व-सिद्धान्त के गुणों का प्रकाश करके पर-सिद्धान्तों के दोषों का दर्शन कराना प्रथमविक्षेपणीकथा है ।

(ख) पर-सिद्धान्त का कथन करते हुए स्वसिद्धान्त की स्थापना करना द्वितीयविक्षेपणीकथा है ।

(ग) पर-सिद्धान्त में घुणाक्षर—न्याय से जितनी बातें जिनागम सहज हैं उन्हें कहकर जिनागम विपरीत वाद के दोष दिखाना अथवा आस्तिकवादी का अभिप्राय बताकर नास्तिकवाद का निराकरण करना तृतीयविक्षेपणीकथा है ।

(घ) पर-सिद्धान्त में कही हुई मिथ्या बातों का वर्णन करके स्वसिद्धान्त द्वारा उनका निराकरण करना अथवा नास्तिकवादी की दृष्टि का वर्णन करके आस्तिकवाद की स्थापना करना चतुर्थविक्षेपणीकथा है ।

सर्वप्रथम आक्षेपणीकथा कहनी चाहिये, उससे श्रोताओं को यदि सम्यक्त्व का लाभ हो जाये तो फिर उनके सामने विक्षेपणी कथा का प्रयोग करना चाहिये । इस कथा से सम्यक्त्वलाभ हो या, नहीं भी हो । अनुकूल रीति से ग्रहण करने पर शिष्य की सम्यक्त्व दृढ़ भी हो सकती है लेकिन शिष्य

को यदि मिथ्याभिनिवेश हो तो वह पर सिद्धान्त के दोषों को न समझकर गुरु को पर-सिद्धान्त का निन्दक भी समझ सकता है।

३ संवेगनीधर्मकथा—जिसके द्वारा विपाक की विरसता बताकर श्रोता-जन में वैराग्य उत्पन्न किया जाये, वह संवेगनी धर्म कथा है। इसको संवेजनी तथा संवेदनी भी कहते हैं। इसके चार भेद हैं ?

(१) इहलोकसंवेगनी, (२) परलोकसंवेगनी (३) स्वशरीरसंवेगनी, (४) परशरीरसंवेगनी।

(क) मनुष्य शरीर एवं भोगों की असारता तथा अस्थिरता बताकर वैराग्य पैदा करना इहलोकसंवेगनीकथा है।

(ख) देव भी पारस्परिक ईर्ष्या, भय और वियोग तथा तृष्णा आदि के दुःखों से दुःखी हैं। उन्हें भी मरकर मनुष्य तिर्यञ्च रूप दुर्गति में जाने की एवं गर्भ तथा जन्म सम्बन्धी घोर कष्ट उठाने की चिन्ता लगी रहती है—इस प्रकार परलोक का स्वरूप बताकर वैराग्य उत्पन्न करना परलोकसंवेगनीकथा है।

(ग) यह शरीर स्वयं अशुचिरूप है, अशुचि (रजवीर्य) से उत्पन्न हुआ है और अशुचि का कारण है—इस प्रकार मानव शरीर के स्वरूप को बताकर वैराग्य उत्पन्न करना स्वशरीरसंवेगनीकथा है।

(घ) किसी मृत शरीर (मुर्दा) के स्वरूप को समझ कर वैराग्य उत्पन्न करना परशरीरसंवेगनीकथा है।

४. निर्वेदनीधर्मकथा—इहलोक-परलोक में प्राप्त होने वाले पुण्य-पाप के शुभाशुभ फलों को समझाकर संसार में उदासीनता पैदा करना निर्वेदनी धर्मकथा है। इसके चार भेद हैं ?

(क) इस भव में किये गये चोरी-जारी आदि दुष्कर्म एवं दानादि सत्कर्म यहीं फल जाते हैं। जैसे—चोरी-जारी से बदनामी तथा अशान्ति मिलती है और तीर्थंकरादि महामुनियों को दान देने से मन की प्रसन्नता एवं स्वर्णादि द्रव्य प्राप्त होते हैं। तपस्या से अनेक प्रकार की लब्धियाँ मिलती हैं। इस प्रकार का वर्णन करने वाली कथा प्रथमनिर्वेदनीकथा है।

(ख) यहां किए हुए दुष्कर्मों का फल नरकादि दुर्गति में तथा सत्कर्मों का फल स्वर्गादि सद्गति में मिलने का वर्णन करना द्वितीय निर्वेदनी कथा है ।

(ग) पूर्व भव में किये हुये पापों के उदय से यहाँ दुःख, दौर्भाग्य, रोग और शोक मिलते हैं तथा पुण्यों के उदय से सुख-सौभाग्य-आरोग्य और आनन्दादि मिलते हैं । इस प्रकार का वर्णन करना तृतीयनिर्वेदनी-कथा है ।

(घ) पूर्व भव में किये हुये शुभ-अशुभ कर्मों का आगामीभव में फल मिलने रूप वर्णन सुनाना । जैसे—पूर्व भव में किसी जीव ने नरक योग्य कुछ कर्म करके बीच में काक-गीध एवं तन्दुलमच्छ आदि का जन्म ले लिया एवं बँधे हुए अधूरे नरक योग्य कर्मों को पूर्ण करके नरक में उत्पन्न हो गया एवं पिछले तीसरे भव में बाँधे हुये अधूरे अशुभ कर्मों को भोगने लगा । इसी प्रकार तीर्थकरनाम कर्म बाँधने के बाद भी जीव तीसरे भव में तीर्थकर होकर भोगता है । जिस कथा में इस प्रकार का वर्णन हो, वह चतुर्थनिर्वेदनीकथा है ।

१४. पृष्ठ ४७० पर ध्यान का स्वरूप बताया गया है । उसी संदर्भ में ध्यान के आठ अंगों का स्वरूप भी समझने जैसा है । वहाँ विस्तारभय से नहीं दिया गया है जो यहाँ पर दिया जा रहा है—

ध्यान के आठ अंग—

(१) ध्याता, (२) ध्यान, (३) फल, (४) ध्येय, (५) ध्यान का स्वामी, (६) ध्यान के योग्य क्षेत्र, (७) ध्यान के योग्य समय, (८) ध्यान के योग्य अवस्था ।

(१) ध्याता—वह व्यक्ति ध्यान के योग्य माना गया है, जो जितेन्द्रिय है, धीर है, जिसके क्रोधादि कषाय शान्त हैं, जिसकी आत्मा स्थिर है, जो सुखासन में स्थित है एवं नाशा के अग्र भाग पर नेत्र टिकाने वाला है ।

(२) ध्यान—अपने इष्ट विषय (ध्येय में लीन हो जाना अर्थात् आज्ञाविच-
यादि रूप से स्वयं परिणित हो जाना—रम जाना ध्यान है।

आसक्ति का त्याग, कपायों का निग्रह, व्रत धारण तथा मन एवं इन्द्रियों
को जीतना—ये सब कार्य ध्यान की सामग्री है।

(३) फल—ध्यान का फल संवर-निर्जरा है। अर्थात् आते हुये नये कर्मों को
रोकना एवं पुराने कर्मों को तोड़ना है। भौतिक सुख सुविधाओं की
प्राप्ति के लिये ध्यान करना निषिद्ध है।

(४) ध्येय—जिस इष्ट का अवलम्बन लेकर ध्यान-चिन्तन किया जाता है,
उसे ध्येय कहते हैं। ध्येय के चार प्रकार हैं—(१) पिण्डस्थ, (२) पदस्थ,
(३) रूपस्थ, (४) रूपातीत।

(५) ध्यान का स्वामी—(१) वैराग्य, (२) तत्त्व ज्ञान, (३) निग्रन्थता, (४)
समचित्तता, (५) परिग्रह जय—ये पाँच ध्यान के हेतु हैं। इनसे सम्पन्न
व्यक्ति ध्यान का स्वामी (अधिकारी) कहलाता है।

(६) ध्यान का क्षेत्र—जहाँ ध्यान में विघ्न करने वाले उपद्रवों एवं विकारों
की सम्भावना न हो—ऐसा क्षेत्र ध्यान के योग्य माना जाता है।

(७) ध्यान के योग्य काल—यद्यपि जब भी मन स्थिर हो उसी समय ध्यान
किया जा सकता है, फिर भी अनुभवियों ने प्रातः काल को सर्वोत्तम
माना है।

(८) ध्यान के योग्य अवस्था—शरीर की स्वस्थता एवं मन की शान्त अवस्था
ध्यान के लिये उपयुक्त कहलाती है। तभी तक ध्यान स्थिर रहता है,
जब तक शरीर या मन में खिन्नता न हो—इसलिये कहा है कि जाप
से श्रान्त होने पर ध्यान एवं ध्यान से श्रान्त होने पर जाप में लग जाना
चाहिये तथा दोनों में मन न लगे तो स्तोत्र पढ़ना शुरू कर देना
चाहिये।



(ख) यहां किए हुए दुष्कर्मों का फल नरकादि दुर्गति में तथा सत्कर्मों का फल स्वर्गादि सद्गति में मिलने का वर्णन करना द्वितीय निर्वेदनी कथा है ।

(ग) पूर्व भव में किये हुये पापों के उदय से यहां दुःख, दौर्भाग्य, रोग और शोक मिलते हैं तथा पुण्यों के उदय से सुख-सौभाग्य-आरोग्य और आनन्दादि मिलते हैं । इस प्रकार का वर्णन करना तृतीयनिर्वेदनी-कथा है ।

(घ) पूर्व भव में किये हुये शुभ-अशुभ कर्मों का आगामीभव में फल मिलने रूप वर्णन सुनाना । जैसे—पूर्व भव में किसी जीव ने नरक योग्य कुछ कर्म करके बीच में काक-गीघ एवं तन्दुलमच्छ आदि का जन्म ले लिया एवं बँधे हुए अधूरे नरक योग्य कर्मों को पूर्ण करके नरक में उत्पन्न हो गया एवं पिछले तीसरे भव में बाँधे हुये अधूरे अशुभ कर्मों को भोगने लगा । इसी प्रकार तीर्थकरनाम कर्म बाँधने के बाद भी जीव तीसरे भव में तीर्थकर होकर भोगता है । जिस कथा में इस प्रकार का वर्णन हो, वह चतुर्थनिर्वेदनीकथा है ।

१४. पृष्ठ ४७० पर ध्यान का स्वरूप बताया गया है । उसी संदर्भ में ध्यान के आठ अंगों का स्वरूप भी समझने जैसा है । वहां विस्तारभय से नहीं दिया गया है जो यहाँ पर दिया जा रहा है—

ध्यान के आठ अंग—

(१) ध्याता, (२) ध्यान, (३) फल, (४) ध्येय, (५) ध्यान का स्वामी, (६) ध्यान के योग्य क्षेत्र, (७) ध्यान के योग्य समय, (८) ध्यान के योग्य अवस्था ।

(१) ध्याता—वह व्यक्ति ध्यान के योग्य माना गया है, जो जितेन्द्रिय है, धीर है, जिसके क्रोधादि कपाय शान्त हैं, जिसकी आत्मा स्थिर है, जो सुखासन में स्थित है एवं नाशा के अग्र भाग पर नेत्र टिकाने वाला है ।

श्रीमान् स्वर्गीय सेठ हीराचंदजी नेमीचंदजी वांठिया

आप मूल बगड़ी नगर निवासी हैं। अभी आरकाट मद्रान में व्यापार हैं। बगड़ी नगर की उच्च माध्यमिक विद्यालय के लिए १२००० रु०, बगड़ी अस्पताल हेतु ५००० रु०, जैन स्थानक सोजतरोड के लिए २५००० रु० दिए हैं। आपने अपने जीवन में लगभग १०००००० रु० दान प्रदान किया है। आप बड़े मिलनसार, उदारमना, धर्म पर दृढ़ श्रद्धा रखने थे और पूज्य गुरुदेव श्री मन्धनकेशरीजी के अनन्य भक्त थे। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती मदन-कंवर बाई इसीप्रकार से आज भी नमाज एवं जनता की सेवा के लिए चुने हाथों से दान दे रही हैं। इस "जैन धर्म में तप" ग्रन्थ के प्रकाशन में भी १००० रु० प्रदान किए हैं। आप छोटी उम्र में ही स्वर्गवासी हो गये।



श्रीमान् घोसुलालजी मोहनलालजी सेठिया

आप भावी मारवाड़ निवासी थे और आपका व्यापार मैसूर में बड़े सुन्दर ढंग से चल रहा है। आप धर्मपरायण, गरम एवं श्रद्धाशील व्यक्ति हैं। आपने अपने हाथों से जैन धर्म की धार्मिक क्षेत्र में लगाकर मूल नाम लिखा है। अभी आपने अपने हीमठान स्वर्गीय पृथ मोहन-लालजी का स्मृति में एक चित्तिमा-लय बनवाया है। [जिनका यह चित्र है।] आप श्री मन्धन केशरीजी से मजबूत सम्बन्ध बनाते हैं।



स्व. श्री सोहनलालजी सेठिया



प्रस्तुत पुस्तक प्रकाशन में विशिष्ट सहयोगी

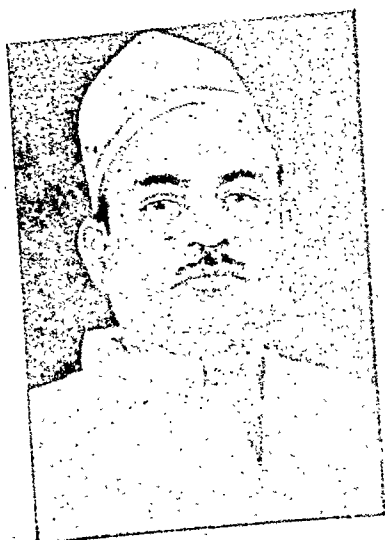
शाह-वच्छराज जो सुराना

आप सोजत (मारवाड) के निवासी हैं। शाह-जयवंतराजजी हाराचंदजी सुराना सिधियों की पोलवालों के सुपुत्र स्वर्गीय वच्छराजजी सुराना, शांत स्वभावी, मिलनसार एवं सेवाभावी भद्रपुरुष थे। आपके भरे पूरे परिवार में विद्यमान जोधराजजी-संपतराजजी, मदनलाल जी, शुभराजजी, डूंगरचन्दजी आदि ५ पुत्र एवं दो पुत्रियां हैं—आपका व्यापार—सेलम (मद्रास) में है। सारे भाई उदारमना एवं गुरुदेव के अनन्य भक्त हैं।



श्री बलवन्तराजजी खाटेड

आप बगड़ी निवासी दिलेर, उत्साही और क्रांतिकारी विचारों के नवयुवक हैं। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती सज्जनकुंवर बाई भी बड़ा धर्मपरायणा एवं विवेकशील हैं। श्री खाटेडजी का व्यवसाय मद्रास में है। बगड़ी के हाईस्कूल तथा छात्रावास के लिए आपकी सहायता प्रशंसनीय रही है। आप भी गुरुदेव के परम भक्त हैं।



श्रीमान रेखचंदजी रांका

आप बगड़ीनिवासी रांका परिवार के नेत्रस्वी नक्षत्र हैं। बोरीदास द्धनमल फर्म के मालिक हैं। मादगी, सद्गुणता, विनम्रता एवं सेवा परायणता आपकी चिरसंगिनी हैं। मुन्काता चेहरा, मिलनसार स्वभाव और अतिथिस्तकार में अग्रणी श्री रेखचंदजी बड़े ही शांत, गंभीर एवं गुरुभवत सज्जन पुरुष हैं। समाज सेवा के कार्यों में आपने खुले दिल से लक्ष्मी का सदुपयोग किया है। आप बगड़ी व. स्था. जैन श्रावक संघ के मन्त्री एवं समाज में सम्माननीय व्यक्ति हैं। मद्रास (चिताधरी पेठ) में डी. आर. रांका वदमं नाम ने आपकी सुप्रसिद्ध फर्म है।



श्रीमान् किशनलालजी बोहरा

आपका जन्मभूमि अटपड़ा है। आपके पिताजी अनोपचंदजी बहुत ही धार्मिक प्रवृत्ति एवं उदारमना सज्जन प्रकृति के प्रामाणिक श्रावक थे। गुरुदेव के प्रति अनन्य भक्ति रखते थे। आपके सुपुत्र श्री किशनलालजी भी अपने पिताजी के आज्ञाकारी पुत्र हैं। अपने पिताजी की वादगार में आप द्रव्य का अच्छे कार्यों में उदारतापूर्वक उपयोग कर रहे हैं।

श्रीमान् छगनराज जी केवलचंदजी कोठारी (मद्रास)

श्री केवलचंदजी बड़े उत्साही उदारमना एवं सेवाभावी पूज्य गुरुदेव के परम भक्त हैं। आप निम्बोल के मूल निवासी हैं तथा अभी तिरुवन्नामनै (मद्रास) में आपका व्यापार चल रहा है।

फोटो अप्राप्त

फोटो प्राप्त नहीं

श्रीमान् मिश्रीलालजी प्रेमराजजी लुंकड़

आप वगड़ीनगर के निवासी हैं। आपका कारोबार मद्रास प्रांत में तीरवेलूर में है। आप तपस्वी और धर्म की अच्छी लगन वाले सरल एवं सेवाभावी हैं। गुरुदेव के परम भक्तों में हैं।



श्रीमती गजरावाई

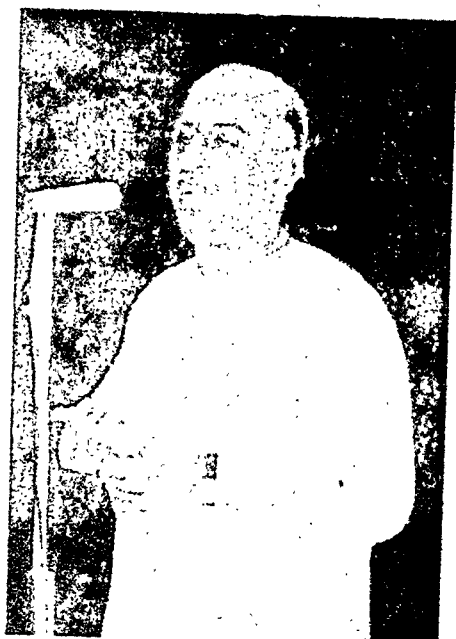
धर्मपत्नी—स्व० सेठ लालचंदजी
कातरेला

वगड़ी (मारवाड़) निवासी, हाल मुकाम मद्रास। आप बड़ी भद्रीक, उदारचेता, धर्म परायणा हैं। आपके मातृभवत दो पुत्र हैं—श्रीमाणक-चंदजी तथा शीललालजी कातरेला। दोनों युवक श्रद्धालु सेवाभावी हैं।



श्रीमान् रेखचंदजी रांका

आप बगड़ीनिवासी रांका परिवार के नेत्रस्वी नक्षत्र हैं। बोरीदास छगनमल फर्म के मालिक हैं। मादगी, मरुगना, विनम्रता एवं सेवा परायणता आपकी चिरसंगिनी हैं। मुन्काता नेहरा, मिलनसार स्वभाव और अतिविस्तार में अग्रणी श्री रेखचंदजी बड़े ही शांत, गंभीर एवं गुणभवत नज्जन पुरुष हैं। नमाज मेवा के कार्यों में आपने खुले दिल से लक्ष्मी का सदुपयोग किया है। आप बगड़ी ब. स्था. जैन धावक संघ के मन्त्री एवं समाज में नम्माननीय व्यक्ति हैं। मद्रास (चिताधरी पेठ) में डी. बार. रांका वदर्स नाम से आपकी सुप्रसिद्ध फर्म है।



श्रीमान् किशनलालजी बोहरा

आपकी जन्मभूमि अटपड़ा है। आपके पिताजी अर्जुनचंदजी बहुत ही धार्मिक प्रवृत्ति एवं उदारमना सत्जन प्रकृति के प्रामाणिक धावक थे। गुरुदेव के प्रति अनन्य भक्ति रखते थे। आपके सुपुत्र श्री किशनलालजी भी अपने पिताजी के आभाकारी पुत्र हैं। अपने पिताजी की गारगार में आप द्रव्य का अच्छे ढंग से उदारतापूर्वक उपयोग कर रहे हैं।

श्रीमान् छगनराज जी केवलचंदजी कोठारी (मद्रास)

श्री केवलचंदजी बड़े उत्साही उदारमना एवं सेवाभावी पूज्य गुरुदेव के परम भक्त हैं। आप निम्बोल के मूल निवासी हैं तथा अभी तिरुवन्नामलै (मद्रास) में आपका व्यापार चल रहा है।

फोटो अप्राप्त

फोटो प्राप्त नहीं

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति

(प्रवचन प्रकाशन विभाग)

सदस्यों की शुभ नामावली

प्रथम श्रेणी

- १ बी. सी. ओसवाल, जवाहर रोड रत्नागिरी, (सिरीयारी)
- २ शा० इन्दरसिंह जी मुनोत, जालोरी गेट, जोधपुर
- ३ शा० लादूराम जी छाजेड़, व्यावर, (राजस्थान)
- ४ शा० चम्पालाल जी डुंगरवाल, नागरथपेठ बेंगलोर सिटी (करमावास)
- ५ शा० कामदार प्रेमराज जी, जुमा मस्जिद रोड, बेंगलोर सिटी (चावंडिया)
- ६ शा० चांदमल जी मानमल जी पोकरना, पेरम्पर मद्रास ११ (चावंडिया)
- ७ जे. वस्तीमल जी जैन, जैनगर बेंगलोर ११ (पुजलू)
- ८ शा० पुखराज जी सीसोदीया, व्यावर
- ९ शा० बालचंद जी रूपचंद जी वाफना,
११८/१२० जवेरीबाजार बम्बई-२ (सादड़ी)
- १० शा० बालावगस जी चम्पालाल जी वोहरा, राणीवाल
- ११ शा० केवलचंद जी सोहनराज वोहरा, राणीवाल
- १२ शा० अमोलकचंदजी धर्मीचंदजी आछा, वड़ी कानचीपुर, मद्रास (सोजतरोंड)
- १३ शा० भुरमल जी मोठालाल जी वाफना, तिरकोयलूर मद्रास (अगेवा)

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति

(प्रवचन प्रकाशन विभाग)

सदस्यों की शुभ नामावली

प्रथम श्रेणी

- १ वी. सी. ओसवाल, जवाहर रोड रतनागिरी (सिरीयारी)
- २ शा० इन्दरसिंह जी मुनोत, जालोरी गेट, जोधपुर
- ३ शा० लादूराम जी छाजेड़, व्यावर, (राजस्थान)
- ४ शा० चम्पालाल जी डुंगरवाल, नागरथपेठ वेंगलोर सिटी (करनावत)
- ५ शा० कामदार प्रेमराज जी, जुमा मस्जिद रोड, वेंगलोर सिटी (चांदीदा)
- ६ शा० चांदमल जी मानमल जी पोरकरना, पेरम्पर मद्रास ११ (चांदीदा)
- ७ जे. वस्तीमल जी जैन, जैनगर वेंगलोर ११ (पुजलू)
- ८ शा० पुखराज जी सीसोदीया, व्यावर
- ९ शा० बालचंद जी रूपचंद जी बाफना,
११८/१२० जवेरीबाजार बम्बई-२ (सादड़ी)
- १० शा० बालावगस जी चम्पालाल जी बोहरा, राणीदास
- ११ शा० केवलचंद जी सोहनराज बोहरा, राणीदास
- १२ शा० अमोलकचंदजी धर्मचंदजी आछा, बड़ी कलकत्ता (बम्बई)
- १३ शा० मुरमल जी मीठालाल जी बाफना, बिक्रमपुर बंगाल (बम्बई)

- ३१ श्री धनराज जी हस्तीमल जी संचेती—कावेरीचाक
 ३२ श्री सोहनराज जी शान्तिप्रकाश जी संचेती—जोधपुर
 ३३ श्री भंवरलाल भी चम्पालाल जी सुराना—कानावना
 ३४ श्री मांगीलालजी शंकरलालजी भँसाली

२७ लक्ष्मी अमन कोयल स्ट्रीट पैरम्बूर मद्रास-११

- ३५ श्री हेमराज जी शान्तीलाल जी सिधी,

११ बाजाररोड रायपठ मद्रास-१४

- ३६ शा० अम्बूलाल जी प्रेमराज जी जैन, गुडियातम
 ३७ शा० रामसिंह जी चौधरी, व्यावर
 ३८ शा० प्रतापमल जी मगराज जी मलकर—केसरीसिंह जी का गुड़ा
 ३९ शा० संपतराज जी चौरङ्गीया, मद्रास
 ४० शा० पारसमल जी कोठारी, मद्रास
 ४१ शा० भीकमचन्द जी चौरङ्गीया, मद्रास
 ४२ शा० शान्तिलाल जी कोठारी, उत्तरे
 ४३ शा० जव्वरचन्द जी गोकलचन्द जी कोठारी, व्यावर
 ४४ शा० जवरीलाल जी वरभीचन्द जी गादीया, लांविवा

तृतीय श्रेणी

- १ श्री नेमीचंद जी कर्णावट, जोधपुर
 २ श्री गजराज जी भंडारी, जोधपुर
 ३ श्री मोतीलाल जी सोहनलाल जी बोहरा, व्यावर
 ४ श्री लालचंद जी मोहनलाल जी कोठारी, गोठन
 ५ श्री सुमेरमल जी गांधी, सिरीयारी
 ६ श्री जवरचंद जी बम्ब, सिन्धनूर
 ७ श्री मोहनलाल जी चतर, व्यावर
 ८ श्री जुगराज जी भंवरलाल जी रांका, व्यावर
 ९ श्री पारसमल जी जवरीलाल जी घोका, सोजत

- ६ श्री पुखराज जी बोहरा, राणीवाल वाला हालमुकाम पीपलिया कलॉ
- १० श्री धर्मीचंद जी बोहरा जुठावाला, हा० मु० पीपलिया कलॉ
- ११ श्री नथमल जी मोहनलाल जी लूणिया, चन्डावल
- १२ श्री पारसमल जी शान्तीलाल जी ललवाणी, विलाड़ा
- १३ श्री जुगराज जी मुणोत, मारवाड़ जंक्शन
- १४ श्री रतनचन्द जी शान्तीलाल जी मेहता—सादड़ी (मारवाड़)
- १५ श्री मोहनलाल जी पारसमल जी भंडारी, विलाड़ा
- १६ श्री चम्पालाल जी नेमीचन्द जी कटारिया, विलाड़ा
- १७ श्री गुलाबचन्द जी गंभीरमल जी मेहता—गोलवड
- [तालुका डेणु—जि० थाणा (महाराष्ट्र)]
- १८ श्री भंवरलाल जी गीतमचंद जी पगारिया, कुशालपुरा
- १९ श्री चनणमल जी भीकमचन्द जी रांका, कुशालपुरा
- २० श्री मोहनलाल जी भंवरलाल जी बोहरा, कुशालपुरा
- २१ श्री संतोकचन्द जी जवरीलाल जी जामड़
- १४६ वाजार रोड, मदरानगतम
- २२ श्री कन्हैयालाल जी गादिया, बारकोनम्
- २३ श्री धरमीचन्द जी ज्ञानचन्द जी मूथा, वगडीनगर
- २४ श्री मिश्रीमल जी नगराज जी गोठी—विलाड़ा
- २५ श्री दुलराज जी इन्दरचन्द जी कोठारी
- ११४, तैयप्पा मुदलीस्ट्रीट, मद्रास-१
- २६ श्री गुमानमल जी मांगीलाल जी चौरडिया चिन्ताधरी पैठ—मद्रास-१
- २७ श्री सायरचन्द जी चौरडिया, ६० एलीफेन्ट गेट मद्रास-१
- २८ श्री जीवराज जी जवरचन्द जी चौरडिया—मेड़ता सिटी
- २९ श्री हजारीमल जी निहालचन्द जी गादिया १६२ कोयमत्तूर—१
- ३० श्री केसरीमल जी झूमरलाल भी तालेसरा—पाली

- ३८ श्री मिश्रीमल जी साहिबचन्द जी गांधी, केसरसिंह जी का गुड़ा
- ३९ श्री अनराजजी वादलचन्दजी कोठारी, खवासपुरा
- ४० श्री चम्पालालजी अमरचन्दजी कोठारी, खवासपुरा
- ४१ श्री पुखराजजी दीपचन्दजी कोठारी, खवासपुरा
- ४२ शा. सालमसींग जी डावरिया, गुलावपुरा
- ४३ शा. मिट्ठालाल जी कातरेला, वगड़ीनगर
- ४४ शा. पारसमल जी लक्ष्मीचन्द जी कांठेड, व्यावर
- ४५ शा. घनराज जी महावीरचंद जी खीवसरा, बेंगलूर
- ४६ शा. गजराज जी भंडारी, एड़वोकेट, पाली
- ४७ शा. घनराज जी महावीरचंद जी खीवसरा, बेंगलोर ३०
- ४८ शा. गजराज जी भंडारी, वाली
- ४९ शा. पी० एम० चौरड़िया, मद्रास
- ५० शा. अमरचंद जी नेमीचंद जी पारसमल जी नागीरी, मद्रास

- १० श्री छगनमल जी वस्तीमल जी वोहरा, व्यावर
- ११ श्री चनणमल जी थानचंद जी खीवसरा, सिरियारी
- १२ श्री पन्नालाल जी भवरलाल जी ललवाणी, विलाड़ा
- १३ श्री अनराज जी लिखमीचंद जी ललवाणी, आगेवा
- १४ श्री अनराज जी पुखराज जी गादिया, आगेवा
- १५ श्री पारसमल जी धरमीचंद जी जांगड़, विलाड़ा
- १६ श्री चम्पालाल जी धरमीचंद जी खारीवाल, कुशालपुरा
- १७ श्री जवरचंद जी शान्तीलाल जी वोहरा, कुशालपुरा
- १८ श्री चम्पालाल जी हीराचंद जी गुन्देचा, सोजतरोड
- १९ श्री हिम्मतलाल जी प्रेमचंद जी साकरिया, सांडेराव
- २० श्री पुखराज जी रिखवाजी साकरिया, सांडेराव
- २१ श्री बाबूलाल जी दलीचंद जी वरलोटा, फालना स्टेशन
- २२ श्री मांगीलाल जी सोहनराज जी राठोड़, सोजतरोड
- २३ श्री मोहनलाल जी गांधी, केसरसिंह जी का गुड़ा
- २४ श्री पन्नालाल जी नथमल जी भंसाली, जाजणवास
- २५ श्री शिवराज जी लालचंद जी वोकडिया, पाली
- २६ श्री चान्दमल जी हीरालाल जी वोहरा—व्यावर
- २७ श्री जसराज जी मुन्नीलाल जी सूथा, पाली
- २८ श्री नेमीचन्द जी भवरलाल जी डंक, सारण
- २९ श्री ओटरमल जी दीपा जी, सांडेराव
- ३० श्री निहालचन्द जी कपूरचन्द जी, सांडेराव
- ३१ श्री नेमीचन्दजी शान्तीलाल जी सीसोदिया, इन्द्रावड़
- ३२ श्री विजयराज जी आणंदमल जी सीसोदिया, इन्द्रावड़
- ३३ श्री लूणकरण जी पुखराज जी लूंकड़ विग-वाजार, कोयमतूर
- ३४ श्री किस्तूरचन्द जी सुराणा, कालेजरोड कटक (उड़ीसा)
- ३५ श्री मूलचन्द जी बुधमल जी कोठारी, बाजार स्ट्रीट मन्डिया
- ३६ श्री चम्पालाल जी गौतमचन्द जी कोठारी, गोठन स्टेशन
- ३७ श्री कन्हैयालाल जी गौतमचन्द जी कांकरिया, मद्रास (मिड़तासिटी)

श्रद्धा सुमन

सवैया

चातुरमास सुचंग भयो, तप-जाप अथाग कियो हुलसाई,
बोकड़ शाल विशाल बनी, पशु-पालन वित्त दियो दिलचाई ।

जन्म-जयन्तिय जोर रही, पथ संजम लीध विरागन बाई,
ठाट अभूत रयो नित्त को, धन धन्य कहैं सब लोग लुगाई ॥१॥

साहित में रुचि खूब रही, अरु आनंद थैलिय हाथ बढ़ाई,
मोद बढ़ाय कियो खरचो, मन में न करी कबहुं सकुचाई ।

कोहु न होड करें बगड़ीपुर की, सब शाह बसे रखते सुघड़ाई,
सोहन चित्त उदार बसै जित, तो फिर कीन कमी रह भाई ॥२॥

—सोहन लाल सुराना

कुम्भकृणम्

सन्माननीय नये सदस्य

[श्री मरुधरकेसरी जी म० सा० का साहित्य वर्तमान में अत्यन्त लोकप्रिय हो रहा है । जो सज्जन इसे पढ़ते हैं, वे हृदय से इसकी सराहना करते हैं तथा प्रवचन प्रकाशन समिति के सदस्य बनने में स्वयं उत्साह प्रदर्शित करते हैं ।

प्रवचन प्रकाशन विभाग के सदस्यों की शुभ नामावली छपते समय कुछ सन्मान्य सदस्यों के नाम विलम्ब से प्राप्त हुए । इसलिए उन्हें यथाक्रम नहीं दे सके, एतदर्थ क्षमा चाहते हैं । उन सदस्यों के शुभ नाम यहां पढ़िए ।]

प्रथम श्रेणी

- ३० शा० पारसमल जी सोहनलाल जी सुराणा, कुंभकोनम, मद्रास
- ३१ शा० हस्तीमल जी मुणोत, सिकंदराबाद (आन्ध्र)
- ३२ शा० चन्द्रभान जी रूपचंद जी वोरा, वाशरमेन पेठ, मद्रास
- ३३ शा० जेठमल जी राणमल जी सराफ एण्ड सन्स, जलगांव
- ३४ शा० देवराज जी मोहनलाल जी चौधरी, तीरुकोईलूर मद्रास
- ३५ शा० वच्छराज जी जोधराज जी सुराणा, सोजत सिटी
- ३६ शा० गेवरचंद जी जसराज जी गोलेछा, बंगलोर सिटी
- ३७ शा० डी० छगनलाल जी नीरतमल जी बंब, बंगलोर सिटी
- ३८ शा० एम० मंगलचंद जी कटारीया, मद्रास

निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा !

आत्मा को कर्म मुक्त बनाने के लिए सतत तप करना चाहिए ।



तपो मूलमिदं सर्वं देव-मानुषकं सुखम् ।

देवता और मनुष्य सम्बन्धी सभी सुखों का मूल 'तप' है ।



हमारा महत्वपूर्ण साहित्य

१ श्रीमरुधर केसरी अभिनन्दन ग्रन्थ	मूल्य २४)
२ श्री पाण्डव यशोरसायन (महाभारत पद्य)	१०)
३ श्रीमरुधर केसरी ग्रन्थावली, प्रथम भाग	५)४० पैसा
४ " " द्वितीय भाग	७)
५ संकल्प विजय	२)
६ सप्त रत्न	२)
७ मरुधरा के महान संत	२)
८ हिम्मत विलास	२)
९ सिंहनाद	१)
१० बुध विलास प्र० भाग	१)
११ " द्वि० भाग	१)
१२ श्रमण सुरतरु चार्ट	५)
१३ मधुर पंचामृत	१)
१४ पतंगसिंह चरित्र	५० पैसा
१५ श्री वसंत माधुमंजूषोपा	५० पैसा
१६ आपाढभूति	२५ पैसा
१७ भविष्यदत्त	२५ पैसा
१८ सच्ची माता के सपूत	१)
१९ तत्त्वज्ञान तरंगिणी	१)
२० लमलोटका लफंदर	२५ पैसा
२१ भायलारो मिरु	२५ पैसा
२२ टणकाइ रो तीर	२५ पैसा
२३ सच्चा सपूत	२५ पैसा
२४ पद्यमय पट्टावली	१)
२५ जिनागम संगीत	५० पैसा
२६ जीवन ज्योति	५)
२७ साधना के पथ पर	५)

श्रीमरुधरकेसरी साहित्य-प्रकाशन समिति

पोपलिया बाजार, जैनस्थानक

व्यावर, राजस्थान

